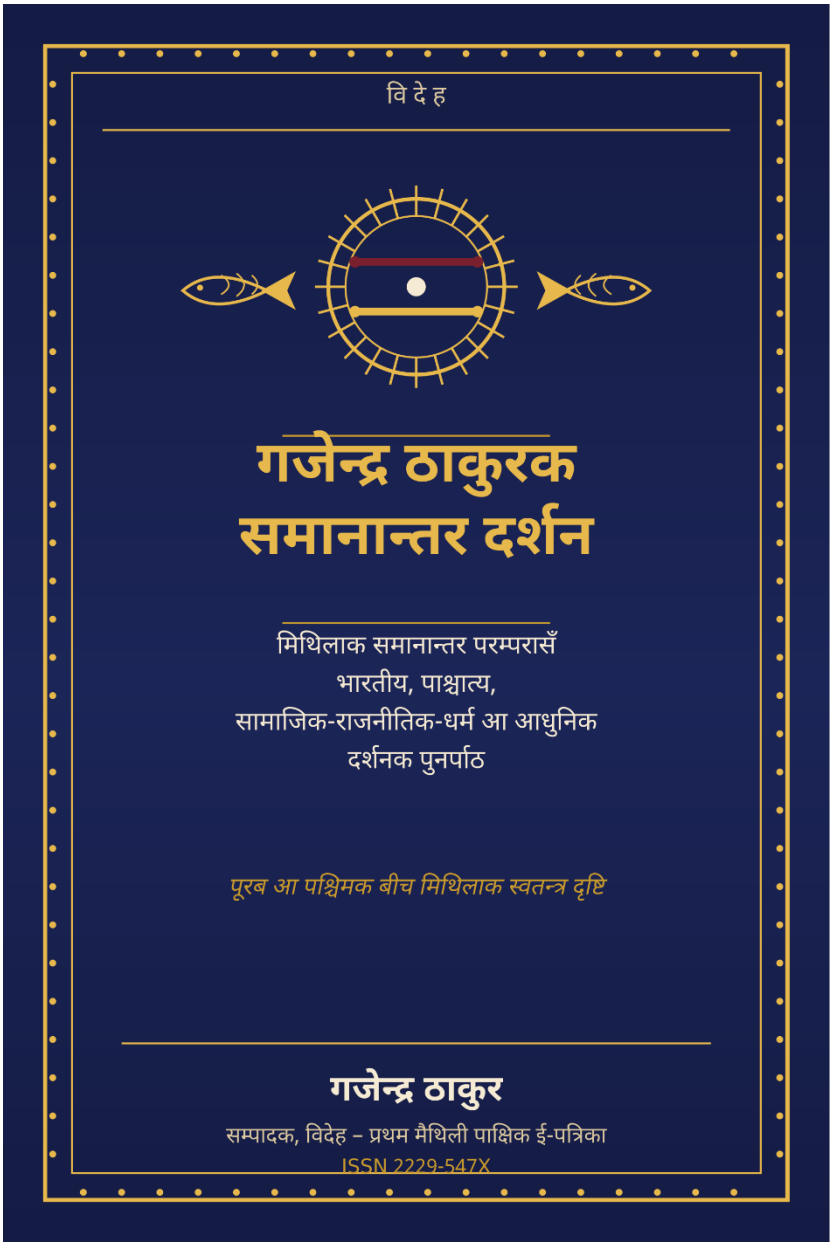
A PHILOSOPHICAL WORK

GAJENDRA THAKUR'S PARALLEL PHILOSOPHY

A Re-reading of Indian, Western, Socio-Political, Religious, and Modern Philosophy through Mithila's Parallel Tradition

GAJENDRA THAKUR



गजेन्द्र ठाकुरक समानान्तर दर्शन

गजेन्द्र ठाकुर

सम्पादक, विदेह — प्रथम मैथिली पाक्षिक ई-पत्रिका

ISSN 2229-547X

गजेन्द्र ठाकुरक समानान्तर दर्शन

COVER DESIGNED BY AUM GAJENDRA THAKUR

©Gajendra Thakur/ Preeti Thakur

भूमिका

दर्शनक आरम्भ उत्तरसँ नहि, प्रश्नसँ होइत अछि। जखन मनुष्य पूछैत अछि—हम के छी, जगत की अछि, सत्य कोन वस्तु अछि, ज्ञान कोना सम्भव अछि, न्याय ककरा कहल जाए, ईश्वर अछि वा नहि, धर्म आ नैतिकताक सम्बन्ध की अछि, राज्यक अधिकार कतय धरि अछि, व्यक्ति कतय स्वतंत्र अछि, समाज कोना न्यायपूर्ण भऽ सकैत अछि—तखने दर्शन जन्म लैत अछि।

मुदा दर्शनक इतिहास स्वयं निष्पक्ष नहि रहल अछि। जे विचार विश्वविद्यालय, राजसत्ता, धर्मसंस्था, भाषिक प्रभुत्व अथवा प्रकाशन-संस्थाक केन्द्र धरि पहुँचि सकल, से प्रायः “मुख्य दर्शन” कहल गेल; जे विचार लोकजीवन, क्षेत्रीय भाषा, मौखिक परम्परा, पराजित समुदाय, सीमावर्ती भूगोल अथवा संस्थागत केन्द्रसँ बाहर रहल, से अनेक बेर इतिहासक हाशियापर छोड़ल गेल।

एहि ग्रन्थक मूल आग्रह एतहि सँ आरम्भ होइत अछि।

समानान्तर दर्शन मुख्यधाराक निषेध नहि अछि। ई मुख्यधाराक बगलमे दबायल, छुटल, विस्थापित अथवा जानि-बुझि कऽ गौण कएल गेल प्रश्नसभकेँ पुनः दार्शनिक विमर्शक केन्द्रमे आनबाक पद्धति अछि।

एहि कारणें समानान्तर दर्शन न तऽ केवल भारतीय अछि, न केवल पाश्चात्य; न केवल आध्यात्मिक अछि, न केवल भौतिकवादी; न केवल परम्परावादी अछि, न केवल आधुनिकतावादी। एकर मूल आग्रह अछि—

जतय सत्यक दाबी हो, ओतय प्रमाण पूछू।

जतय प्रमाण हो, ओतय ओकर सीमा पूछू।

जतय सत्ता हो, ओतय ओकर वैधता पूछू।

जतय परम्परा हो, ओतय ओकर इतिहास पूछू।

जतय विद्रोह हो, ओतय ओकर नैतिक आधार पूछू।

आ जतय मनुष्य हो, ओतय ओकर गरिमा कखनो नहि बिसरू।

एहि ग्रन्थमे मिथिलाक दर्शन-परम्परा कोनो सजावटी “क्षेत्रीय अध्याय” नहि अछि। मिथिला एहि ग्रन्थक पद्धतिगत केन्द्र अछि। विदेहक उपनिषदिक प्रश्नपरम्परासँ लऽ कऽ न्याय, मीमांसा, नव्य-न्याय, भाषा, तर्क, शास्त्रार्थ, लोकधर्म आ आधुनिक सामाजिक संघर्ष धरि एकटा दीर्घ बौद्धिक संस्कार देखाइत अछि—प्रश्न करू, प्रतिपक्षकेँ पहिने ठीक-ठीक बुझू, प्रमाण दिअ, आपत्तिक उत्तर दिअ, फेर निष्कर्ष धरू।

गङ्गेश उपाध्याय चौदहम शताब्दीमे मिथिलाक प्रमुख न्यायाचार्य छलाह आ हुनक तत्त्वचिन्तामणि भारतीय प्रमाणमीमांसा आ तर्कक इतिहासमे अत्यन्त प्रभावशाली ग्रन्थ सिद्ध भेल। एहि बौद्धिक अनुशासनकेँ वर्तमान समाज, राजनीति, धर्म, इतिहास आ विज्ञानक प्रश्नपर लागू करब एहि पोथीक प्रमुख उद्देश्य अछि।

अनुक्रम

प्रथम खण्ड — दर्शनक आधार

1. दर्शन की अछि?

2. प्रश्न, संशय आ प्रमाण

3. सत्य आ दृष्टिकोण

4. ज्ञानक सीमा

5. समानान्तर दर्शनक पद्धति

द्वितीय खण्ड — भारतीय दर्शन

6. वैदिक चिन्तन आ उपनिषदिक प्रश्न

7. सांख्य

8. योग

9. न्याय

10. वैशेषिक

11. पूर्वमीमांसा

12. वेदान्त

13. बौद्ध दर्शन

14. जैन दर्शन

15. लोकायत आ भौतिकवादी प्रश्न

16. भाषा, शब्द आ अर्थ

तृतीय खण्ड — मिथिलाक दार्शनिक समानान्तर परम्परा

17. विदेह: प्रश्नक भूगोल

18. याज्ञवल्क्य, गार्गी आ मैत्रेयी

19. न्याय-वैशेषिक आ मिथिलाक तार्किक संस्कार

20. उदयनाचार्य

21. वाचस्पति मिश्र

22. गङ्गेश उपाध्याय

23. नव्य-न्याय: भाषाक सूक्ष्म अनुशासन

24. लोक, शास्त्र आ समानान्तर मिथिला

चतुर्थ खण्ड — पाश्चात्य दर्शन

25. यूनानी प्रश्न

26. सुकरात, प्लेटो आ अरस्तू

27. मध्ययुगीन दर्शन

28. देकार्त, स्पिनोजा आ लाइबनित्स

29. लॉक, बर्कली आ ह्यूम

30. कान्ट

31. हेगेल आ द्वन्द्व

32. मार्क्स

33. कीर्केगार्द आ नीत्शे

34. प्रघटनावाद आ अस्तित्ववाद

35. विश्लेषणात्मक दर्शन

36. व्यवहारवाद

37. विज्ञान-दर्शन

पंचम खण्ड — सामाजिक आ राजनीतिक दर्शन

38. व्यक्ति आ समाज

39. राज्यक औचित्य

40. स्वतंत्रता

41. समानता

42. न्याय

43. जाति आ सामाजिक पदानुक्रम

44. वर्ग आ आर्थिक सत्ता

45. स्त्री, लिंग आ सत्ता

46. भाषा, क्षेत्र आ अस्मिता

47. लोकतन्त्र

48. गांधी

49. आम्बेडकर

षष्ठ खण्ड — धर्म-दर्शन

50. धर्म की अछि?

51. ईश्वरक प्रश्न

52. आस्था आ तर्क

53. दुःख आ अशुभक समस्या

54. कर्म, पुनर्जन्म आ मोक्ष

55. धर्मबहुलता

56. धर्म आ राज्य

57. लोकधर्म आ संस्थागत धर्म

सप्तम खण्ड — आधुनिक आ समकालीन दर्शन

58. आधुनिकता

59. विज्ञान आ मनुष्य

60. भाषा आ सत्ता

61. इतिहास आ स्मृति

62. ज्ञान आ डिजिटल संसार

63. कृत्रिम बुद्धि आ मनुष्यक उत्तरदायित्व

64. पर्यावरण आ भावी पीढ़ी

अष्टम खण्ड — गजेन्द्र ठाकुरक समानान्तर दर्शन

65. बहुप्रमाणीय विवेकवाद

66. सहअस्तित्वात्मक यथार्थवाद

67. गरिमा-आधारित नैतिकता

68. बहुकेन्द्रिक लोकतन्त्र

69. धर्मक विवेकपूर्ण बहुलता

70. समानान्तर इतिहास-दृष्टि

71. समानान्तर दर्शनक सूत्र

72. उपसंहार

प्रथम खण्ड – दर्शनक आधार

अध्याय 1 – दर्शन की अछि?

दर्शनकेँ केवल महान दार्शनिकसभक मतक इतिहास मानि लेब दर्शनक सबसँ पैघ संकुचन होयत। दर्शन मूलतः मनुष्यक ओहि आत्मसचेत बौद्धिक क्रियाक नाम अछि जाहिमे ओ अपन विश्वास, अनुभव, मूल्य, व्यवहार आ संस्थासभक कारण पूछैत अछि। जे बात सामान्य जीवनमे स्वतःसिद्ध बुझाइत अछि, दर्शन ओकरा प्रश्नक क्षेत्रमे आनैत अछि। “ई सत्य अछि”—किएक? “ई उचित अछि”—कोन मापदण्डसँ? “ई हमर परम्परा अछि”—परम्परा मात्र भेला सँ उचितता सिद्ध कोना भेल? “बहुमत एहि पक्षमे अछि”—बहुमत सत्यक प्रमाण अछि की केवल संख्याक? एहि प्रश्नसभक कारण दर्शन जीवनसँ बाहरक विलास नहि, बल्कि जीवनक आत्मपरीक्षण अछि।

1.1 दर्शन: विस्मयसँ विवेक धरि

मनुष्य बहुत किछु बिना प्रश्न कएने स्वीकार करैत अछि। सूर्य उगैत अछि, नदी बहैत अछि, जन्म होइत अछि, मृत्यु अबैत अछि, समाज नियम बनबैत अछि, परिवार मूल्य सिखबैत अछि, धर्म जगतक अर्थ दैत अछि, विज्ञान घटना बुझबैत अछि। मुदा कोनो क्षण एहन अबैत अछि जखन परिचित वस्तु अपरिचित भऽ उठैत अछि। मृत्यु देखैत मनुष्य पूछैत अछि—व्यक्तिक अस्तित्वक सीमा की? अन्याय देखैत पूछैत अछि—जे अछि, से जे होयबाक चाही ताहिसँ भिन्न किएक? भ्रमक अनुभव होइत पूछैत अछि—जे देखाइत अछि, से सत्ये अछि की नहि? एहि विस्मय, असन्तोष आ आत्मसंशयसँ दर्शनक ऊर्जा जन्म लैत अछि।

विस्मय मात्र पर्याप्त नहि। बच्चा सेहो विस्मित होइत अछि; कवि विस्मयकेँ रूपकमे बदलि सकैत छथि; वैज्ञानिक विस्मयकेँ परीक्षणीय प्रश्नमे। दार्शनिक विस्मयकेँ अवधारणा, तर्क, प्रमाण आ प्रतिपक्षसँ जोड़ैत अछि। तेँ दर्शनक पहिल गति विस्मय, दोसर प्रश्न, तेसर विवेचन, चारिम प्रमाण-परीक्षण आ पाँचम आत्मसमीक्षा अछि।

1.2 दर्शन मत नहि, मतक परीक्षा अछि

दर्शनक इतिहासमे अनेक मत अछि—अद्वैत, द्वैत, सांख्य, न्याय, बौद्ध मध्यमक, जैन अनेकान्त, भौतिकवाद, आदर्शवाद, अनुभववाद, बुद्धिवाद, अस्तित्ववाद, व्यवहारवाद। मुदा मतक संख्या दर्शनक परिभाषा नहि। कोनो मत केवल एहि कारण दार्शनिक नहि भऽ जाइत अछि जे ओकर समर्थक ओकरा गम्भीर स्वरमे प्रस्तुत करैत अछि। दार्शनिकता तखन आरम्भ होइत अछि जखन मत अपन आधार स्पष्ट करैत अछि, विरोधी प्रश्न स्वीकार करैत अछि, निष्कर्षक परिणाम देखैत अछि आ सम्भावित भूलक लेल अपनाकेँ खुला रखैत अछि।

एहि कारण “हम मानैत छी” आ “हमर मानबाक कारण ई अछि” बीच महत्त्वपूर्ण अन्तर अछि। पहिल कथन आत्मवर्णन अछि; दोसर दार्शनिक विमर्शक द्वार खोलैत अछि। समानान्तर दर्शन एहि द्वारकेँ सभ परम्परा लेल समान रूपसँ खुला राखैत अछि। शास्त्र, विज्ञान, लोकविश्वास, आधुनिक सिद्धान्त—कोनो स्रोत केवल अपन प्रतिष्ठाक बलपर आलोचनासँ मुक्त नहि।

1.3 दर्शनक मुख्य क्षेत्र

दर्शनक शाखासभक वर्गीकरण समय आ परम्पराक अनुसार बदलैत रहल अछि, तथापि अध्ययनक सुविधा लेल किछु मूल क्षेत्र चिन्हित कएल जा सकैत अछि।

तत्त्वमीमांसा पूछैत अछि—वास्तविकता मूलतः की प्रकारक अछि? पदार्थ, मन, आत्मा, ईश्वर, समय, कारणता, स्वतंत्र इच्छा, सम्भावना आ अस्तित्वक स्वरूप की? आधुनिक तत्त्वमीमांसा केवल “प्रथम कारण” धरि सीमित नहि; मन-देह सम्बन्ध, सामाजिक वस्तु, व्यक्ति-पहिचान आ समय-जकाँ प्रश्न सेहो ओकर क्षेत्रमे अबैत अछि।

ज्ञानमीमांसा पूछैत अछि—ज्ञान की? विश्वास ज्ञान कखन बनैत अछि? सत्य विश्वास सेहो संयोगवश सत्य भऽ सकैत अछि; तखन ज्ञानक लेल सत्यक अतिरिक्त की चाही? ज्ञानक स्रोत की? प्रत्यक्ष, स्मृति, अनुमान, भाषा, प्रमाणिक व्यक्ति वा संस्था—एहि सभक विश्वसनीयता कोना जाँचल जाए? ज्ञानक सीमा कतय अछि?

तर्कशास्त्र पूछैत अछि—कोन निष्कर्ष कोन आधारसँ निकलैत अछि? तर्क वैध कखन? भ्रमपूर्ण कारण, शब्द-छल, असंगत निष्कर्ष, असिद्ध हेतु आ विरोधाभास कोना चिन्हल जाए? भारतीय न्याय-परम्पराक हेत्वाभास-विमर्श आ पाश्चात्य औपचारिक तर्क दुनू एहि व्यापक उद्देश्यक अलग ऐतिहासिक रूप अछि।

मूल्यमीमांसा मूल्यक प्रश्न उठबैत अछि। नैतिक दर्शन पूछैत अछि—नीक आ बेजाय कर्मक कसौटी की? सौन्दर्य-दर्शन पूछैत अछि—सुन्दरता, कला आ रसक अनुभवक स्वरूप की? राजनीतिक दर्शन पूछैत अछि—न्याय, अधिकार, राज्य, स्वतंत्रता, समानता आ वैध सत्ता की? धर्म-दर्शन आस्था, ईश्वर, मुक्तिक दाबी, धार्मिक अनुभव आ धार्मिक बहुलताक तर्कपूर्ण परीक्षण करैत अछि। विज्ञान-दर्शन वैज्ञानिक व्याख्या, कारणता, सिद्धान्त आ प्रमाणक प्रकृति पूछैत अछि। भाषा-दर्शन शब्द, अर्थ, सन्दर्भ आ वाक्यक सत्यताक प्रश्न उठबैत अछि।

ई विभाजन उपयोगी अछि, मुदा अन्तिम नहि। “मनुष्य स्वतंत्र अछि की नहि?” तत्त्वमीमांसाक प्रश्न अछि; “स्वतंत्र नहि तँ नैतिक जिम्मेवारी कोना?” नैतिक प्रश्न; “राज्य व्यक्ति पर दण्ड किएक दे?” राजनीतिक प्रश्न; “स्वतंत्रता अनुभवमे कोना प्रकट होइत अछि?” प्रघटनात्मक प्रश्न। जीवन विषयसूचीक हिसाबसँ नहि चलैत अछि, तेँ दर्शनक शाखासभ निरन्तर एक-दोसरामे प्रवेश करैत अछि।

1.4 दर्शन आ विज्ञान

दर्शन आ विज्ञानकेँ परस्पर विरोधी मानब अनुचित अछि। आधुनिक विशेष विज्ञानसभ दर्शनक विस्तृत ऐतिहासिक संसारसँ अलग-अलग अनुशासनक रूपमे विकसित भेल, मुदा प्रश्नसभक सीमा एखनो परस्पर छुबैत अछि। विज्ञान पूछैत अछि—विशिष्ट घटना कोना घटैत अछि, कोन परिकल्पना परीक्षणमे टिकैत अछि, कोन प्रतिरूप भविष्यवाणी करैत अछि। दर्शन पूछि सकैत अछि—वैज्ञानिक व्याख्या ककरा कहल जाए? कारणता की? अवलोकन सिद्धान्तसँ पूर्णतः स्वतंत्र अछि की नहि? वैज्ञानिक यथार्थवाद उचित अछि की उपकरणवाद? विज्ञानक सफलतासँ नैतिक मूल्य स्वतः निकलैत अछि की नहि?

एहि भेदक अर्थ ई नहि जे दर्शन प्रयोगक स्थान लऽ सकैत अछि। रक्तचाप नापबाक प्रश्न दार्शनिक तर्कसँ नहि सुलझत। मुदा “स्वास्थ्य संसाधनक न्यायपूर्ण वितरण कोना हो?” केवल रक्तचापक आँकड़ासँ सेहो नहि सुलझत। तथ्य आ मूल्य परस्पर सम्बन्धित छथि, मुदा एक-दोसराक पर्याय नहि। समानान्तर दर्शन विज्ञानक प्रमाण-अनुशासन स्वीकारैत अछि, संगहि वैज्ञानिक निष्कर्षकेँ सामाजिक, नैतिक आ अवधारणात्मक सन्दर्भमे जाँचैत अछि।

1.5 दर्शन आ धर्म

भारतीय बौद्धिक इतिहासमे दर्शन आ धर्मक सीमा आधुनिक विश्वविद्यालयीय विभाजन-जकाँ सरल नहि रहल। मोक्ष, दुःख, आत्मा, कर्म, ईश्वर, शून्यता, निर्वाण, वेद-प्रामाण्य, अहिंसा—ई प्रश्न एकहि समय दार्शनिक, धार्मिक, नैतिक आ जीवनगत रहल। मुदा एहि समीपताक अर्थ ई नहि जे धार्मिक आस्था दार्शनिक प्रमाणक स्थान स्वतः लऽ लेत। दर्शन धार्मिक अनुभवकेँ मानव-अनुभवक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र मानि सकैत अछि, मुदा ओकर सार्वभौम दाबी पर प्रश्न सेहो कऽ सकैत अछि।

धर्म जँ कहैत अछि—“एहि मार्गसँ मोक्ष”—दर्शन पूछैत अछि: मोक्षसँ की अभिप्राय? मार्गक ज्ञान कोन प्रमाणसँ? वैकल्पिक धार्मिक दावासभक संग सम्बन्ध की? नैतिक परिणाम की? एहि पूछताछक उद्देश्य आस्थाक अपमान नहि, दाबी आ औचित्यक सम्बन्ध स्पष्ट करब अछि।

1.6 भारतीय “दर्शन”क बहुवचन

भारतीय परम्परामे “दर्शन” एकरूप सिद्धान्तक नाम नहि। वेद-प्रामाण्य स्वीकार करयवला न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, वेदान्तक भीतर सेहो गम्भीर मतभेद अछि; बौद्ध, जैन आ लोकायत परम्परा अन्य आधारसँ प्रश्न उठबैत अछि। ज्ञानक स्रोतक संख्या, आत्माक अस्तित्व, बाह्य जगतक स्वरूप, ईश्वरक आवश्यकता, शब्दक प्रामाण्य, मुक्तिक प्रकृति—प्रायः प्रत्येक मूल प्रश्नपर विवाद भेटैत अछि। एहि बहुवचनताकेँ “भारतीय विचारक भ्रम” नहि, बल्कि दर्शनक जीवित स्वरूप बुझबाक चाही।

न्यायसूत्रक आरम्भे प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, तर्क, निर्णय आ वाद-जकाँ विषयसभक सूची दैत अछि। एहि सूचीसँ स्पष्ट होइत अछि जे दार्शनिकता केवल निष्कर्ष नहि; प्रश्न कोना उठत, प्रमाण कोना जाँचल जाएत, विवाद कोना चलत आ भ्रान्त तर्क कोना चिन्हल जाएत—ई सभ सेहो दर्शनक अंग अछि।

1.7 दर्शन आ जीवन

एकटा आपत्ति उठि सकैत अछि—जँ दर्शनक प्रश्नसभक अन्तिम उत्तर नहि, तँ दर्शनक उपयोग की? एहि आपत्तिमे उपयोगकेँ केवल तात्कालिक परिणामसँ मापबाक प्रवृत्ति अछि। दर्शन औषधि नहि जे ताप तुरन्त घटा दे; मुदा औषधि-वितरणक न्याय, रोगीक सहमति, जीवन-मृत्युक निर्णय आ चिकित्सा-संसाधनक नैतिक उपयोग बिना दार्शनिक धारणाक सम्भव नहि।

दैनिक जीवनमे व्यक्ति निरन्तर दर्शन करैत अछि, भलेँ ओकरा एहि नामसँ नहि चिन्हैत हो। बच्चाकेँ दण्ड देबाक उचितता, वृद्ध माता-पिताक देखभाल, विवाहमे स्वायत्तता, जाति-आधारित व्यवहार, राजनीतिक निष्ठा, धार्मिक सहिष्णुता, पर्यावरणीय जिम्मेवारी—सभ निर्णयक पाछाँ मनुष्य, अधिकार, कर्तव्य, कारण आ मूल्य सम्बन्धी धारणासभ रहैत अछि। अनपरीक्षित दर्शन सेहो दर्शन अछि; अन्तर एतेक जे ओ अपन आधार नहि देखैत अछि।

1.8 मिथिला: प्रश्नपरम्पराक सन्दर्भ

एहि ग्रन्थमे मिथिला केवल भौगोलिक परिचय नहि, पद्धतिगत स्मृति अछि। विदेहक उपनिषदिक संवाद, न्याय-मीमांसा आ नव्य-न्यायक शास्त्रार्थ-परम्परा, शब्द आ प्रमाणक सूक्ष्म परीक्षण—ई सभ एकटा एहन बौद्धिक संस्कारक उदाहरण अछि जाहिमे प्रश्नक सम्मान आ परिभाषाक कठोरता दूनू महत्त्वपूर्ण रहल। मिथिलाक

एहि परम्पराकेँ गौरवगानमे बदलि देब समानान्तर दर्शनक उद्देश्य नहि। गौरव सेहो प्रमाण माँगैत अछि। मूल उद्देश्य ई देखब अछि जे स्थानीय बौद्धिक परम्परा विश्व-दर्शनक समानान्तर संवादमे स्वतंत्र योगदान कोना दऽ सकैत अछि।

1.9 समानान्तर दर्शनक आरम्भिक प्रतिज्ञा

समानान्तर दर्शन मुख्यधाराक निषेध नहि। “मुख्यधारा गलत, हाशिया सही”—ई उलटल कट्टरता मात्र होयत। समानान्तर दृष्टि स्थापित विचारकेँ ओकर सबलतम रूपमे पढ़ैत अछि, उपेक्षित स्रोतकेँ खोजैत अछि, दुनू पर समान प्रमाण-कसौटी लागू करैत अछि, आ अन्ततः अपन निष्कर्षकेँ सेहो संशोधन लेल खुला रखैत अछि।

एहि ग्रन्थक मूल प्रतिज्ञा चारि वाक्यमे समेटल जा सकैत अछि: सत्यक दाबी हो तँ प्रमाण पूछू; प्रमाण हो तँ ओकर सीमा पूछू; सत्ता हो तँ वैधता पूछू; आ मनुष्य हो तँ ओकर गरिमा नहि बिसरू। एहि प्रतिज्ञामे दर्शनक बौद्धिक आ नैतिक दुनू रूप उपस्थित अछि।

पूर्वपक्ष: दर्शन केवल विचारक इतिहास अछि

एहि मतक अनुसार दर्शन पढ़बाक अर्थ प्लेटो, कान्ट, शंकर, नागार्जुन, गङ्गेश, मार्क्स आदि की कहलनि से जानब। इतिहास निश्चय आवश्यक अछि; विचारक शब्दकेँ ओकर काल, ग्रन्थ आ विवादसँ काटि देब अनुचित। मुदा केवल इतिहास पर्याप्त नहि। जँ हम “अमुक दार्शनिक ई कहलनि” पर रुकि जाइत छी तँ हम इतिहासकारक कार्य करैत छी; दर्शन तखन आरम्भ होइत अछि जखन पूछैत छी—ओ तर्क आज सेहो टिकैत अछि? ओकर पूर्वधारणा की? विरोधी तर्क की? हमर अनुभव वा ज्ञानक संग ओकर सम्बन्ध की?

समानान्तर दर्शन इतिहासकेँ त्यागैत नहि; इतिहासक आधारपर वर्तमान संवाद करैत अछि। अतीतक विचारककेँ वर्तमान शब्दावलीमे जबरन ढालब नहि, मुदा ओकर प्रश्नक वर्तमान प्रासंगिकता जाँचब। एहि प्रकार दर्शन इतिहास आ जीवित तर्कक संगम बनैत अछि।

अध्याय-निष्कर्ष

दर्शन उत्तरक संग्रह नहि, उत्तर देबाक जिम्मेवार पद्धति अछि। एकर क्षेत्र वास्तविकता, ज्ञान, तर्क, मूल्य, सत्ता, भाषा, धर्म, विज्ञान आ जीवन धरि विस्तृत अछि। दर्शनक विशिष्टता एहि बातमे नहि जे ओकर प्रत्येक प्रश्नक अन्तिम समाधान अछि, बल्कि एहि बातमे अछि जे ओ प्रश्नकेँ स्पष्ट करैत अछि, कारण माँगैत अछि, अवधारणाक सीमा देखैत अछि, प्रतिपक्ष सुनैत अछि आ अपन निष्कर्षकेँ सुधार लेल खुला रखैत अछि। समानान्तर दर्शन एहि सामान्य दार्शनिक प्रवृत्तिक मिथिला-केन्द्रित, बहुपरम्परागत आ प्रमाण-सचेत विस्तार अछि।

अध्याय-ग्रन्थसूची

अरस्तू — Metaphysics.

गौतम — Nyāya-sūtra.

वात्स्यायन — Nyāya-bhāṣya.

Bimal Krishna Matilal — Logic, Language and Reality.

Jonardon Ganeri — Philosophy in Classical India.

Stanford Encyclopedia of Philosophy — “Analysis”; “Metaphysics”; “Epistemology”.

Internet Encyclopedia of Philosophy — “Nyāya”.

अध्याय 2 – प्रश्न, संशय आ प्रमाण

संशय ज्ञानक शत्रु नहि; अनुशासित संशय ज्ञानक प्रहरी अछि। मुदा प्रत्येक वस्तुपर निराधार, समान स्तरक आ अनन्त संशय ज्ञानक आदर्श नहि। जँ हम प्रत्यक्ष, स्मृति, भाषिक कथन, गणना, अपन तर्क आ सभ साझा अनुभवपर एकहि बेर पूर्ण अविश्वास कऽ दी, तँ न केवल दर्शन बल्कि सामान्य व्यवहार असम्भव भऽ जाएत। तेँ मूल प्रश्न “संशय करब की नहि” नहि; प्रश्न अछि—संशयक उचित कारण की, ओकर सीमा की, आ संशय उठला पर परीक्षण कोना हो?

2.1 प्रश्न आ संशयक भेद

प्रश्न अनिवार्य रूपसँ संशय नहि। “गङ्गा कतयसँ निकलैत अछि?” जानकारीक प्रश्न भऽ सकैत अछि। “ई स्रोत विश्वसनीय अछि की नहि?” संशयक प्रश्न अछि। “विश्वसनीयता ककरा कहल जाए?” दार्शनिक प्रश्न अछि। एहि तीन स्तरकेँ अलग राखब आवश्यक अछि। कखनो सूचना उपलब्ध नहि होइत अछि; कखनो सूचना

परस्पर विरोधी; कखनो मूल मापदण्डे अस्पष्ट। दर्शन तेसर स्तरपर विशेष रूपसँ सक्रिय होइत अछि, मुदा पहिल दू स्तरक तथ्यक उपेक्षा नहि करैत अछि।

न्याय-परम्परामे संशय जाँचक महत्त्वपूर्ण अवस्था अछि। संशयक उपस्थितिमे परीक्षण आवश्यक मानल गेल, मुदा न्यायीय परम्परा सर्वव्यापी संशयकेँ आरम्भिक आदर्श नहि मानैत अछि। सामान्य ज्ञान-प्रक्रियासभकेँ कार्यरत मानल जाइत अछि जाबत धरि विरोधी कारण न उठय। एहि दृष्टिमे विश्वास अन्धविश्वास नहि; प्रारम्भिक विश्वसनीयता अछि, जे उचित चुनौती आएलापर पुनः परीक्षणीय अछि।

2.2 प्रमाण: ज्ञानक स्रोत

भारतीय ज्ञानमीमांसामे “प्रमाण” केवल बहसक “सबूत” नहि; व्यापक अर्थमे यथार्थ ज्ञान उत्पन्न करयवला विश्वसनीय साधन अथवा प्रक्रिया अछि। न्याय चारि प्रमाण स्वीकारैत अछि—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान आ शब्द। आन भारतीय दर्शन अतिरिक्त प्रमाण स्वीकारैत अथवा एहि चारिमे सँ किछुकेँ घटबैत अछि। एहि मतभेदसँ एकटा महत्त्वपूर्ण बात स्पष्ट होइत अछि: दार्शनिक विवाद केवल “की सत्य अछि” पर नहि, “सत्य जानबाक उचित साधन की” पर सेहो होइत अछि।

प्रत्यक्ष हमर इन्द्रिय आ प्रत्यक्ष अनुभवसँ सम्बन्धित अछि। आँखि आगि देखैत अछि, त्वचा ताप अनुभव करैत अछि, कान ध्वनि सुनैत अछि। मुदा प्रत्यक्ष अचूक नहि। दूरी, प्रकाश, रोग, अपेक्षा, भ्रम आ ध्यानक सीमा अनुभव प्रभावित करैत अछि। तेँ “हम देखलहुँ” महत्त्वपूर्ण प्रमाण हो सकैत अछि, मुदा प्रत्येक परिस्थिति मे अन्तिम प्रमाण नहि।

अनुमान ज्ञात संकेतसँ अज्ञात निष्कर्ष धरि पहुँचैत अछि। धुआँ देखि आगिक अनुमान, लक्षण देखि रोगक अनुमान, पुरातात्त्विक अवशेषसँ अतीतक सामाजिक संरचनाक अनुमान—सभमे ज्ञात-अज्ञात सम्बन्धक कसौटी आवश्यक अछि। गलत सामान्यीकरण, संयोगकेँ कारण मानि लेब, अपूर्ण आँकड़ा, पूर्वग्रह—अनुमान बिगाड़ि सकैत अछि।

उपमान समानताक आधारपर अज्ञातकेँ ज्ञातसँ जोड़ैत अछि। दैनिक जीवनमे तुलनाक भूमिका व्यापक अछि। मुदा समानता असीम नहि; दू वस्तु कोनो एक गुणमे समान आ आन गुणमे भिन्न भऽ सकैत अछि। गलत उपमान राजनीतिक, धार्मिक आ ऐतिहासिक तर्कमे विशेष रूपसँ भ्रामक होइत अछि।

शब्द अथवा प्रमाणिक कथन मानवीय ज्ञानक विशाल भागक आधार अछि। हम सभ स्वयं सभ देश नहि देखैत छी, सभ वैज्ञानिक प्रयोग नहि दोहरबैत छी, सभ ऐतिहासिक अभिलेख नहि पढ़ैत छी। शिक्षक, चिकित्सक, विशेषज्ञ, ग्रन्थ, अभिलेख, समाचार, परिवार आ संस्थासभक कथनपर निर्भरता अनिवार्य अछि। प्रश्न ई नहि जे “दोसराक बात मानब की नहि”; प्रश्न ई जे वक्ता वा स्रोत विश्वसनीय कखन अछि। ज्ञान अछि? ईमानदारी अछि? हित-संघर्ष अछि? कथन स्वतंत्र स्रोतसँ पुष्ट होइत अछि? संस्था सुधार-प्रक्रिया रखैत अछि?

2.3 प्रमाणक संख्या पर भारतीय विवाद

भारतीय दर्शनक विशिष्टता ई अछि जे प्रमाणसभक संख्या आ स्वरूप स्वयं विस्तृत विवादक विषय बनल। न्याय चारि प्रमाण मानैत अछि। मीमांसा आ वेदान्तक अनेक धारासभ अर्थापत्ति आ अनुपलब्धि-जकाँ अतिरिक्त प्रमाणक चर्चा करैत अछि। बौद्ध प्रमाणमीमांसाक प्रमुख धारासभ प्रत्यक्ष आ अनुमानकेँ केन्द्रमे रखैत अछि। चार्वाकसँ सम्बद्ध परम्पराक पुनर्निर्माणमे प्रत्यक्षक प्रधानता पर बल देल जाइत अछि, यद्यपि मूल स्रोतक अभाव कारण सावधानी आवश्यक अछि।

एहि विवादक समानान्तर अर्थ ई अछि जे “प्रमाण” एकटा बन्द सूची नहि, बल्कि ज्ञान-प्रक्रियाक विश्लेषण अछि। आधुनिक विज्ञानमे उपकरण-आधारित अवलोकन, सांख्यिकीय अनुमान, सहकर्मी समीक्षा आ पुनरुत्पादन; इतिहासमे दस्तावेज, अभिलेख, वस्तुपरक अवशेष, मौखिक इतिहास; न्यायालयमे साक्ष्य, विशेषज्ञ मत आ दस्तावेज—सभ क्षेत्र अपन उचित प्रमाण-अनुशासन विकसित करैत अछि।

2.4 सत्य विश्वास आ ज्ञान

कोनो विश्वास संयोगवश सत्य हो सकैत अछि। व्यक्ति बिना कारण अनुमान लगबय जे काल्हि वर्षा होयत, आ संयोगसँ वर्षा भऽ जाए। सत्यता मात्र एहि विश्वासकेँ ज्ञान नहि बनबैत अछि। पाश्चात्य आधुनिक ज्ञानमीमांसामे ज्ञानकेँ दीर्घकाल धरि “औचित्ययुक्त सत्य विश्वास”क रूपमे विश्लेषित कएल गेल; बीसम शताब्दीक गेटियर-समस्या देखेलक जे सत्य, विश्वास आ औचित्यक तीन शर्त सेहो किछु परिस्थितिमे पर्याप्त नहि। एहि विवादक महत्त्व एतय अछि जे ज्ञानमे सत्यक संग उचित ज्ञान-उत्पत्ति अथवा ज्ञानात्मक सफलता आवश्यक अछि।

भारतीय प्रमाणमीमांसामे सेहो ज्ञानक उत्पत्तिस्रोत पर विशेष बल अछि। “प्रमा” यथार्थ बोध आ “प्रमाण” ओकर उत्पादक साधनक रूपमे विचारल जाइत अछि। परम्परासभ एहि सम्बन्धकेँ अलग-अलग रूपमे व्याख्यायित करैत अछि, मुदा प्रश्न समान अछि—सही निष्कर्ष सही कारणसँ प्राप्त भेल की केवल संयोगसँ?

2.5 संशयक तीन रूप

पहिल, व्यावहारिक संशय: “ई औषधि सचमुच एहि रोगमे प्रभावी अछि की?” एतय परीक्षण सम्भव अछि।

दोसर, पद्धतिगत संशय: अपन विश्वासक आधार जाँचबाक लेल जानि-बुझि कऽ प्रश्न उठेनाइ। देकार्तक विधिपूर्वक संशय एहि रूपक प्रसिद्ध उदाहरण अछि, यद्यपि ओकर उद्देश्य स्थायी संशय नहि बल्कि निश्चित आधार खोजब छल।

तेसर, दार्शनिक सर्वसंशय: “की हम बाह्य जगत, अन्य मन, अतीत, आगमन वा कोनो वस्तुकेँ जानि सकैत छी?” एहन संशय ज्ञानक संरचना बुझबाक शक्तिशाली साधन भऽ सकैत अछि, मुदा सामान्य व्यवहारक सीधा निर्देश नहि।

समानान्तर दर्शन एहि तीन रूपकेँ गड्डमड्ड नहि करैत अछि। व्यावहारिक प्रश्नक उत्तर प्रयोग वा दस्तावेजसँ भेटि सकैत अछि; सर्वसंशयक उत्तर अवधारणात्मक तर्क माँगैत अछि।

2.6 निराधार संशय आ विश्वसनीय आलोचना

समकालीन सार्वजनिक जीवनमे “हम तऽ बस प्रश्न पूछैत छी” वाक्य कखनो-कखनो बिना प्रमाणक आरोप फैलाबय लेल उपयोग होइत अछि। प्रश्न पूछब स्वयं सद्गुण नहि, जँ प्रश्नक रूप एहन हो जे कोनो उत्तर स्वीकारे नहि करय। उचित संशयक कमसँ कम चारि शर्त मानल जा सकैत अछि: संशयक स्पष्ट विषय हो; संशय उठेबाक कारण हो; सम्भावित खण्डनक शर्त स्पष्ट हो; आ समान कसौटी अपन पक्षपर सेहो लागू हो।

जँ व्यक्ति केवल विरोधी स्रोतपर कठोर संशय करय आ अपन प्रिय स्रोतकेँ बिना परीक्षण मानि लय, तँ ई दर्शन नहि, पक्षपात अछि। समानान्तर दर्शनक प्रमाण-अनुशासन सममित अछि—जे कसौटी दोसर पर, से अपन पर सेहो।

2.7 संस्था, विशेषज्ञता आ ज्ञान

आधुनिक समाजमे ज्ञान व्यक्तिगत नहि, संस्थागत सेहो अछि। अस्पताल, विश्वविद्यालय, न्यायालय, अभिलेखागार, वैज्ञानिक पत्रिका, सांख्यिकीय संस्था—सभ जटिल ज्ञान-उत्पादन प्रणाली अछि। व्यक्ति सभ प्रयोग स्वयं नहि कऽ सकैत अछि; तेँ संस्थागत विश्वसनीयता आवश्यक अछि। मुदा संस्था त्रुटिहीन नहि। सत्ता, वित्त, प्रतिष्ठा, राजनीतिक दबाव, सम्पादकीय पूर्वग्रह, समूह-चिन्तन—ई सभ ज्ञान प्रभावित कऽ सकैत अछि।

तेँ समानान्तर दर्शन अन्ध-विशेषज्ञवाद आ अन्ध-विरोध दुनूसँ दूरी रखैत अछि। “विशेषज्ञ कहलक” पर्याप्त नहि, मुदा विशेषज्ञताकेँ सामान्य अनुमानक बराबर मानब सेहो अनुचित। उचित प्रश्न अछि—विशेषज्ञता कोन क्षेत्रक? प्रमाण सार्वजनिक अछि? समीक्षा सम्भव अछि? असहमति कतेक? हित-संघर्ष की? निष्कर्षक अनिश्चितता कतेक?

2.8 डिजिटल युगमे प्रमाण

डिजिटल माध्यम प्रत्यक्ष, शब्द आ अनुमानक सीमा धुंधला कऽ दैत अछि। चलचित्र देखाइत अछि प्रत्यक्ष-जकाँ, मुदा सम्पादित वा कृत्रिम भऽ सकैत अछि। हजार लोक एकहि बात साझा करैत छथि, मुदा हजार

स्वतंत्र स्रोत नहि; सम्भव अछि सभ एकहि मूल प्रविष्टि दोहरा रहल हो। खोज-परिणाम लोकप्रियताक संकेत हो सकैत अछि, सत्यताक नहि।

एहि परिस्थिति मे प्रमाण-परीक्षणक नूतन नागरिक अनुशासन आवश्यक अछि: मूल स्रोत खोजू; तिथि जाँचू; सम्पूर्ण सन्दर्भ देखू; स्वतंत्र पुष्टिकरण खोजू; छवि वा चलचित्र-स्रोत जाँचू; कथन आ व्याख्या अलग करू; अनिश्चितता स्पष्ट राखू। ई आधुनिक उपकरण न्यायीय “संशय उठला पर परीक्षण”क संस्कारक नूतन रूप मानल जा सकैत अछि।

2.9 पूर्वपक्ष: सभ प्रमाण अन्ततः प्रमाणित कोना होयत?

एकटा गम्भीर आपत्ति अछि: जँ प्रत्येक प्रमाणक विश्वसनीयता लेल दोसर प्रमाण चाही, आ दोसर लेल तेसर, तँ अनन्त शृंखला उत्पन्न होयत। जँ प्रमाण स्वयंकेँ प्रमाणित करय तँ चक्र होयत। जँ बिना प्रमाणक किछु मानि ली तँ मनमानी। ई ज्ञानमीमांसाक प्राचीन समस्या अछि।

उत्तरपक्ष: त्रुटिसंशोध्य आरम्भ

समानान्तर दर्शन पूर्ण, बाह्य, सर्वज्ञ प्रमाणक खोज नहि करैत अछि। सामान्य ज्ञान-प्रक्रियासभकेँ प्रारम्भिक अधिकार देल जा सकैत अछि जाबत उचित प्रतिरोध न हो; विरोध आएलापर पारस्परिक परीक्षण, स्वतंत्र प्रमाण, व्यावहारिक सफलता, तर्कसंगति आ स्रोत-परीक्षण द्वारा विश्वास संशोधित कएल जाए। ई अचूकतावाद नहि, त्रुटिसंशोध्यवाद अछि।

अध्याय-निष्कर्ष

ज्ञानक शत्रु संशय नहि; निराधार विश्वास आ निराधार संशय दुनू ज्ञानक बाधा अछि। प्रमाणक प्रकार क्षेत्रानुसार बदलैत अछि, मुदा सभ क्षेत्रमे एक साझा नियम अछि—दाबी, स्रोत, प्रक्रिया, प्रतिपक्ष आ संशोधनक सम्बन्ध स्पष्ट हो। समानान्तर दर्शन न्यायीय प्रमाण-संवेदनशीलता, भारतीय ज्ञानमीमांसाक बहस, आधुनिक ज्ञानमीमांसाक औचित्य-समस्या आ डिजिटल युगक स्रोत-जाँचकेँ एकहि व्यापक पद्धतिमे जोड़ैत अछि।

अध्याय-ग्रन्थसूची

गौतम — Nyāya-sūtra.

वात्स्यायन — Nyāya-bhāṣya.

गङ्गेश उपाध्याय — Tattvacintāmaṇi.

Bimal Krishna Matilal — Perception; Logic, Language and Reality.

Stephen H. Phillips — Epistemology in Classical India.

René Descartes — Meditations on First Philosophy.

David Hume — An Enquiry Concerning Human Understanding.

Stanford Encyclopedia of Philosophy — “Epistemology”; “Skepticism”; “Epistemology in Classical Indian Philosophy”.

Internet Encyclopedia of Philosophy — “Nyāya”.

अध्याय 3 – सत्य आ दृष्टिकोण

“सभक अपन-अपन सत्य अछि”—ई वाक्य सहिष्णुता व्यक्त करबाक लेल आकर्षक लगैत अछि, मुदा दार्शनिक रूपसँ सावधानी माँगैत अछि। जँ दू व्यक्ति एकहि समय, एकहि वस्तु, एकहि अर्थमे विरोधी कथन करैत छथि—“दीप जरि रहल अछि” आ “दीप नहि जरि रहल अछि”—दुनू कथन समान अर्थमे सत्य नहि भऽ सकैत अछि। मुदा एहि कठोर तथ्यसँ ई निष्कर्ष सेहो नहि निकलैत अछि जे प्रत्येक वास्तविकता केवल एकहि वर्णनमे समाप्त भऽ जाइत अछि। एकटा नदी जलप्रवाह, सिंचाइक स्रोत, सांस्कृतिक स्मृति, धार्मिक स्थल, राज्यीय संसाधन आ पारिस्थितिकी तन्त्र—सभ हो सकैत अछि। सत्य आ दृष्टिकोणक सम्बन्ध एहि दू अतिवादक बीच अछि: मनमाना सापेक्षतावाद आ एकवर्णनीय कठोरतावाद।

3.1 सत्यक प्रश्न

सत्यक प्रश्न कमसँ कम तीन स्तरपर उठैत अछि। पहिल, कथनक सत्य: “पानी समुद्रतलपर निश्चित परिस्थितिमे एहन तापमानपर उबलैत अछि।” दोसर, व्याख्याक सत्य अथवा पर्याप्तता: “एहि ऐतिहासिक आन्दोलनक मुख्य कारण आर्थिक छल।” तेसर, मूल्य-निर्णय: “ई नीति न्यायपूर्ण अछि।” एहि स्तरसभक प्रमाण आ विवादक शैली भिन्न होइत अछि। कथन परीक्षणीय आँकड़ासँ जाँचल जा सकैत अछि; ऐतिहासिक व्याख्या अनेक स्रोत आ कारणक तुलनासँ; नैतिक निर्णय सिद्धान्त, परिणाम, अधिकार आ अनुभवक संयोजनसँ।

समस्या तखन होइत अछि जखन एक स्तरक कसौटी दोसर पर जबरन लागू कएल जाए। नैतिक न्यायकेँ केवल जनमत-सर्वेक्षणसँ सिद्ध नहि कएल जा सकैत अछि; ऐतिहासिक तथ्यकेँ केवल वर्तमान नैतिक पसन्दसँ बदलल नहि जा सकैत अछि।

3.2 अनुरूपता: कथन आ वस्तु

सत्यक एक प्रभावशाली धारणा अछि जे सत्य कथन वास्तविकतासँ मेल खाइत अछि। “आँगनमे आमक गाछ अछि” तखन सत्य जँ वास्तवमे आँगनमे आमक गाछ अछि। ई सहज धारणा दैनिक जीवन, विज्ञान, न्यायालय आ इतिहासमे अत्यन्त उपयोगी अछि। दस्तावेज जे कहैत अछि, घटना वास्तवमे भेल की नहि—ई अनुरूपताक प्रश्न अछि।

मुदा “मेल” शब्द स्वयं दार्शनिक प्रश्न उठबैत अछि। जटिल वैज्ञानिक सिद्धान्त, गणितीय वस्तु, नैतिक कथन वा सामाजिक संस्था कोन प्रकार “वास्तविकतासँ मेल” खाइत अछि? एहि कठिनाई कारण सत्यक अन्य सिद्धान्त विकसित भेल, मुदा अनुरूपताक मूल अन्तर्दृष्टि—वास्तविकता हमर इच्छासँ स्वतंत्र प्रतिरोध रखैत अछि—समानान्तर दर्शन लेल महत्त्वपूर्ण अछि।

3.3 संगति: विश्वाससभक परस्पर सम्बन्ध

संगति-आधारित दृष्टिमे कोनो कथनक औचित्य ओकर व्यापक विश्वास-तन्त्रसँ सम्बन्धित अछि। एकटा नूतन ऐतिहासिक दाबी जँ स्थापित तिथि, दस्तावेज, भौगोलिक तथ्य आ स्वतंत्र स्रोतसभसँ टकराइत अछि तँ विशेष मजबूत प्रमाण माँगत। ज्ञान एकाकी वाक्यसभक ढेर नहि; परस्पर समर्थन करैत संरचना अछि।

मुदा संगति अकेले सत्यक पर्याप्त कसौटी नहि। पूर्णतः काल्पनिक कथा आन्तरिक रूपसँ संगत भऽ सकैत अछि। तेँ समानान्तर दर्शन संगतिकेँ आवश्यक बौद्धिक गुण मानैत अछि, मुदा बाह्य प्रमाणक विकल्प नहि।

3.4 व्यवहार आ सत्य

व्यवहारवादी परम्परा सत्य-विमर्शमे विचारक परिणाम, जाँचक प्रक्रिया आ दीर्घकालीन अन्वेषणक महत्त्व देखबैत अछि। भारतीय न्याय परम्परामे सेहो यथार्थ ज्ञान सफल प्रवृत्तिसँ जुड़ल उदाहरण भेटैत अछि: सही ज्ञान मनुष्यकेँ उद्देश्यपूर्ण सफल क्रियामे सहाय करैत अछि। जँ दूरसँ पानी बुझि दौड़लहुँ आ ओ मृगतृष्णा निकलल, क्रियाक असफलता भ्रमक संकेत बनैत अछि।

मुदा “जे उपयोगी, से सत्य” कहब अत्यधिक सरलीकरण अछि। झूठ कखनो अल्पकालिक लाभ दऽ सकैत अछि; सत्य कखनो कष्टकर भऽ सकैत अछि। व्यवहार सत्यक परीक्षणक एक आयाम अछि, परिभाषाक सम्पूर्ण विकल्प नहि।

3.5 भारतीय ज्ञानमीमांसा आ यथार्थ बोध

न्याय परम्परा यथार्थ बोध आ त्रुटिक भेद पर सूक्ष्म चिन्तन करैत अछि। गङ्गेश यथार्थ बोधकेँ वस्तुमे जे गुण वास्तवमे अछि ताहि अनुरूप बोधसँ जोड़ैत छथि। उदाहरणतः शुक्तिमे रजत देखबाक भ्रममे कोनो वस्तु देखाइत अवश्य अछि, मुदा आरोपित गुण वास्तविक वस्तु पर ठीक नहि बैठैत। एहि विश्लेषणमे सत्यक प्रश्न केवल वाक्यक नहि, अनुभूति आ वस्तुक सम्बन्धक सेहो अछि।

भारतीय परम्परामे सत्य-विमर्श एकरूप नहि। बौद्ध परम्पराक विभिन्न धारासभ सामान्य व्यवहारिक सत्य आ परमार्थक विश्लेषण बीच भेद करैत अछि; जैन अनेकान्तवाद वस्तुक बहुपक्षीयतापर बल दैत अछि। एहि सिद्धान्तसभकेँ “सभ सत्य बराबर”क आधुनिक नारा बनायब ऐतिहासिक रूपसँ गलत होयत। अनेकान्तवाद शर्त, दृष्टि आ नयक अनुशासन माँगैत अछि; मध्यमकक द्विसत्य-विमर्श विशिष्ट दार्शनिक उद्देश्य रखैत अछि।

3.6 दृष्टिकोणक वैधता

दृष्टिकोण किएक महत्त्वपूर्ण? कारण ज्ञाता निराकार आँखि नहि। व्यक्ति कोनो भाषा बोलैत अछि, कोनो इतिहासमे जन्मैत अछि, कोनो सामाजिक स्थान रखैत अछि, कोनो प्रशिक्षण पबैत अछि। एकहि घटनाक अलग व्यक्ति अलग पक्ष देखैत छथि। किसान नदीक जलस्तरक परिवर्तन ओहि सूक्ष्मतासँ देखि सकैत छथि जे दूरस्थ अधिकारी नहि; अधिकारीक लगे क्षेत्रीय आँकड़ा हो सकैत अछि जे एक किसानक अनुभवसँ बाहर। दुनूक दृष्टि आंशिक हो सकैत अछि, आ दुनू मिलि व्यापक ज्ञान दऽ सकैत अछि।

मुदा सामाजिक स्थान स्वतः सत्यक अचूक प्रमाण नहि। पीड़ित होयब अनुभवक विशेष पहुँच दऽ सकैत अछि, अचूकता नहि। विशेषज्ञ होयब तकनीकी ज्ञान दऽ सकैत अछि, नैतिक निष्पक्षता नहि। समानान्तर दर्शन दृष्टिकोणकेँ प्रमाणक स्रोतक रूपमे सुनैत अछि, सत्यक स्वचालित मुहरक रूपमे नहि।

3.7 सापेक्षतावादक सीमा

यदि कहल जाए “सभ सत्य केवल व्यक्तिसापेक्ष अछि”, तँ प्रश्न उठैत अछि—ई कथन स्वयं सभक लेल सत्य अछि की केवल वक्ताक लेल? जँ केवल वक्ताक लेल, तँ आन व्यक्ति ओकरा अस्वीकार कऽ सकैत अछि; जँ सभक लेल, तँ कमसँ कम एकटा असापेक्ष सत्य मानल गेल। ई पारम्परिक आत्मसन्दर्भी कठिनाई सापेक्षतावादक अतिवादी रूपक सीमा देखबैत अछि।

समानान्तर दर्शन एहि कारण सत्यक बहुदृष्टिगतता स्वीकारैत अछि, मनमानापन नहि। वस्तु बहुपक्षीय हो सकैत अछि; कथन प्रसंग-सापेक्ष हो सकैत अछि; भाषा वर्गीकरण प्रभावित करैत अछि; मुदा प्रमाण, विरोधाभास, वस्तुगत प्रतिरोध आ सार्वजनिक परीक्षण एखनो महत्त्वपूर्ण अछि।

3.8 सत्ता आ सत्य

इतिहासमे सत्ता अभिलेख चुनैत अछि, पाठ्यक्रम बनबैत अछि, भाषा मानकीकृत करैत अछि, किछु स्मृतिसभकेँ संस्थागत स्थान दैत अछि आ किछुकेँ हाशियापर छोड़ैत अछि। एहि कारण “आधिकारिक” आ “सत्य” पर्याय नहि। मुदा एहि आलोचनासँ उलटा निष्कर्ष—“जे हाशियापर अछि से अवश्य सत्य”— सेहो नहि निकलैत अछि। सत्ता-समीक्षा स्रोत-समीक्षाक विस्तार अछि, विकल्प नहि।

समानान्तर इतिहास-दृष्टि पूछैत अछि: दस्तावेज के बनौलक? कोन उद्देश्यसँ? की अनुपस्थित अछि? विपरीत स्रोत की कहैत अछि? मौखिक स्मृति कतेक पुरान, कोना प्रसारित? भौतिक प्रमाण संग मेल अछि? एहि प्रश्नसभसँ सत्ता द्वारा निर्मित मौन उजागर भऽ सकैत अछि, मुदा नूतन कथाकेँ सेहो प्रमाणक कसौटी पार करय पड़त।

3.9 तथ्य, अर्थ आ मूल्य

एकहि घटना पर तीन प्रकारक विवाद सम्भव अछि। “घटना भेल की नहि?” तथ्यक विवाद। “घटनाक अर्थ की?” व्याख्याक विवाद। “घटना उचित छल की नहि?” मूल्यक विवाद। सार्वजनिक बहसमे ई तीनू प्रायः गड्डमड्ड होइत अछि। उदाहरणतः कोनो कानून पास भेल—ई तथ्य। ओकर परिणाम गरीब समुदायपर अधिक पड़त—ई अनुभवजन्य-व्याख्यात्मक दावा, जकर आँकड़ा चाही। ई अन्यायपूर्ण अछि—ई नैतिक निष्कर्ष, जकर न्याय-सिद्धान्त चाही।

समानान्तर दर्शन प्रत्येक स्तर पर उचित प्रमाण माँगैत अछि आ स्तर बदलैत समय संकेत करैत अछि। एहि पारदर्शितासँ बहस अधिक ईमानदार बनैत अछि।

3.10 असहमति आ सत्य

बुद्धिमान, ईमानदार आ सूचित व्यक्ति सेहो असहमत भऽ सकैत छथि। असहमति स्वतः एहि बातक प्रमाण नहि जे सत्य नहि; ई संकेत भऽ सकैत अछि जे प्रमाण जटिल, मूल्य अलग, अवधारणा अस्पष्ट अथवा उपलब्ध जानकारी अपूर्ण अछि। उचित प्रतिक्रिया विरोधीकेँ मूर्ख घोषित करब नहि, बल्कि असहमतिक स्थान चिन्हब—तथ्य पर? स्रोत पर? तर्क पर? मूल्य पर? प्राथमिकता पर?

एहि पद्धतिसँ “विचारधारा” शब्द गालीक स्थानपर विश्लेषणक साधन बनैत अछि। प्रत्येक व्यक्ति किछु पूर्वधारणा लऽ कऽ अबैत अछि; दर्शनक काम ओकरा अदृश्य नहि रहय देब।

पूर्वपक्ष: सत्य बहुदृष्टिगत कहलासँ सापेक्षतावाद नहि आएत?

आपत्ति उचित अछि। जँ “बहुदृष्टिगत”क अर्थ “सभ कथन समान” लेल जाए तँ सत्य विघटित भऽ जाएत।

उत्तरपक्ष: दृष्टि बहु, कसौटी साझा

समानान्तर दर्शन कहैत अछि—दृष्टिकोण अनेक भऽ सकैत अछि, मुदा प्रत्येक दाबीकेँ उचित कारण, आन्तरिक संगति, उपलब्ध प्रमाण, प्रतिपक्ष आ अनुभवक प्रतिरोध सहन करय पड़त। अलग वर्णन परस्पर पूरक भऽ सकैत अछि; सीधा विरोधी कथनक बीच निर्णयक प्रश्न टारल नहि जा सकैत अछि।

अध्याय-निष्कर्ष

सत्य न तऽ केवल व्यक्तिगत पसन्द अछि, न प्रत्येक जटिल वास्तविकताक एकहि वाक्यमे पूर्ण कब्जा। सत्य-विमर्शमे वस्तु, कथन, दृष्टिकोण, प्रमाण, भाषा, सत्ता, उपयोग आ व्याख्या सभ भूमिका निभबैत अछि। समानान्तर दर्शनक सूत्र अछि—“सत्य बहुदृष्टिगत भऽ सकैत अछि, मुदा मनमाना नहि।” एहि सूत्रक पहिल भाग अहंकारी एकवर्णनीयतासँ बचबैत अछि; दोसर भाग निराधार सापेक्षतावादसँ।

अध्याय-ग्रन्थसूची

गङ्गेश उपाध्याय — Tattvacintāmaṇi.

नागार्जुन — Mūlamadhyamakakārikā.

उमास्वाति — Tattvārthasūtra.

William James — Pragmatism.

Charles S. Peirce — चयनित दार्शनिक लेख.

Bimal Krishna Matilal — Perception.

Stanford Encyclopedia of Philosophy — “Truth”; “The Theory of Two Truths in India”.

अध्याय 4 – ज्ञानक सीमा

जे व्यक्ति कहैत अछि “हम सभ जानैत छी”, ओ ज्ञानक नहि, अहंकारक भाषा बाजैत अछि। मानवीय ज्ञान सीमित अछि—इन्द्रिय सीमित, स्मृति त्रुटिपूर्ण, ध्यान चयनात्मक, भाषा अपूर्ण, अवधारणा ऐतिहासिक, संस्था पक्षपातग्रस्त भऽ सकैत अछि, आ प्रत्येक व्यक्तिक अनुभव सीमित। मुदा एहि सीमा सँ ई निष्कर्ष नहि निकलैत अछि जे ज्ञान असम्भव अछि। समानान्तर दर्शनक मूल सिद्धान्त अछि—ज्ञान सम्भव अछि, मुदा संशोध्य अछि।

4.1 सीमा मानब पराजय नहि

ज्ञानक सीमा स्वीकारब कखनो बौद्धिक दुर्बलता बुझल जाइत अछि। वास्तवमे “हम नहि जानैत छी” उचित परिस्थितिमे अत्यन्त मजबूत ज्ञानात्मक कथन अछि। चिकित्सक जँ परीक्षण बिना निश्चित रोग घोषित नहि करैत छथि, इतिहासकार जँ अस्पष्ट स्रोतपर “सम्भवतः” लिखैत छथि, वैज्ञानिक जँ त्रुटि-सीमा दैत छथि—ई अज्ञान नहि, अनुशासित ज्ञान अछि।

अचूकता आ ज्ञान अलग वस्तु अछि। यदि ज्ञानक शर्त ई राखल जाए जे भूलक कोनो सम्भावना नहि, तँ दैनिक आ वैज्ञानिक ज्ञानक विशाल भाग असम्भव कहल जाएत। व्यवहारमे हम पर्याप्त प्रमाण, विश्वसनीय प्रक्रिया आ संशोधनक क्षमता पर निर्भर रहैत छी।

4.2 इन्द्रियक सीमा

प्रत्यक्ष ज्ञानक मूल स्रोत अछि, मुदा इन्द्रिय विशेष परिस्थितिमे भ्रमित होइत अछि। दूरक वस्तु छोट देखाइत अछि, जलमे डण्डा टेढ़ बुझाइत अछि, अस्पष्ट प्रकाशमे रस्सी साँप बुझा सकैत अछि। एहि तथ्यसँ “सभ प्रत्यक्ष झूठ” नहि निकलैत अछि। उलटे, भ्रम चिन्हबाक लेल सेहो हम अन्य प्रत्यक्ष, स्पर्श, निकट अवलोकन, उपकरण आ परस्पर तुलना उपयोग करैत छी।

विज्ञान इन्द्रियक सीमा दूर करबाक लेल दूरबीन, सूक्ष्मदर्शी, संवेदक, स्पेक्ट्रोमीटर, चित्रण तकनीक बनबैत अछि। मुदा उपकरण सेहो सिद्धान्त, अंशांकन आ व्याख्या माँगैत अछि। “यन्त्र देखेलक” अन्तिम वाक्य नहि; प्रश्न अछि—यन्त्र कोना काम करैत अछि, सीमा की, त्रुटि कतेक?

4.3 स्मृति आ अतीत

व्यक्तिगत स्मृति छायाचित्र-जकाँ स्थिर अभिलेख नहि। मनुष्य भूलैत अछि, घटना पुनर्निर्मित करैत अछि, बादक सूचना पुरान स्मृति प्रभावित कऽ सकैत अछि। तेँ आत्मकथा, मौखिक इतिहास आ प्रत्यक्षदर्शी गवाही मूल्यवान होइतहुँ परीक्षण माँगैत अछि।

मुदा स्मृति त्रुटिपूर्ण अछि कहि कऽ ओकरा निरर्थक मानब सेहो गलत। इतिहासकार अनेक स्मृति, दस्तावेज, तिथि, भौतिक प्रमाण आ स्वतंत्र स्रोत मिलाकऽ अधिक विश्वसनीय चित्र बनबैत अछि। समानान्तर दर्शन एतय “एक स्रोत बनाम शून्य स्रोत” नहि, “स्रोतसभक पारस्परिक परीक्षण” पर बल दैत अछि।

4.4 भाषा आ अवधारणाक सीमा

हम जे अनुभव करैत छी, ओकर वर्णन भाषा द्वारा करैत छी। भाषा वर्ग बनबैत अछि—रंगक नाम, सम्बन्धक नाम, सामाजिक पद, रोगक श्रेणी, राजनीतिक पहचान। वर्गीकरण उपयोगी अछि; बिना वर्गक विचार कठिन। मुदा वर्ग वास्तविकताक सम्पूर्णता नहि।

“धर्म”, “जाति”, “राष्ट्र”, “आधुनिकता”, “न्याय”, “चेतना”—एहि शब्दसभक अर्थ इतिहास आ परम्परा अनुसार बदलैत अछि। एक भाषाक शब्दकेँ दोसर भाषामे सीधा समतुल्य मानि लेब भ्रम उत्पन्न करैत अछि। एहि ग्रन्थमे संस्कृत, मैथिली, हिन्दी आ अंग्रेजी दार्शनिक पदसभक अनुवाद करैत समय अर्थक्षेत्र स्पष्ट राखब आवश्यक अछि। समान शब्दरूप विचारक समानता सिद्ध नहि करैत अछि।

4.5 ज्ञान आ भाग्य: गेटियरक चुनौती

यदि ज्ञानकेँ केवल “सत्य विश्वास + उचित कारण” कहल जाए, तखन किछु एहन उदाहरण बनैत अछि जतय व्यक्तिक विश्वास सत्य आ उचित बुझाइत अछि, मुदा सत्यता संयोगवश होइत अछि। बीसम शताब्दीक गेटियर-विमर्श एहि कठिनाईकेँ तीक्ष्ण रूप देलक। एकर महत्त्व ई नहि जे पश्चिमी ज्ञानमीमांसा एकटा पहेलीमे फँसल; महत्त्व ई जे ज्ञानक सफलतामे केवल भीतरक विश्वास नहि, विश्वास आ जगतक उचित सम्बन्ध आवश्यक अछि।

भारतीय प्रमाणमीमांसाक प्रक्रियाकेन्द्रित दृष्टि एहि प्रश्नसँ संवाद करबाक समृद्ध अवसर दैत अछि। यथार्थ ज्ञानक उत्पादन विश्वसनीय कारण-प्रक्रियासँ जुड़ल हो—ई विचार आधुनिक विश्वसनीयतावाद आ न्यायीय प्रमाण-विश्लेषण बीच तुलनात्मक संवाद खोलैत अछि, यद्यपि दुनू परम्पराकेँ एक समान घोषित करब अनुचित होयत।

4.6 आगमनक सीमा

हम अतीतक अनेक उदाहरण देखि भविष्यक अपेक्षा बनबैत छी। सूर्य प्रतिदिन उगल, तेँ काल्हियो उगत; औषधि नियंत्रित परीक्षणमे बारम्बार प्रभावी भेल, तेँ समान परिस्थितिमे प्रभावी होयबाक सम्भावना अछि। ह्यूमक प्रसिद्ध प्रश्न अछि—अतीत भविष्यक विश्वसनीय मार्गदर्शक किएक? जँ उत्तर दी “कारण अतीतमे एहन भेल”, तँ हम ओहि सिद्धान्तकेँ ओहि सिद्धान्तसँ सिद्ध करैत छी।

व्यवहारमे विज्ञान आगमन त्यागैत नहि; सांख्यिकी, सम्भाव्यता, नियंत्रित परीक्षण, पुनरावृत्ति, कारणात्मक मॉडल आ त्रुटि-मूल्यांकन द्वारा जोखिम व्यवस्थित करैत अछि। समानान्तर दर्शनक शिक्षा: अनिश्चितता ज्ञानक विरोधी नहि; अनिश्चिततााक माप स्वयं ज्ञानक भाग हो सकैत अछि।

4.7 अन्य मन आ निजी अनुभव

हम अपन पीड़ा प्रत्यक्ष अनुभव करैत छी, दोसराक पीड़ा संकेत, कथन आ व्यवहारसँ जानैत छी। एहि अन्तरसँ “अन्य मन”क दार्शनिक समस्या उठैत अछि। मुदा सामाजिक जीवन एहि कारण रुकैत नहि। भाषा, चेहरा, व्यवहार, शरीर, साझा जैविकता आ साक्ष्यक निरन्तरता दोसर व्यक्तिक अनुभव समझबाक पर्याप्त व्यावहारिक आधार दैत अछि।

नैतिक दृष्टिसँ एतय विशेष सावधानी चाही। “हम तोहर पीड़ा प्रत्यक्ष नहि जानैत छी” कहि कऽ पीड़ाकेँ अस्वीकार करब अनुचित। संगहि प्रत्येक आत्मवर्णनकेँ बिना सन्दर्भ सार्वभौम सिद्धान्त बनायब सेहो उचित नहि। अनुभव सुनू, संदर्भ बुझू, आवश्यक स्थानपर स्वतंत्र प्रमाण जोड़ू।

4.8 सामाजिक स्थान आ ज्ञानक सीमा

ककरो सामाजिक स्थिति ओकरा किछु अनुभवक विशेष पहुँच दैत अछि आ किछु अनुभवसँ दूर राखैत अछि। ग्रामीण स्त्रीक दैनिक जल-संकट पर ज्ञान शहरक नीति-विशेषज्ञसँ अधिक सूक्ष्म भऽ सकैत अछि; नीति-विशेषज्ञक लगे क्षेत्रव्यापी आँकड़ा भऽ सकैत अछि जे एक व्यक्तिक अनुभवसँ बाहर। ज्ञानक लोकतन्त्र सभ विशेषज्ञता बराबर करब नहि, बल्कि भिन्न ज्ञान-स्थानकेँ संवादमे आनब अछि।

समानान्तर दर्शन एहि कारण उपेक्षित स्वरकेँ शामिल करैत अछि। ई नैतिक प्रतिनिधित्व मात्र नहि; ज्ञानात्मक आवश्यकता सेहो। जे समूह निर्णयक प्रभाव भोगैत अछि, ओकर अनुभव अनुपस्थित रहला सँ तथ्यक महत्त्वपूर्ण पक्ष छूटि सकैत अछि।

4.9 संस्था आ संरचित अज्ञान

अज्ञान केवल “जानकारी नहि” नहि; कखनो संस्था एहन रूपमे बनल होइत अछि जे किछु प्रश्न पूछले नहि जाइत अछि। राज्य केवल कर-संग्रहक आँकड़ा रखय, मुदा विस्थापनक सामाजिक लागत नहि; कम्पनी लाभ मापय, मुदा अवैतनिक देखभालक प्रभाव नहि; इतिहास केवल राजकीय अभिलेख सुरक्षित रखय, श्रमिक स्त्रीक मौखिक स्मृति नहि—तखन जे नापल नहि गेल से सार्वजनिक ज्ञानसँ बाहर भऽ सकैत अछि।

एहि प्रकारक संरचित अज्ञानक उत्तर कल्पना नहि, स्रोत-विस्तार अछि। नूतन प्रश्न, नूतन अभिलेख, मौखिक इतिहास, क्षेत्र-अध्ययन, स्थानीय भाषा स्रोत, भौतिक प्रमाण—ई सभ ज्ञानक्षेत्र विस्तृत करैत अछि।

4.10 “अज्ञात”, “अज्ञेय” आ “एखन अज्ञात”

ई तीन शब्द अलग राखब आवश्यक अछि। “हमरा नहि मालूम” व्यक्तिगत अज्ञान। “एखन उपलब्ध प्रमाणसँ नहि मालूम” सामूहिक वा वर्तमान सीमा। “सिद्धान्ततः जानल नहि जा सकैत” अज्ञेयताक कठोर दार्शनिक दावा। पहिल दू अवस्थासँ तेसर निष्कर्ष स्वतः नहि निकलैत अछि।

इतिहासमे अनेक वस्तु एक समय अज्ञात छल, बादमे ज्ञात भेल। संगहि किछु प्रश्न एहन हो सकैत अछि जतय प्रमाण मूलतः सीमित—जैसे प्राचीन घटनाक सूक्ष्म विवरण, जकर अभिलेख नष्ट। विद्वानक ईमानदारी एहि सीमा स्पष्ट करबमे अछि, रिक्त स्थान कल्पनासँ भरबमे नहि।

4.11 ज्ञानात्मक विनम्रता

विनम्रता अपन ज्ञानकेँ कम आँकब नहि। प्रमाण मजबूत हो तँ स्पष्ट निष्कर्ष देबाक साहस चाही। विनम्रता एहि बातक चेतना अछि जे हमर निष्कर्ष प्रमाणपर निर्भर, नव सूचना पर संशोध्य, आ हमर दृष्टि सीमित हो सकैत अछि।

समानान्तर दर्शन चारि स्तरक भाषा प्रस्तावित करैत अछि: “प्रमाणित/मजबूत रूपसँ समर्थित”, “सम्भावित”, “विवादित”, “अज्ञात”। एहि स्तरसभक स्पष्ट उपयोग इतिहास, दर्शन आ सामाजिक विश्लेषणमे झूठी निश्चितता घटा सकैत अछि।

4.12 पूर्वपक्ष: जँ ज्ञान संशोध्य अछि तँ सत्य कोना?

आपत्ति: आजक ज्ञान काल्हि बदलि सकैत अछि, तखन आज ओकरा ज्ञान किएक कहब?

उत्तर: संशोध्यता असत्यताक पर्याय नहि। नक्शा सुधारल जा सकैत अछि, मुदा पुरान नक्शा पूर्णतः निरर्थक नहि। वैज्ञानिक सिद्धान्त अधिक सटीक होइत अछि, इतिहास नूतन स्रोतसँ विस्तृत होइत अछि। ज्ञानक दाबी उपलब्ध सर्वोत्तम कारणक आधारपर होइत अछि, भविष्यक सर्वज्ञ दृष्टिसँ नहि।

अध्याय-निष्कर्ष

मानवीय ज्ञान सीमित अछि, मुदा सीमा पहचानि कऽ ज्ञान अधिक विश्वसनीय बनैत अछि। इन्द्रिय, स्मृति, भाषा, अनुमान, संस्था, सामाजिक स्थान आ ऐतिहासिक स्रोत—सभ शक्ति आ सीमा दुनू रखैत अछि। समानान्तर दर्शन न सर्वज्ञताक दावा करैत अछि, न सर्वसंशय स्वीकारैत अछि। ओकर सूत्र—“ज्ञान सम्भव अछि, मुदा संशोध्य अछि”—दार्शनिक विनम्रता आ सार्वजनिक जिम्मेवारी दुनूकेँ एक संग राखैत अछि।

अध्याय-ग्रन्थसूची

David Hume — An Enquiry Concerning Human Understanding.

Edmund Gettier — “Is Justified True Belief Knowledge?”

Bimal Krishna Matilal — Perception.

Stephen H. Phillips — Epistemology in Classical India.

Timothy Williamson — Knowledge and Its Limits.

Stanford Encyclopedia of Philosophy — “Epistemology”; “Skepticism”; “A Priori Justification and Knowledge”.

अध्याय 5 – समानान्तर दर्शनक पद्धति

समानान्तरता विरोधक दोसर नाम नहि। एकटा मुख्य सड़कक बगलमे समानान्तर बाट रहि सकैत अछि; कखनो मुख्य सड़क उपयोगी, कखनो अवरुद्ध, कखनो ओकर निर्माणे एहन जे अनेक बस्ती पहुँचसँ बाहर। समानान्तर दर्शन मुख्यधाराकेँ तोड़ि देबाक परियोजना नहि; ज्ञानक मार्ग-विन्यासकेँ विस्तृत करबाक पद्धति अछि। एकर लक्ष्य छूटल स्रोत जोड़ब, स्थापित तर्कक कठोर परीक्षण करब, परम्परासभकेँ संवादमे आनब आ अपन निष्कर्षकेँ सेहो आलोचनासँ मुक्त नहि राखब।

5.1 पद्धतिक आवश्यकता

“समानान्तर दर्शन” जँ केवल भावनात्मक घोषणा रहि जाए—“हमर परम्परा महान”—तँ ई दर्शन नहि। स्वतंत्र दार्शनिक पद्धति लेल स्पष्ट नियम चाही: स्रोत कोना चुनल जाए? प्रतिपक्ष कोना प्रस्तुत? अनुवाद कोना? ऐतिहासिक दाबी आ मौलिक प्रतिपादन कोना अलग? मिथिला, भारत आ पाश्चात्य परम्पराक तुलनामे समानता आ भिन्नता कोना मापल जाए? सामाजिक हाशियाक स्वर जोड़ैत समय प्रमाणक कसौटी बदलत की समान रहत?

एहि अध्यायमे समानान्तर दर्शनक कार्यपद्धति व्यवस्थित कएल जा रहल अछि। आगाँक सम्पूर्ण ग्रन्थ एहि पद्धतिक प्रयोग होयत।

5.2 पहिल नियम: विषयकेँ स्पष्ट परिभाषित करू

दार्शनिक विवादक आधा भ्रम शब्दक अस्पष्टतासँ उत्पन्न होइत अछि। “धर्म”, “आत्मा”, “स्वतंत्रता”, “समानता”, “आधुनिकता”, “राष्ट्र”, “ज्ञान”—प्रत्येक शब्द अनेक अर्थ रखैत अछि। तर्क आरम्भ करबाक पहिने प्रश्नक अर्थक्षेत्र स्पष्ट हो।

परिभाषा बहुत सँकरी हो तँ महत्त्वपूर्ण उदाहरण बाहर; बहुत व्यापक हो तँ भेद नष्ट। तेँ समानान्तर पद्धति कार्यपरिभाषासँ आरम्भ करैत अछि, तकर सीमा स्पष्ट करैत अछि आ अध्याय बढ़ैत परिभाषा संशोधित करबाक अनुमति दैत अछि। विश्लेषणात्मक दर्शनमे अवधारणात्मक विश्लेषणक विविध रूप, आ नव्य-न्यायमे अवच्छेद-सचेत परिभाषा—दुनू एहि अनुशासनक अलग उदाहरण प्रदान करैत अछि।

5.3 दोसर नियम: स्रोतक स्तर अलग करू

प्राथमिक स्रोत—मूल ग्रन्थ, पत्र, अभिलेख, भाषण, शिलालेख, समकालीन दस्तावेज।

द्वितीयक स्रोत—सम्पादित संस्करण, अनुवाद, शोधग्रन्थ, विद्वत् लेख।

तृतीयक स्रोत—विश्वकोश, पाठ्यपुस्तक, सामान्य सारांश।

लोक-स्रोत—मौखिक स्मृति, गीत, कथा, स्थानीय अभिलेख, पारिवारिक पञ्जी, सामुदायिक परम्परा।

समानान्तर दर्शन लोक-स्रोतकेँ स्वतः निम्न नहि मानैत, मुदा ओकर प्रकृति स्पष्ट करैत अछि। मौखिक स्मृति राजकीय आदेश-जकाँ प्रमाण नहि; राजकीय आदेश सेहो निष्पक्ष आत्मवर्णन नहि। प्रत्येक स्रोतक प्रश्न अलग: के बनौलक? कखन? कोन उद्देश्य? प्रसारण कोना? पाठभेद? स्वतंत्र पुष्टि? मौन की?

5.4 तेसर नियम: पूर्वपक्षकेँ सबल रूपमे प्रस्तुत करू

प्रतिपक्षकेँ जानि-बुझि कऽ दुर्बल बनाकऽ हराएब बौद्धिक छल अछि। भारतीय शास्त्रार्थ परम्परामे पूर्वपक्ष-उत्तरपक्षक संरचना एहि कारण महत्त्वपूर्ण अछि। समानान्तर दर्शन “सबल प्रतिपक्ष” सिद्धान्त अपनबैत अछि: विरोधी मतक समर्थक जँ हमर वर्णन पढ़थि तँ कहि सकथि—“हाँ, हमर तर्क ठीक रूपमे प्रस्तुत अछि।”

एहि नियमक आधुनिक लाभ विशेष अछि। राजनीतिक आ धार्मिक बहसमे विरोधीकेँ चरम, हास्यास्पद रूपमे प्रस्तुत करब सहज अछि। दर्शनक अनुशासन एहि प्रवृत्तिक प्रतिरोध करैत अछि। आलोचना तखन मूल्यवान जखन ओ असली तर्कक उत्तर दैत अछि।

5.5 चारिम नियम: वाद, जल्प आ वितण्डाक भेद

न्याय परम्परा सत्य-अन्वेषी वाद आ विजय-केन्द्रित विवादक भेद चिन्हैत अछि। वादमे पक्षसभक उद्देश्य विषयक यथार्थ निर्णय; जल्पमे विजय; वितण्डामे अपन सकारात्मक मत स्थापित किए बिना केवल प्रतिपक्षक खण्डन। आधुनिक सार्वजनिक जीवनमे एहि भेदक अपार प्रासंगिकता अछि।

दूरदर्शन बहस, सामाजिक माध्यम, दलगत वाद-विवादमे कखनो प्रश्न सत्यक नहि, प्रदर्शनक होइत अछि। समानान्तर दर्शन वादकेँ आदर्श मानैत अछि: स्पष्ट दावा, स्वीकार्य प्रमाण, परिभाषित शब्द, प्रतिपक्षक उत्तर, भूल स्वीकारबाक सम्भावना। जल्प आ वितण्डाकेँ पहचानब सेहो पद्धतिक भाग अछि, कारण प्रत्येक बहस ज्ञान उत्पन्न करबाक लेल नहि होइत अछि।

5.6 पाँचम नियम: प्रमाणक समान कसौटी

अपन प्रिय परम्पराक लेल नरम आ विरोधीक लेल कठोर प्रमाण-कसौटी—ई पक्षपात अछि। जँ पाश्चात्य दार्शनिकक तिथि लेल आलोचनात्मक संस्करण माँगैत छी, मिथिलाक दार्शनिकक तिथि लेल सेहो स्रोत चाही। जँ राजकीय इतिहासक दाबी पर संदेह करैत छी, लोककथा पर सेहो उचित जाँच चाही।

समानताक अर्थ सभ स्रोत एकहि प्रकारक नहि; अर्थ ई जे प्रमाणक भार दाबीक प्रकृतिसँ तय हो, भावनात्मक निकटतासँ नहि। असाधारण दाबी अधिक स्पष्ट स्रोत माँगैत अछि। अनिश्चित स्रोत हो तँ निष्कर्षक भाषा सेहो अनिश्चित रहय।

5.7 छठम नियम: इतिहास आ दर्शन अलग, मुदा संवादरत

ऐतिहासिक प्रश्न—“अमुक ग्रन्थ कखन लिखल गेल?” दार्शनिक प्रश्न—“ओकर तर्क वैध अछि?” दुनू अलग। गलत तिथि सही तर्ककेँ स्वतः गलत नहि करैत अछि; सही तिथि गलत तर्ककेँ सही नहि। मुदा ऐतिहासिक प्रसंग तर्कक अर्थ बुझबाक लेल महत्त्वपूर्ण।

समानान्तर दर्शन पहिने ऐतिहासिक स्थितिक यथासम्भव स्रोतसम्मत पुनर्निर्माण करैत अछि, तकर बाद दार्शनिक मूल्यांकन। एहि क्रमसँ वर्तमान अवधारणाकेँ अतीतपर जबरन थोपबाक अनैतिहासिकता घटैत अछि।

5.8 सातम नियम: अनुवादकेँ दार्शनिक समस्या मानू

“प्रमाण” = evidence लिखि देब सदैव पर्याप्त नहि; pramāṇa ज्ञान-उत्पादक साधनक तकनीकी अर्थ रखैत अछि। “धर्म” = religion सेहो अनेक सन्दर्भमे अधूरा; धर्म कर्तव्य, व्यवस्था, गुण, शिक्षण, धार्मिक परम्परा आदि अर्थ लऽ सकैत अछि। “आत्मन्”, “self”, “person”, “subject” समानार्थी मानलासँ गम्भीर भ्रम उत्पन्न भऽ सकैत अछि।

तेँ समानान्तर पद्धति तकनीकी पदक पहिल उपयोगपर मूल पद, कार्यार्थ आ अनुवाद सीमा स्पष्ट करैत अछि। तुलनात्मक दर्शन शब्द-समानता नहि, समस्या-समानता, तर्क-संरचना आ ऐतिहासिक भिन्नता देखैत अछि।

5.9 आठम नियम: तुलनाक तीन स्तर

पहिल, विषयगत तुलना: दुनू परम्परा ज्ञान पर चर्चा करैत अछि। ई सबसँ कमजोर समानता।

दोसर, समस्या-संरचनात्मक तुलना: न्यायमे व्याप्ति आ ह्यूममे आगमन—दुनू ज्ञात उदाहरणसँ सामान्य सम्बन्धक औचित्यक प्रश्न छुबैत अछि, मुदा ऐतिहासिक भाषा आ समाधान भिन्न। ई अधिक फलदायी तुलना।

तेसर, तर्क-संवाद: एक परम्पराक तर्क दोसराक आपत्तिक उत्तर दऽ सकैत अछि की? एतय वास्तविक तुलनात्मक दर्शन आरम्भ होइत अछि।

समानान्तर दर्शन तेसर स्तर धरि पहुँचनाइ चाहैत अछि, मुदा झूठी समानता बिना। “गङ्गेश पहिनहि आधुनिक विश्लेषणात्मक दर्शन कहि देने छलाह” जकाँ विजयवादी कथन दार्शनिक अध्ययनकेँ नुकसान करैत अछि। ऐतिहासिक स्वतन्त्रता सम्मानित रहय।

5.10 नवम नियम: केन्द्र आ हाशिया दुनूक अध्ययन

मुख्य ग्रन्थ उपलब्ध होइत अछि कारण संस्थासभ ओकरा सुरक्षित रखैत अछि। हाशियाक ज्ञान मौखिक, क्षेत्रीय भाषा, स्त्रीक गीत, श्रमिक व्यवहार, स्थानीय दस्तावेज अथवा नष्ट होइत स्मृतिमे रहि सकैत अछि। समानान्तर दर्शन एहि अनुपस्थितिकेँ विषय बनबैत अछि।

मुदा “हाशिया” स्वयं एकरूप नहि। कोनो समुदाय एक सन्दर्भमे पीड़ित, दोसरमे प्रभुत्वशाली हो सकैत अछि। जाति, वर्ग, लिंग, भाषा, क्षेत्र आ धर्मक सम्बन्ध जटिल। तेँ केन्द्र-हाशिया विश्लेषण स्थिर नैतिक लेबल नहि, सत्ता-संरचनाक परीक्षण अछि।

5.11 दसम नियम: अनुभव आ सिद्धान्तक परस्पर परीक्षण

दार्शनिक सिद्धान्त दैनिक अनुभवसँ पूर्णतः कटि जाए तँ खोखला अमूर्तन बनि सकैत अछि; केवल अनुभव सिद्धान्त बिना बिखरल विवरण। आधुनिक नैतिक दर्शनमे “प्रतिबिम्बी संतुलन”क पद्धति विशिष्ट निर्णय,

सामान्य सिद्धान्त आ पृष्ठभूमि ज्ञानकेँ परस्पर संशोधित करैत आगे बढ़ैत अछि। समानान्तर दर्शन एहि व्यापक अन्तर्दृष्टिकेँ अपन रूपमे ग्रहण करैत अछि: सिद्धान्त उदाहरण जाँचय, उदाहरण सिद्धान्त जाँचय, आ नव प्रमाण दुनूकेँ बदलि सकय।

मुदा संगति मात्र पर्याप्त नहि। यदि पूरा विश्वास-तन्त्र पूर्वग्रहग्रस्त अछि तँ भीतरक संतुलन अन्यायपूर्ण रहि सकैत अछि। तेँ बाह्य स्रोत, विरोधी दृष्टि, ऐतिहासिक अनुभव आ प्रभावित समुदायक स्वर आवश्यक अछि।

5.12 विश्लेषण, वंशावली आ प्रघटनात्मक वर्णन

कोनो एक दार्शनिक विधि सभ प्रश्न लेल पर्याप्त नहि। अवधारणात्मक विश्लेषण शब्द आ तर्क स्पष्ट करैत अछि। वंशावली पूछैत अछि—कोनो मूल्य वा श्रेणी ऐतिहासिक रूपसँ कोना बनल? प्रघटनात्मक वर्णन अनुभव कतेक रूपमे प्रकट होइत अछि से देखैत अछि। विज्ञान आ सामाजिक शोध अनुभवजन्य तथ्य दैत अछि। पाठालोचना ग्रन्थक रूप आ पाठभेद जाँचैत अछि।

समानान्तर दर्शन पद्धतिगत बहुलता स्वीकारैत अछि, मुदा “जे मन पड़ल से विधि” नहि। प्रश्नक प्रकृति अनुसार विधि चुनल जाए आ चयनक कारण स्पष्ट हो।

5.13 मौलिक प्रतिपादन आ स्रोतक भेद

एहि ग्रन्थमे “समानान्तर दर्शन”क अनेक सूत्र लेखकक स्वतंत्र दार्शनिक प्रतिपादन छथि—जैसे बहुप्रमाणीय विवेकवाद, सहअस्तित्वात्मक यथार्थवाद, गरिमा-आधारित नैतिकता, बहुकेन्द्रिक लोकतन्त्र। एहि प्रतिपादनकेँ

प्राचीन ग्रन्थपर आरोपित नहि कएल जाएत। प्राचीन वा आधुनिक स्रोत प्रेरणा, तर्क अथवा प्रतिपक्ष देत; मौलिक संश्लेषण स्पष्ट रूपसँ वर्तमान प्रतिपादन रहत।

ई भेद बौद्धिक ईमानदारी लेल अनिवार्य अछि। “फलाँ प्राचीन दार्शनिक वास्तवमे हमर आधुनिक सिद्धान्ते कहैत छलाह” जकाँ दावा ऐतिहासिक जटिलता मिटा दैत अछि। समानान्तर दर्शन परम्परासँ संवाद करैत अछि, परम्पराकेँ अपन मुखपत्र नहि बनबैत अछि।

5.14 पद्धतिक बारह चरण

समानान्तर दार्शनिक अध्ययनक कार्य-क्रम एहि प्रकार राखल जा सकैत अछि:

1. प्रश्न स्पष्ट करू।
2. प्रमुख तकनीकी पद परिभाषित करू।
3. प्राथमिक आ विश्वसनीय द्वितीयक स्रोत चिन्हित करू।
4. ऐतिहासिक प्रसंग अलग स्थापित करू।
5. मूल मतकेँ ओकर सबलतम रूपमे प्रस्तुत करू।
6. प्रमुख प्रतिपक्ष आ आपत्ति प्रस्तुत करू।
7. प्रमाणक प्रकार आ सीमा चिन्हित करू।
8. तुलनीय भारतीय, मिथिला, पाश्चात्य अथवा सामाजिक परम्परा चुनू।
9. समानता संग भिन्नता स्पष्ट करू।

10. वर्तमान जीवन वा ज्ञानक प्रश्नसँ सम्बन्ध जाँचू।

11. स्वतंत्र समानान्तर निष्कर्ष दिअ, स्रोतक मतसँ स्पष्ट भेद राखि।

12. निष्कर्षक सीमा, अनिश्चितता आ भविष्यक आपत्ति लेल खुलापन लिखू।

एहि बारह चरणक उद्देश्य प्रत्येक अध्यायकेँ यान्त्रिक साँचा बनायब नहि; बौद्धिक जवाबदेही सुनिश्चित करब अछि।

5.15 पद्धतिक नैतिकता

दर्शन केवल तार्किक शुद्धता नहि; व्याख्याक नैतिकता सेहो। मृत लेखक अपन उत्तर नहि दे सकैत छथि, अल्पसंख्यक समुदायक कथन आसानीसँ विकृत भऽ सकैत अछि, अनुवाद शक्ति-सन्तुलन बदलि सकैत अछि। तेँ उद्धरण सन्दर्भसहित, आलोचना न्यायपूर्ण, अनिश्चितता स्पष्ट, आ उपेक्षित स्वरक प्रतिनिधित्व सावधान हो।

विशेष रूपसँ सामाजिक-राजनीतिक दर्शनमे पीड़ा “उदाहरण” मात्र नहि। जाति, लिंग, गरीबी, हिंसा, धार्मिक दमन आ विस्थापनक चर्चा वास्तविक मनुष्यक अनुभवसँ जुड़ल अछि। दार्शनिक दूरी आवश्यक, अमानवीय निर्लिप्तता नहि।

5.16 आत्मसमीक्षा: समानान्तर दर्शन स्वयं कसौटीपर

जँ समानान्तर दर्शन मुख्यधारासँ प्रमाण माँगैत अछि तँ अपन दाबी सँ सेहो माँगत। जँ ओ बहुलता समर्थित करैत अछि तँ आलोचकक स्वर स्वीकारत। जँ ओ सत्ता-समीक्षा करैत अछि तँ अपन लेखकत्व, चयन आ मौनक सत्ता सेहो जाँचत। एहि आत्मसमीक्षा बिना समानान्तर दर्शन नूतन “मुख्यधारा” बनबाक जोखिम रखैत अछि।

एहि कारण पद्धतिक पाँच मूल प्रतिज्ञा पुनः स्थापित होइत अछि: स्थापित विचारकेँ सबल रूपमे बुझू; ओकर इतिहास देखू; छूटल स्वर खोजू; विरोधी विचारकेँ प्रत्यक्ष संवादमे आनू; अपन निष्कर्षकेँ संशोधन लेल खुला रखू।

पूर्वपक्ष: एतेक पद्धति दर्शनक सृजनात्मकता मारि देत

कहल जा सकैत अछि जे स्रोत, परिभाषा, प्रमाण, पूर्वपक्ष, अनुवाद, ऐतिहासिक सावधानी—एतेक नियमसँ दर्शन केवल शुष्क शोध बनि जाएत।

उत्तरपक्ष: अनुशासन सृजनात्मकताक शत्रु नहि

संगीतमे रागक व्याकरण सृजन रोकी नहि; उलटे सूक्ष्मता सम्भव करैत अछि। दार्शनिक अनुशासन कल्पनाकेँ तथ्यक वेशमे प्रस्तुत होएबासँ रोकैत अछि। स्वतंत्र प्रतिपादन तखन अधिक शक्तिशाली होइत अछि जखन पाठक जानैत छथि जे इतिहास कतय समाप्त आ लेखकक नूतन तर्क कतयसँ आरम्भ।

अध्याय-निष्कर्ष

समानान्तर दर्शनक पद्धति न तऽ केवल तुलनात्मक दर्शन, न केवल क्षेत्रीय इतिहास, न केवल सामाजिक आलोचना। ई स्रोत-समीक्षा, अवधारणात्मक स्पष्टता, प्रमाणमीमांसा, सबल पूर्वपक्ष, बहुपद्धति, इतिहास-सचेत तुलना, केन्द्र-हाशिया विश्लेषण आ आत्मसमीक्षाक संयुक्त अनुशासन अछि। एहि पद्धतिक उद्देश्य नूतन कट्टरता बनायब नहि, बल्कि एहन दार्शनिक क्षेत्र बनायब अछि जतय मिथिला, भारतीय, पाश्चात्य, सामाजिक, राजनीतिक आ धार्मिक परम्परासभ समान आलोचनात्मक गरिमासँ संवाद कऽ सकथि।

अध्याय-ग्रन्थसूची

गौतम — Nyāya-sūtra.

वात्स्यायन — Nyāya-bhāṣya.

गङ्गेश उपाध्याय — Tattvacintāmaṇi.

Bimal Krishna Matilal — Logic, Language and Reality.

Jonardon Ganeri — Philosophy in Classical India.

John Rawls — A Theory of Justice.

Stanford Encyclopedia of Philosophy — “Analysis”; “Argument and Argumentation”; “Reflective Equilibrium”.

Internet Encyclopedia of Philosophy — “Nyāya”.

द्वितीय खण्ड – भारतीय दर्शन

अध्याय 6 – वैदिक चिन्तन आ उपनिषदिक प्रश्न

भारतीय दर्शनक प्राचीनतम पृष्ठभूमिकेँ एकटा तैयार सिद्धान्तक इतिहासक रूपमे पढ़ब उचित नहि। वैदिक साहित्य, ब्राह्मण, आरण्यक आ उपनिषदसभमे अनुष्ठान, देवता, जगत-उत्पत्ति, वाक्, मृत्यु, आत्मा, कर्म, ज्ञान आ मुक्ति सम्बन्धी अनेक स्वर एक-दोसरासँ संवाद करैत, बदलैत आ कखनो विरोध सेहो करैत अछि। एहि बहुवचन संसारसँ बादक व्यवस्थित दर्शनसभक प्रश्न उभरैत अछि।

6.1 ऋग्वैदिक प्रश्न: सृष्टिक निश्चित कथा नहि

ऋग्वेदमे विश्वोत्पत्तिक अनेक कल्पना भेटैत अछि। प्रसिद्ध नासदीय सूक्त अस्तित्व आ अनस्तित्व, अन्धकार, इच्छा आ सृष्टिक मूल पर प्रश्न उठबैत अछि, आ अन्तमे ज्ञानक सीमा पर असाधारण संशय व्यक्त करैत अछि—सृष्टिक अंतिम रहस्य स्वयं सर्वोच्च पर्यवेक्षक जानैत छथि की नहि, एहि प्रश्नकेँ सेहो खुला राखैत अछि।

एहि सूक्तक महत्त्व एहि बातमे नहि जे ओ आधुनिक cosmology क वैज्ञानिक सिद्धान्त देलक; महत्त्व ई जे धार्मिक काव्यक भीतर स्वयं ज्ञानक सीमा आ सृष्टिक कारण पर प्रश्न उपस्थित अछि। समानान्तर दर्शन एहि संशयशील स्वरकेँ भारतीय बौद्धिक परम्पराक एक महत्त्वपूर्ण आरम्भिक रूप मानैत अछि।

6.2 ऋत, यज्ञ आ विश्व-व्यवस्था

वैदिक संसारमे ऋत—व्यवस्था, नियमितता, सत्य-संगत विश्वक्रम—एक महत्त्वपूर्ण धारणा अछि। यज्ञ केवल निजी धार्मिक कर्म नहि, सामाजिक आ ब्रह्माण्डीय व्यवस्था सँ सम्बद्ध अनुष्ठानक रूपमे विकसित भेल। मंत्र, उच्चारण, क्रम, पात्र, दान आ समयक शुद्धता द्वारा मनुष्य विश्व-व्यवस्थामे भाग लेत अछि—एहन धार्मिक-अनुष्ठानिक कल्पना ब्राह्मण साहित्यमे अत्यन्त विकसित होइत अछि।

मुदा बादक उपनिषदिक चिन्तनकेँ ‘यज्ञ छोड़ि दर्शन शुरू भेल’ जकाँ सरल रेखा बनायब गलत। उपनिषद अनेक बेर यज्ञीय पदकेँ भीतरक ज्ञान, प्राण, ध्यान वा प्रतीकात्मक सम्बन्धक रूपमे पुनर्व्याख्यायित करैत अछि। अस्वीकार, रूपान्तरण आ निरन्तरता एकसाथ भेटैत अछि।

6.3 बाह्य अनुष्ठानसँ अन्तर्मुख प्रश्न

आरण्यक आ उपनिषदिक साहित्यक एक प्रमुख प्रवृत्ति ई अछि जे बाह्य अनुष्ठानक अर्थ शरीर, प्राण, मन, वाक्, स्मृति आ चेतनाक संरचनासँ जोड़ल जाए। यज्ञक वेदी ब्रह्माण्ड वा शरीरक प्रतीक बनि सकैत अछि; मंत्रक शक्ति वाक् आ ज्ञानक प्रश्न खोलैत अछि; प्राण देवतासभक बीच श्रेष्ठता-विमर्शक विषय बनैत अछि।

ई ‘आध्यात्मिकता बनाम कर्मकाण्ड’क सरल संघर्ष नहि। अनेक पाठमे कर्म आ ज्ञानक सम्बन्ध जटिल अछि। किछु ठाम ज्ञान कर्मकेँ अधिक गूढ़ अर्थ दैत अछि; किछु ठाम आत्मज्ञान बाह्य साधनसँ श्रेष्ठ घोषित होइत अछि।

6.4 उपनिषद एक पुस्तक नहि, संवादक परिवार

‘उपनिषद’ नाम अनेक काल, शैली आ बौद्धिक परिस्थिति मे रचल ग्रन्थसभक समूहक संकेत अछि। बृहदारण्यक आ छान्दोग्य प्राचीनतम प्रमुख उपनिषदसभमे गिनल जाइत अछि; केन, कठ, ईश, प्रश्न, मुण्डक आदि अलग स्वर आ दार्शनिक बल रखैत अछि। एहि साहित्यकेँ एकहि व्यवस्थित दर्शन मानि पढ़ला सँ वास्तविक मतभेद नष्ट भऽ जाइत अछि।

कहीं आत्मा ब्रह्मसँ गहन सम्बन्धमे; कहीं मृत्यु-पश्चात गतिक प्रश्न; कहीं प्राणक प्रधानता; कहीं ज्ञान आ कर्मक भेद; कहीं अवर्णनीय परम वास्तविकता पर बल। समानान्तर दर्शन उपनिषदिक बहुवचनताकेँ ऐतिहासिक समस्या नहि, दार्शनिक संसाधन मानैत अछि।

6.5 आत्मन्: ‘हम’ के?

उपनिषदिक चिन्तनक केन्द्रमे आत्मन् सम्बन्धी प्रश्न बारम्बार उठैत अछि। मनुष्य शरीर अछि? श्वास? इन्द्रिय? मन? स्मृति? इच्छा? ज्ञान? की एहि परिवर्तनशील अवस्थासभक पाछाँ कोनो गहन आत्मा अछि?

बृहदारण्यक उपनिषदमे याज्ञवल्क्यक संवादसभ आत्माकेँ साधारण वस्तु-जकाँ पकड़ि लेल जा सकय एहन सत्ता नहि मानैत। ‘नेति नेति’ प्रकारक निषेधात्मक भाषा बतबैत अछि जे आत्मा/परम वास्तविकताकेँ परिचित गुणक सूचीमे पूर्णत: समेटब कठिन। एहि पद्धतिमे ज्ञान सकारात्मक परिभाषा मात्र नहि; गलत तादात्म्य हटेनाइ सेहो अछि।

6.6 ब्रह्म: मंत्रसँ परम आधार धरि

‘ब्रह्मन्’ शब्दक अर्थ वैदिक इतिहासमे विकसित होइत अछि। मंत्र, पवित्र वाणी वा अनुष्ठानिक शक्ति सम्बन्धी अर्थसँ उपनिषदिक सन्दर्भमे ई जगत, ज्ञान आ अस्तित्वक परम आधारक दार्शनिक अर्थ ग्रहण करैत अछि। मुदा सभ उपनिषद ब्रह्मकेँ एकहि परिभाषामे नहि रखैत।

छान्दोग्यक शिक्षासभ अस्तित्वक मूल एकता आ जीवक गहन आधारक सम्बन्ध पर बल दैत अछि; बृहदारण्यक परम वास्तविकताकेँ सकारात्मक आ निषेधात्मक दुनू भाषामे खोजैत अछि। बादक वेदान्त विद्यालय एहि वाक्यसभक भिन्न व्याख्या करैत अछि—ई तथ्य देखबैत अछि जे उपनिषदिक पाठ स्वयं बादक अद्वैत, विशिष्टाद्वैत वा द्वैतक तैयार रूप नहि।

6.7 उद्दालक आ श्वेतकेतु: पदार्थ, जीवन आ आत्मबोध

छान्दोग्य उपनिषदक उद्दालक-श्वेतकेतु संवाद शिक्षा-पद्धतिक दृष्टिसँ महत्त्वपूर्ण अछि। गुरु केवल निष्कर्ष घोषित नहि करैत, माटि-घट, धातु, बीज, लवण आदि उदाहरणद्वारा दृश्य विविधताक पाछाँ सामान्य आधार बुझाबयक प्रयास करैत छथि। ‘एक जानला सँ अनेक कोना जानल जाए?’—ई प्रश्न ज्ञानक संगठनक समस्या अछि।

एहि संवादकेँ आधुनिक chemistry वा physics क पूर्वाभास मानब उचित नहि। एकर लक्ष्य तत्त्वमीमांसीय आ आत्मविद्यात्मक अछि। मुदा उदाहरण, सामान्यीकरण आ प्रत्यक्ष अनुभवक उपयोग दार्शनिक शिक्षाक प्राचीन पद्धति अवश्य देखबैत अछि।

6.8 याज्ञवल्क्य आ मैत्रेयी: धन, प्रेम आ अमरत्व

बृहदारण्यक उपनिषदमे याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संवाद एकटा गहन प्रश्न उठबैत अछि—धन मनुष्यकेँ अमरत्व दऽ सकैत अछि की? उत्तर नकारात्मक। संवाद प्रेमक संरचनाकेँ सेहो आत्मा-सापेक्ष विश्लेषण करैत अछि: प्रिय वस्तु अपनेमे नहि, आत्मासँ सम्बन्ध कारण प्रिय—एहन तर्क प्रस्तुत होइत अछि।

एहि अंशकेँ आधुनिक मनोवैज्ञानिक स्वार्थवादक सरल रूप नहि मानबाक चाही। प्रश्नक पृष्ठभूमि अमरत्व, आत्मज्ञान आ अस्तित्वक अंतिम मूल्य अछि। तथापि ई संवाद ‘मनुष्य ककरा लेल चाहैत अछि?’ नैतिक-मनोवैज्ञानिक प्रश्न खोलैत अछि।

6.9 गार्गी: प्रश्नक सीमा आ निर्भीकता

बृहदारण्यकक जनक-सभामे गार्गी वाचक्नवी याज्ञवल्क्यसँ जगतक अंतिम आधार पर लगातार प्रश्न करैत छथि—जे किछु ‘ओत-प्रोत’ अछि, ओ स्वयं ककरामे? प्रश्न कारण-शृंखलाकेँ अधिकाधिक गहन स्तर दिस लऽ जाइत अछि।

एहि संवादक ऐतिहासिक महत्त्व केवल ‘एक स्त्री दार्शनिक’क प्रतीकात्मक उल्लेख नहि। ओ सार्वजनिक शास्त्रार्थमे ब्रह्मविद्याक मूल प्रश्न उठबैत छथि। तथापि एक उदाहरणसँ प्राचीन समाजक सम्पूर्ण लैंगिक समानता सिद्ध नहि कएल जा सकैत। समानान्तर दर्शन प्रतिनिधि उदाहरण आ व्यापक सामाजिक संरचनाक बीच भेद रखैत अछि।

6.10 नचिकेता: मृत्युकेँ प्रश्न

कठोपनिषदमे नचिकेता मृत्यु-देव यमसँ धन, दीर्घायु आ सुखक आकर्षक प्रस्ताव छोड़ि मृत्यु-पश्चात मनुष्यक स्थिति पूछैत अछि। कथा दार्शनिक विकल्पक रूप धारण करैत अछि—श्रेय आ प्रेय, स्थायी आ क्षणिक, आत्मबोध आ विषयासक्ति।

रथरूपकमे शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आ आत्माक सम्बन्ध एक अनुशासनात्मक मॉडलद्वारा प्रस्तुत होइत अछि। बादक सांख्य-योगक संरचनासँ तुलना सम्भव, मुदा कठोपनिषदकेँ पूर्ण विकसित सांख्यक ग्रन्थ कहब अनैतिहासिक होयत।

6.11 केनोपनिषद: ज्ञानक विडम्बना

केनोपनिषद पूछैत अछि—मन ककर प्रेरणासँ सोचैत अछि? वाणीकेँ वाणी देनिहार की? आँखिक दृष्टिक पाछाँ की? उत्तर परम तत्त्वकेँ साधारण ज्ञेय वस्तु जकाँ पकड़ब कठिन बतबैत अछि। जे सोचैत अछि ‘हम पूर्णतः जानि लेलहुँ’, संभवतः ओ नहि जानलक; जे अपन ज्ञानक सीमा बुझैत अछि, ओ अधिक निकट।

ई आत्म-विरोधी अज्ञानक महिमामण्डन नहि। प्रश्न अछि—ज्ञाता स्वयं ज्ञानक वस्तु कोना बनत? चेतनाकेँ बाहरी वस्तु-जकाँ पूर्णतः वस्तुकरण सम्भव की? ई प्रश्न आधुनिक philosophy of mind धरि जीवित अछि।

6.12 कर्म आ पुनर्जन्मक विकसित धारणा

उपनिषदिक साहित्यमे कर्म बाह्य अनुष्ठानक अर्थसँ नैतिक-जीवनगत परिणामक व्यापक सिद्धान्त दिस विकसित होइत देखाइत अछि। कर्म, ज्ञान, इच्छा आ मृत्यु-पश्चात गति बीच सम्बन्धक अनेक रूप भेटैत अछि। एकहि सर्वमान्य सूत्र सभ पाठमे नहि।

परवर्ती भारतीय दर्शन कर्म-सिद्धान्तकेँ अलग-अलग तत्त्वमीमांसीय आधारपर व्यवस्थित करैत अछि—बौद्ध अनात्मवाद, जैन जीववाद, न्यायीय आत्मा, वेदान्तीय आत्मब्रह्म सम्बन्ध। तेँ ‘भारतीय कर्म सिद्धान्त’ एकवचनमे लिखब कई भिन्न सिद्धान्तकेँ मिटा देत।

6.13 ज्ञान आ मुक्ति

उपनिषदसभमे एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन ई अछि जे मुक्तिक मार्गमे ज्ञान निर्णायक महत्त्व पबैत अछि। ‘जानब’ एतय तथ्य-सूची याद करब नहि; अपन अस्तित्वक वास्तविक आधारक रूपान्तरणकारी बोध। तथापि ज्ञान, ध्यान, संयम, कर्म आ जीवन-पद्धतिक सम्बन्ध ग्रन्थानुसार बदलैत अछि।

एहि ठाम दर्शनक उद्देश्य स्पष्ट रूपेँ अस्तित्वगत अछि। प्रश्न केवल ‘सत्य कथन की?’ नहि; ‘सत्य जानला सँ जीवन-मृत्युक अर्थ कोना बदलैत अछि?’ सेहो।

6.14 उपनिषद आ तर्क

उपनिषद आधुनिक औपचारिक दार्शनिक ग्रन्थ नहि, मुदा ओकर संवादसभमे तर्कक प्रारम्भिक संरचना स्पष्ट अछि—प्रतिप्रश्न, उदाहरण, निषेध, विरोधी उत्तर, अनुभवक परीक्षण, सार्वजनिक विद्वत्-सभा। जनकक सभासभ विशेष रूपेँ ज्ञानक सार्वजनिक प्रतिस्पर्धा आ परीक्षा देखबैत अछि।

बादक न्यायीय वाद-पद्धतिकेँ सीधे एहि संवादसँ उत्पन्न कहब ऐतिहासिक प्रमाण बिना उचित नहि; मुदा भारतीय बौद्धिक परम्परामे प्रश्नोत्तर आ कारण-दर्शनक दीर्घ पृष्ठभूमि स्पष्ट अछि।

6.15 मिथिला/विदेहक सन्दर्भ

बृहदारण्यक उपनिषदमे विदेहक राजा जनक आ याज्ञवल्क्यक संवाद एहि ग्रन्थक व्यापक मिथिला-केंद्रित परियोजना लेल विशेष महत्त्व रखैत अछि। मुदा प्राचीन ‘विदेह’क भूगोल, आधुनिक राजनीतिक सीमा आ वर्तमान मैथिली पहचानकेँ बिना ऐतिहासिक मध्यवर्ती चरणक एक समान मानब उचित नहि।

एहि अध्यायमे विदेह केवल स्रोत-सम्मत ऐतिहासिक सन्दर्भक रूपमे उपस्थित अछि; आगाँ स्वतंत्र खण्डमे विदेह, मिथिला आ शास्त्रार्थ-परम्पराक ऐतिहासिक सम्बन्ध अधिक सावधानीसँ विवेचित होयत।

6.16 पूर्वपक्ष: की उपनिषद केवल आध्यात्मिक कविता अछि?

आपत्ति: रूपक, कथा आ रहस्यात्मक भाषा कारण उपनिषदकेँ कठोर दर्शन मानब कठिन। स्पष्ट परिभाषा आ औपचारिक तर्क अनेक ठाम अनुपस्थित।

उत्तरपक्ष: दर्शनक रूप केवल सूत्रबद्ध तर्क नहि। उपनिषद अस्तित्व, ज्ञान, आत्म, मृत्यु, कारण, मूल्य आ भाषाक सीमा पर व्यवस्थित प्रश्न उठबैत अछि; संवाद आ उदाहरणद्वारा तर्क विकसित करैत अछि। तथापि प्रत्येक काव्यात्मक वाक्यकेँ पूर्ण तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त बनायब सेहो गलत। दार्शनिक पुनर्निर्माण स्रोतक साहित्यिक स्वरूपक सम्मानसँ होयबाक चाही।

6.17 समानान्तर दर्शनक पाठ

वैदिक-उपनिषदिक संसारसँ समानान्तर दर्शन चारि मूल शिक्षा ग्रहण करैत अछि। पहिल, धार्मिक परम्पराक भीतर सेहो संशय आ प्रश्न सम्भव अछि। दोसर, बाह्य अनुष्ठानक अर्थ आन्तरिक अनुभवसँ पुनर्व्याख्यायित हो सकैत अछि। तेसर, एकहि परम्परामे अनेक उत्तर सहअस्तित्व रखि सकैत अछि। चारिम, ज्ञानक सीमा स्वीकारब ज्ञानक परित्याग नहि—कखनो ओही सँ गहन प्रश्न आरम्भ होइत अछि।

अध्याय-निष्कर्ष

वैदिक आ उपनिषदिक चिन्तन भारतीय दर्शनक एकरेखीय ‘आरम्भ-बिन्दु’ नहि, प्रश्नसभक विशाल प्रयोगशाला अछि। सृष्टि, ऋत, यज्ञ, आत्मा, ब्रह्म, कर्म, मृत्यु, ज्ञान आ मुक्ति पर अनेक स्वर बादक दर्शनसभ लेल समस्या-संसार तैयार करैत अछि। समानान्तर दर्शन एहि सामग्रीकेँ न तऽ एकरूप आध्यात्मिक सत्य बनबैत अछि, न आधुनिक विज्ञानक पूर्वरूप; ओ स्रोतक बहुवचनता, ऐतिहासिक विकास आ तर्कात्मक प्रश्नशीलताकेँ केन्द्रमे राखैत अछि।

Ṛgveda — विशेषतः 10.129 (नासदीय सूक्त); आधुनिक आलोचनात्मक अनुवादक संग पाठ.

Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad.

Chāndogya Upaniṣad.

Kaṭha Upaniṣad.

Kena Upaniṣad.

Patrick Olivelle — The Early Upaniṣads; Upaniṣads.

Stephanie W. Jamison and Joel P. Brereton — The Rigveda: The Earliest Religious Poetry of India.

Stanford Encyclopedia of Philosophy — “Ancient Conceptions of Analysis”; “Personhood in Classical Indian Philosophy”.

अध्याय 7 – सांख्य

सांख्य भारतीय दर्शनक सबसँ प्रभावशाली तत्त्वमीमांसीय प्रणालिसभमे एक अछि। एकर मूल समस्या अछि—चेतन अनुभवकर्ता आ परिवर्तनशील जगत-दुनूक सम्बन्ध कोना बुझल जाए? सांख्य एहि प्रश्नक उत्तर दू अनादि तत्त्वक माध्यमसँ दैत अछि: पुरुष, शुद्ध चेतना; आ प्रकृति, परिवर्तनशील मूल प्रकृति। मुक्ति तखन सम्भव होइत अछि जखन पुरुष अपनाकेँ प्रकृतिक विकारसँ भिन्न रूपेँ जानैत अछि।

7.1 ‘सांख्य’ आ गणनाक पद्धति

‘सांख्य’ शब्दकेँ प्रायः गणना अथवा तत्त्वसभक संख्या-सूची सँ जोड़ल जाइत अछि। परम्परा कपिलकेँ आद्य आचार्य मानैत अछि, मुदा हुनकर कोनो निर्विवाद मूल ग्रन्थ उपलब्ध नहि। शास्त्रीय सांख्यक प्रमुख उपलब्ध आधार ईश्वरकृष्णक सांख्यकारिका अछि। एकर पूर्वइतिहास महाभारत, उपनिषद आ अन्य प्राचीन साहित्यक विविध विचारधारामे खोजल जाइत अछि, मुदा बादक व्यवस्थित प्रणालीकेँ सभ पूर्ववर्ती उल्लेखपर ज्यों-का-त्यों आरोपित करब उचित नहि।

ई ऐतिहासिक सावधानी आवश्यक अछि, कारण ‘सांख्य’ नाम अलग कालमे अलग रूपक विचार-संरचनाक संकेत दे सकैत अछि।

7.2 दुःखसँ आरम्भ

सांख्यकारिका दार्शनिक जिज्ञासाकेँ दुःखक त्रिविध अनुभवसँ जोड़ैत अछि—आध्यात्मिक/व्यक्तिगत, बाह्य-भौतिक आ दैविक अथवा अप्रत्यक्ष कारणसँ उत्पन्न दुःखक पारम्परिक वर्गीकरण। साधारण उपाय दुःखकेँ अस्थायी रूपेँ घटा सकैत अछि; सांख्यक लक्ष्य मूल बन्धनक ज्ञानात्मक कारण बुझि स्थायी मुक्ति खोजब अछि।

एहि अर्थमे सांख्य तत्त्वमीमांसा केवल ब्रह्माण्डक नक्शा नहि। जगत की सँ बनल—एहि प्रश्नक उत्तर अन्ततः ‘दुःखसँ मुक्ति कोना?’ प्रश्नक सेवा करैत अछि।

7.3 प्रकृति: मूल परिवर्तनशील आधार

प्रकृति अव्यक्त, अनादि आ त्रिगुणात्मक मूल तत्त्व अछि। ओ चेतन नहि, मुदा जगतक समस्त मानसिक आ भौतिक विकासक कारण मानल जाइत अछि। सांख्यक विशेषता ई अछि जे बुद्धि, अहंकार आ मनोवृत्ति सेहो प्रकृतिक विकास छथि; मानसिकता स्वतः शुद्ध चेतना नहि।

एहि बिन्दुपर सांख्य आधुनिक सामान्य द्वैतवादसँ भिन्न अछि। ‘मन’ एक तरफ आ ‘पदार्थ’ दोसर तरफ—एहन सरल विभाजन नहि। मन, बुद्धि, अहंकार, इन्द्रिय, सूक्ष्म तत्व आ स्थूल तत्व सभ प्रकृतिक क्षेत्रमे; पुरुष मात्र शुद्ध चेतना।

7.4 तीन गुण

सत्त्व, रजस् आ तमस् प्रकृतिक तीन गुण छथि। गुणकेँ साधारण नैतिक ‘नीक-बेजाय’ वर्ग मानब गलत। सत्त्व प्रकाश, स्पष्टता, हलकापन आ संतुलनसँ; रजस् गति, प्रयास, इच्छा आ अस्थिरतासँ; तमस् जड़ता, अवरोध, भारीपन आ अज्ञानसँ सम्बद्ध व्याख्यायित होइत अछि। प्रत्येक प्रकृतिजन्य अवस्था एहि गुणसभक अलग अनुपातक परिणाम मानल जाइत अछि।

मानसिक चरित्र, अनुभव आ पदार्थीय परिवर्तनकेँ एकहि गुण-सिद्धान्तक भीतर समझबाक प्रयास सांख्यक विशिष्ट दार्शनिक साहस अछि। तथापि आधुनिक मनोविज्ञान वा भौतिक विज्ञानमे एहि गुणसभकेँ मापनीय

वैज्ञानिक चर ठहराबय लेल स्वतंत्र प्रमाण चाही। शास्त्रीय अवधारणा आ आधुनिक वैज्ञानिक मॉडल अलग स्तरक वस्तु छथि।

7.5 पच्चीस तत्त्व

शास्त्रीय सांख्य पच्चीस तत्त्वक संरचना प्रस्तुत करैत अछि। प्रकृतिसँ महत् अथवा बुद्धि; बुद्धिसँ अहंकार; अहंकारसँ मन, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, तन्मात्रा; तन्मात्रासँ स्थूल महाभूतक विकास वर्णित अछि। पुरुष पच्चीसम तत्त्वक रूपमे प्रकृतिसँ पूर्णतः भिन्न।

ई ‘विकास’ आधुनिक जैविक evolution नहि। ई तत्त्वमीमांसीय परिणाम-क्रम अछि—कतेक प्रकारक वास्तविकता कोन मूल सिद्धान्तसँ प्रकट होइत अछि। आधुनिक शब्द ‘evolution’क उपयोग करैत समय एहि भेद स्पष्ट रहबाक चाही।

7.6 बुद्धि, अहंकार आ मन

सांख्यक अन्तःकरण-विश्लेषण अत्यन्त सूक्ष्म अछि। बुद्धि निर्णयात्मक आ विवेकात्मक क्षमता; अहंकार ‘हम’ भावक निर्माण; मन इन्द्रिय-सूचनाक समन्वय आ संकल्प-विकल्पक केन्द्र। ई सभ चेतन देखाइत अछि, मुदा सांख्य अनुसार मूलतः अचेतन प्रकृतिक सूक्ष्म रूप छथि। पुरुषक निकटता कारण ई चेतन-जकाँ प्रकाशित होइत अछि।

एहि विश्लेषणसँ एकटा कठोर प्रश्न उठैत अछि—जँ बुद्धि स्वयं अचेतन अछि, तखन ज्ञानक अनुभव कोना? सांख्य उत्तर देत जे चित्तीय संरचना पुरुषक चेतना प्रतिबिम्बित करैत अछि; विरोधी परम्परासभ एहि सम्बन्धकेँ अस्पष्ट मानि आपत्ति करैत रहल।

7.7 पुरुष: शुद्ध चेतना

पुरुष न शरीर, न मन, न बुद्धि, न अहंकार। ओ निरवयव, निष्क्रिय, अपरिणामी द्रष्टा अछि। सुख-दुःख प्रकृतिक बुद्धि-चित्तमे घटैत अछि, मुदा अज्ञान कारण पुरुष अपनाकेँ ओहि अवस्थासँ एक मानि लैत अछि। मुक्ति एहि मिथ्या तादात्म्यक समाप्ति।

सांख्य अनेक पुरुष मानैत अछि। यदि एकहि सार्वभौम पुरुष होइत, तँ एक व्यक्तिक जन्म-मृत्यु, ज्ञान-अज्ञान, सुख-दुःख सभ व्यक्ति पर एकसाथ लागू होयबाक समस्या उठित। व्यक्तिगत अनुभवक विविधता अनेक पुरुषक तर्कमे उपयोग होइत अछि।

7.8 पुरुषक बहुलताक प्रश्न

अनेक पुरुष मानलासँ व्यक्तिगत चेतनाक भिन्नता स्पष्ट करबाक प्रयास होइत अछि, मुदा कठिनाई सेहो उठैत अछि। जँ सभ पुरुष गुणरहित शुद्ध चेतना मात्र छथि, तँ एक पुरुष दोसरसँ भिन्न कोना? भिन्नताक चिह्न प्रकृतिजन्य शरीर-मनमे अछि, पुरुष स्वयंमे नहि।

ई सांख्यक गम्भीर आन्तरिक दार्शनिक समस्या अछि। परम्परा व्यक्तिगत कर्म-शरीरक भिन्नता आ अनुभवक पृथकता द्वारा बहुलता सिद्ध करबाक प्रयास करैत अछि, मुदा प्रतिपक्ष पूछि सकैत अछि जे गुणरहित तत्वसभक संख्यात्मक भिन्नता कोना ज्ञात होयत।

7.9 सत्कार्यवाद

सांख्य कारणता पर सत्कार्यवाद प्रतिपादित करैत अछि—कार्य अपन कारणमे सम्भावित अथवा अव्यक्त रूपसँ पूर्वस्थित अछि; पूर्ण शून्यसँ नूतन सत्ता उत्पन्न नहि होइत। दूध दही बनैत अछि, बीज वृक्ष; कारणमे कार्य-क्षमता रहबाक चाही।

सांख्यकारिका एहि मतक पक्षमे अनेक तर्क दैत अछि: असत्सँ सत् उत्पन्न नहि; प्रत्येक कारण सभ कार्य उत्पन्न नहि करैत; विशिष्ट कारण विशिष्ट कार्यक क्षमता रखैत; कार्य कारणक स्वभावसँ सम्बद्ध। परिणामवादक अनुसार कार्य कारणक वास्तविक रूपान्तरण।

न्याय-वैशेषिकक आरम्भवाद एहि मतक प्रतिपक्ष प्रस्तुत करैत अछि। एहि बहससँ भारतीय दर्शनमे कारणता विषयक गहन बहुलता स्पष्ट होइत अछि।

7.10 पुरुष-प्रकृति सम्बन्ध

सांख्यक प्रसिद्ध रूपकमे अन्ध आ पंगु दुनू परस्पर सहयोग करैत छथि—एक चलि सकैत अछि मुदा देखि नहि, दोसर देखि सकैत अछि मुदा चलि नहि। प्रकृति सक्रिय मुदा अचेतन; पुरुष चेतन मुदा निष्क्रिय। दुनूक संयोगसँ अनुभवक संसार संभव होइत अछि।

रूपक उपयोगी अछि, पर प्रश्न समाप्त नहि करैत। दू पूर्णतः भिन्न, अनादि तत्व वास्तवमे ‘संयोग’ कोना करैत अछि? जँ पुरुष किछु करैत नहि, प्रकृति ओकर ‘उद्देश्य’ लेल किएक विकसित होइत अछि? सांख्य प्रकृतिमे पुरुषक भोग आ अपवर्ग लेल कार्य करबाक प्रवृत्ति मानैत अछि, मुदा ई टेलियोलॉजिकल संरचना आलोचनाक विषय रहल।

7.11 ईश्वरक प्रश्न

शास्त्रीय सांख्यकारिका सृष्टिकर्ता ईश्वरकेँ प्रणालीक आवश्यक तत्त्व नहि बनबैत। एहि कारण सांख्यकेँ प्रायः निरीश्वरवादी कहल जाइत अछि। मुदा ‘निरीश्वरवादी’क आधुनिक अर्थ सावधानीसँ उपयोग करबाक चाही। प्रश्न मुख्यतः ई अछि जे जगत-व्याख्या लेल प्रकृति आ पुरुषक अतिरिक्त सृष्टिकर्ता कारण दार्शनिक रूपसँ आवश्यक अछि की नहि।

पाश्चात्य आधुनिक atheism क सामाजिक-ऐतिहासिक अर्थ सांख्यपर सीधा आरोपित करब अनैतिहासिक होयत।

7.12 ज्ञान आ मुक्ति

मुक्तिक उपाय विवेकख्याति—पुरुष आ प्रकृतिक निर्णायक भेदज्ञान। अज्ञानमे ‘हम दुखी’, ‘हम कर्ता’, ‘हम सुखी’ जकाँ तादात्म्य उत्पन्न होइत अछि। विवेकमे बुझल जाइत अछि जे परिवर्तनशील मानसिक-भौतिक अवस्था प्रकृतिक, शुद्ध द्रष्टा पुरुष अलग।

कैवल्यक अर्थ प्रकृतिक विनाश नहि। विशिष्ट पुरुषक लेल प्रकृतिक प्रयोजन समाप्त; तादात्म्यक भ्रम टूटैत अछि। रूपक रूपेँ नर्तकी दर्शक लेल नृत्य समाप्त कऽ मंच छोड़ैत अछि—प्रकृति अपन स्वरूप देखाबि चुकलापर निवृत्त।

7.13 सांख्य आ योग

योग सांख्यक तत्त्वमीमांसीय ढाँचा व्यापक रूपसँ साझा करैत अछि—पुरुष, प्रकृति, गुण, चित्तीय संरचना, विवेक आ कैवल्य। मुदा योग साधना, ध्यान, ईश्वरप्रणिधान आ चित्तवृत्तिनिरोधक व्यवस्थित पद्धति विकसित करैत अछि। एहि कारण दुनूकेँ बहुधा ‘सांख्य-योग’ कहल जाइत अछि, मुदा पूर्णतः एक दर्शन मानब ठीक नहि।

सांख्य मुख्यतः विवेकात्मक तत्त्वज्ञानक संरचना दैत अछि; योग मनो-अनुशासनक विस्तृत साधन-पद्धति जोड़ैत अछि।

7.14 आधुनिक चेतना-दर्शनसँ संवाद

सांख्य चेतना आ मानसिक अवस्थाक बीच एहन भेद करैत अछि जे आधुनिक philosophy of mind लेल रोचक तुलना प्रदान करैत अछि। विचार, स्मृति, इच्छा, अहंकार सभ मानसिक प्रक्रिया होइतहुँ ‘शुद्ध चेतना’ नहि—ई दावा phenomenal consciousness, self-model, subjectivity आदि आधुनिक प्रश्नक संग संवाद खोलि सकैत अछि।

मुदा सांख्यक पुरुषकेँ आधुनिक neuroscience क ‘consciousness module’ वा quantum entity कहब निराधार होयत। समानान्तर दर्शन तुलना करैत अछि, नकली वैज्ञानिक पुष्टि नहि गढ़ैत।

7.15 पूर्वपक्ष: निष्क्रिय चेतना कोना अनुभवकर्ता?

आपत्ति: यदि पुरुष पूर्ण निष्क्रिय, निर्विकार आ गुणरहित अछि, तँ ‘अनुभव’ ओकरा कोना सम्बद्ध? अनुभवमे परिवर्तन, स्मृति आ क्रम अछि; ई सभ प्रकृतिक बुद्धिमे होइत अछि। तखन पुरुषकेँ स्वतंत्र मानबाक आवश्यकता की?

उत्तरपक्ष: सांख्य कहैत अछि जे जड़ प्रकृति स्वयंप्रकाशी नहि; अनुभवक उपस्थिति बुझाबय लेल चेतन साक्षी आवश्यक। बुद्धि अनुभवक सामग्री रूपान्तरित करैत अछि, पुरुष ओकर प्रकाशक शर्त। मुदा एहि उत्तरसँ सम्बन्धक समस्या पूर्णतः समाप्त नहि; एतहि सांख्यक दार्शनिक शक्ति आ कठिनाई दुनू अछि।

7.16 समानान्तर दर्शनक पाठ

सांख्यसँ समानान्तर दर्शन तीन प्रमुख पद्धतिगत शिक्षा लैत अछि। पहिल, अनुभवकर्ता आ अनुभवक सामग्री अलग करि जाँचू। दोसर, जटिल जगतकेँ स्तरबद्ध कारण-रचनामे विश्लेषित करू। तेसर, कोनो दार्शनिक प्रणालीक सबल अन्तर्दृष्टि स्वीकारैतहुँ ओकर कठिन प्रश्न—पुरुष-प्रकृति सम्बन्ध, बहुल पुरुष, टेलियोलॉजी—लुकाउ नहि।

अध्याय-निष्कर्ष

सांख्य प्रकृति आ पुरुषक द्वैत, त्रिगुण सिद्धान्त, पच्चीस तत्त्व, सत्कार्यवाद आ विवेकमुक्तिक माध्यमसँ भारतीय दर्शनमे चेतना, कारणता आ दुःखक एक सुसंगठित उत्तर प्रस्तुत करैत अछि। ई आधुनिक विज्ञान नहि, मुदा चेतना आ जगतक सम्बन्ध पर गम्भीर दार्शनिक प्रतिपक्ष अछि। समानान्तर दर्शन ओकर ऐतिहासिक स्वतन्त्रता सम्मानित करैत, उपयोगी तुलना करैत, आ कठिन आपत्तिकेँ खुला राखैत अछि।

अध्याय-ग्रन्थसूची

ईश्वरकृष्ण — Sāṃkhya-kārikā.

वाचस्पति मिश्र — Tattvakaumudī.

Gerald James Larson — Classical Sāṃkhya: An Interpretation of Its History and Meaning.

Gerald James Larson and Ram Shankar Bhattacharya (eds.) — Sāṃkhya: A Dualist Tradition in Indian Philosophy.

Internet Encyclopedia of Philosophy — “Hindu Philosophy”, Sāṅkhya section.

Stanford Encyclopedia of Philosophy — “Naturalism in Classical Indian Philosophy”; “Personhood in Classical Indian Philosophy”.

अध्याय ८ – योग

योगकेँ आधुनिक संसारमे प्रायः आसन, शारीरिक लचीलापन अथवा स्वास्थ्य-अभ्यासक रूपमे प्रस्तुत कएल जाइत अछि। ई उपयोग महत्वहीन नहि, मुदा पतञ्जलिक योगदर्शनक दार्शनिक क्षेत्र बहुत व्यापक अछि। योग मनक वृत्ति, दुःखक कारण, नैतिक अनुशासन, ध्यान, ज्ञान, कर्म, समाधि आ कैवल्यक व्यवस्थित पद्धति प्रस्तुत करैत अछि। एकर मूल प्रश्न अछि—मनुष्य अपन मानसिक प्रवाहक संग पूर्ण तादात्म्य राखत, की ओ एहि प्रवाहकेँ देखैत-समझैत स्वतंत्र चेतन साक्षीक रूपमे स्थापित भऽ सकैत अछि?

8.1 योगसूत्र: पाठ आ परम्परा

योगसूत्र पतञ्जलिक नामसँ सम्बद्ध ग्रन्थ अछि, चारि पादमे व्यवस्थित—समाधि, साधना, विभूति आ कैवल्य। ग्रन्थक रचना-काल आ सम्पादन-इतिहास पर विद्वानसभक मतभेद अछि; अतः निश्चित तिथि पर अनावश्यक दृढ़ता उचित नहि। व्यासभाष्य योगसूत्रक प्राचीनतम उपलब्ध व्यापक व्याख्यासभमे एक अछि आ परवर्ती योगपरम्पराक समझमे केन्द्रीय स्थान रखैत अछि।

योग पतञ्जलिसँ आरम्भ नहि भेल। महाभारत, उपनिषद आ अनेक श्रमण-परम्परामे ध्यान, तप, इन्द्रियनिग्रह आ योगसदृश अभ्यासक पूर्वइतिहास भेटैत अछि। पतञ्जलिक महत्त्व एहि विविध अभ्यासकेँ एक दार्शनिक-पद्धतिगत संरचनामे व्यवस्थित करबमे अछि।

8.2 ‘चित्तवृत्तिनिरोध’क अर्थ

योगसूत्रक प्रसिद्ध सूत्र योगकेँ चित्तक वृत्तिसभक निरोधसँ परिभाषित करैत अछि। ‘निरोध’केँ जबरन विचार नष्ट करब मात्र बुझब गलत होयत। योगक उद्देश्य मानसिक प्रक्रियाकेँ एहन अनुशासित स्थिति धरि आनब अछि जतय चेतना अपन विषयगत परिवर्तनक संग भ्रमित नहि रहय।

चित्त प्रकृतिक अंश अछि; पुरुष शुद्ध चेतन साक्षी। जखन चित्तक वृत्ति उथल-पुथल अछि, तखन पुरुष मानो ओहि वृत्तिक रंग ग्रहण कऽ लैत अछि। विवेक आ समाधिद्वारा एहि तादात्म्यक भ्रम टूटैत अछि। योगक मुक्ति-सिद्धान्त एहि सांख्य-आधारित तत्त्वमीमांसासँ गहिर रूपेँ जुड़ल अछि।

8.3 पाँच वृत्ति

योगसूत्र प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा आ स्मृति—पाँच वृत्तिक चर्चा करैत अछि। एहि वर्गीकरणक अर्थ ई नहि जे सभ वृत्ति समान रूपेँ बेजाय अछि। वृत्तिसभ क्लिष्ट अथवा अक्लिष्ट भऽ सकैत अछि—अर्थात् बन्धन बढ़ाबयवला वा मुक्ति दिस सहाय करयवला।

एहि सूक्ष्मताकेँ आधुनिक ‘mind empty करबाक’ लोकप्रिय व्याख्यासँ बचायब आवश्यक अछि। योग ज्ञान, स्मृति आ अवधारणाकेँ केवल शत्रु नहि मानैत; प्रश्न अछि कि मानसिक क्रिया अज्ञान, आसक्ति आ क्लेशद्वारा संचालित अछि की विवेकद्वारा।

8.4 योगक प्रमाणमीमांसा

योग तीन प्रमाण स्वीकारैत अछि—प्रत्यक्ष, अनुमान आ आगम अथवा प्रमाणिक वचन। एहि बिन्दुपर योग सांख्यसँ निकट अछि, न्यायसँ भिन्न जे चारि प्रमाण स्वीकारैत अछि। योगदर्शनक उद्देश्य केवल सैद्धान्तिक ज्ञान नहि, तथापि साधना गलत ज्ञानपर आधारित नहि भऽ सकैत।

ई तथ्य महत्त्वपूर्ण अछि: ध्यानक परम्परा स्वयं ज्ञानक वैधता पर विचार करैत अछि। केवल ‘हमरा अनुभव भेल’ प्रत्येक आध्यात्मिक दाबीकेँ स्वतः सार्वजनिक सत्य नहि बनबैत। निजी अनुभूति, अनुमान आ प्रमाणिक परम्परा—तीनू अपन-अपन सीमा रखैत अछि।

8.5 अभ्यास आ वैराग्य

चित्तक स्थिरता लेल अभ्यास आ वैराग्य दू प्रमुख साधन बताओल गेल। अभ्यास निरन्तर, दीर्घकालिक अनुशासन; वैराग्य विषयक प्रति तृष्णाक क्षय। एहि द्वैतमे एकटा गहन मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि अछि—केवल इच्छा-शक्ति पर्याप्त नहि; आदत बदलबाक लेल पुनरावृत्ति चाही, आ पुनरावृत्तिक परिणाम स्थायी होयब लेल आसक्तिक संरचना सेहो बदलय पड़त।

मुदा आधुनिक मनोविज्ञानक शब्द योगपर सीधा आरोपित नहि करबाक चाही। समानता उपयोगी तुलना भऽ सकैत अछि, ऐतिहासिक पहचान नहि।

8.6 क्लेश: दुःखक मानसिक संरचना

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष आ अभिनिवेश पाँच क्लेश मानल जाइत अछि। अविद्या मूल भ्रम; अस्मिता द्रष्टा आ दर्शन-उपकरणक तादात्म्य; राग सुखद अनुभवक प्रति आकर्षण; द्वेष दुःखद अनुभवक प्रति विकर्षण; अभिनिवेश जीवनसँ चिपकल भय अथवा मृत्यु-आशंका।

एहि विश्लेषणमे नैतिकता आ मनोविज्ञान अलग नहि। क्लेश केवल ‘भावना’ नहि; ओ कर्म, चयन, आदत आ पुनः दुःखक कारण बनैत अछि। योग मनुष्यक दुःखकेँ बाह्य घटना मात्र नहि, अनुभवक आन्तरिक संरचनासँ सेहो जोड़ैत अछि।

8.7 अष्टाङ्ग योग

पतञ्जलिक अष्टाङ्ग योग अछि—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान आ समाधि। एहि क्रममे आसन केवल तेसर अङ्ग अछि। आधुनिक योगक इतिहासमे आसनक भूमिका अत्यन्त विस्तृत भेल, मुदा शास्त्रीय योगदर्शनक भीतर ओकर उद्देश्य शरीरकेँ ध्यानयोग्य स्थिरता देब अछि।

यम—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आ अपरिग्रह—सामाजिक-नैतिक संयम छथि। नियम—शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय आ ईश्वरप्रणिधान—व्यक्तिगत अनुशासन। एहि आधार बिना ध्यानक उच्च अवस्थाकेँ योगक सम्पूर्ण अर्थ मानब शास्त्रीय संरचनाकेँ उलटि देब होयत।

8.8 अहिंसा आ नैतिकता

अहिंसा योगक पहिल यम अछि। सत्य सेहो महत्त्वपूर्ण, मुदा योग नैतिकतामे सत्य बोलनाइ अहिंसासँ पूर्णतः काटल नहि। नैतिक अनुशासन केवल समाजक नियम मानबाक बात नहि; मानसिक क्लेश घटाबय, आसक्ति तोड़य आ ध्यानक योग्य जीवन बनाबयक साधन सेहो अछि।

समानान्तर दर्शन एतय एकटा प्रश्न जोड़ैत अछि: व्यक्तिगत अहिंसा पर्याप्त अछि की संरचनात्मक हिंसाक परीक्षण सेहो चाही? जाति, भूख, लैंगिक भेदभाव अथवा पर्यावरणीय विनाश जँ संस्थागत रूपमे पीड़ा उत्पन्न करैत अछि, तँ केवल व्यक्तिगत शान्ति सामाजिक नैतिकताक विकल्प नहि।

8.9 प्रत्याहारसँ समाधि धरि

प्रत्याहार इन्द्रियसभक विषयसँ अनुशासित वापसी; धारणा मनकेँ एक बिन्दुपर स्थिर करब; ध्यान ओहि प्रवाहक निरन्तरता; समाधि ध्यानक एहन गहनता जतय विषय आ चेतनाक सम्बन्ध रूपान्तरित होइत अछि। योगसूत्र विभिन्न प्रकारक समाधि आ संप्रज्ञात-असंप्रज्ञात अवस्थाक चर्चा करैत अछि।

एहि अवस्थासभकेँ आधुनिक न्यूरोविज्ञानक विशिष्ट मस्तिष्क-अवस्था घोषित करबाक लेल स्वतंत्र प्रयोगात्मक प्रमाण चाही। दार्शनिक ग्रन्थ अनुभवक संरचना वर्णित करैत अछि; वैज्ञानिक पहचान अलग अनुसन्धानक विषय अछि।

8.10 ईश्वरप्रणिधान

योग सांख्यसँ निकट होइतहुँ ईश्वरक विशेष अवधारणा स्वीकारैत अछि। पतञ्जलिक ईश्वर ‘विशेष पुरुष’ छथि—क्लेश, कर्म, विपाक आदि सँ असम्पृक्त। ई अवधारणा सृष्टिकर्ता ईश्वरक प्रत्येक परवर्ती धार्मिक धारणा समान नहि। ईश्वरप्रणिधान साधनाक एक महत्त्वपूर्ण उपाय भऽ सकैत अछि, मुदा योगसूत्र अनेक मार्गक चर्चा सेहो करैत अछि।

तेँ योगकेँ या तऽ पूर्ण नास्तिक सांख्यक प्रतिलिपि या आधुनिक भक्ति-धर्मक सीधा रूप मानब दुनू सरलीकरण अछि।

8.11 सिद्धि आ विभूति

योगसूत्रक विभूतिपाद ध्यान-संयमसँ उत्पन्न असाधारण क्षमतासभक चर्चा करैत अछि। आधुनिक पाठक लेल ई खण्ड विशेष सावधानी माँगैत अछि। परम्परागत ग्रन्थ स्वयं अनेक सिद्धिकेँ अंतिम मुक्ति नहि मानैत; ओ साधक लेल आसक्तिक कारण बनि सकैत अछि।

समानान्तर दर्शन ऐतिहासिक दाबी आ आधुनिक तथ्य-दाबी अलग राखैत अछि। ग्रन्थमे सिद्धिक वर्णन अछि—ई ऐतिहासिक तथ्य; ओ क्षमता आधुनिक प्रयोगात्मक कसौटीपर सिद्ध अछि—ई अलग दावा, जकर स्वतंत्र प्रमाण चाही।

8.12 कैवल्य

योगक अंतिम लक्ष्य कैवल्य—पुरुषक प्रकृतिसँ विवेकपूर्ण पृथकता। ई आत्मक सामाजिक स्वतंत्रता मात्र नहि, तत्त्वमीमांसीय मुक्ति अछि। चित्तक गुणात्मक प्रवाह अपन कारणमे लौटैत अछि आ पुरुष अपन शुद्ध द्रष्टा-स्वरूपमे स्थित बुझल जाइत अछि।

एहि लक्ष्यकेँ बौद्ध निर्वाण, अद्वैत ब्रह्मज्ञान अथवा जैन केवलज्ञान समान कहब अनुचित। भारतीय मुक्ति-परम्परासभक शब्द भलेँ अनुवादमे ‘liberation’ बनि जाए, तत्त्वमीमांसीय आधार भिन्न अछि।

8.13 योग आ आधुनिक मानसिक स्वास्थ्य

ध्यान, श्वास-अभ्यास आ शारीरिक योगक किछु आधुनिक रूप स्वास्थ्य-सम्बन्धी अनुसन्धानक विषय छथि। मुदा शास्त्रीय योगक प्रत्येक दार्शनिक दाबीकेँ आधुनिक चिकित्सा प्रमाणित करैत अछि—एहन निष्कर्ष नहि निकालल जा सकैत। उलटा, आधुनिक चिकित्सकीय लाभक प्रश्नक उत्तर नियंत्रित अध्ययनसँ, न कि केवल शास्त्रीय प्रतिष्ठासँ, देल जाए।

समानान्तर दर्शन परम्पराक सम्मान आ प्रमाणक आधुनिक कसौटी दुनू राखैत अछि।

8.14 पूर्वपक्ष: की योग पलायनवाद अछि?

आपत्ति: जँ दुःखक समाधान मनकेँ बदलनाइ अछि, तँ अन्यायपूर्ण समाजक संरचना अछूता रहि जाएत। भूखल, उत्पीड़ित अथवा विस्थापित व्यक्तिक समस्या केवल ध्यानसँ दूर नहि होयत।

उत्तरपक्ष: शास्त्रीय योग मुख्यतः मुक्तिक व्यक्तिगत अनुशासन प्रस्तुत करैत अछि; ओकरा आधुनिक सामाजिक न्याय-सिद्धान्त कहब उचित नहि। मुदा आत्मानुशासन, अहिंसा, लोभ-नियन्त्रण आ ध्यान नैतिक क्रियाक शक्ति बनि सकैत अछि। समानान्तर दर्शन एहि ठाम योगक आन्तरिक अनुशासनकेँ सामाजिक न्याय, संस्थागत उत्तरदायित्व आ भौतिक परिस्थितिक विश्लेषणसँ जोड़ैत अछि—एककेँ दोसराक विकल्प नहि बनबैत।

8.15 समानान्तर दर्शनक पाठ

योगसँ चारि शिक्षा ग्रहण कएल जा सकैत अछि: मानसिक प्रक्रियाकेँ स्वतः ‘हम’ नहि मानू; अभ्यास बिना विचारक परिवर्तन अधूरा; नैतिक अनुशासन ज्ञानात्मक अनुशासनसँ जुड़ल; आ आत्मनियन्त्रण सामाजिक जिम्मेवारीक स्थान नहि लेत। व्यक्तिगत मुक्ति आ सार्वजनिक न्यायक बीच कृत्रिम विरोध आवश्यक नहि।

अध्याय-निष्कर्ष

योग शरीरक व्यायामसँ बहुत व्यापक दर्शन अछि। चित्त, वृत्ति, प्रमाण, क्लेश, अभ्यास, वैराग्य, अष्टाङ्ग साधना, समाधि, ईश्वरप्रणिधान आ कैवल्य मिलि एक जटिल मनो-तत्त्वमीमांसीय प्रणाली बनबैत अछि। समानान्तर दर्शन योगक आत्मानुशासन आ अनुभव-परीक्षणक शक्ति स्वीकारैत अछि, संगहि निजी शान्तिकेँ सामाजिक अन्याय पर पर्दा बनय सँ रोकैत अछि।

अध्याय-ग्रन्थसूची

पतञ्जलि — Yoga-sūtra.

व्यास — Yoga-bhāṣya.

Edwin F. Bryant — The Yoga Sūtras of Patañjali.

Gerald James Larson and Ram Shankar Bhattacharya (eds.) — Yoga: India’s Philosophy of Meditation.

Internet Encyclopedia of Philosophy — “The Yoga Sutras of Patanjali”.

Stanford Encyclopedia of Philosophy — “The Concept of Emotion in Classical Indian Philosophy”.

अध्याय ९ – न्याय

न्याय दर्शन भारतीय बौद्धिक इतिहासमे तर्क, प्रमाण, विवाद-पद्धति आ यथार्थवादक अत्यन्त विकसित परम्परा अछि। ‘न्याय’क अर्थ केवल औपचारिक तर्क नहि; ई उचित जाँच, प्रमाण-सम्मत निर्णय आ युक्तिसंगत विवादक सम्पूर्ण अनुशासनक नाम अछि। न्यायसूत्रक आरम्भे ज्ञान-स्रोत, ज्ञेय वस्तु, संशय, प्रयोजन, उदाहरण, सिद्धान्त, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति आ निग्रहस्थानक चर्चा एहि व्यापक परियोजनाकेँ संकेत करैत अछि।

9.1 न्यायसूत्र आ परम्परा

न्यायसूत्र गौतम अथवा अक्षपाद गौतमक नामसँ सम्बद्ध अछि, मुदा एकर रचना-काल विद्वानसभक बीच विवादित अछि। वात्स्यायनक न्यायभाष्य प्रारम्भिक न्यायपरम्पराक मुख्य व्याख्यात्मक आधार बनल; उद्योतकर, वाचस्पति मिश्र, उदयन, गङ्गेश आ परवर्ती नव्य-न्यायकारसभ एहि परम्पराकेँ अलग-अलग चरणमे विकसित कएलनि।

एकर इतिहास देखबैत अछि जे ‘न्याय’ स्थिर प्रणाली नहि। प्रारम्भिक न्याय प्रमाण आ वादक संग व्यापक तत्त्वमीमांसा प्रस्तुत करैत अछि; मध्यकालीन न्याय बौद्ध, मीमांसक, वेदान्ती आदि प्रतिपक्षसँ संवादमे अधिक सूक्ष्म होइत अछि; गङ्गेशक तत्त्वचिन्तामणि सँ नव्य-न्याय विश्लेषणात्मक भाषा आ प्रमाणमीमांसाकेँ नूतन कठोरता दैत अछि।

9.2 सोलह पदार्थ: दर्शनक कार्यसूची

न्यायसूत्रक सोलह विषयकेँ केवल स्मरण-सूची मानब भूल होयत। ई अनुसन्धानक क्रम देखबैत अछि। प्रमाण द्वारा ज्ञान; प्रमेय अर्थात् ज्ञेय वस्तु; संशय जाँचक आवश्यकता; प्रयोजन अनुसन्धानक प्रेरणा; दृष्टान्त नियमक साझा उदाहरण; सिद्धान्त स्वीकृत आधार; अवयव तर्कक संरचना; तर्क सहायक विचार; निर्णय प्रमाण-सम्मत निष्कर्ष; वाद सत्याभिमुख संवाद; जल्प विजयाभिमुख बहस; वितण्डा केवल प्रतिपक्ष-खण्डन; हेत्वाभास भ्रमित कारण; छल अर्थ-विकृति; जाति अनुचित प्रतिवाद; निग्रहस्थान विवादमे पराजयक आधार।

एहि सूचीमे ज्ञानमीमांसा, तर्कशास्त्र आ संवाद-नीति एक-दोसरासँ अलग नहि। सत्य केवल निजी अनुभूति नहि; सार्वजनिक कारण-प्रदर्शनक अनुशासन सेहो अछि।

9.3 चारि प्रमाण

न्याय चारि मुख्य प्रमाण स्वीकारैत अछि—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान आ शब्द। ई ‘सबूतक चारि टुकड़ा’ नहि, यथार्थ ज्ञान उत्पन्न करयवला चारि प्रकारक विश्वसनीय प्रक्रिया छथि।

प्रत्यक्ष इन्द्रिय अथवा उपयुक्त प्रत्यक्ष-सन्निकर्षसँ उत्पन्न ज्ञानक विश्लेषण करैत अछि। न्याय प्रत्यक्षकेँ सरल ‘जे देखल से सत्य’ नहि मानैत; भ्रम, इन्द्रिय-दोष, अस्पष्टता आ वैचारिक निर्धारणक प्रश्न पर दीर्घ विवाद भेटैत अछि।

अनुमान ज्ञात चिह्नसँ अज्ञात निष्कर्षक ज्ञान अछि। धूमसँ अग्नि प्रसिद्ध उदाहरण, मुदा वास्तविक दार्शनिक भार धूम-अग्निक अविनाभाव अथवा व्याप्ति उचित रूपेँ जानबाक प्रश्नपर अछि। केवल दू घटना संग देखला सँ सार्वभौम सम्बन्ध सिद्ध नहि होइत। अपवाद, उपाधि आ विपरीत उदाहरण जाँचल जाइत अछि।

उपमान परिचित समानताक माध्यमसँ शब्द-वस्तु सम्बन्ध अथवा अपरिचित वस्तुक ज्ञानमे भूमिका निभबैत अछि। शब्द विश्वसनीय वक्ताक कथनसँ ज्ञानक प्रश्न उठबैत अछि। एहि चारिमे आधुनिक जीवनक बहुत ज्ञान-प्रक्रिया तुलनात्मक रूपसँ बुझल जा सकैत अछि, मुदा आधुनिक वैज्ञानिक पद्धतिकेँ सीधे न्याय प्रमाण-सूचीमे विलीन करब उचित नहि।

9.4 प्रत्यक्ष: अनुभव आ अवधारणा

न्याय परम्परामे प्रत्यक्षक स्वरूप पर विस्तृत मतभेद विकसित भेल। प्रारम्भिक सूत्र-भाष्य परम्परा इन्द्रिय-अर्थ सन्निकर्ष, अव्यभिचारिता आ निश्चित ज्ञानक प्रश्न उठबैत अछि। परवर्ती न्याय निर्विकल्पक आ सविकल्पक प्रत्यक्षक भेदपर चर्चा करैत अछि—पहिल स्तरपर वस्तुक अविभाजित उपस्थिति, दोसर स्तरपर ‘ई नील घट अछि’ जकाँ वर्गीकृत ज्ञान।

एहि विमर्शक आधुनिक प्रासंगिकता ई अछि जे देखनाइ सदैव पूर्णतः भाषाविहीन अछि की अवधारणा द्वारा संरचित? न्यायपरम्परा एहि प्रश्नक एकमात्र उत्तर नहि दैत, मुदा अनुभव आ निर्णयक स्तर अलग करबाक शक्तिशाली उपकरण दैत अछि।

9.5 अनुमान आ व्याप्ति

अनुमानमे पक्ष, साध्य आ हेतु मूल तत्व छथि। ‘पर्वत पर अग्नि अछि, कारण धूम अछि’—एतय पर्वत पक्ष, अग्नि साध्य, धूम हेतु। मुदा हेतु तखन वैध जखन साध्यक संग ओकर विश्वसनीय व्याप्ति हो आ वर्तमान पक्षमे हेतु उपस्थित हो।

न्यायीय पंचावयवी प्रस्तुतिमे प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय आ निगमनक क्रम प्रसिद्ध अछि। एकरा अरस्तूवादी syllogism क सीधा भारतीय रूप कहब गलत; एकर संवादात्मक आ प्रमाण-प्रदर्शक उद्देश्य अलग ऐतिहासिक सन्दर्भ रखैत अछि। उदाहरण केवल सजावट नहि, साझा स्वीकृत नियमक आधार प्रस्तुत करैत अछि।

व्याप्ति-ज्ञानक समस्या बादक न्याय आ नव्य-न्यायमे अत्यन्त सूक्ष्म बनैत अछि। सीमित उदाहरणसँ अविनाभाव कोना? अपवादक सम्भावना कोना हटत? एहि प्रश्नसँ न्याय आगमन, कारणता आ नियम-ज्ञानक वैश्विक दार्शनिक समस्यासँ संवाद करैत अछि।

9.6 हेत्वाभास: तर्कक भ्रम

न्याय केवल वैध तर्क नहि, गलत तर्कक संरचना सेहो विश्लेषित करैत अछि। हेतु जँ साध्य सिद्ध करबाक योग्य नहि, विरोधी परिणाम दैत अछि, अनिश्चित अछि वा अन्य दोष रखैत अछि तँ हेत्वाभास उत्पन्न होइत अछि। विभिन्न न्यायग्रन्थ हेत्वाभासक वर्गीकरण अलग सूक्ष्मतासँ करैत छथि।

समानान्तर दर्शन लेल मूल शिक्षा नाम याद करब नहि, कारणक प्रासंगिकता जाँचब अछि। ‘एहि कारण ई निष्कर्ष निकलैत अछि’ कहला पर प्रश्न हो—कारण वास्तवमे पक्षमे अछि? साध्यसँ सम्बन्धित अछि? विपरीत उदाहरण अछि? कारण स्वयं असिद्ध तँ नहि?

9.7 शब्दप्रमाण आ विश्वसनीय वक्ता

मनुष्यक अधिकांश ज्ञान सामाजिक रूपेँ अर्जित होइत अछि। न्याय शब्दकेँ स्वतंत्र प्रमाण मानि ई तथ्य दार्शनिक रूपसँ महत्त्वपूर्ण बनबैत अछि। परम्परागत रूपमे ‘आप्त’—वस्तुकेँ यथार्थ जानयवला आ सत्य कहबाक इच्छावला विश्वसनीय वक्ता—क कथन ज्ञान दे सकैत अछि।

आधुनिक संसारमे ‘वक्ता’ व्यक्ति मात्र नहि; वैज्ञानिक संस्था, अभिलेखागार, न्यायालय, समाचार-संस्था, डिजिटल मंच आ विशेषज्ञ समुदाय सेहो हो सकैत अछि। मुदा न्यायीय अन्तर्दृष्टिक आधुनिक विस्तार करत समय अतिरिक्त प्रश्न जोड़ब आवश्यक अछि—पारदर्शिता, सहकर्मी समीक्षा, हित-संघर्ष, स्वतंत्र पुष्टिकरण, सुधार-प्रक्रिया आ डेटा उपलब्धता।

9.8 संशय, तर्क आ निर्णय

न्याय संशयकेँ स्थायी मानसिक अवस्था नहि बनबैत। संशय जाँचक प्रेरणा अछि। तर्क स्वतंत्र प्रमाण नहि, मुदा असंगत सम्भावना हटाबय आ प्रमाणक मार्ग साफ करयवला सहायक विचार अछि। निर्णय तखन जे विरोधी पक्षक परीक्षणक बाद कोनो निष्कर्ष पर्याप्त प्रमाणसँ स्थापित हो।

एतय न्यायक पद्धति सर्वसंशयवादसँ भिन्न अछि। प्रत्येक ज्ञानकेँ अनन्त प्रमाणक प्रतीक्षा मे रोकल नहि जाइत; सामान्य ज्ञान-प्रक्रिया कार्यरत रहैत अछि, समस्या उठला पर विशेष परीक्षण कएल जाइत अछि।

9.9 वाद, जल्प आ वितण्डा

वाद सत्य-अन्वेषी संवादक आदर्श अछि। पक्षसभ साझा प्रमाण-पद्धति आ सिद्धान्तक भीतर कारण दैत छथि आ प्रतिपक्षक वास्तविक आपत्तिक उत्तर दैत छथि। जल्पमे लक्ष्य सत्यसँ अधिक विजय भऽ सकैत अछि; वितण्डामे व्यक्ति अपन सकारात्मक मत स्थापित किए बिना केवल प्रतिपक्ष ध्वस्त करबाक प्रयास करैत अछि।

ई भेद आजक सार्वजनिक विमर्शमे अत्यन्त उपयोगी अछि। कोनो चर्चा बाह्य रूपेँ ‘बहस’ होइतहुँ ज्ञान उत्पन्न नहि करैत, जँ प्रतिभागीक सफलता विरोधीकेँ अपमानित करब, विषय बदलि देब अथवा असम्भव प्रमाण-मापदण्ड बनायब मात्र हो। समानान्तर दर्शन वादक नैतिक अनुशासन अपनबैत अछि।

9.10 न्यायीय यथार्थवाद

न्याय बाह्य जगत, स्थायी आत्मा, पदार्थ, गुण, सामान्य आदि अनेक सत्ताक यथार्थवादी प्रतिपादन करैत अछि। ज्ञान सामान्यतः जगतक वस्तुकेँ पकड़ि सकैत अछि; भ्रम वास्तविक ज्ञान-प्रक्रियाक अपवादात्मक विफलता अछि, भ्रमक अस्तित्व स्वयं सम्पूर्ण जगतकेँ अवास्तविक सिद्ध नहि करैत।

बौद्ध क्षणिकतावाद, अनात्मवाद आ अवधारणात्मक नामवादक संग न्याय-विवाद भारतीय दर्शनक सबसँ गहन बहससभमे अछि। एहि विवादकेँ केवल ‘आस्तिक बनाम नास्तिक’ कहि देब दार्शनिक सामग्री नष्ट करब होयत; वास्तविक प्रश्न आत्मा, सार्वभौम, कारणता, भाषा आ ज्ञानक संरचनाक अछि।

9.11 दुःख आ अपवर्ग

न्याय केवल तर्कक विद्यालय नहि; अंतिम लक्ष्य दुःखनिवृत्ति अथवा अपवर्गक प्रश्नसँ जुड़ल अछि। मिथ्याज्ञान दोष, प्रवृत्ति, जन्म आ दुःखक शृंखलासँ सम्बन्धित मानल जाइत अछि; यथार्थ ज्ञान एहि चक्रक निवृत्तिमे सहायक। एतय तर्क आध्यात्मिक मुक्ति-साधनक रूप धारण करैत अछि।

ई तथ्य आधुनिक पाठक लेल महत्त्वपूर्ण: न्यायकेँ ‘Indian logic’ मात्र कहला सँ ओकर जीवन-दृष्टि आधा गायब भऽ जाइत अछि।

9.12 ईश्वरक प्रश्न

आरम्भिक न्यायसूत्रक ईश्वरवादक स्वरूप पर व्याख्यात्मक विवाद अछि; परवर्ती न्याय विशेषतः उदयनादि आचार्य ईश्वरक अस्तित्वक पक्षमे व्यवस्थित तर्क विकसित करैत छथि। तेँ ‘न्याय सदा एकहि रूपक ईश्वरवादी दर्शन छल’ कहब सरलीकरण होयत। ऐतिहासिक चरण अलग राखब आवश्यक।

ई उदाहरण समानान्तर दर्शनक नियम पुष्ट करैत अछि—परम्पराक बादक परिपक्व मतकेँ ओकर आरम्भिक पाठमे पाछाँ सँ नहि पढ़ू।

9.13 नव्य-न्यायक दिशा

गङ्गेश उपाध्यायक तत्त्वचिन्तामणि प्रमाणमीमांसाकेँ एहन सूक्ष्म विश्लेषणात्मक भाषा दैत अछि जकर प्रभाव मिथिला, नवद्वीप आ व्यापक भारतीय विद्वत् संसारपर पड़ल। सम्बन्ध, अवच्छेद, विषयता, कारणता, ज्ञानक स्वरूप आदि प्रश्नक विश्लेषण लेल नव्य-न्याय तकनीकी भाषा विकसित करैत अछि।

एहि अध्यायमे नव्य-न्यायक पूर्ण विवेचन नहि; आगाँ मिथिलाक खण्डमे ओकर स्वतंत्र चर्चा होयत। एतय केवल एतेक महत्त्वपूर्ण जे न्यायपरम्पराक प्रमाण-केंद्रित अनुशासन स्थिर नहि रहल, समयक संग अधिक सूक्ष्म उपकरण बनौलक।

9.14 पूर्वपक्ष: की न्याय अत्यधिक तकनीकी अछि?

आपत्ति: यदि दर्शन एतेक पद, भेद आ तर्क-रचना पर निर्भर हो जाए, तँ जीवनक मूल प्रश्नसँ कटि सकैत अछि।

उत्तरपक्ष: तकनीकी भाषा साध्य नहि, अस्पष्टता घटाबयवला साधन अछि। जँ सूक्ष्म पद केवल विद्वत्ता प्रदर्शन बनि जाए तँ आलोचना उचित; मुदा जखन एक शब्दक अनेक अर्थ विवाद बिगाड़ैत हो, तखन अवधारणात्मक सूक्ष्मता अनिवार्य। न्यायीय आदर्श तकनीकीताक पूजा नहि, कारणक पारदर्शिता अछि।

9.15 समानान्तर दर्शनक पाठ

न्यायसँ समानान्तर दर्शन पाँच मूल अनुशासन ग्रहण करैत अछि: संशय उठू तँ परीक्षण करू; दाबी लेल प्रमाण स्पष्ट करू; प्रतिपक्षकेँ सबल रूपमे प्रस्तुत करू; कारणक दोष खोजू; आ बहसक लक्ष्य विजय नहि, यथार्थ निर्णय राखू। संगहि आधुनिक स्रोत-समीक्षा, विज्ञानक पद्धति आ सामाजिक सत्ता-विश्लेषण जोड़ि ई परम्परा नूतन क्षेत्रमे विस्तारित कएल जा सकैत अछि।

अध्याय-निष्कर्ष

न्याय दर्शन तर्कशास्त्रसँ कहीं व्यापक अछि। प्रमाण, प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, संशय, तर्क, निर्णय, वाद-पद्धति, यथार्थवाद आ मुक्ति—ई सभ एकहि ज्ञानात्मक परियोजनाक अंग छथि। समानान्तर दर्शनक पद्धतिगत मेरुदण्ड न्यायसँ एहि कारण जुड़ैत अछि जे न्याय प्रश्नक उत्तर केवल मतसँ नहि, सार्वजनिक रूपसँ जाँचल जा सकय एहन कारणसँ देबाक आग्रह करैत अछि।

अध्याय-ग्रन्थसूची

गौतम — Nyāya-sūtra.

वात्स्यायन — Nyāya-bhāṣya.

उदयनाचार्य — Nyāyakusumāñjali.

गङ्गेश उपाध्याय — Tattvacintāmaṇi.

Bimal Krishna Matilal — Logic, Language and Reality; Perception.

Stephen H. Phillips — Epistemology in Classical India.

Jonardon Ganeri — Philosophy in Classical India.

Internet Encyclopedia of Philosophy — “Nyāya”.

अध्याय 10 – वैशेषिक

वैशेषिकक विशेषता ई अछि जे ओ दर्शनकेँ केवल मुक्ति वा आत्मज्ञानक प्रश्न धरि सीमित नहि रखैत, बल्कि जगतमे जे-जे प्रकारक सत्ता मानल जाए तकर व्यवस्थित वर्गीकरण करबाक साहस करैत अछि। एहि कारण वैशेषिक भारतीय तत्त्वमीमांसाक एकटा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण यथार्थवादी परम्परा अछि। एकर मूल प्रश्न अछि—वास्तविकता किन मूल प्रकारक वस्तु, गुण, क्रिया आ सम्बन्धसँ बनल अछि, आ परिवर्तनक बीच स्थायित्वकेँ कोना बुझल जाए?

10.1 कणाद आ वैशेषिकसूत्र

वैशेषिकसूत्र परम्परागत रूपसँ कणादक नामसँ सम्बद्ध अछि, मुदा ग्रन्थक काल-निर्धारण विवादित अछि। उपलब्ध पाठक दीर्घ सम्पादन-इतिहासक कारण एकर विचारसभकेँ एकहि क्षणक निर्मिति मानब उचित नहि। आरम्भिक वैशेषिकमे द्रव्य, गुण आ कर्म विशेष प्रधानता पबैत अछि; परवर्ती व्याख्याकार प्रशस्तपादक परम्परामे सामान्य, विशेष आ समवाय सहित छह पदार्थक सूची व्यवस्थित रूप ग्रहण करैत अछि। बादक न्याय-वैशेषिक परम्परामे अभावकेँ सेहो स्वतंत्र पदार्थक रूपमे स्वीकारबाक प्रवृत्ति विकसित होइत अछि।

एहि विकासक्रमसँ एकटा पद्धतिगत शिक्षा भेटैत अछि: दार्शनिक वर्गीकरण स्थिर शब्दकोश नहि, बल्कि समस्याक दबावमे विकसित होइत अवधारणात्मक संरचना अछि।

10.2 द्रव्य: गुण आ क्रियाक आधार

वैशेषिक नौ प्रकारक द्रव्य मानैत अछि—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक् अथवा दिशा/देश, आत्मा आ मन। एहि सूचीमे भौतिक तत्व, स्थान-काल, चेतन आत्मा आ सूक्ष्म मन एकहि तत्त्वमीमांसीय वर्ग ‘द्रव्य’क भीतर अबैत छथि, कारण द्रव्य गुण आ कर्मक आश्रय तथा किछु प्रकारक कार्यक समवायी कारण भऽ सकैत अछि।

ई सूची आधुनिक विज्ञानक तत्व-सारणी नहि। ‘पृथ्वी’, ‘जल’, ‘तेज’ आ ‘वायु’ वैशेषिक तत्त्वमीमांसाक श्रेणी छथि; हुनका आधुनिक रसायनशास्त्रीय पदार्थक समान मानब अनैतिहासिक होयत। समानान्तर दर्शन तुलना करैत समय एहि भेदकेँ स्पष्ट राखैत अछि।

10.3 परमाणुवाद

वैशेषिकक प्रसिद्ध योगदान परमाणुवादी प्राकृतिक दर्शन अछि। पृथ्वी, जल, तेज आ वायुक परमाणु अविभाज्य आ नित्य मानल जाइत छथि; दृश्य स्थूल वस्तु परमाणुसभक संयोजनसँ उत्पन्न आ विनष्ट होइत अछि। आकाश, काल, दिक्, आत्मा आ मन एहि अर्थमे भौतिक परमाणुसँ बनल नहि मानल जाइत।

ई परमाणुवाद आधुनिक परमाणु-विज्ञानक पूर्वरूप कहि देब आकर्षक मुदा भ्रामक होयत। आधुनिक परमाणु प्रयोग, गणितीय भौतिकी आ उपकरणीय अवलोकनक परिणाम अछि; वैशेषिक परमाणुवाद तत्त्वमीमांसीय आ तार्किक अनुमानक प्रणाली अछि। तथापि दुनूकेँ संवादमे राखल जा सकैत अछि, कारण दुनू दृश्य जटिल वस्तुक पाछाँ सूक्ष्म संरचनाक प्रश्न उठबैत अछि। ऐतिहासिक समानता नहि, समस्या-संरचनात्मक तुलना उचित अछि।

10.4 गुण आ कर्म

गुण द्रव्यमे आश्रित होइत अछि, मुदा स्वयं स्वतंत्र द्रव्य नहि। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि अनेक गुण वैशेषिक-न्याय परम्परामे विश्लेषित भेल। कर्म गति अथवा क्रियाक श्रेणी अछि।

एहि भेदक दार्शनिक महत्त्व ई अछि जे ‘वस्तु की अछि?’ आ ‘वस्तु कोन गुण रखैत अछि?’ तथा ‘वस्तु की करैत अछि?’ तीनू प्रश्न एक नहि। भाषा प्रायः एहि स्तरसभकेँ गड्डमड्ड करैत अछि। उदाहरणतः ‘लालिमा’ आ ‘लाल वस्तु’ समान सत्ता नहि; ‘चलनाइ’ आ ‘चलैत वस्तु’क सम्बन्ध सेहो विश्लेषण माँगैत अछि।

10.5 सामान्य आ विशेष

सामान्य ओ आधार अछि जाहिसँ अनेक व्यक्तिगत वस्तु एकहि जाति अथवा प्रकारक रूपमे चिन्हल जाइत अछि। अनेक गायक भीतर ‘गायत्व’, अनेक घटक भीतर ‘घटत्व’ जकाँ उदाहरण परम्परामे देल जाइत अछि। विशेष विशेषतः नित्य द्रव्यसभक अन्तिम भिन्नताकेँ बुझाबय लेल प्रयुक्त अवधारणा अछि।

एतय वैशेषिक सार्वभौमिकता आ व्यक्तित्वक समस्या उठबैत अछि—अनेक वस्तुमे समानता केवल हमर मनक वर्गीकरण अछि की वास्तविकतामे कोनो साझा तत्त्व सेहो अछि? आधुनिक तत्त्वमीमांसामे universals, properties आ particulars पर जे विवाद अछि, तकर संग तुलना सम्भव अछि, मुदा पदसभक ऐतिहासिक अर्थ अलग राखब आवश्यक।

10.6 समवाय: अविच्छिन्न सम्बन्धक समस्या

समवाय वैशेषिकक अत्यन्त विशिष्ट अवधारणा अछि। गुण आ द्रव्य, अवयव आ अवयवी, सामान्य आ व्यक्ति आदि एहन सम्बन्ध रखैत छथि जे साधारण बाह्य संयोग-जकाँ नहि। कपड़ा आ तन्तु, वस्तु आ ओकर गुण—एहि सम्बन्धकेँ केवल दू स्वतंत्र वस्तुक निकटता कहि कऽ बुझाओल नहि जा सकैत। समवाय एहि अविच्छिन्न सम्बन्धकेँ तत्त्वमीमांसीय स्थान दैत अछि।

मुदा एतय प्रसिद्ध कठिनाई उठैत अछि: जँ गुणकेँ द्रव्यसँ जोड़बाक लेल समवाय चाही, तँ समवाय स्वयं द्रव्यसँ कोना जुड़त? की दोसर समवाय चाही? परम्परागत उत्तर समवायकेँ विशिष्ट, नित्य, स्वयं सम्बन्धकारी सम्बन्ध मानैत अछि। विरोधी परम्परासभ एहि पर प्रश्न उठबैत रहल।

10.7 अभाव: अनुपस्थितिक अस्तित्व

परवर्ती न्याय-वैशेषिक विचारमे अभावक विस्तृत विश्लेषण विकसित भेल। ‘टेबल पर पुस्तक नहि अछि’—एहि वाक्यक ज्ञान केवल टेबल आ पुस्तकक ज्ञान नहि, पुस्तकक अनुपस्थितिक ज्ञान सेहो अछि। अनुपस्थिति

की केवल भाषिक नकार अछि, की ओकर वस्तुगत आधार सेहो अछि? न्याय-वैशेषिक एहि प्रश्नकेँ गम्भीर तत्त्वमीमांसीय विषय बनबैत अछि।

एहि विमर्शक आधुनिक महत्त्व स्पष्ट अछि। डेटा-विश्लेषण, न्यायिक प्रमाण, चिकित्सा आ इतिहासमे ‘किछु नहि भेटल’ स्वयं कखन प्रमाण बनैत अछि? अनुपस्थितिक प्रमाण तखन मजबूत होइत अछि जखन वस्तु उपस्थित रहितै तँ उचित जाँचमे भेटबाक अपेक्षा छल। एहि प्रकार प्राचीन अभाव-विमर्श आधुनिक प्रमाण-चिन्तनक संग उपयोगी संवाद खोलैत अछि।

10.8 कारणता: सांख्यसँ भिन्न मार्ग

सांख्य सत्कार्यवादक अनुसार कार्य कारणमे पूर्वरूपेँ निहित मानैत अछि; वैशेषिक-न्याय परम्परा सामान्यतः आरम्भवाद अथवा असत्कार्यवादक दिशा लैत अछि—कार्य उत्पत्तिसँ पूर्व ओहि कार्यरूपमे विद्यमान नहि, कारण-संयोजनसँ नूतन कार्य उत्पन्न होइत अछि।

माटिसँ घट बनबाक उदाहरणमे सांख्य कहत जे कार्य कारणक रूपान्तरण; न्याय-वैशेषिक घटकेँ नूतन समष्टि-सत्ता मानयवला विश्लेषण विकसित करैत अछि। एहि विवादमे मूल प्रश्न अछि: परिवर्तनक अर्थ पहिनेसँ विद्यमान रूपक प्रकट होयब अछि, की वास्तवमे नूतन वस्तुक उत्पत्ति?

10.9 आत्मा, मन आ ज्ञान

वैशेषिक-न्याय यथार्थवाद बाह्य जगत मात्र नहि, आत्माकेँ सेहो वास्तविक द्रव्य मानैत अछि। मन अत्यन्त सूक्ष्म आ प्रत्येक शरीरक लेल एक मानल जाइत अछि; एक समयमे सीमित मानसिक सम्पर्कक व्याख्या एहि मनद्वारा कएल जाइत अछि। ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा आदि आत्माक गुण मानल जाइत अछि।

ई दृष्टि सांख्यक ‘शुद्ध चेतन पुरुष’सँ भिन्न अछि। सांख्यमे बुद्धि-मन प्रकृतिक अंश, पुरुष शुद्ध साक्षी; न्याय-वैशेषिकमे ज्ञान आत्माक गुण। एहि भेदकेँ स्पष्ट राखला सँ भारतीय आत्म-दर्शनक वास्तविक बहुलता सामने अबैत अछि।

10.10 वैशेषिक आ न्याय: समीपता, मुदा पूर्ण समानता नहि

इतिहासक परवर्ती चरणमे न्याय आ वैशेषिक घनिष्ठ रूपसँ संयुक्त भेल, आ ‘न्याय-वैशेषिक’ संयुक्त परम्पराक रूप प्रसिद्ध भेल। न्याय विशेषतः प्रमाण, तर्क आ विवाद-पद्धतिमे विकसित छल; वैशेषिक तत्त्वमीमांसीय वर्गीकरणमे। परवर्ती लेखक दुनूक साधन एक-दोसरामे समाहित करैत गेलाह।

तथापि आरम्भिक इतिहासकेँ पाछाँसँ संयुक्त रूपमे पढ़ब उचित नहि। समानान्तर दर्शन विकासक्रम, पाठभेद आ परम्परागत भिन्नताकेँ सुरक्षित राखैत अछि।

10.11 पूर्वपक्ष: एतेक श्रेणी मानबाक आवश्यकता किएक?

आपत्ति ई भऽ सकैत अछि जे द्रव्य, गुण, सामान्य, विशेष, समवाय, अभाव आदि स्वतंत्र तत्त्व मानलासँ जगत अनावश्यक सत्ता-संख्या सँ भरि जाइत अछि। बौद्ध नामवाद अथवा क्षणिकतावादी दृष्टि विशेषतः स्थायी द्रव्य आ सार्वभौमक आलोचना करैत अछि।

उत्तरपक्षमे वैशेषिक कहि सकैत अछि जे भाषा आ अनुभवमे वास्तविक भेदक उचित व्याख्या लेल अलग श्रेणी आवश्यक अछि। यदि गुण, व्यक्ति, समानता आ सम्बन्ध सभकेँ एकहि प्रकारक सत्ता मानि ली तँ हम वास्तविक भिन्नता बुझा नहि सकब। मुदा श्रेणीक संख्या केवल परम्परा कारण नहि; प्रत्येक श्रेणी अपन व्याख्यात्मक काम सिद्ध करय—ई कसौटी समानान्तर दर्शन जोड़ैत अछि।

10.12 समानान्तर दर्शनक पाठ

वैशेषिकसँ तीन प्रमुख शिक्षा भेटैत अछि। पहिल, वास्तविकताक वर्गीकरण स्वयं दार्शनिक कार्य अछि; वर्गसभ प्राकृतिक आ स्वतःसिद्ध मानि नहि लेबाक चाही। दोसर, सूक्ष्म सत्ता मानबाक अधिकार तखन अछि जखन ओकर स्पष्ट व्याख्यात्मक भूमिका हो। तेसर, आधुनिक विज्ञानसँ ऐतिहासिक समानता गढ़बाक बदला समस्या-संरचनात्मक संवाद अधिक फलदायी अछि।

अध्याय-निष्कर्ष

वैशेषिक भारतीय दर्शनक एकटा शक्तिशाली यथार्थवादी तत्त्वमीमांसा अछि। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय आ परवर्ती अभाव-विमर्श द्वारा ई पूछैत अछि जे जगतमे की-की प्रकारक सत्ता मानल जाए आ ओकर परस्पर सम्बन्ध कोना बुझल जाए। एकर परमाणुवाद आधुनिक विज्ञान नहि, मुदा प्राकृतिक जगतक

सूक्ष्म संरचना पर दार्शनिक अनुमानक ऐतिहासिक उदाहरण अछि। समानान्तर दर्शन वैशेषिककेँ गौरवक कथा नहि, अवधारणात्मक कठोरताक विद्यालयक रूपमे पढ़ैत अछि।

अध्याय-ग्रन्थसूची

कणाद — Vaiśeṣika-sūtra.

प्रशस्तपाद — Padārthadharmasaṃgraha.

Bimal Krishna Matilal — Perception; Logic, Language and Reality.

Karl H. Potter (ed.) — Encyclopedia of Indian Philosophies: Indian Metaphysics and Epistemology.

Internet Encyclopedia of Philosophy — “Substance”.

Stanford Encyclopedia of Philosophy — “Naturalism in Classical Indian Philosophy”.

अध्याय 11 – पूर्वमीमांसा

पूर्वमीमांसा भारतीय दर्शनक ओहि महत्त्वपूर्ण परम्परासभमे सँ अछि जतय दर्शनक केन्द्र केवल जगत कोन पदार्थसँ बनल अछि अथवा आत्मा की अछि—एहि प्रश्नपर नहि, बल्कि मनुष्य कर्तव्य कोना जानैत अछि, वाक्य अर्थ कोना दैत अछि, प्रमाण अपन विश्वसनीयता कोना प्राप्त करैत अछि, आ विधिवाक्य क्रियाकेँ कोना

निर्देशित करैत अछि—एहि प्रश्नसभपर अछि। जैमिनिक मीमांसासूत्र “धर्म”क जिज्ञासासँ आरम्भ होइत अछि। एतय धर्म केवल सामान्य धार्मिक भावना नहि; ओ मुख्यतः एहन कर्तव्य अछि जकर ज्ञान वैदिक विधिसँ प्राप्त होइत अछि। एहि कारण पूर्वमीमांसा एकहि समय विधि-व्याख्या, भाषा-दर्शन, ज्ञानमीमांसा आ कर्म-दर्शन अछि।

11.1 मीमांसा: जिज्ञासा आ व्याख्या

“मीमांसा”क मूल भाव जाँच, विचार अथवा विवेचन अछि। पूर्वमीमांसाक ऐतिहासिक केन्द्र वैदिक कर्मकाण्डक उचित अर्थ आ अनुप्रयोग रहल, मुदा एहि व्याख्यात्मक कार्यसँ अत्यन्त सूक्ष्म दार्शनिक प्रश्न जन्म लेल। जँ दू वैदिक वाक्य परस्पर भिन्न दिशा देखबैत बुझाइत अछि तँ कोन प्रधान? विधि, निषेध, मन्त्र, नामधेय, अर्थवाद—एहि भिन्न भाषिक कार्यसभकेँ कोना चिन्हल जाए? कोनो वाक्य स्वतंत्र विधि अछि की दोसर विधिक सहायक? प्रसंग, वाक्य-सन्निधि, शब्दार्थ आ प्रयोजनक भूमिका की?

एहि प्रश्नसभक कारण मीमांसा केवल अनुष्ठानक नियमावली नहि रहल। ओ व्याख्याक अनुशासन बनल। आधुनिक कानून, संविधान, धार्मिक ग्रन्थ, प्रशासनिक आदेश वा साहित्य पढ़ैत समय सेहो समान प्रकारक समस्या उठैत अछि—शब्दक सामान्य अर्थ, तकनीकी अर्थ, प्रसंग, अपवाद, उद्देश्य आ परस्पर संगति कोना तय हो? समानान्तर दर्शन एहि तुलनाकेँ ऐतिहासिक समानता नहि, समस्या-संरचनाक संवाद मानैत अछि।

11.2 धर्म आ प्रत्यक्षक सीमा

प्रत्यक्ष वर्तमान वस्तुकेँ ग्रहण करैत अछि। मुदा “की करबाक चाही?”क प्रत्येक उत्तर प्रत्यक्षसँ नहि निकलैत। आगि देखल जा सकैत अछि; मुदा “एहि अवसरपर अमुक कर्म कर्तव्य अछि” ई केवल आँखिसँ नहि देखाइत। मीमांसक एहि अन्तरकेँ धर्म-ज्ञानक विशिष्ट समस्या मानैत छथि। एहि कारण वैदिक वाक्यक प्रामाण्य हुनका लेल केन्द्रीय अछि।

एतय तथ्य आ विधिक भेद महत्त्वपूर्ण अछि। “वर्षा भऽ रहल अछि” वर्णनात्मक कथन; “छाता लिअ” व्यावहारिक निर्देश; “वचन निभेनाइ कर्तव्य अछि” नैतिक कथन। भाषा केवल वस्तु वर्णन नहि करैत अछि, क्रिया निर्देशित सेहो करैत अछि। पूर्वमीमांसाक योगदान ई अछि जे ओ भाषाक एहि क्रियात्मक पक्षकेँ व्यवस्थित दार्शनिक विषय बनबैत अछि।

11.3 वेदक अपौरुषेयता

मीमांसक वेदकेँ कोनो मानवीय लेखक अथवा ईश्वरक रचना मानि ओकर अधिकार स्थापित नहि करैत छथि। परम्परागत मीमांसा वेदकेँ अपौरुषेय मानैत अछि—अर्थात् ओकर प्रामाण्य कोनो ऐतिहासिक व्यक्तिक विश्वसनीयतापर निर्भर नहि। ई दृष्टि न्यायीय ईश्वरवादी व्याख्यासँ भिन्न अछि। एहि भिन्नताकेँ बुझब आवश्यक अछि, कारण “वेद-प्रामाण्य स्वीकार करयवला सभ दर्शन ईश्वरकेँ एकहि रूपमे मानैत अछि” एहन सामान्यीकरण गलत होयत।

दार्शनिक प्रश्न एतय ई अछि: कोनो कथनक अधिकार ओकर लेखकसँ अबैत अछि, भाषिक परम्परासँ, सत्य-उत्पादक प्रक्रियासँ, अथवा खण्डनक अभावसँ? आधुनिक समानान्तर विमर्शमे एहि प्रश्नक रूप बदलि सकैत अछि—संस्था विश्वसनीय किएक, विशेषज्ञक कथन कखन स्वीकार्य, पुरान ग्रन्थक अधिकारक सीमा की?

मुदा उत्तर पूर्वमीमांसासँ यथावत् उधार नहि लेल जा सकैत; केवल प्रश्नक सूक्ष्मता ग्रहण कएल जा सकैत अछि।

11.4 स्वतःप्रामाण्य

कुमारिल भट्टक ज्ञानमीमांसामे स्वतःप्रामाण्य अत्यन्त प्रभावशाली सिद्धान्त अछि। सामान्य रूपमे एकर आशय ई जे ज्ञान उत्पन्न होइत समय ओकर स्वीकार्यता लेल प्रत्येक बेर बाहरी प्रमाणपत्र आवश्यक नहि। जँ प्रत्येक ज्ञानक सत्यता सिद्ध करबाक लेल दोसर ज्ञान चाही, दोसर लेल तेसर, तँ अनन्त शृंखला उत्पन्न होयत। तेँ ज्ञान सामान्यतः स्वीकार्य रूपमे उपस्थित होइत अछि; बादमे बाधक कारण भेटला पर ओकर अप्रामाण्य प्रकट भऽ सकैत अछि।

एहि सिद्धान्तकेँ “जे मनमे आयल से सत्य” नहि बुझबाक चाही। मीमांसा त्रुटि, बाध आ खण्डन स्वीकारैत अछि। मूल बिन्दु ज्ञानात्मक जीवनक प्रारम्भिक विश्वास अछि। हम प्रत्येक दृश्य, प्रत्येक स्मृति, प्रत्येक वाक्यकेँ पहिने शून्य विश्वसनीयता दऽ कऽ जीवन नहि चला सकैत छी। समानान्तर दर्शन एहि अन्तर्दृष्टिकेँ त्रुटिसंशोध्य विश्वासक रूपमे ग्रहण करैत अछि: प्रारम्भिक स्वीकार्यता हो, मुदा उचित आपत्ति आएलापर पुनः परीक्षण अनिवार्य।

11.5 भट्ट आ प्राभाकर

पूर्वमीमांसा भीतर एकरूपता नहि। कुमारिल भट्टसँ सम्बद्ध भट्ट मत आ प्रभाकरसँ सम्बद्ध प्राभाकर मत अनेक प्रश्नपर भिन्न अछि। प्रमाणक संख्या, ज्ञानक स्वरूप, वाक्यार्थ आ कर्तव्यक विश्लेषणमे मतभेद भेटैत अछि। एहि आन्तरिक बहसकेँ छोड़ि केवल “मीमांसा कहैत अछि” लिखब ऐतिहासिक जटिलता घटा देत।

भट्ट परम्परा अर्थापत्ति आ अनुपलब्धि सहित अधिक प्रमाण मानैत अछि; प्राभाकर परम्परा अनुपलब्धिक स्वतंत्र प्रमाणत्व स्वीकार नहि करैत। वाक्यार्थमे सेहो अभिहितान्वय आ अन्विताभिधानक प्रसिद्ध भेद विकसित भेल। तकनीकी विवरण अलग-अलग व्याख्याकारमे सूक्ष्म अछि, मुदा व्यापक प्रश्न स्पष्ट: शब्द पहिने स्वतंत्र अर्थ दैत अछि आ बादमे वाक्यमे जुड़ैत अछि, की शब्दक अर्थ आरम्भसँ वाक्यगत सम्बन्धमे प्रकट होइत अछि?

11.6 अर्थापत्ति आ अनुपलब्धि

अर्थापत्ति एहन स्थिति बुझबैत अछि जतय ज्ञात तथ्यसभक संगति लेल कोनो अतिरिक्त तथ्य मानब आवश्यक बुझाइत अछि। पारम्परिक उदाहरणमे दिनमे नहि खायवला मुदा स्थूल व्यक्तिक स्थिति बुझबाक लेल रातिमे भोजनक कल्पना कएल जाइत अछि। ई सामान्य अनुमानसँ अलग प्रमाण अछि की अनुमानक विशेष रूप—एहि पर भारतीय परम्परासभमे विवाद अछि।

अनुपलब्धि अभाव-ज्ञानक प्रश्न उठबैत अछि। मेजपर घट नहि अछि—ई “नहि होयब” हम कोना जानैत छी? केवल मेज देखलासँ, की घटक अनुपलब्धि स्वतंत्र ज्ञानात्मक भूमिका निभबैत अछि? ई सूक्ष्म प्रश्न आधुनिक अनुपस्थिति-प्रमाणक समस्यासँ संवाद करैत अछि: “प्रमाण नहि भेटल” आ “नहि होयबाक प्रमाण भेटल” एक बात नहि। खोज पर्याप्त छल की नहि—ई निर्णायक प्रश्न अछि।

11.7 शब्द, अर्थ आ वाक्य

मीमांसा भाषा-दर्शनक इतिहासमे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अछि। शब्दार्थ स्थिरता, शब्द-शक्ति, वाक्य-संगति, आकांक्षा, योग्यता आ सन्निधि-जकाँ प्रश्न व्याख्याक आधार बनैत अछि। वाक्य बुझबाक लेल शब्दसभ केवल पास-पास होयब पर्याप्त नहि; हुनका बीच अर्थगत अपेक्षा आ संगति चाही। “पाथर पानी पीबैत अछि” व्याकरणतः वाक्य भऽ सकैत अछि, मुदा सामान्य प्रसंगमे अर्थगत योग्यता प्रश्न उठबैत अछि।

एहि भाषिक अनुशासनक आधुनिक महत्त्व स्पष्ट अछि। कानूनक एक शब्द, डिजिटल अनुबन्धक एक शर्त, धार्मिक वाक्यक एक अनुवाद, इतिहासक एक अभिलेख—अर्थ प्रसंग बदललासँ बदलि सकैत अछि। समानान्तर दर्शन एहि कारण अनुवादकेँ केवल शब्द-बदली नहि, दार्शनिक जिम्मेवारी मानैत अछि।

11.8 कर्म आ परिणाम

मीमांसाक कर्म-सिद्धान्तमे अपूर्व-जकाँ धारणा कर्म आ दूरस्थ फल बीच सम्बन्ध समझेबाक प्रयत्न करैत अछि। आधुनिक वैज्ञानिक कारणतासँ एकर सीधा समानता स्थापित करब अनुचित होयत। ई विशिष्ट वैदिक कर्ममीमांसाक अवधारणा अछि। तथापि दार्शनिक स्तरपर प्रश्न रोचक अछि—एखन कएल क्रिया भविष्यक फलसँ कोना जुड़ैत अछि, आ अदृश्य सम्बन्धक औचित्य कोन प्रमाणसँ?

समानान्तर दर्शन एहि बिन्दुपर प्रमाण-अनुशासन लागू करैत अछि। परम्परागत सिद्धान्तकेँ ओकर ऐतिहासिक तर्कमे बुझू; ओकरा आधुनिक भौतिक विज्ञानक सिद्धान्त घोषित नहि करू; आ जँ वर्तमान सार्वजनिक दाबी बनाओल जाए तँ वर्तमान प्रमाणक कसौटी सेहो लागू करू।

पूर्वपक्ष: पूर्वमीमांसा केवल कर्मकाण्ड अछि

ई आपत्ति आधा सत्यक कारण भ्रामक अछि। वैदिक अनुष्ठान एकर केन्द्रीय ऐतिहासिक विषय अवश्य अछि, मुदा ओहि विषयक व्याख्यासँ भाषा, प्रमाण, कर्तव्य, ज्ञानक वैधता आ अभाव-जकाँ प्रश्नपर गहन दर्शन विकसित भेल।

उत्तरपक्ष: कर्मक व्याख्यासँ ज्ञानक दर्शन धरि

पूर्वमीमांसाक दार्शनिक मूल्य ओकर प्रत्येक धार्मिक निष्कर्ष स्वीकार करबमे नहि, बल्कि एहि बातमे अछि जे ओ निर्देशात्मक भाषा, ग्रन्थ-अर्थ, प्रमाणक आत्मवैधता, खण्डन, अभाव आ कर्तव्यक ज्ञानकेँ कठोर विश्लेषणक विषय बनबैत अछि।

अध्याय-निष्कर्ष

पूर्वमीमांसा देखबैत अछि जे दर्शन केवल “की अस्तित्वमान अछि?” नहि, “हम कर्तव्य कोना जानैत छी?” आ “भाषा हमरा क्रिया लेल कारण कोना दैत अछि?” सेहो अछि। समानान्तर दर्शन एहि परम्परासँ व्याख्याक

सावधानी, प्रमाणक आत्मपरीक्षण आ भाषिक अनुशासन ग्रहण करैत अछि; मुदा ओकर धार्मिक पूर्वधारणाकेँ आधुनिक सार्वजनिक सत्यक स्वतः प्रमाण नहि मानैत।

अध्याय-ग्रन्थसूची

जैमिनि — Mīmāṃsā-sūtra.

शबर — Śābara-bhāṣya.

कुमारिल भट्ट — Ślokavārttika; Tantravārttika.

प्रभाकर — Bṛhatī.

Ganganatha Jha — अनुवाद एवं मीमांसा-अध्ययन.

Bimal Krishna Matilal — The Word and the World.

Stanford Encyclopedia of Philosophy — “Kumārila”; “Language and Testimony in Classical Indian Philosophy”.

अध्याय 12 – वेदान्त

“वेदान्त”क शाब्दिक अर्थ वेदक अन्त अथवा परिपाकसँ जुड़ैत अछि, मुदा दार्शनिक इतिहासमे ई उपनिषद, ब्रह्मसूत्र आ भगवद्गीता केन्द्रित अनेक परम्पराक विस्तृत परिवार अछि। वेदान्तकेँ केवल अद्वैतक पर्याय मानब

गलत होयत। अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत आ अन्य वेदान्तीय धारासभ ब्रह्म, जगत, जीव, ईश्वर, बन्धन आ मुक्तिक सम्बन्धपर गम्भीर मतभेद रखैत अछि।

12.1 प्रस्थानत्रयी आ व्याख्याक प्रश्न

वेदान्तीय परम्परासभ उपनिषद, ब्रह्मसूत्र आ भगवद्गीताकेँ विशेष आधारग्रन्थ मानैत छथि। मुदा एकहि पाठसमूहसँ भिन्न दर्शन कोना निकलैत अछि? एहि प्रश्नक उत्तर व्याख्यामे अछि। कोन वाक्य प्रधान, कोन गौण, कोन रूपक, कोन प्रत्यक्ष प्रतिपादन, कोन प्रसंगविशेष—एहि निर्णयसभसँ सम्पूर्ण तत्त्वमीमांसा बदलि सकैत अछि।

एहि कारण ग्रन्थ स्वयं बिना व्याख्याकारक नहि बोलैत। “शास्त्रमे लिखल अछि” बहसक अन्त नहि; अगिला प्रश्न अछि—कोन पाठ, कोन पाठभेद, कोन प्रसंग, कोन व्याख्या, आ वैकल्पिक व्याख्याक उत्तर की?

12.2 ब्रह्मक प्रश्न

वेदान्तक केन्द्रमे ब्रह्मक धारणा अछि, मुदा ब्रह्मक स्वरूप पर मतभेद अछि। अद्वैतमे ब्रह्म अन्तिम अद्वितीय सत्य; विशिष्टाद्वैतमे ब्रह्म गुणसम्पन्न परम वास्तविकता, जकर संग जीव-जगत विशिष्ट सम्बन्धमे; द्वैतमे ईश्वर आ जीवक वास्तविक भेद मूलभूत। एहि मतभेदक कारण “वेदान्त कहैत अछि जगत मिथ्या” जकाँ सामान्य वाक्य केवल अद्वैतक विशिष्ट व्याख्याक विकृत सार बनि सकैत अछि, सम्पूर्ण वेदान्तक नहि।

12.3 आत्मन् आ ब्रह्मन्

उपनिषदिक महावाक्यसभ आत्मा आ परम वास्तविकताक सम्बन्धपर गहन व्याख्या उत्पन्न करैत अछि। अद्वैत एहि सम्बन्धकेँ अभेदक दिशामे पढ़ैत अछि। मुदा अभेदक अर्थ की? व्यक्तिगत मन, शरीर आ अहंकार ब्रह्म अछि—एहन साधारण समानता नहि। अद्वैत अविद्या, अध्यास, उपाधि आ ज्ञानक माध्यमसँ अनुभवगत भेद आ परमार्थक अभेदक सम्बन्ध समझबैत अछि।

विशिष्टाद्वैत आ द्वैत एहि अभेद-पाठपर आपत्ति करैत अछि। जीवक निर्भरता, ईश्वरक व्यक्तित्व, भक्ति, कृपा आ वास्तविक भेदकेँ अलग रूपेँ प्रतिपादित कएल जाइत अछि। समानान्तर दर्शन एहि विवादकेँ “एक सही, बाकी भ्रम” कहि समाप्त नहि करैत; प्रत्येक मतक तर्क, पाठाधार आ अनुभव-दृष्टि अलग जाँचैत अछि।

12.4 जगत: वास्तविक, आश्रित की मिथ्यात्वक विशेष अर्थ?

वेदान्त-विमर्शमे “मिथ्या” शब्दकेँ साधारण “झूठ”क अर्थमे पढ़लासँ भ्रम होइत अछि। अद्वैतमे जगत न पूर्ण शून्य, न ब्रह्म-जकाँ स्वतन्त्र परम सत्य; ओकर अनुभवगत व्यवहारिकता अछि, मुदा अन्तिम स्वतन्त्र सत्ता नहि। दोसर वेदान्तीय परम्परा जगतक वास्तविकताकेँ अधिक सकारात्मक रूपमे स्वीकारैत अछि।

एहि विवादक आधुनिक दार्शनिक मूल्य ई अछि जे “वास्तविकता”क स्तर, निर्भरता आ अनुभवगत स्थायित्व अलग-अलग प्रश्न भऽ सकैत अछि। मुदा आधुनिक आभासी संसार वा क्वाण्टम भौतिकीकेँ अद्वैतक “वैज्ञानिक प्रमाण” कहब ऐतिहासिक आ अवधारणात्मक भूल होयत।

12.5 अविद्या आ बन्धन

यदि अन्तिम सत्य एक अछि, तँ भेदक अनुभव किएक? अद्वैतमे अविद्या अथवा अज्ञान एहि समस्याक केन्द्र अछि। मुदा अविद्या स्वयं ककर? ओकर अस्तित्वक स्तर की? ज्ञानसँ ओकर निवृत्ति कोना? अद्वैत परम्परा भीतर एहि प्रश्नपर विस्तृत बहस विकसित भेल।

बन्धनकेँ केवल बाहरी शृंखला नहि, गलत आत्मपहिचानक रूपमे बुझल जाइत अछि। मनुष्य शरीर, मन, सामाजिक पद वा सीमित अहंकारकेँ अन्तिम आत्मस्वरूप मानि लैत अछि। ज्ञान एहि भ्रमक निवृत्ति करैत अछि। समानान्तर दर्शन एतय मनोवैज्ञानिक रूपकक सम्भावना देखैत अछि, मुदा सामाजिक अन्यायकेँ केवल “अज्ञान” कहि वास्तविक संस्थागत शोषणक महत्त्व घटेबाक विरोध करैत अछि।

12.6 ज्ञान, कर्म आ भक्ति

वेदान्तीय परम्परासभ मुक्तिक साधनपर सेहो भिन्न बल दैत अछि। अद्वैतमे आत्मब्रह्मज्ञान निर्णायक; विशिष्टाद्वैत आ द्वैत परम्परामे भक्ति, ईश्वरक अनुग्रह आ समर्पणक भूमिका अधिक केन्द्रीय। कर्मक स्थान तैयारी, धर्मपालन अथवा भक्तिक जीवनमे भिन्न रूपेँ व्याख्यायित होइत अछि।

एहि विविधतासँ एकटा व्यापक शिक्षा भेटैत अछि: “भारतीय मुक्ति-दर्शन” एक सूत्रमे नहि समेटल जा सकैत। ज्ञान, कर्म, भक्ति, ध्यान, कृपा—एहि सभक सम्बन्ध विभिन्न परम्परामे अलग अछि।

12.7 शंकर आ आलोचनात्मक अद्वैत

शंकरक अद्वैत भारतीय दर्शनक इतिहासमे अत्यन्त प्रभावशाली अछि। अध्यास, ब्रह्मज्ञान, श्रुति, तर्क आ अनुभूतिक सम्बन्ध हुनक व्याख्यामे महत्त्वपूर्ण। मुदा शंकरकेँ समस्त उपनिषदक एकमात्र सम्भव अर्थ मानब इतिहासक बहुलता मिटा देत। बादक अद्वैत स्वयं अनेक उपशाखामे विकसित भेल।

समानान्तर दर्शन शंकरक तर्कक सम्मान करैत अछि, संगहि प्रश्न उठबैत अछि: जँ सामाजिक व्यक्ति अन्तिम स्तरपर एकत्वक भाग अछि, तँ व्यवहारिक स्तरपर जाति, लिंग वा जन्माधारित असमानता लेल की नैतिक परिणाम निकलैत अछि? तत्त्वमीमांसात्मक एकत्व स्वतः सामाजिक समानता उत्पन्न नहि करैत; एहि लेल पृथक नैतिक तर्क आवश्यक अछि।

12.8 रामानुज आ सम्बन्धात्मक एकता

रामानुजक विशिष्टाद्वैत ब्रह्मक एकताकेँ जीव-जगतक वास्तविक विविधतासँ जोड़ैत अछि। ईश्वर सर्वोच्च वास्तविकता छथि, मुदा जीव आ जगत केवल भ्रम नहि। निर्भरता आ भिन्नता एक व्यापक एकतामे समाहित होइत अछि। भक्ति एतय केवल भावनात्मक पूरक नहि, मुक्तिक मार्गक केन्द्रीय अंग अछि।

दार्शनिक दृष्टिसँ ई प्रश्न महत्त्वपूर्ण अछि: एकता विविधताकेँ नष्ट कए बिना सम्भव अछि की? समानान्तर दर्शन सामाजिक क्षेत्रमे एहि प्रश्नक रूपान्तर देखैत अछि—साझा नागरिकता भाषिक, धार्मिक, क्षेत्रीय भिन्नता मिटौने बिना कोना सम्भव? ई तुलना केवल संरचनात्मक अछि, रामानुजक धार्मिक सिद्धान्तक राजनीतिक अनुवाद नहि।

12.9 द्वैत आ भेदक वास्तविकता

मध्वक द्वैत ईश्वर, जीव आ जगतक वास्तविक भेदपर बल दैत अछि। एतय मुक्ति अभेदमे विलय नहि, ईश्वरसँ उचित सम्बन्धमे अछि। ई दृष्टि वेदान्त भीतर तत्त्वमीमांसात्मक बहुलताक स्पष्ट प्रमाण अछि।

वेदान्तक अध्ययन तखन परिपक्व होइत अछि जखन विद्यार्थी “वेदान्त = अद्वैत”क सरल समीकरण छोड़ि व्याख्यात्मक संघर्ष देखैत अछि। एकहि शास्त्रीय आधारपर भिन्न तर्क सम्भव—ई तथ्य स्वयं भाषा-दर्शन आ व्याख्याशास्त्रक महत्त्वपूर्ण शिक्षा अछि।

पूर्वपक्ष: सभ वेदान्त अन्ततः एकहि बात कहैत अछि

ई लोकप्रिय समन्वयवादी धारणा मतभेदक वास्तविकता घटा दैत अछि। जँ ब्रह्म-जीव सम्बन्ध, जगतक वास्तविकता आ मुक्तिक स्वरूपपर विरोधी दाबी अछि तँ “सभ एक” कहब दार्शनिक विवाद मिटा देब होयत।

उत्तरपक्ष: संवाद एकता नहि, बहुलताक अनुशासित अध्ययन

समानान्तर दर्शन परम्परासभकेँ कृत्रिम रूपसँ एक नहि करैत। ओ पूछैत अछि—कहाँ साझा प्रश्न अछि, कहाँ वास्तविक मतभेद, आ कोन तर्क कोन पूर्वधारणापर निर्भर?

12.10 अध्यासक समस्या

अद्वैतमे अध्यास एक वस्तुक धर्म दोसरपर आरोपित करब अछि—आत्माक चेतना शरीर-मनक सीमा संग आ शरीर-मनक परिवर्तन आत्मासँ जोड़ल जाइत। ‘हम बूढ़ भऽ रहल छी’, ‘हम दुखी छी’ जकाँ साधारण अनुभवमे आत्मपहिचानक स्तर मिश्रित होइत अछि।

ई केवल भाषिक भूल नहि; बन्धनक अस्तित्वगत आधार कहल जाइत अछि। मुदा अध्यासक आरम्भ कोना, आ अनादि अज्ञान ब्रह्मक अद्वैत संग कोना संगत—गंभीर आपत्ति छथि। उत्तर अनुभवक स्तर आ परम सत्यक भेदसँ देल जाइत, मुदा स्तरक सम्बन्ध फेर स्पष्ट करब पड़ैत अछि।

मनोवैज्ञानिक रूपक उपयोगी भऽ सकैत, तथापि सामाजिक दर्जाकेँ ‘मात्र अध्यास’ कहब गलत। जाति वा गरीबी व्यवहारिक संस्थागत हानि दैत अछि; तत्त्वमीमांसात्मक अभेद ओकर निराकरणक अलग नैतिक-राजनीतिक कर्तव्य माँगैत अछि।

12.11 श्रुति आ तर्कक सम्बन्ध

वेदान्तमे ब्रह्म-जकाँ इन्द्रियातीत विषयक विशेष स्रोत श्रुति मानल जाइत अछि। मुदा श्रुति-वाक्य बुझबा, विरोध सुलझाबा आ अर्थ निश्चित करबा लेल तर्क आवश्यक। तर्क पूर्ण स्वतंत्र स्रोत नहि कहल जा सकैत, तथापि व्याख्याक प्रत्येक चरणमे सक्रिय अछि।

प्रतिपक्ष पूछत जे श्रुतिक प्रामाण्य स्वयं कोना स्थापित। परम्परागत उत्तर अपौरुषेयता, दोषाभाव वा अनुभूतिसँ सम्बन्धित हो सकैत। प्रत्येक उत्तर अलग प्रमाण-दायित्व रखैत अछि। अन्य धर्मक प्रकाशन-दाबी सामने निष्पक्ष कसौटी विशेष आवश्यक।

समानान्तर दर्शन धार्मिक ग्रन्थकेँ परम्परा भीतरक प्रमाण मानैत, सार्वजनिक तत्त्वमीमांसात्मक निष्कर्ष लेल अतिरिक्त तर्क माँगैत अछि। पाठाधिकार प्रतिपक्षक प्रश्न रोकि नहि सकैत।

12.12 जीवन्मुक्ति आ नैतिकता

ज्ञानसँ अज्ञान निवृत्त भेलाक बाद शरीर-मनक पूर्व कारण किछु समय चलैत रहय—जीवन्मुक्तिक एहन व्याख्या भेटैत अछि। प्रश्न ई जे मुक्त व्यक्ति कर्तव्य, करुणा आ सामाजिक सम्बन्धमे कोना व्यवहार करत।

जँ सभ आत्मा एक, तँ दोसरक पीड़ा अपन पीड़ासँ पूर्ण अलग नहि—एहन नैतिक प्रेरणा निकालल जा सकैत। मुदा तत्त्वमीमांसात्मक एकता स्वतः समान व्यवहार सुनिश्चित नहि; इतिहासमे सिद्धान्त आ प्रथा बीच अन्तर सम्भव।

मुक्तिक दाबी व्यक्तिकेँ आलोचना सँ ऊपर नहि रखय। शिष्य, सम्पत्ति वा शरीरपर विशेष अधिकार माँगनिहार गुरुकेँ संस्थागत कसौटी सहय पड़त। ज्ञानक नैतिक फल व्यवहारमे जाँचल जाए।

12.13 पूर्वपक्ष: जगत मिथ्या तँ नैतिकता मिथ्या

आपत्ति अछि जे जगत अन्तिम सत्य नहि तँ पीड़ा, कर्तव्य आ न्याय सेहो निम्न स्तरक भ्रम; अद्वैत सामाजिक उदासीनता उत्पन्न करि सकैत अछि।

उत्तर ई जे व्यवहारिक स्तर ज्ञानपूर्व आ ज्ञानोत्तर जीवनमे उपेक्षणीय नहि। आगिक व्यवहारिक सत्यता जकाँ पीड़ा आ कर्मक परिणाम वास्तविक प्रभाव दैत अछि। शास्त्रीय अनुशासन नैतिक तैयारीपर बल दैत अछि।

तथापि उत्तरक पर्याप्तता आचरणपर जाँचल जाए। व्यवहारिक अन्यायकेँ परमार्थक भाषासँ छोट करब अनुचित। स्तर-भेद जिम्मेदारी व्यवस्थित करय, समाप्त नहि।

अध्याय-निष्कर्ष

वेदान्त एक दर्शन नहि, उपनिषदिक-ब्रह्मसूत्रीय प्रश्नसभक अनेक व्यवस्थित उत्तरक परिवार अछि। एकर अध्ययन आत्मा, ब्रह्म, जगत, ईश्वर, ज्ञान, भक्ति आ मुक्तिक प्रश्नकेँ संगहि व्याख्याक बहुलता बुझबैत अछि। समानान्तर दर्शनक लेल वेदान्तक प्रमुख शिक्षा अछि—एकहि प्रतिष्ठित पाठक अनेक व्याख्या सम्भव, अतः पाठाधिकार तर्कक स्थान नहि लऽ सकैत।

बादरायण — Brahma-sūtra.

प्रमुख उपनिषद.

भगवद्गीता.

शंकर — Brahma-sūtra-bhāṣya; Upaniṣad-bhāṣya.

रामानुज — Śrī-bhāṣya.

मध्व — Brahma-sūtra-bhāṣya.

Surendranath Dasgupta — A History of Indian Philosophy.

Karl H. Potter — Encyclopedia of Indian Philosophies: Advaita Vedānta volumes.

अध्याय 13 – बौद्ध दर्शन

बौद्ध दर्शनकेँ केवल धार्मिक उपदेश अथवा केवल “सब किछु शून्य अछि”क सूत्रमे समेटब ओकर विशाल दार्शनिक परम्पराक अन्याय होयत। दुःख, अनित्यता, अनात्म, प्रतीत्यसमुत्पाद, कर्म, निर्वाण, ज्ञान, भाषा, प्रत्यक्ष, अनुमान, करुणा आ शून्यता—एहि सभपर बौद्ध परम्परासभ अनेक शताब्दीसँ गहन विवाद विकसित कएलक। “बौद्ध दर्शन” स्वयं बहुवचन अछि।

13.1 दुःखसँ दर्शनक आरम्भ

बौद्ध चिन्तनक एक विशिष्टता ई अछि जे दर्शन अस्तित्वगत समस्यासँ जुड़ल अछि। दुःख केवल अमूर्त पहेली नहि; जन्म, जरा, रोग, मृत्यु, वियोग, असन्तोष आ आसक्तिक अनुभवसँ दर्शन आरम्भ होइत अछि। चारि आर्यसत्यक संरचना रोग-निदान-जकाँ अछि: दुःख, दुःखक कारण, निरोधक सम्भावना, आ निरोधक मार्ग।

एहि संरचनामे सत्यक खोज जीवन-परिवर्तनसँ जुड़ैत अछि। गलत दृष्टि केवल बौद्धिक भूल नहि, दुःखक कारण बनि सकैत अछि। समानान्तर दर्शन एहि अन्तर्दृष्टिकेँ व्यापक रूप दैत अछि—कोनो सिद्धान्तक सत्यता तर्कसँ जाँचू, मुदा ओकर मानवीय परिणाम सेहो देखू। परिणाम सत्यक विकल्प नहि, नैतिक मूल्यांकनक अतिरिक्त आयाम अछि।

13.2 अनित्यता

संस्कारित वस्तुसभ परिवर्तनशील छथि। अनित्यताक अर्थ केवल “सभ नष्ट होयत” नहि; वस्तु आ अनुभव निरन्तर कारण-शर्तपर निर्भर परिवर्तनमे अछि। स्थायित्वक अनुभव व्यवहारिक रूपसँ उपयोगी हो सकैत अछि, मुदा ओकरा अपरिवर्तनशील सार मानलासँ आसक्ति उत्पन्न होइत अछि।

आधुनिक विज्ञान परिवर्तन देखबैत अछि, मुदा बौद्ध अनित्यताकेँ आधुनिक भौतिकी द्वारा “सिद्ध” कहब अनुचित। बौद्ध सिद्धान्तक उद्देश्य अस्तित्वगत-मुक्तिमूलक सेहो अछि। समान शब्द—परिवर्तन—दू परम्परामे अलग तर्कात्मक कार्य करैत अछि।

13.3 अनात्म

बौद्ध दर्शन स्थायी, स्वतन्त्र, अपरिवर्तनशील आत्मतत्त्वपर प्रश्न उठबैत अछि। व्यक्तिक अनुभव रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार आ विज्ञान-जकाँ स्कन्धक प्रक्रियासँ विश्लेषित कएल जाइत अछि। “अनात्म”क अर्थ “व्यक्ति बिल्कुल अस्तित्वहीन” नहि; व्यवहारिक व्यक्ति, नैतिक जिम्मेवारी आ कर्मक क्रम रहैत अछि, मुदा स्थायी आत्मसारक दाबी अस्वीकार कएल जाइत अछि।

एतय एक गम्भीर प्रश्न उठैत अछि: जँ स्थायी आत्मा नहि, तँ कर्मफल ककर? स्मृति आ नैतिक उत्तरदायित्व कोना? बौद्ध परम्परासभ कारणात्मक निरन्तरता, क्षणिकता आ व्यक्तित्वक प्रवाहक विभिन्न सिद्धान्त विकसित करैत अछि। समानान्तर दर्शन एहि प्रश्नकेँ आधुनिक व्यक्तिगत पहिचान-विमर्शसँ संवादमे राखि सकैत अछि, मुदा दुनूकेँ समान सिद्धान्त नहि मानैत।

13.4 प्रतीत्यसमुत्पाद

प्रतीत्यसमुत्पादक मूल अन्तर्दृष्टि अछि—वस्तु आ अवस्था कारण-शर्तपर निर्भर उत्पन्न होइत अछि। “ई रहला सँ ओ होइत अछि; ई उत्पन्न भेला सँ ओ उत्पन्न”—एहन संरचना बौद्ध कारण-दृष्टिक आधार अछि। मानव दुःख सेहो कारणयुक्त अछि, अतः कारण बदलला सँ परिणाम बदलि सकैत अछि।

ई दृष्टि नियतिवाद नहि। यदि सभ पूर्वनिर्धारित होइत तँ साधना निरर्थक होइत। उलटे, कारण-शर्तक निर्भरता परिवर्तनक सम्भावना खोलैत अछि। सामाजिक समानान्तरमे सेहो अन्यायकेँ जन्मजात अथवा अपरिवर्तनीय

भाग्य नहि, कारण-सम्बन्धित संस्था आ व्यवहारक परिणाम बुझल जा सकैत अछि; मुदा ई आधुनिक सामाजिक विस्तार अछि, प्राचीन सूत्रक प्रत्यक्ष राजनीतिक अर्थ नहि।

13.5 मध्यमक आ शून्यता

नागार्जुनसँ सम्बद्ध मध्यमक परम्परा स्वभाव—स्वतन्त्र, स्वयंस्थित अन्तर्निहित प्रकृति—पर कठोर आलोचना करैत अछि। शून्यता “किछु नहि अछि”क नास्तिक्यवादी घोषणा नहि; वस्तुसभ स्वभावतः स्वतन्त्र नहि, सम्बन्ध आ निर्भरतामे अछि। एहि कारण मध्यमक शाश्वतवाद आ उच्छेदवाद दुनू अतिसँ बचबाक मध्यम मार्ग प्रस्तुत करैत अछि।

शून्यताकेँ स्वयं स्थायी तत्त्व बना देब मध्यमकक उद्देश्यक विरुद्ध होयत। जँ “शून्यता”केँ नूतन परम पदार्थ मानि लेल जाए तँ स्वभाववाद दोसर रूपमे लौटि आएत। एहि आत्म-आलोचनात्मक संरचनामे समानान्तर दर्शन महत्त्वपूर्ण शिक्षा देखैत अछि: आलोचनाक अवधारणा स्वयं आलोचनासँ मुक्त नहि।

13.6 द्विसत्य

मध्यमक परम्परामे संवृति-सत्य आ परमार्थ-सत्यक भेद महत्त्वपूर्ण। व्यवहारिक संसारमे भाषा, व्यक्ति, कारण, मार्ग, नैतिकता कार्य करैत अछि; परम विश्लेषणमे वस्तुक स्वतन्त्र स्वभाव नहि भेटैत। एहि भेदकेँ “दू परस्पर विरोधी सत्य”क सरल सूत्रमे नहि पढ़बाक चाही। व्यवहारिक सत्य निरर्थक नहि; ओकर बिना परमार्थक चर्चा सेहो सम्भव नहि।

समानान्तर दर्शन एहि सिद्धान्तसँ “सभ दृष्टिकोण बराबर” निष्कर्ष नहि निकालैत। बौद्ध द्विसत्य विशिष्ट मुक्तिमूलक आ तत्त्वमीमांसात्मक सन्दर्भ रखैत अछि।

13.7 योगाचार

योगाचार परम्परा अनुभव, विज्ञान आ विषय-वस्तु सम्बन्धक सूक्ष्म विश्लेषण करैत अछि। “विज्ञप्तिमात्र”केँ साधारण “केवल हमर मन अस्तित्वमान”क व्यक्तिवादी आदर्शवाद मानब विवादास्पद सरलीकरण अछि। योगाचारक उद्देश्य अनुभवक द्वैतात्मक संरचना, कर्मबीज, आलयविज्ञान आ ज्ञान-परिवर्तनक विश्लेषणसँ जुड़ल अछि।

एहि परम्पराक अध्ययन देखबैत अछि जे बौद्ध दर्शन केवल मध्यमक नहि। बौद्ध आन्तरिक बहस वास्तविक अछि; एक शाखाक सूत्र सम्पूर्ण बौद्ध दर्शनक प्रतिनिधि नहि।

13.8 दिङ्नाग आ धर्मकीर्ति: प्रमाणमीमांसा

दिङ्नाग आ धर्मकीर्ति बौद्ध ज्ञानमीमांसा आ तर्कक इतिहासमे निर्णायक छथि। प्रत्यक्ष आ अनुमानक विश्लेषण, अवधारणा, अपोह, हेतु आ प्रमाणक प्रश्नपर हुनकर कार्य न्याय आ मीमांसा परम्परासँ दीर्घ संवाद-विवादमे विकसित भेल।

बौद्ध प्रमाणमीमांसा सामान्यतः प्रत्यक्ष आ अनुमानकेँ प्रमुख प्रमाण मानैत अछि। शब्द-ज्ञान अन्ततः अनुमानात्मक अथवा अवधारणात्मक संरचनासँ विश्लेषित होइत अछि। एहि दृष्टिक विरोधमे मीमांसक आ

नैयायिक अपन अलग तर्क प्रस्तुत करैत छथि। भारतीय दर्शनक जीवन्तता एतहि अछि—परम्परासभ एक-दोसराकेँ पढ़ैत, चुनौती दैत, अपन सिद्धान्त परिष्कृत करैत अछि।

13.9 करुणा आ प्रज्ञा

विशेषतः महायान परम्परामे करुणा आ प्रज्ञाक संयुक्त आदर्श विकसित होइत अछि। केवल भावुक करुणा गलत उपाय चुनि सकैत अछि; केवल विश्लेषणात्मक प्रज्ञा मानवीय दुःखसँ कटि सकैत अछि। बोधिसत्त्व आदर्श मुक्तिक व्यक्तिगत अवधारणाकेँ व्यापक प्राणीहितसँ जोड़ैत अछि।

समानान्तर दर्शन एहि बिन्दुसँ अपन सूत्र विकसित करैत अछि—“करुणा बिना तर्क निर्दय भऽ सकैत अछि; तर्क बिना करुणा भ्रमित भऽ सकैत अछि।” ई एहि ग्रन्थक आधुनिक प्रतिपादन अछि, कोनो प्राचीन बौद्ध सूत्रक शब्दशः उद्धरण नहि।

पूर्वपक्ष: बौद्ध दर्शन नास्तिक शून्यवाद अछि

ई आपत्ति अनेक भिन्न सिद्धान्तकेँ एक शब्दमे मिला दैत अछि। ईश्वर-सृष्टिकर्ताक अस्वीकृति, स्थायी आत्माक आलोचना आ स्वभाव-शून्यता तीन अलग दार्शनिक प्रश्न छथि। “शून्यता = किछु नहि” मध्यमकक गलत पाठ अछि।

उत्तरपक्ष: निर्भरता, प्रक्रिया आ मुक्तिक दर्शन

बौद्ध दर्शन अस्तित्वक स्वतन्त्र सारपर प्रश्न उठबैत अछि, मुदा कारणता, नैतिकता, साधना आ दुःख-निरोधक व्यवहारिक संसार स्वीकारैत अछि। ओकर नकारात्मक तर्कक उद्देश्य अनेक बेर गलत आसक्ति हटेनाइ अछि, शून्य नास्तित्व स्थापित करब नहि।

13.10 प्रतीत्यसमुत्पाद आ कारण

प्रतीत्यसमुत्पाद कहैत अछि निर्दिष्ट शर्त रहला पर घटना उत्पन्न, शर्त बदलला पर परिणाम बदलैत अछि। ई एक पहिल कारणक खोजक बदला सम्बन्धित प्रक्रिया देखैत अछि। दुःखक कारण हटेबा सम्भव—एहि कारण सिद्धान्त मुक्तिमूलक अछि।

बारह निदानक क्रमक विभिन्न व्याख्या अछि; ओकरा सरल जैविक जीवनचक्र वा एकमात्र मनोवैज्ञानिक क्रम मानब सावधानी माँगैत। ग्रन्थ आ परम्पराविशेष स्पष्ट हो।

आधुनिक प्रणाली-विज्ञानसँ संरचनात्मक तुलना सम्भव, मुदा बौद्ध सिद्धान्तक वैज्ञानिक प्रमाणीकरणक दावा नहि। उद्देश्य, प्रमाण आ पदावली भिन्न।

13.11 द्विसत्यक विवेचन

संवृति सत्य व्यवहार, भाषा आ सामान्य भेदक संसार; परमार्थ सत्य वस्तुसभक स्वभावशून्यता सम्बन्धी बोध। द्विसत्य दू अलग जगत नहि। व्यवहारिक कथन बिना उपदेश सम्भव नहि, परमार्थक नामपर भाषा पूर्ण त्यागल नहि जा सकैत।

संवृति कैं झूठ कहला पर नैतिकता आ करुणा कमजोर पड़त। परमार्थ कैं एक उच्च वस्तु मानला पर शून्यताकैं नूतन सार बना देल जायत। मध्यमक आलोचना दूनू अतिवाद रोकैत अछि।

सामाजिक विश्लेषणमे ई भेद सावधानीसँ उपयोग हो। संस्था ‘मात्र नाम’ होइतहुँ वास्तविक हानि दे सकैत; नामनिर्भरता परिवर्तनक सम्भावना देखबैत, हानि नकारैत नहि।

13.12 बौद्ध प्रमाणमीमांसा

दिङ्नाग–धर्मकीर्ति परम्परा प्रत्यक्ष आ अनुमानकेँ मुख्य प्रमाण मानि अवधारणा, स्वलक्षण, सामान्य आ शब्दक सम्बन्धक सूक्ष्म विश्लेषण करैत अछि। प्रत्यक्ष अवधारणारहित कहल जाइत, जखनकि भाषा सामान्यीकरणसँ काम करैत अछि।

आपत्ति अछि जे पूर्ण अवधारणारहित अनुभव कोना ज्ञात वा स्मरण होयत। बौद्ध उत्तर ज्ञानक क्षण, स्वसंवेदन आ अनुमानक भूमिका सँ जुड़ैत अछि। मतक भीतर सेहो विविध व्याख्या अछि।

न्यायसँ विवाद भारतीय ज्ञानमीमांसाक बहुलता देखबैत अछि। एक पक्ष बाह्य सामान्यक यथार्थता, दोसर भिन्नता-आधारित अवधारणा पर बल दैत। समान उदाहरणपर अलग तत्त्वमीमांसात्मक लागत स्पष्ट कएल जाए।

13.13 पूर्वपक्ष: अनात्म नैतिक जिम्मेदारी नष्ट करैत

जँ स्थिर आत्मा नहि, तँ कर्मकर्ता आ फलभोगी एक कोना? अपराध कर्ता क्षण बदलि गेल, तखन दण्ड ककरा? ई आपत्ति बौद्ध दर्शन लेल केन्द्रीय।

उत्तर कारणगत निरन्तरता मे अछि: बादक प्रवाह पूर्ण भिन्न नहि, पूर्व क्षणसँ शर्तबद्ध। दीपक शिखा वा बीजक रूपक निरन्तरता बिना अपरिवर्तनशील सार बुझबैत अछि।

तथापि नैतिक पहचानक व्यावहारिक सीमा रहैत अछि। स्मृति, आशय, देह आ सामाजिक सम्बन्ध जिम्मेदारी मापबामे भूमिका रखैत। अनात्म स्वेच्छाचारी दोषमुक्ति नहि।

अध्याय-निष्कर्ष

बौद्ध दर्शन दुःखक अनुभवसँ आरम्भ कऽ अनित्यता, अनात्म, प्रतीत्यसमुत्पाद, शून्यता, द्विसत्य, चेतना आ प्रमाण धरि विस्तृत अछि। एकर विभिन्न शाखासभ परस्पर असहमत होइतहुँ एक साझा अनुशासन देखबैत अछि—मानवीय दुःखक कारण बुझू, भ्रमक संरचना जाँचू, आ ज्ञानकेँ जीवन-परिवर्तनसँ जोड़ू।

अध्याय-ग्रन्थसूची

पाली निकायसभ — चयनित सुत्त.

नागार्जुन — Mūlamadhyamakakārikā; Vigrahavyāvartanī.

वसुबन्धु — Abhidharmakośa; चयनित योगाचार ग्रन्थ.

दिङ्नाग — Pramāṇasamuccaya.

धर्मकीर्ति — Pramāṇavārttika.

Stanford Encyclopedia of Philosophy — “Madhyamaka”; “The Theory of Two Truths in India”.

अध्याय 14 – जैन दर्शन

जैन दर्शन भारतीय बौद्धिक इतिहासमे अहिंसा, जीव-अजीव, कर्म, अनेकान्तवाद, नयवाद आ स्याद्वादक अत्यन्त विकसित परम्परा प्रस्तुत करैत अछि। लोकप्रिय वर्णनमे अनेकान्तवादकेँ “सभक अपन सत्य” कहि देल जाइत अछि, मुदा ई दार्शनिक रूपसँ गलत सरलीकरण अछि। जैन दृष्टि वस्तुक बहुपक्षीयता स्वीकारैत अछि, संगहि कथनकेँ शर्त, दृष्टिकोण आ प्रसंगसँ अनुशासित करैत अछि।

14.1 जीव आ अजीव

जैन तत्त्वमीमांसामे जीव चेतन तत्त्व अछि आ अजीव गैर-चेतन तत्त्वसभक क्षेत्र। जीव मूलतः ज्ञान आ चेतनाक क्षमता रखैत अछि, मुदा कर्मक बन्धन ओकर अभिव्यक्तिकेँ सीमित करैत अछि। अजीवक वर्गीकरणमे पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश आ काल-जकाँ तत्त्वक विशिष्ट जैन अर्थ अछि। “धर्म” आ “अधर्म” एतय नैतिक पुण्य-पाप मात्र नहि, गति आ विश्रामक सहायक तत्त्वक तकनीकी अर्थ सेहो रखैत अछि; अनुवादमे एहि भेदक सावधानी आवश्यक।

14.2 कर्म: नैतिकता आ तत्त्वमीमांसा

जैन कर्म-सिद्धान्तमे कर्म केवल रूपक नैतिक लेखा नहि; सूक्ष्म भौतिक बन्धनक रूपमे विश्लेषित परम्परा विकसित भेल। आत्माक प्रवृत्ति, कषाय आ कर्मक आगमन-बन्धन, संवर, निर्जरा आ मोक्षक विस्तृत सिद्धान्त अछि।

आधुनिक पाठक एहि तत्त्वमीमांसाकेँ स्वीकार वा अस्वीकार कऽ सकैत अछि, मुदा ऐतिहासिक सिद्धान्तकेँ ओकर अपन श्रेणीमे बुझब आवश्यक। कर्मकेँ आधुनिक वैज्ञानिक “ऊर्जा” कहि देब प्रमाणहीन समानता होयत। समानान्तर दर्शन एहन विजयवादी अनुवादसँ बचैत अछि।

14.3 अहिंसा

अहिंसा जैन नैतिकताक केन्द्रीय मूल्य अछि। हिंसा केवल प्रत्यक्ष हत्या नहि; जीवकेँ हानि पहुँचेनाइ, वाणी, मन, व्यवसाय, उपभोग आ जीवनशैली सेहो नैतिक परीक्षणक विषय बनैत अछि। मुनि आ गृहस्थक व्रतक

स्तर अलग भऽ सकैत अछि, जाहिसँ नैतिक आदर्श आ व्यवहारिक जीवन बीच श्रेणीबद्ध अनुशासन विकसित होइत अछि।

अहिंसाक दार्शनिक शक्ति एहि बातमे अछि जे ओ नैतिक समुदायक सीमा मनुष्यसँ बाहर जीवजगत धरि विस्तृत करैत अछि। आधुनिक पर्यावरणीय नैतिकतासँ संवाद एतय फलदायी अछि, मुदा जैन सिद्धान्तकेँ आधुनिक पारिस्थितिकी विज्ञानक पूर्वरूप कहब अनुचित।

14.4 अनेकान्तवाद

वस्तु अनेक पक्ष रखैत अछि। कोनो एक कथन विशिष्ट दृष्टिसँ उचित भऽ सकैत अछि, मुदा वस्तुक सम्पूर्णता समाप्त नहि करैत। ई अनेकान्तवादक मूल प्रेरणा अछि। उदाहरणतः माटिक घट एक अर्थमे स्थायी—किछु समय धरि एक वस्तु; दोसर अर्थमे परिवर्तनशील—माटि, ताप, टूटन, समयक प्रक्रियामे। “स्थायी” आ “अस्थायी” कथन शर्त बिना विरोधी, उचित दृष्टि स्पष्ट कएलापर पूरक भऽ सकैत अछि।

मुदा एहि सिद्धान्तसँ “घट अछि” आ “घट नहि अछि” एकहि समय, एकहि स्थान, एकहि अर्थमे समान रूपसँ सत्य नहि बनैत। दृष्टि, काल, सम्बन्ध आ अर्थ स्पष्ट करब आवश्यक। तेँ अनेकान्तवाद सापेक्षतावाद नहि, शर्तित कथनक अनुशासन अछि।

14.5 नयवाद

“नय” वस्तुकेँ देखबाक आंशिक दृष्टि अथवा विश्लेषण-पद्धति अछि। प्रत्येक नय किछु पक्ष उजागर करैत अछि, किछु छोड़ैत अछि। समस्या तखन होइत अछि जखन आंशिक दृष्टि अपनाकेँ सम्पूर्ण घोषित करैत अछि।

समानान्तर दर्शन एहि विचारसँ विशेष संवाद करैत अछि। आर्थिक इतिहास वर्ग देखैत अछि; भाषिक इतिहास भाषा; स्त्रीवादी अध्ययन लिंग; राजनीतिक इतिहास राज्य। प्रत्येक महत्त्वपूर्ण, मुदा कोनो एक स्वतः सम्पूर्ण इतिहास नहि। तथापि ई आधुनिक पद्धतिगत विस्तार अछि; जैन नयवादक ऐतिहासिक अर्थकेँ यथावत् आधुनिक सामाजिक सिद्धान्त मानब नहि चाही।

14.6 स्याद्वाद आ सप्तभङ्गी

स्याद्वाद कथनक शर्तित स्वरूपपर बल दैत अछि। “स्यात्”क अर्थ केवल अनिश्चित “शायद” नहि; विशिष्ट दृष्टि वा शर्तक अधीन कथनक वैधता सूचित करैत अछि। सप्तभङ्गी सात प्रकारक शर्तित प्रतिपादनक योजना विकसित करैत अछि—अस्ति, नास्ति, अस्ति-नास्ति, अवक्तव्य तथा एहि रूपसभक संयोजन।

एहि योजनाकेँ सामान्य विरोधाभासक स्वीकृति मानब गलत। कथनसभ भिन्न दृष्टि, काल अथवा सम्बन्धक अधीन छथि। दार्शनिक उद्देश्य भाषा द्वारा बहुपक्षीय वास्तविकताकेँ एकरेखीय बनि जाएबासँ रोकब अछि।

14.7 ज्ञान आ केवलज्ञान

सामान्य जीवक ज्ञान कर्मावरणसँ सीमित; पूर्ण मुक्त जीवक केवलज्ञान सर्वज्ञतासँ सम्बद्ध मानल जाइत अछि। सामान्य ज्ञानक विभिन्न रूप, प्रत्यक्ष-परोक्षक जैन वर्गीकरण आ प्रमाण-नयक सम्बन्ध विस्तृत परम्परा बनबैत अछि।

समानान्तर दर्शन ऐतिहासिक सर्वज्ञता-दावाकेँ आधुनिक सार्वजनिक प्रमाणक स्वतः आधार नहि मानैत। मुदा सीमित ज्ञाताक आंशिक दृष्टि सम्बन्धी जैन विश्लेषण ज्ञानात्मक विनम्रताक शक्तिशाली स्रोत अछि।

14.8 अनेकान्त आ सहिष्णुता

अनेकान्तवादक आधुनिक उपयोग प्रायः धार्मिक सहिष्णुताक समर्थनमे होइत अछि। एहि उपयोगमे नैतिक शक्ति अछि, मुदा सावधानी चाही। सहिष्णुता केवल “सभ सही” नहि। जँ कोनो मत हिंसा, दासता वा जन्माधारित अपमान उचित ठहरबैत अछि, तँ अनेक दृष्टिक सम्मान ओकर नैतिक आलोचना रोकैत नहि।

समानान्तर दर्शनक सूत्र: दृष्टि बहु हो सकैत अछि, गरिमाक कसौटी सेहो आवश्यक। बहुलता आ नैतिक विवेक दुनू संग चलय।

पूर्वपक्ष: अनेकान्तवाद स्वयं विरोधाभासी अछि

जँ कहल जाए “कोनो कथन पूर्ण नहि”, तँ ई कथन स्वयं पूर्ण अछि की नहि? ई गम्भीर आपत्ति अछि।

जैन परम्पराक शक्ति एतय अछि जे अनेकान्तवाद अपन दाबीकेँ सेहो दृष्टि-सापेक्ष विश्लेषणक भीतर रखैत अछि। ओ सर्वज्ञ सामान्य जीवक दावा नहि, सीमित कथनक अनुशासन अछि।

14.9 जीव आ अजीवक सम्बन्ध

जैन तत्त्वमीमांसा जीवकेँ चेतन द्रव्य आ अजीवकेँ अन्य द्रव्य-श्रेणी रूपमे भेद करैत अछि। कर्म केवल नैतिक अभिलेख नहि, जीवसँ बन्हनिहार सूक्ष्म पदार्थ रूपमे व्याख्यायित होइत अछि। एकरा साधारण रूपक मानब शास्त्रीय मत बदलि देत।

बन्धक कारण कषाय, आसक्ति आ क्रिया सँ जुड़ैत; संवर नूतन कर्म रोकैत, निर्जरा बन्हल कर्म क्षीण करैत। मुक्ति आत्माक ज्ञान-शक्ति पूर्ण प्रकट होयब अछि।

आधुनिक विज्ञानक पदार्थसँ कर्म-पुद्गलक सीधा समानता नहि। ई धार्मिक-तत्त्वमीमांसात्मक सिद्धान्त अछि, जकर संगति परम्पराक अन्य प्रतिज्ञा भीतर जाँचल जाए।

14.10 स्याद्वादक सात भंग

स्याद्वाद दाबीकेँ शर्तयुक्त करैत अछि: कोनो दृष्टि, समय, सम्बन्ध वा रूपसँ वस्तु अछि; अन्य दृष्टिसँ नहि; कथनयोग्य आ अकथनीयक संयुक्त रूप सेहो सम्भव। सात भंग विरोधी कथनकेँ एकहि अर्थमे एक साथ सत्य कहब नहि।

‘स्यात्’ संशयक आलस्य नहि, दाबीक सीमा लिखबाक अनुशासन। घट एक स्थानमे अछि, दोसरमे नहि; वर्तमानमे अछि, पूर्व अवस्थामे नहि। सन्दर्भ हटला पर विरोध देखाइत अछि।

सीमा ई जे सभ विरोधकेँ दृष्टिभेद कहि टारल नहि जाए। एकहि समय, सम्बन्ध आ अर्थमे ‘अछि’ आ ‘नहि’ दुनू सत्य नहि। तार्किक कसौटी बनल रहय।

14.11 अहिंसाक ज्ञानमीमांसात्मक आधार

अनेकान्तवाद अपन दृष्टिक अपूर्णता स्वीकारि बौद्धिक हिंसा घटबैत अछि। प्रतिपक्षक आंशिक सत्य सुनब, ओकर वाक्यक उपयुक्त नय खोजब, आ सम्पूर्ण नकार सँ बचब अहिंसक संवादक रूप।

मुदा असत्य वा अत्याचारकेँ ‘ओहो एक दृष्टि’ कहि स्वीकारब नहि। दृष्टि सीमित हो सकैत, हानि वास्तविक। करुणा संग स्पष्ट आलोचना सम्भव।

ज्ञानात्मक विनम्रता प्रतिपक्षकेँ मजबूत रूपमे प्रस्तुत करय। असहमति बचल रहय, व्यक्ति पर हिंसक अभिप्राय आरोपित नहि।

14.12 पूर्वपक्ष: अनेकान्तवाद अपन दाबीपर लागू भेला खण्डित

जँ सभ दाबी आंशिक, तँ ‘सभ दाबी आंशिक’ सेहो आंशिक; सिद्धान्त सार्वभौम सत्य कोना? आत्मसन्दर्भक ई आपत्ति महत्त्वपूर्ण।

उत्तर ई जे अनेकान्तवाद प्रत्येक कथन झूठा नहि कहैत; जटिल वस्तुपर एक दृष्टिक पूर्णता नकारैत अछि। सिद्धान्त स्वयं विशिष्ट तत्त्वमीमांसात्मक-ज्ञानमीमांसात्मक दाबी, जकर सीमा स्वीकारल जा सकैत।

आलोचना फेर पूछत जे कुन वस्तु वास्तवमे अनेक धर्मवला आ कुन सरल तथ्य। सिद्धान्तक प्रयोग प्रमाणानुसार हो, प्रत्येक विवादक तैयार समाधान नहि।

अध्याय-निष्कर्ष

जैन दर्शन जीवक नैतिक गरिमा, अहिंसा, कर्म-बन्धन, अनेकान्त, नय आ स्याद्वाद द्वारा एहन दर्शन प्रस्तुत करैत अछि जतय सत्यक खोज विनम्रता आ नैतिक संयमसँ जुड़ैत अछि। समानान्तर दर्शन एहि परम्परासँ बहुदृष्टिगत यथार्थक शिक्षा ग्रहण करैत अछि, मुदा “सभ सत्य बराबर”क निष्कर्ष अस्वीकार करैत अछि।

उमास्वाति — Tattvārthasūtra.

कुन्दकुन्द — चयनित ग्रन्थ.

समन्तभद्र — Āptamīmāṃsā.

हरिभद्रसूरि — Anekāntajayapatākā.

मल्लिषेण — Syādvādamañjarī.

Paul Dundas — The Jains.

Stanford Encyclopedia of Philosophy — “Jaina Philosophy”.

अध्याय 15 – लोकायत आ भौतिकवादी प्रश्न

भारतीय दर्शनक इतिहास केवल वेद, आत्मा, मोक्ष आ ईश्वरक स्वीकारक इतिहास नहि। एतय एहन परम्परा सेहो रहल जे प्रत्यक्ष अनुभव, देह, पदार्थ, इहलौकिक जीवन आ धार्मिक दावाक आलोचनाकेँ महत्त्व देलक। “लोकायत” अथवा “चार्वाक” नाम एहि भौतिकवादी-संशयवादी परम्परासँ जुड़ैत अछि। मुदा एकर अध्ययनमे विशेष स्रोत-सावधानी आवश्यक अछि, कारण मूल ग्रन्थ बहुतांश उपलब्ध नहि, आ अनेक विवरण विरोधी दार्शनिकसभक खण्डनात्मक रचनासँ पुनर्निर्मित होइत अछि।

15.1 स्रोतक समस्या

जखन कोनो परम्पराक अपन मूल साहित्य नष्ट वा अनुपलब्ध हो आ ओकर विचार मुख्यतः विरोधीक उद्धरणसँ ज्ञात हो, तखन इतिहासकारक जिम्मेवारी बढ़ि जाइत अछि। विरोधी लेखक प्रतिपक्षकेँ ठीक उद्धृत कएलनि की सरल बना देलनि? अलग कालक मत एक नामक भीतर मिला देल गेल की? व्यंग्यात्मक कथन वास्तविक सिद्धान्त अछि की polemical caricature?

लोकायत एहि कारण समानान्तर इतिहास-दृष्टिक आदर्श परीक्षण अछि। हाशियाक परम्पराकेँ पुनःस्थापित करबाक इच्छा प्रमाणक कमी पूरा नहि कऽ सकैत। जे निश्चित अछि से निश्चित, जे सम्भावित से सम्भावित, जे विवादित से विवादित लिखब चाही।

15.2 प्रत्यक्षक प्रधानता

चार्वाक परम्परासँ सामान्यतः प्रत्यक्षक प्रधानता जोड़ल जाइत अछि। किछु पारम्परिक विवरण अनुमानक विश्वसनीयतापर कठोर आपत्ति प्रस्तुत करैत अछि—विशेषतः एहन अनुमान जे प्रत्यक्ष अनुभवसँ बहुत दूर अदृश्य सत्ता स्थापित करय। मुदा “चार्वाक प्रत्येक प्रकारक अनुमान अस्वीकार करैत छल” ई दाबी सावधानी माँगैत अछि; दैनिक जीवन अनुमान बिना चलब कठिन, आ उपलब्ध स्रोतसभ परम्पराक आन्तरिक विविधता स्पष्ट नहि करैत।

दार्शनिक प्रश्न तथापि शक्तिशाली अछि: हम प्रत्यक्षसँ परे कतेक दूर जा सकैत छी? धुआँसँ आगिक अनुमान आ अदृश्य परलोकक अनुमान समान प्रकारक अछि की नहि? अनुमानक विश्वसनीयता व्याप्ति, पुनरावृत्ति,

वैकल्पिक कारण आ परीक्षणपर निर्भर होइत अछि। लोकायतक संशय भारतीय ज्ञानमीमांसाकेँ अपन अनुमान-सिद्धान्त अधिक स्पष्ट करबाक चुनौती देलक।

15.3 देह आ चेतना

भौतिकवादी दृष्टिमे चेतना देहसँ पृथक शाश्वत आत्माक प्रमाण नहि। परम्परागत चार्वाक-वर्णन चेतनाकेँ भौतिक तत्त्वक विशिष्ट संयोजनसँ उत्पन्न गुणक रूपमे प्रस्तुत करैत अछि—जकाँ किछु पदार्थक संयोगसँ नूतन गुण उत्पन्न हो।

आधुनिक स्नायुविज्ञानसँ एकर सीधा पहचान करब अनुचित। आधुनिक विज्ञानक प्रयोगात्मक संरचना, मस्तिष्क-अध्ययन आ सिद्धान्त अलग ऐतिहासिक संसारक अछि। मुदा समस्या-संरचना—चेतना लेल पृथक आत्मद्रव्य आवश्यक की भौतिक प्रक्रियासँ व्याख्या सम्भव—आज सेहो जीवित दार्शनिक प्रश्न अछि।

15.4 परलोक, कर्म आ धार्मिक अधिकारक आलोचना

लोकायतसँ सम्बद्ध विवरण परलोक, अदृश्य कर्मफल, वैदिक अनुष्ठान आ पुरोहितीय अधिकारपर आलोचना देखबैत अछि। एहन आलोचना केवल नकारात्मक नास्तिकता नहि; ई प्रमाणक भारक प्रश्न उठबैत अछि। जे वस्तु प्रत्यक्ष नहि, ओकर अस्तित्व सिद्ध करबाक जिम्मेवारी ककर? परम्परा मात्र प्रमाण की?

समानान्तर दर्शन एहि प्रश्नकेँ सामान्य नियम बनबैत अछि: जे पक्ष सकारात्मक दाबी करैत अछि, ओकरा उचित कारण देबाक दायित्व अछि। मुदा “प्रत्यक्ष नहि, अतः असत्य” सेहो अतिशय कठोर निष्कर्ष हो सकैत

अछि, कारण विज्ञानमे अनेक सत्ता प्रत्यक्ष आँखिसँ नहि, उपकरण आ अनुमानसँ ज्ञात होइत अछि। अतः प्रत्यक्षवादक आलोचना सेहो आवश्यक।

15.5 सुखवादक प्रश्न

चार्वाकक लोकप्रिय चित्रण “ऋण कऽ घी पिउ” प्रकारक उक्ति द्वारा असंयमित सुखवादक रूपमे कएल जाइत अछि। एहि प्रकारक उद्धरणक ऐतिहासिक स्थिति आ प्रतिनिधित्व सावधानीसँ जाँचबाक चाही। विरोधी ग्रन्थक व्यंग्यकेँ सम्पूर्ण परम्पराक नैतिक सिद्धान्त मानि लेब उचित नहि।

भौतिकवादी इहलौकिकता स्वतः उच्छृंखलता सिद्ध नहि करैत। यदि एकहि जीवन अछि, तँ उलटे जीवनक मूल्य, पीड़ा घटेबाक जिम्मेवारी आ पारस्परिक सहयोग अधिक महत्त्वपूर्ण कहल जा सकैत अछि। मुदा ई आधुनिक दार्शनिक सम्भावना अछि; एकरा ऐतिहासिक चार्वाक मत कहि आरोपित नहि करबाक चाही।

15.6 संशयक सामाजिक भूमिका

धार्मिक अथवा राजकीय अधिकार जखन प्रश्नसँ ऊपर उठबाक प्रयास करैत अछि, संशय मुक्ति-दायक भऽ सकैत अछि। “किएक मानू?” प्रश्न ज्ञानक लोकतन्त्रक आधार अछि। लोकायतक ऐतिहासिक स्मृति भारतीय दर्शन भीतर असहमति, नास्तिकता आ भौतिकवादक स्थान देखबैत अछि।

मुदा संशय स्वयं नैतिकता नहि। कोनो व्यक्ति सभ सार्वजनिक ज्ञान, विज्ञान, इतिहास आ साक्ष्य अस्वीकार कऽ “संशयवादी” कहि सकैत अछि। उचित संशय प्रमाण माँगैत अछि; निराधार संशय केवल अविश्वास उत्पन्न करैत अछि।

15.7 आस्तिक–नास्तिक शब्दक सावधानी

भारतीय दर्शनक पारम्परिक वर्गीकरणमे “आस्तिक” प्रायः वेद-प्रामाण्य स्वीकारसँ जुड़ैत अछि, आधुनिक सामान्य अर्थक “ईश्वरवादी”सँ नहि। सांख्य वा मीमांसा-जकाँ परम्पराक ईश्वर सम्बन्धी स्थिति जटिल होइतहुँ पारम्परिक रूपेँ आस्तिक वर्गमे राखल जाइत अछि। बौद्ध, जैन आ चार्वाक वेद-प्रामाण्य अस्वीकार कारण नास्तिक वर्गमे।

एहि शब्दकेँ आधुनिक “भगवान मानयवला/नहि मानयवला” अर्थमे सीधा अनुवाद कएलासँ ऐतिहासिक भ्रम होइत अछि। समानान्तर दर्शन तकनीकी शब्दक अर्थ-इतिहास स्पष्ट रखैत अछि।

15.8 हाशियाक इतिहास आ प्रमाण

लोकायतक स्थिति एहि ग्रन्थक पद्धतिक एक गम्भीर कसौटी अछि। जँ मुख्यधाराक अभिलेख विरोधी परम्पराकेँ विकृत कएलक हो, तँ ओकर पुनर्निर्माण आवश्यक। मुदा पुनर्निर्माणक नामपर इच्छित दर्शन गढ़ि देब दोसर प्रकारक अन्याय।

तेँ तीन स्तर राखब उपयोगी: प्रत्यक्ष रूपेँ संरक्षित मूल अंश; विश्वसनीय विरोधी उद्धरण; बादक पुनर्निर्माण। प्रत्येक स्तरक निश्चितता अलग लिखल जाए। ई पद्धति केवल लोकायत नहि, सभ नष्ट वा मौखिक परम्पराक इतिहास लेल आवश्यक।

पूर्वपक्ष: लोकायत भारतीय दर्शनक “निम्न” अथवा केवल नकारात्मक पक्ष अछि

ई निर्णय प्राय: विजयी परम्पराक दृष्टिसँ बनल हो सकैत अछि। कोनो दर्शन प्रश्न उठबैत अछि, प्रमाणक सीमा देखबैत अछि आ स्थापित सत्ता चुनौती दैत अछि तँ ओकर दार्शनिक मूल्य केवल सकारात्मक तत्त्वमीमांसा बनौने पर निर्भर नहि।

उत्तरपक्ष: आलोचना स्वयं दार्शनिक योगदान

लोकायतक ऐतिहासिक स्वरूप आंशिक रूपेँ अस्पष्ट होइतहुँ ओकर नामसँ संरक्षित भौतिकवादी आ संशयवादी प्रश्न भारतीय दर्शनक बहुलता सिद्ध करैत अछि। ई परम्परा स्मरण करबैत अछि जे आत्मा, परलोक, कर्म वा शास्त्रक अधिकार भारतीय इतिहासमे सर्वसम्मत निष्कर्ष नहि छल।

15.9 प्रत्यक्षवादक शक्ति

लोकायतसँ सम्बद्ध प्रत्यक्ष-प्राधान्य अनुमान, शास्त्रीय गवाही आ अदृश्य लोकक दाबीपर कठोर प्रश्न उठबैत अछि। जे देखल नहि गेल ओकरा मानबाक कारण स्पष्ट हो—ई माँग बौद्धिक सत्ता चुनौती दैत अछि।

प्रत्यक्ष सेहो त्रुटिपूर्ण, आ अनेक वस्तु सीधा देखल नहि जाइत। रोगाणु, दूरस्थ इतिहास वा मनोभाव उपकरण, संकेत आ गवाहीसँ ज्ञात होइत। तेँ प्रत्यक्ष एकमात्र प्रमाण मानब व्यवहारिक कठिनाई उत्पन्न करैत।

सबल संशय अनुमान पूर्ण नकारब नहि, अनुमानक व्याप्ति, स्रोत आ परीक्षण माँगब। लोकायतक पुनर्निर्माणमे प्रतिपक्षक उद्धरणक सीमा स्पष्ट रखल जाए।

15.10 देह आ चेतना

भौतिक तत्त्वक विशिष्ट संयोजनसँ चेतना उत्पन्न होइत—लोकायतक एहन प्रतिपादनक उदाहरण मादक मिश्रणसँ नूतन शक्ति जकाँ देल जाइत अछि। ई उद्भववादी दिशा आत्माकेँ स्वतंत्र शाश्वत द्रव्य मानबाक विकल्प दैत।

उदाहरण सम्भावना देखबैत, चेतनाक पूर्ण व्याख्या नहि। निजी अनुभव, आशयिता आ एकताक प्रश्न बाकी। आधुनिक स्नायुविज्ञानकेँ प्राचीन मतक सीधा प्रमाण कहब कालभ्रम।

दार्शनिक मूल्य ई जे देहकेँ निम्न आवरण नहि, चेतन जीवनक आवश्यक आधार मानल जाए। स्वास्थ्य, भोजन आ श्रम नैतिक जीवनक भौतिक शर्त बनैत अछि।

15.11 सुखवादक पुनर्परीक्षा

लोकायतकेँ ‘ऋण लऽ घी पीबू’क एक कथनमे समेटब संदिग्ध स्रोतपर निर्भर रूढ़ि हो सकैत अछि। प्रतिपक्षक ग्रन्थमे उद्धृत वाक्य सम्पूर्ण परम्पराक विश्वसनीय सार नहि।

देहगत सुखक मूल्य स्वीकारलासँ अनियंत्रित भोग अनिवार्य नहि। दीर्घकालीन पीड़ा, दोसरक हानि आ सामाजिक निर्भरता विवेकपूर्ण सुखविचारमे प्रवेश करैत अछि।

त्याग स्वयं श्रेष्ठ—एहन धार्मिक दाबी जाँच योग्य; सुख स्वयं सर्वोच्च—एहन दाबी सेहो। गरिमा, स्वतंत्रता आ न्याय संग सुखक स्थान तय हो।

15.12 पूर्वपक्ष: लोकायत केवल प्रतिपक्षक कल्पना

मूल ग्रन्थ दुर्लभ आ विवरण अधिकतर विरोधी स्रोतमे रहला कारण कहल जा सकैत अछि जे ऐतिहासिक लोकायतक विश्वसनीय पुनर्निर्माण असम्भव। सावधानी सचमुच अत्यन्त आवश्यक।

मुदा अनेक स्वतंत्र परम्परामे समान प्रकारक भौतिकवादी प्रतिपक्ष, नाम आ तर्कक उल्लेख पूर्ण कल्पनाक दाबी कमजोर करैत अछि। प्रत्येक अंशक तिथि, निर्भरता आ polemical प्रसंग अलग जाँचल जाए।

निष्कर्ष स्तरित हो: प्रत्यक्ष प्रमाणित कथन, सम्भावित पुनर्निर्माण आ अनिश्चित परम्परा अलग। रिक्ति गौरव वा निन्दासँ नहि भरल जाए।

अध्याय-निष्कर्ष

लोकायतक महत्त्व दू स्तरपर अछि। पहिल, ई भारतीय दर्शन भीतर भौतिकवादी, इहलौकिक आ संशयवादी सम्भावनाक स्मृति अछि। दोसर, एकर खण्डित स्रोत समानान्तर इतिहासक नैतिकता सिखबैत अछि—उपेक्षित स्वर खोजू, मुदा रिक्त स्थान कल्पनासँ नहि भरू। प्रमाणक अभावकेँ स्पष्ट लिखब स्वयं विद्वत्ता अछि।

अध्याय-ग्रन्थसूची

चार्वाक/लोकायत सम्बन्धी संरक्षित उद्धरण — विभिन्न दार्शनिक ग्रन्थमे.

माधवाचार्यक नामसँ सम्बद्ध — Sarvadarśanasaṃgraha, चार्वाक अध्याय (स्रोत-सावधानी सहित).

Debiprasad Chattopadhyaya — Lokāyata: A Study in Ancient Indian Materialism.

Ramkrishna Bhattacharya — Studies on the Cārvāka/Lokāyata.

Stanford Encyclopedia of Philosophy — classical Indian naturalism सम्बन्धी प्रविष्टि.

अध्याय 16 – भाषा, शब्द आ अर्थ

भाषा केवल विचार व्यक्त करबाक साधन नहि; अनेक बेर विचारक आकार सेहो भाषा दैत अछि। मनुष्य जगतकेँ शब्द, वर्ग, नाम, सम्बन्ध आ वाक्यक माध्यमसँ बुझैत अछि। एहि कारण भाषा-दर्शन केवल व्याकरणक विस्तार नहि, ज्ञानमीमांसा, तत्त्वमीमांसा, सामाजिक दर्शन आ सत्ता-विमर्शक केन्द्रबिन्दु अछि। “शब्द अर्थ कोना दैत अछि?”, “वाक्यक अर्थ शब्दसभक जोड़ मात्र अछि की एक समग्र बोध?”, “वक्ताक अभिप्राय कतेक आवश्यक?”, “रूपक आ संकेत कोना बुझल जाइत अछि?”, “भाषा बाह्य जगतकेँ चित्रित करैत अछि की अवधारणात्मक रूप दैत अछि?”—ई प्रश्न भारतीय दर्शनमे दीर्घ विवादक विषय रहल अछि।

16.1 वाक् सँ दार्शनिक भाषा धरि

वैदिक साहित्यमे वाक् केवल साधारण बोलचाल नहि, एक गम्भीर सांस्कृतिक-दार्शनिक शक्ति रूपमे उपस्थित अछि। परवर्ती व्याकरण, मीमांसा, न्याय, बौद्ध दर्शन आ काव्यशास्त्र भाषा सम्बन्धी प्रश्नकेँ अलग-अलग लक्ष्यसँ विकसित करैत अछि। मीमांसाक मूल चिन्ता वेद-वाक्यक अर्थ आ कर्तव्यबोध; न्यायक चिन्ता यथार्थ शाब्दिक ज्ञान; व्याकरणपरम्पराक चिन्ता भाषिक संरचना आ बोध; बौद्ध चिन्तनक चिन्ता अवधारणात्मक निर्माण आ शब्दक सीमासँ जुड़ल रहल। समान प्रश्न पर भिन्न संस्थागत उद्देश्य भिन्न सिद्धान्त उत्पन्न करैत अछि।

16.2 शब्द आ अर्थक सम्बन्ध

“गाय” शब्द सुनिते मनमे कोन वस्तु उपस्थित होइत अछि? कोनो विशेष गाय? गायत्व नामक सामान्य धर्म? सामान्य धर्मसँ युक्त विशेष व्यक्ति? अथवा केवल एक अवधारणात्मक निर्माण? न्याय, मीमांसा, बौद्ध आ व्याकरणपरम्परा एहि प्रश्नपर एकमत नहि। न्याय परम्परा बाह्य वस्तु-यथार्थक दृढ़ समर्थन करैत शब्दक अर्थकेँ व्यक्ति, जाति आ सम्बन्धित गुणसभक संरचनामे बुझैत अछि। मीमांसा शब्दार्थक नित्यता आ वेदक अपौरुषेयता संग अर्थसम्बन्धक अलग प्रतिपादन करैत अछि। बौद्ध अपोह-सिद्धान्तक विविध रूप शब्दकेँ सकारात्मक सार्वभौम सत्ता स्वीकार किए बिना भिन्नताक माध्यमसँ अर्थबोध करबाक दिशामे लऽ जाइत अछि।

एहि विवादक आधुनिक शिक्षा ई नहि जे एक परम्परा पहिने सँ आधुनिक भाषाविज्ञान खोजि लेने छल। शिक्षा ई अछि जे “अर्थ” एकटा सरल वस्तु नहि। संकेत, वस्तु, अवधारणा, उपयोग, सामाजिक प्रथा आ श्रोता-बोध सभ अर्थनिर्माणमे भूमिका निभा सकैत अछि।

16.3 वाक्य-अर्थ: अभिहितान्वय आ अन्विताभिधान

भारतीय भाषा-दर्शनक एक सूक्ष्म विवाद अछि—शब्द पहिने स्वतंत्र अर्थ दैत अछि आ बादमे ओ अर्थसभ जोड़ि वाक्यबोध बनैत अछि, अथवा शब्द आरम्भसँ परस्पर सम्बन्धित अर्थ दैत अछि? भट्ट मीमांसा आ न्यायसँ सम्बद्ध अभिहितान्वय दृष्टिमे पहिले शब्दार्थ बोध, तकर बाद सम्बन्धित वाक्यार्थ; प्राभाकर मीमांसाक अन्विताभिधान दृष्टिमे शब्द स्वयं सम्बन्धित अर्थक माध्यमसँ वाक्यार्थ दैत अछि।

ई विवाद आजो महत्त्वपूर्ण अछि कारण भाषा बुझब केवल शब्दकोश देखब नहि। “राजा सैनिककेँ आदेश देलक” वाक्यमे प्रत्येक शब्दक अर्थ जानलासँ वाक्यक कर्ता, कर्म, क्रिया आ सम्बन्ध स्वत: स्पष्ट होइत अछि की व्याकरणिक-सन्दर्भीय संरचना आवश्यक? भाषा-दर्शन एहन सामान्य बोधक भीतर छिपल जटिलता देखबैत अछि।

16.4 शाब्दबोधक शर्त

न्यायपरम्परामे वाक्यबोधक लेल आकाङ्क्षा, योग्यता आ सन्निधि-जकाँ शर्तसभक चर्चा प्रसिद्ध अछि। शब्दसभ परस्पर अपेक्षा रखथि, अर्थसंगति सम्भव हो, आ आवश्यक भाषिक निकटता रहय—तखन वाक्यबोध सम्भव होइत अछि। “पत्थर पानी पीबैत अछि” व्याकरणिक रूपसँ ठीक हो सकैत अछि, मुदा साधारण सन्दर्भमे अर्थ-योग्यता प्रश्न उठबैत अछि; काव्य वा रूपकमे फेर एहि असामान्यता स्वयं अर्थक स्रोत भऽ सकैत अछि।

एहि कारण भाषा-दर्शन संदर्भविहीन नियमक सूची नहि। जे वाक्य वैज्ञानिक प्रतिवेदनमे असंगत, ओ कविता मे सार्थक रूपक भऽ सकैत अछि। भाषिक बोध विधा, उद्देश्य आ सामाजिक प्रथासँ जुड़ल अछि।

16.5 शब्द-प्रमाण आ विश्वसनीयता

मनुष्यक अधिकांश ज्ञान भाषिक साक्ष्यसँ अबैत अछि। हम सभ वैज्ञानिक प्रयोग स्वयं नहि करैत छी, सभ ऐतिहासिक अभिलेख नहि पढ़ैत छी, सभ स्थान नहि देखैत छी। तेँ शाब्दिक ज्ञानक औचित्य दार्शनिक प्रश्न

अछि। न्याय विश्वसनीय वक्ता—आप्त—पर बल दैत अछि; मीमांसा वैदिक वाक्यक अपौरुषेयता आ स्वतःप्रामाण्यक व्यापक ढाँचामे भाषिक प्रामाण्य बुझैत अछि।

आधुनिक समाजमे ई विवाद विशेषज्ञता, पत्रकारिता, न्यायालय, डिजिटल माध्यम आ शैक्षिक संस्था तक विस्तारित होइत अछि। “के कहलनि?” पर्याप्त नहि; “ओ व्यक्ति वा संस्था एहि विषयमे जानकार छथि?”, “हित-संघर्ष अछि?”, “कथन स्वतंत्र स्रोतसँ पुष्ट अछि?”, “त्रुटि सुधारबाक व्यवस्था अछि?”—ई सभ शब्द-प्रमाणक आधुनिक नागरिक प्रश्न छथि।

16.6 वक्ता, अभिप्राय आ पाठ

किछु भाषिक अर्थ वक्ताक आशयसँ गहराईसँ जुड़ल होइत अछि। व्यंग्य, विनोद, धमकी, वचन, आदेश आ संकेत केवल शब्दार्थसँ नहि बुझल जाइत अछि। मुदा प्रत्येक पाठक अर्थकेँ लेखकक निजी अभिप्रायमे सीमित करब सेहो कठिन। विशेषतः प्राचीन ग्रन्थ परम्परागत व्याख्या, भाषिक परिवर्तन आ नूतन सामाजिक प्रसंगमे नव प्रश्न उत्पन्न करैत अछि।

समानान्तर दर्शन एहि कारण दू अतिवादसँ बचैत अछि—“लेखक जे चाहलनि बस ओही एकमात्र अर्थ” आ “पाठक जे चाहय वही अर्थ।” ऐतिहासिक अर्थक लेल भाषा, काल, पाठभेद आ दार्शनिक प्रसंग आवश्यक; वर्तमान पुनर्पाठक लेल ई स्पष्ट करब आवश्यक जे हम मूल ऐतिहासिक अर्थ बता रहल छी वा वर्तमान व्याख्या प्रस्तावित कऽ रहल छी।

16.7 रूपक, लक्षणा आ व्यञ्जना

मानवीय भाषा शाब्दिक कथनधरि सीमित नहि। “हृदय पत्थर भऽ गेल” वाक्य शरीरविज्ञानक दावा नहि। भारतीय काव्यशास्त्र अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना, ध्वनि आ रसक माध्यमसँ अप्रत्यक्ष अर्थक समृद्ध परम्परा विकसित करैत अछि। दर्शन लेल एकर शिक्षा महत्त्वपूर्ण अछि—भाषिक अर्थ केवल सत्य-मिथ्या वाक्यक गणना नहि; भाषा अनुभव, मूल्य आ भावक रूपान्तरण सेहो करैत अछि।

मुदा रूपकक शक्ति तथ्यक विकल्प नहि। ऐतिहासिक दस्तावेजमे रूपककेँ तथ्य आ काव्यात्मक सत्यकेँ वैज्ञानिक मापन मानि लेब श्रेणीभ्रम होयत। समानान्तर दर्शन साहित्यिक आ दार्शनिक अर्थक सम्मान करैत अछि, संगहि प्रमाणक प्रकार स्पष्ट राखैत अछि।

16.8 भाषा आ सत्ता

भाषा केवल अर्थ नहि, संस्था सेहो अछि। कोन भाषा विद्यालय, न्यायालय, विश्वविद्यालय, विज्ञान, प्रशासन आ प्रकाशनक माध्यम बनैत अछि—ई प्रश्न ज्ञान-सत्ता सँ जुड़ल अछि। जे समुदाय अपन भाषा सार्वजनिक ज्ञानक माध्यममे नहि देखैत अछि, ओकर अनुभव धीरे-धीरे “स्थानीय”, “अनौपचारिक” अथवा “कम प्रामाणिक” घोषित भऽ सकैत अछि।

एहि स्थितिमे भाषिक न्यायक अर्थ केवल भाषाक भावनात्मक गौरव नहि। एकर अर्थ अछि—ज्ञानक उत्पादन, शिक्षा, अभिलेखन, अनुवाद आ सार्वजनिक निर्णयमे भाषिक पहुँच। समानान्तर दर्शन मैथिली-जकाँ भाषामे दर्शन लिखबकेँ केवल अनुवादक कार्य नहि, ज्ञान-वितरणक लोकतान्त्रिक कार्य मानैत अछि।

16.9 अनुवाद स्वयं दर्शन

“धर्म”, “प्रमाण”, “आत्मन्”, “ब्रह्मन्”, “नय”, “अनेकान्त”, “शून्यता”, “self”, “reason”, “justice”—एहि पदसभक एक-एक स्थिर समतुल्य नहि। अनुवादक प्रत्येक चयन अवधारणात्मक निर्णय अछि। गलत समतुल्यता पूरा तर्ककेँ बदलि सकैत अछि। तेँ समानान्तर दर्शन तकनीकी पदक मूल रूप सुरक्षित राखि, मैथिली कार्यार्थ स्पष्ट करैत अछि, आ जहाँ आवश्यक ओतय अनुवादक सीमा बतबैत अछि।

16.10 डिजिटल भाषा आ कृत्रिम पुनरुत्पादन

डिजिटल युगमे भाषिक कथनक उत्पादन अत्यन्त सहज भेल अछि। एकहि कथन हजार बेर प्रतिलिपि भऽ सकैत अछि; मशीन-सृजित पाठ मनुष्यक लेखन-जकाँ देखाइत अछि; उद्धरण स्रोतसँ काटि प्रसारित होइत अछि। एतय “बहुत जगह लिखल अछि” स्वतंत्र प्रमाण नहि। भाषाक तीव्र पुनरुत्पादन सत्यताक गारंटी नहि।

समानान्तर दर्शनक भाषिक अनुशासन एतय चारि प्रश्न प्रस्तावित करैत अछि—मूल स्रोत की? कथनक सन्दर्भ की? शब्दक तकनीकी अर्थ की? अनुवाद अथवा पुनर्लेखनमे अर्थ बदलल की? डिजिटल नागरिकता लेल ई भाषा-दर्शनक व्यावहारिक रूप अछि।

पूर्वपक्ष: भाषा जँ विचारकेँ आकार दैत अछि तँ वस्तुगत सत्य असम्भव?

उत्तरपक्ष: भाषा जगतपर परदा मात्र नहि, जगतसँ सम्बन्धक साधन अछि। भाषा वर्गीकरण आ दृष्टिकोण प्रभावित करैत अछि, मुदा बाह्य जगत, पारस्परिक परीक्षण, अनुवाद, प्रत्यक्ष आ व्यवहार भाषिक दाबीसँ

प्रतिरोध करैत अछि। भाषिक मध्यस्थता सत्यक असम्भवता नहि, सत्यपर पहुँचक शर्तसभक चेतना उत्पन्न करैत अछि।

16.11 स्फोट आ भाषिक एकता

वर्ण क्रमशः सुनाइत अछि आ क्षणभंगुर, तथापि वाक्यक एकीकृत अर्थ एक बेर बुझाइत अछि। स्फोट-सिद्धान्त एहि बोधक एकता समझबाक प्रयास अछि। ध्वनि अभिव्यंजक, स्फोट अर्थबोधक स्थिर भाषिक एकक रूपमे विवेचित होइत अछि।

स्फोट भौतिक ध्वनिसँ पृथक कोन सत्ता, शब्द-स्तरक की वाक्य-स्तरक—परम्परा भीतर बहस अछि। सिद्धान्तकेँ आधुनिक ध्वनिविज्ञान वा मनोभाषाविज्ञानक खोज कहब अनुचित।

दार्शनिक प्रश्न एखनहुँ उपयोगी: क्रमशः प्राप्त संकेतसँ समग्र अर्थ कोना? उत्तर व्याकरण, अपेक्षा, स्मृति आ प्रसंगक संयुक्त भूमिका खोजि सकैत अछि।

16.12 अपोह आ वर्गीकरण

बौद्ध अपोह-दृष्टि सामान्य शब्दक अर्थकेँ अन्यक बहिष्कारसँ जोड़ैत अछि। ‘गाय’क अर्थ कोनो शाश्वत गायत्व नहि, अगायसँ भिन्नताक अवधारणात्मक कार्य। ई बाह्य विशेष वस्तुक क्षणिकता संग सामान्य भाषा समेटबाक प्रयास।

आपत्ति अछि जे ‘अगाय’ बुझबा लेल पहिने गाय बुझल होयत; निषेध सकारात्मक आधार बिना चक्राकार। बौद्ध उत्तर संस्कार, समान प्रभाव आ अवधारणात्मक निर्माणक माध्यमसँ विकसित होइत।

सामाजिक वर्गीकरणमे शिक्षा ई जे श्रेणी भिन्नता बनबैत अछि। मुदा अपोहसँ आधुनिक पहचान-राजनीतिक निष्कर्ष सीधा नहि निकलैत। तुलना कार्यात्मक स्तरपर हो।

16.13 व्यंग्य आ अप्रत्यक्ष कथन

वक्ता जखन विपरीत शब्द कहि आलोचना करैत, श्रोता स्वर, प्रसंग आ साझा ज्ञानसँ आशय बुझैत अछि। शाब्दिक अर्थ पर्याप्त नहि। अदालत, इतिहास वा डिजिटल संदेशमे प्रसंग कटला पर गंभीर भ्रम हो सकैत अछि।

अभिप्राय महत्त्वपूर्ण, मुदा परिणामसँ पूर्ण रक्षा नहि। वक्ता ‘मजाक छल’ कहि लक्षित अपमानक पुनरावृत्ति उचित नहि करि सकैत। श्रोता सेहो प्रत्येक अप्रिय वाक्यकेँ हिंसा नहि कहय।

भाषिक मूल्यांकन शब्द, प्रसंग, शक्ति, अपेक्षित श्रोता आ वास्तविक प्रभाव संयुक्त करय। एक संकेतक मशीन-जकाँ नियम पर्याप्त नहि।

16.14 पूर्वपक्ष: भाषा वास्तविकता केँ कैद करैत अछि

भाषा जगतकेँ श्रेणीमे बाँटैत, तें कहल जाइत अछि जे हम वस्तु नहि, केवल भाषिक संरचना जानैत छी। अलग भाषा अलग वास्तविकता बनबैत—एहन कठोर निष्कर्ष निकलि सकैत।

मुदा अनुवाद, साझा क्रिया, वैज्ञानिक मापन आ वस्तुक प्रतिरोध भाषासभ बीच सम्बन्ध सम्भव बनबैत अछि। शब्द भिन्न होइतहुँ नदीक बाढ़ सभ समुदायपर वास्तविक प्रभाव दैत।

भाषा पहुँचक माध्यम आ सीमा दुनू। वस्तुगतता भाषा त्यागब नहि, पद परिभाषित करब, अनेक वर्णन तुलना करब आ परिणामसँ जाँचब अछि।

अध्याय-निष्कर्ष

भाषा विचार, ज्ञान, सामाजिक प्रथा आ सत्ता सभक माध्यम अछि। शब्दार्थ, वाक्यार्थ, शाब्दप्रमाण, वक्तृ-अभिप्राय, रूपक, अनुवाद आ भाषिक न्यायक प्रश्न एक-दोसरसँ जुड़ल छथि। समानान्तर दर्शन भाषा-दर्शनक मूल सूत्र रूपमे ई मानैत अछि—शब्द केवल वस्तुक नाम नहि; शब्द सम्बन्ध बनबैत अछि, ज्ञान पहुँचबैत अछि, सत्ता वितरण करैत अछि, आ कखनो वास्तविकताक महत्त्वपूर्ण पक्षकेँ अदृश्य सेहो करैत अछि।

अध्याय-ग्रन्थसूची

भर्तृहरि — वाक्यपदीय।

कुमारिल भट्ट — श्लोकवार्त्तिक।

प्रभाकर मीमांसा सम्बन्धी परम्परागत ग्रन्थ आ भाष्य।

गौतम — न्यायसूत्र।

वात्स्यायन — न्यायभाष्य।

वाचस्पति मिश्र — तत्त्वबिन्दु।

गङ्गेश उपाध्याय — तत्त्वचिन्तामणि, शब्दखण्ड।

Bimal Krishna Matilal — The Word and the World; Logic, Language and Reality.

K. Kunjunni Raja — Indian Theories of Meaning.

Stanford Encyclopedia of Philosophy — “Language and Testimony in Classical Indian Philosophy”.

तृतीय खण्ड – मिथिलाक दार्शनिक समानान्तर परम्परा

अध्याय 17 – विदेह: प्रश्नक भूगोल

मिथिलाक बौद्धिक इतिहासकेँ केवल वर्तमान प्रशासनिक सीमासँ बुझल नहि जा सकैत अछि। “विदेह”, “मिथिला” आ आधुनिक बिहार–नेपालक राजनीतिक भूगोल अलग ऐतिहासिक स्तरक संज्ञा छथि। प्राचीन पाठमे विदेह एक राजनीतिक-सांस्कृतिक क्षेत्र रूपमे अबैत अछि; परवर्ती परम्परामे मिथिला दार्शनिक, विधिशास्त्रीय, भाषिक आ सांस्कृतिक क्षेत्रक रूपमे विकसित होइत अछि। आधुनिक राष्ट्रसीमा एहि दीर्घ स्मृतिसँ बहुत नवीन अछि। तेँ समानान्तर दर्शन भूगोलकेँ स्थिर नक्शा नहि, ऐतिहासिक परतसभक रूपमे पढ़ैत अछि।

17.1 विदेहक पाठ-स्मृति

बृहदारण्यक उपनिषदमे विदेहक जनकक दरबार ब्रह्मविद्या, वाद-विवाद आ प्रश्नोत्तरक स्थल रूपमे प्रसिद्ध अछि। याज्ञवल्क्य, गार्गी, मैत्रेयी तथा अन्य विद्वान पात्रसभक संवाद एहि साहित्यिक-दर्शनिक संसारक केन्द्र छथि। मुदा एहि आख्यानसभकेँ आधुनिक अर्थक प्रत्यक्ष दरबारी अभिलेख मानब उचित नहि। ई ग्रन्थ दार्शनिक पाठ छथि, जकर ऐतिहासिक उपयोग आलोचनात्मक पद्धति माँगैत अछि।

समानान्तर दर्शन लेल एकर महत्त्व दू स्तरपर अछि। पहिल, भारतीय दार्शनिक स्मृतिमे विदेह प्रश्न, वाद आ आत्मविद्याक स्थल रूपमे प्रतिष्ठित अछि। दोसर, ई स्मृति बादक मिथिला-बौद्धिक परम्पराक आधुनिक आत्मवर्णन लेल एक प्रतीकात्मक स्रोत बनैत अछि। प्रतीकात्मक निरन्तरता आ दस्तावेजित संस्थागत निरन्तरता एकहि वस्तु नहि—ई भेद स्पष्ट राखब जरूरी अछि।

17.2 भूगोलक तीन रूप

एहि ग्रन्थमे “मिथिला” तीन स्तरपर उपयोग कएल जा रहल अछि—भौगोलिक क्षेत्र, भाषिक-सांस्कृतिक संसार, आ प्रश्नपरम्पराक रूपक। भौगोलिक मिथिला नदी, कृषि, सीमा, नगर, ग्राम आ ऐतिहासिक राज्यव्यवस्थासँ बनैत अछि। भाषिक-सांस्कृतिक मिथिला मैथिली, तिरहुता, पञ्जी, लोकाचार, गीत, विद्या-संस्था आ साहित्यसँ। प्रश्नपरम्पराक मिथिला प्रमाण, तर्क, शास्त्रार्थ, व्याख्या आ दार्शनिक प्रतिपक्षसँ।

ई तीनू एक-दोसरसँ जुड़ल छथि, मुदा समान नहि। कोनो व्यक्ति मिथिला भूगोलक बाहर रहि मैथिली बौद्धिक परम्परामे योगदान दऽ सकैत छथि; मिथिला भूगोलक भीतर रहयवला प्रत्येक व्यक्ति स्वतः एकहि दार्शनिक परम्पराक प्रतिनिधि नहि।

17.3 सीमा आ प्रवाह

ज्ञान प्रशासनिक सीमा नहि मानैत अछि। पाण्डुलिपि, शिक्षक, छात्र, विवाह-सम्बन्ध, तीर्थ, राजदरबार, मठ, पाठशाला आ वाद-विवाद द्वारा विचार प्रवाहित होइत रहल। मिथिलाक अध्ययन करतें नेपालक तराई, उत्तर बिहार, बंगाल, काशी आ अन्य विद्या-केन्द्रसँ सम्बन्ध अनदेखा नहि कएल जा सकैत अछि।

समानान्तर इतिहास एहि कारण “स्वतन्त्र महान क्षेत्र”क बन्द कथा नहि बनबैत अछि। क्षेत्रक विशिष्टता ओकर आदान-प्रदानसँ कम नहि होइत अछि; उलटे, बौद्धिक जाल बुझलासँ वास्तविक योगदान अधिक स्पष्ट होइत अछि।

17.4 राजसत्ता आ ज्ञान

दार्शनिक परम्परा केवल मुक्त चिन्तकसभक स्वयंस्फूर्त इतिहास नहि। संरक्षण, भूमि-अनुदान, शिक्षा-संस्था, राजकीय प्रतिष्ठा, धार्मिक अधिकार आ सामाजिक पदानुक्रम ज्ञानक उत्पादन प्रभावित करैत अछि। विदेहक जनकक पाठ-स्मृति सेहो ज्ञान आ राजसत्ताक समीपता देखबैत अछि। प्रश्न ई अछि—सत्ता ज्ञानकेँ संरक्षण दैत अछि, मुदा की ओ प्रश्नक सीमा सेहो निर्धारित करैत अछि?

समानान्तर दर्शन प्रत्येक ज्ञानकेन्द्रक सामाजिक शर्त पूछैत अछि। दरबारमे के प्रवेश करैत छल? के बोलि सकैत छल? कोन भाषा प्रतिष्ठित? कोन ज्ञान लिखल गेल आ कोन मौखिक रहल? उपलब्ध पाठक मौन सेहो इतिहासक तथ्य हो सकैत अछि, यद्यपि मौनसँ मनचाहा कथा निकालब उचित नहि।

17.5 मिथिला आ न्यायपरम्परा

परवर्ती कालमे मिथिला न्याय, मीमांसा आ विशेषतः नव्य-न्यायक महत्त्वपूर्ण केन्द्र बनल। गङ्गेश उपाध्यायक तत्त्वचिन्तामणि नव्य-न्यायक नूतन भाषिक-तार्किक चरणक प्रस्थानबिन्दु मानल जाइत अछि। एकर पाछाँ

लम्बा न्यायीय परम्परा, वाचस्पति मिश्र आ उदयन-जकाँ पूर्ववर्ती चिन्तक, तथा बहुकेन्द्रिक भारतीय शास्त्रार्थ-संसारक योगदान अछि।

एहि विकासकेँ “विदेहक उपनिषदिक दरबार सँ गङ्गेश धरि एक अखण्ड संस्थागत विद्यालय” कहब प्रमाणसँ अधिक दाबी होयत। समानान्तर दर्शन एहन सरल निरन्तरताक स्थानपर विचार-रूप, स्मृति, क्षेत्रीय संस्था आ ग्रन्थ-परम्पराक अलग-अलग निरन्तरता जाँचैत अछि।

17.6 स्थानीयता बनाम प्रादेशिक गौरव

क्षेत्रीय इतिहास लिखैत समय गौरव स्वाभाविक अछि, मुदा गौरव प्रमाणक विकल्प नहि। “पहिल”, “सबसँ महान”, “सभक मूल” जकाँ दाबी सभ अधिक कठोर प्रमाण माँगैत अछि। मिथिलाक वास्तविक बौद्धिक महत्त्व अतिशयोक्तिसँ नहि, ग्रन्थ, तर्क, पाण्डुलिपि, भाष्य, शिक्षा-जाल आ प्रभावक दस्तावेजसँ मजबूत होइत अछि।

17.7 प्रश्नक भूगोल

“प्रश्नक भूगोल”क अर्थ ई नहि जे प्रश्न केवल एहि भूमि पर जन्मल। अर्थ ई जे किछु भूगोल ऐतिहासिक कारणसँ विशिष्ट प्रकारक ज्ञान-संस्कार विकसित करैत अछि। मिथिलामे शास्त्रार्थ, तर्क, धर्मशास्त्र, पञ्जी, भाष्यलेखन आ व्याख्याक संस्थागत परम्परा विचारक विशिष्ट अनुशासन उत्पन्न कएलक। समानान्तर दर्शन एहि अनुशासनकेँ आधुनिक नागरिक विवेकसँ जोड़बाक प्रयास करैत अछि।

17.8 वर्तमान मिथिला लेल दार्शनिक अर्थ

आधुनिक मिथिला भारत आ नेपालक राजनीतिक सीमामे विभाजित भाषिक-सांस्कृतिक क्षेत्र अछि। एहि वास्तविकतामे समानान्तर दर्शन सीमा-विरोधी रोमानी नारा नहि, साझा ज्ञान-संसारक अध्ययन प्रस्तावित करैत अछि। भाषिक अधिकार, शिक्षा, सांस्कृतिक अभिलेखन, नदी-पर्यावरण, प्रवासन आ क्षेत्रीय असमानता आजक दार्शनिक प्रश्न छथि। प्राचीन गौरव तखन जीवित होइत अछि जखन ओ वर्तमान प्रश्नक विवेकपूर्ण परीक्षणक क्षमता बनय।

17.9 विदेहक नाम आ ऐतिहासिक स्तर

विदेह वैदिक-उपनिषदिक पाठ, बादक आख्यान आ आधुनिक क्षेत्रीय स्मृतिमे अलग अर्थक संग उपस्थित हो सकैत अछि। एक स्रोतक भूगोल दोसर कालपर सीधा आरोपित नहि कएल जाए।

राज्य, जनसमुदाय, सांस्कृतिक क्षेत्र आ मिथकीय प्रतीक—‘विदेह’ कखन कोन अर्थमे अछि से प्रसंग बतायत। नकाशाक निश्चित सीमा स्रोत बिना नहि गढ़ल जाए।

इतिहासक अनिश्चितता क्षेत्रीय महत्त्व घटबैत नहि। उलटे स्रोतक स्तर स्पष्ट कएला पर मिथिला-केंद्रित अध्ययन गौरवक बदला विश्वसनीयता पबैत अछि।

17.10 जनक एक व्यक्ति की उपाधि

उपनिषदिक कथामे जनक नाम दार्शनिक संवादक संरक्षक राजाक रूपमे अबैत अछि। ‘जनक’ वंशगत उपाधि भऽ सकैत—एहि सम्भावना कारण सभ प्रसंगकेँ एक ऐतिहासिक जीवनीमे जोड़ब सावधानी माँगैत।

कथा भीतरक दार्शनिक भूमिका स्पष्ट अछि: राजसभा प्रश्न, दान, विद्वत्ता आ सत्ता जोड़ैत अछि। मुदा ऐतिहासिक तिथि, एकता आ प्रत्यक्ष विवरण अलग प्रमाण माँगैत।

राजाक विद्वत् संरक्षणक प्रशंसा संग सत्ता-सम्बन्ध सेहो जाँचल जाए। पुरस्कार स्वतंत्र बहस प्रोत्साहित करैत अछि की दरबारी प्रतिष्ठा बनबैत—पाठक प्रसंग अनुसार विवेचन करय।

17.11 प्रश्न-सभाक सामाजिक सीमा

दार्शनिक सभा खुलल प्रश्नक आदर्श प्रस्तुत करैत, मुदा ककरा प्रवेश छल, ककर श्रम सभा सम्भव बनबैत, आ ककर आवाज पाठमे नहि—ई प्रश्न इतिहासक मौनसँ उठैत अछि। प्रमाण बिना विशिष्ट बहिष्कार घोषित नहि कएल जाए, मुदा अभिलेखक चयन जाँचल जाए।

गार्गी आ मैत्रेयीक उपस्थिति स्त्री-बौद्धिकता संबंधी महत्त्वपूर्ण पाठीय साक्ष्य, सम्पूर्ण समाजक समानताक प्रमाण नहि। असाधारण उदाहरण सामान्य स्थिति सिद्ध नहि करैत।

समानान्तर पाठ उपलब्ध आवाजक सम्मान करैत आ अनुपस्थित आवाजक विषयमे सीमा लिखैत अछि। मौन कल्पना लेल खाली स्थान नहि।

17.12 पूर्वपक्ष: विदेह कैं आधुनिक मिथिलासँ जोड़ब कालभ्रम

नाम, भूगोल आ परम्परागत स्मृति निरन्तरता सुझा सकैत, मुदा हजारों वर्षक राजनीतिक-सांस्कृतिक परिवर्तन कारण सीधा समानता जोखिमपूर्ण। आलोचना उचित अछि।

उत्तर पूर्ण विच्छेद नहि। ग्रन्थीय स्थल-संकेत, बादक परम्परा, भाषिक इतिहास आ क्षेत्रीय स्मृति जोड़ि सीमित निरन्तरता अध्ययन हो सकैत अछि। प्रत्येक कड़ीक प्रमाण अलग।

आधुनिक पहचानक वैधता प्राचीन शुद्धता पर निर्भर नहि। विदेहक अध्ययन इतिहास बुझबाक साधन हो, वर्तमान श्रेष्ठता सिद्ध करबाक नहि।

अध्याय-निष्कर्ष

विदेह आ मिथिलाकैं एकहि अपरिवर्तित इकाई मानब इतिहासक सरलीकरण होयत। मुदा उपनिषदिक विदेहक प्रश्न-स्मृति, परवर्ती मिथिलाक न्यायीय परम्परा आ आधुनिक मैथिली सांस्कृतिक संसार बीच संवाद स्थापित

करब फलदायी अछि, जँ प्रत्येक स्तरक प्रमाण अलग राखल जाए। समानान्तर दर्शनक लेल मिथिला भूगोल, भाषा आ पद्धति—तीनू अछि; परन्तु एहि तीनूक सम्बन्ध ऐतिहासिक जाँचसँ स्थापित होयत, भावनासँ नहि।

अध्याय-ग्रन्थसूची

बृहदारण्यक उपनिषद।

गौतम — न्यायसूत्र।

वाचस्पति मिश्र — न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका।

उदयनाचार्य — न्यायकुसुमाञ्जलि; आत्मतत्त्वविवेक।

गङ्गेश उपाध्याय — तत्त्वचिन्तामणि।

Dinesh Chandra Bhattacharya — History of Navya-Nyāya in Mithilā.

Bimal Krishna Matilal — Logic, Language and Reality.

Jonardon Ganeri — The Lost Age of Reason; Philosophy in Classical India.

अध्याय 18 – याज्ञवल्क्य, गार्गी आ मैत्रेयी

बृहदारण्यक उपनिषदक संवादसभ भारतीय दर्शनक इतिहासमे प्रश्नक नाटकीयता आ अवधारणात्मक गहराई दुनू उपस्थित करैत अछि। याज्ञवल्क्य प्रमुख वक्ता छथि, मुदा गार्गी वाचक्नवी आ मैत्रेयीकेँ केवल हुनक विचार उजागर करयवला सहायक पात्र मानब अनुचित। हुनकर प्रश्न स्वयं दार्शनिक समस्या निर्धारित करैत अछि।

समानान्तर पाठ एहि संवादकेँ “एक महान पुरुष दार्शनिक आ हुनक प्रश्नकर्त्रीसभ”क कथा नहि, बहु-वक्ता दार्शनिक क्षेत्र रूपमे पढ़ैत अछि।

18.1 संवाद दर्शनक रूप

सूत्र वा सिद्धान्तक विपरीत संवादमे विचार प्रश्न, उत्तर, आपत्ति, मौन, पुनःप्रश्न आ प्रसंगक माध्यमसँ विकसित होइत अछि। बृहदारण्यकक संवाद दर्शबैत अछि जे दर्शन केवल तैयार उत्तर नहि; प्रश्नक संरचना स्वयं ज्ञानक दिशा बदलि सकैत अछि। गार्गीक प्रश्न ब्रह्माण्डक अंतिम आधार दिस, मैत्रेयीक प्रश्न धन, अमरत्व आ आत्म-मूल्य दिस विचारकेँ मोड़ैत अछि।

18.2 मैत्रेयी: धन आ अमरत्व

याज्ञवल्क्य गृहत्यागपूर्व सम्पत्ति-विभाजनक प्रसंगमे मैत्रेयीसँ संवाद करैत छथि। मैत्रेयी प्रश्न करैत छथि—जँ सम्पूर्ण पृथ्वी धनसहित प्राप्त हो, की अमरत्व भेटत? उत्तर नकारात्मक। एहि प्रश्नक दार्शनिक तीक्ष्णता ई अछि जे ओ साधन आ परम मूल्यक भेद खोलैत अछि। धन उपयोगी, परन्तु की उपयोगिते अंतिम मानवीय लक्ष्य?

मैत्रेयी एहि बिन्दुपर नैतिक अर्थशास्त्रक प्राचीन प्रश्न उठबैत छथि: संसाधन जीवनकेँ समर्थ करैत अछि, मुदा जीवनक मूल्य संसाधनमे समाप्त नहि। समानान्तर दर्शन एतयसँ गरीबीक महिमामण्डन नहि करैत। भौतिक अभाव अन्याय हो सकैत अछि; मुदा भौतिक सम्पन्नताकेँ आत्म-मूल्यक पूर्ण पर्याय मानब सेहो दार्शनिक त्रुटि अछि।

18.3 प्रियता आ आत्मा

मैत्रेयी-याज्ञवल्क्य संवादमे प्रिय वस्तुसभ आत्मा-सम्बन्धक कारण प्रिय होयबाक जटिल प्रतिपादन अबैत अछि। एकर अनेक व्याख्या सम्भव अछि। एक सरल स्वार्थवादी अर्थ—सभ प्रेम अन्ततः निजी लाभ—पाठक दार्शनिक गहराई घटा देत। अधिक सूक्ष्म प्रश्न ई अछि: अनुभवक केन्द्र, सम्बन्धक मूल्य आ आत्म-ज्ञान परस्पर कोना जुड़ैत अछि? प्रियता ककरा प्रति अछि—व्यक्ति, सम्बन्ध, आत्मबोध वा अंतिम वास्तविकता?

समानान्तर दर्शन एहि अंशकेँ आधुनिक मनोविज्ञानक सीधा सिद्धान्त नहि बनबैत; एकरा सम्बन्धात्मक आत्मबोधक दार्शनिक स्रोत रूपमे पढ़ैत अछि।

18.4 गार्गी: जगत ककरा पर ओतप्रोत?

गार्गीक प्रश्न ब्रह्माण्डीय आधारक शृंखला बनबैत अछि—ई जगत ककरा पर ओतप्रोत? तकर आधार की? प्रश्न क्रमशः दृश्यमान वस्तुसँ अदृश्य आधार दिस बढ़ैत अछि। दार्शनिक रूपसँ ई अनन्त प्रतिगमन, अंतिम व्याख्या आ अस्तित्वक आधारक प्रश्न अछि।

गार्गीक महत्त्व केवल एहि बातमे नहि जे “एक स्त्री प्रश्न पूछलनि।” हुनक प्रश्न तत्त्वमीमांसाक संरचना निर्धारित करैत अछि। जे प्रश्न सम्भावित उत्तरक क्षेत्र बदलि दैत अछि, ओ स्वयं दार्शनिक योगदान अछि।

18.5 अक्षरक प्रश्न

गार्गी-संवादक उत्तर अन्ततः अक्षर—अविनाशी—दिस बढ़ैत अछि। आधुनिक पाठक एहि पदकेँ तुरन्त “ईश्वर” वा “पदार्थ” वा “चेतना”क आधुनिक श्रेणीमे नहि ठेलथि। उपनिषदिक अक्षर अपन पाठ-सन्दर्भमे अंतिम, अपरिवर्तनशील आधारक दार्शनिक संकेत अछि। एकर विभिन्न वेदान्तीय व्याख्या बादमे विकसित भेल। ऐतिहासिक सावधानी ई अछि जे परवर्ती सिद्धान्तकेँ मूल संवादक एकमात्र अर्थ घोषित नहि कएल जाए।

18.6 याज्ञवल्क्य आ “नेति नेति”

याज्ञवल्क्यसँ सम्बद्ध “नेति नेति”—ई नहि, ई नहि—अभिव्यक्ति अंतिम वास्तविकताकेँ सीमित गुण-वर्णनसँ मुक्त करबाक पद्धति रूपमे पढ़ल जाइत अछि। ई सर्वनिषेधक निरर्थकता नहि; अवधारणाक सीमा चिन्हबाक तरीका अछि। जे वस्तु प्रत्येक सीमित वस्तुगत गुणसँ परे मानल जाइत अछि, ओकरा सामान्य वर्गीकरणमे पकड़ब कठिन।

समानान्तर दर्शन एहि पद्धतिसँ एक ज्ञानात्मक शिक्षा लैत अछि: कखनो नकारात्मक परिभाषा सकारात्मक दाबीकेँ अनुशासित करैत अछि। “हम ई नहि कहि सकैत छी” ज्ञानक कमजोरी नहि, उचित सीमा भऽ सकैत अछि।

18.7 आत्मा आ चेतना

याज्ञवल्क्यक अनेक संवाद आत्मन्, ज्ञाता आ अनुभवक आधारक प्रश्न उठबैत अछि। देखनेवला के? सुननेवला के? जाननेवला के? ज्ञाताक स्वयं ज्ञान कोना सम्भव? ई प्रश्न आधुनिक चेतना-दर्शनसँ तुलना योग्य छथि,

मुदा समान नहि। उपनिषदिक आत्मन् मुक्तिक, अस्तित्वक आ आध्यात्मिक प्रश्नसँ जुड़ल अछि; आधुनिक मन-दर्शन प्रायः तंत्रिका-विज्ञान, मानसिक अवस्था आ व्यक्ति-पहिचानक अलग संदर्भ रखैत अछि।

18.8 स्त्री-दर्शनक पुनर्पाठ

इतिहासलेखनमे स्त्री पात्रकेँ “पत्नी”, “शिष्या”, “प्रेरणा” अथवा “प्रश्नकर्त्री” कहि मुख्य दार्शनिक श्रेणीसँ बाहर राखल जा सकैत अछि। समानान्तर दर्शन योगदानक कसौटी बदलैत अछि: के अवधारणात्मक प्रश्न उठौलक? के तर्कक दिशा बदेलक? के मूल्यक आधार चुनौती देलक? एहि कसौटीपर गार्गी आ मैत्रेयी दार्शनिक छथि।

मुदा ई पुनर्पाठ आधुनिक समानताक विचारकेँ प्राचीन समाजपर जबरन आरोपित नहि करैत। ग्रन्थमे स्त्री-वक्ता उपस्थित होयब समाजक सम्पूर्ण लैंगिक समानताक प्रमाण नहि। विशिष्ट पाठ-साक्ष्यक सम्मान संग व्यापक सामाजिक इतिहास अलग जाँच माँगैत अछि।

18.9 जनकक दरबार आ वादक संस्था

विदेहक जनकक दरबार पाठमे विद्वत् प्रतियोगिता आ दार्शनिक संवादक स्थल रूपमे अबैत अछि। धन, प्रतिष्ठा आ ज्ञान एकहि दृश्य मे उपस्थित छथि। एकर संस्थागत अर्थ महत्त्वपूर्ण अछि—दार्शनिकता सामाजिक मंच माँगैत अछि। मुदा मंच सत्ता-संरचनासँ मुक्त नहि। पुरस्कार के दैत अछि? निर्णायक के? के उपस्थित? समानान्तर दर्शन दार्शनिक पाठक संग संस्थागत प्रश्न सेहो पढ़ैत अछि।

18.10 आधुनिक अर्थ

गार्गी, मैत्रेयी आ याज्ञवल्क्यक संवाद आधुनिक जीवनमे दूहरा उपयोग रखैत अछि। पहिल, प्रश्नक गुणवत्ता उत्तरक गुणवत्ता निर्धारित करैत अछि। दोसर, अंतिम मूल्य, आत्मा, धन, सम्बन्ध आ वास्तविकताक प्रश्न केवल ऐतिहासिक धार्मिक जिज्ञासा नहि; अलग शब्दावलीमे आजो उपस्थित छथि।

18.11 याज्ञवल्क्यक ‘नेति नेति’

‘नेति नेति’ आत्मा वा ब्रह्म सम्बन्धी प्रत्येक सकारात्मक गुणक सीमा देखबैत अछि। एकरा पूर्ण शून्यवाद मानब उचित नहि; जे वस्तुगत गुणसँ पकडल नहि जाए एहन आधारक संकेत हो सकैत अछि।

निषेधक श्रृंखला बाद शेष की—शुद्ध चेतना, अवर्णनीय सत्ता, वा भाषाक सीमा? भिन्न वेदान्तीय व्याख्या अलग उत्तर दैत। मूल प्रसंग आ बादक भाष्य अलग पढ़ल जाए।

अवर्णनीय कहला पर विरोधाभासक जोखिम अछि: जकर विषयमे किछु नहि कहल जा सकय, ओकर अस्तित्व कोना दावा? उत्तर संकेतक भाषा आ प्रत्यक्ष बोधक भेदसँ देल जाइत, मुदा प्रमाण प्रश्न बनल रहैत।

18.12 मैत्रेयी संवादमे प्रेमक संरचना

मैत्रेयी संवाद धनसँ अमरत्वक असम्भवता आ प्रिय वस्तु आत्माक कारण प्रिय होयबाक दाबी उठबैत अछि। एकरा स्वार्थवाद कहब सरल, मुदा ‘आत्मा’ व्यक्तिगत अहंकार की व्यापक चेतन आधार—अर्थ निर्णायक।

यदि प्रत्येक प्रेम केवल अपन लाभ, तँ दोसरक स्वतंत्र मूल्य नष्ट। यदि आत्मा व्यापक सम्बन्धक आधार, तँ प्रेममे एकता आ ज्ञानक अर्थ बदलैत अछि। पाठक पूर्वधारणा स्पष्ट करय।

संवादमे मैत्रेयीक प्रश्न स्वयं दार्शनिक अभिकर्तृत्व देखबैत अछि। हुनका मात्र याज्ञवल्क्यक श्रोता नहि, तर्कक दिशा बदलनिहार प्रश्नकर्ता रूपमे पढ़ल जाए।

18.13 गार्गीक प्रश्न आ सीमाक राजनीति

गार्गी जगतक आधारक श्रृंखला पूछैत-पूछैत अक्षर धरि पहुँचैत छथि। प्रश्न रोकबाक चेतावनी ज्ञानक सीमा, शास्त्रार्थक नियम वा सत्ता—कुन रूपमे पढ़ल जाए? पाठ अनेक व्याख्या सम्भव बनबैत अछि।

दार्शनिक रूपसँ अनन्त ‘ककरा पर ओतप्रोत’ प्रश्न व्याख्याक अन्तिम आधार माँगैत अछि। प्रत्येक उत्तर फेर आधार माँगय तँ अनन्त श्रृंखला; कोनो स्वयं-आधार मानल जाए तँ ओकर औचित्य चाही।

गार्गीक निर्भीकता आधुनिक समानताक पूरा प्रमाण नहि, मुदा स्त्री द्वारा सर्वोच्च तत्त्वमीमांसात्मक प्रश्नक स्पष्ट पाठीय उपस्थिति अछि। दाबी एतबे सीमित आ महत्त्वपूर्ण राखल जाए।

18.14 पूर्वपक्ष: संवाद इतिहास नहि, केवल साहित्य

उपनिषदिक संवाद सम्पादित साहित्यिक रचना हो सकैत; तें शब्दशः दरबारी प्रतिलेख मानब अनुचित। पात्र आ संवादक ऐतिहासिकता अलग प्रश्न।

मुदा साहित्यिक रूप दार्शनिक सामग्री नष्ट नहि करैत। प्रश्न, उत्तर, उपमा आ विरोध पाठीय तथ्य छथि, जकर अवधारणात्मक विश्लेषण सम्भव।

इतिहास लिखैत समय ‘पाठ प्रस्तुत करैत अछि’ आ ‘घटना वास्तवमे एहन भेल’ अलग भाषा प्रयोग हो। स्रोत-सीमा स्वीकारि दार्शनिक मूल्य बचाओल जाए।

अध्याय-निष्कर्ष

याज्ञवल्क्य, गार्गी आ मैत्रेयीकेँ एक-दोसरसँ अलग जीवनचरितक पात्र नहि, संवादात्मक दार्शनिक क्षेत्रक सह-निर्माता रूपमे पढ़लासँ बृहदारण्यकक बौद्धिक समृद्धि स्पष्ट होइत अछि। गार्गी तत्त्वमीमांसाक प्रश्नक सीमा बढ़बैत छथि, मैत्रेयी मूल्य आ अमरत्वक प्रश्न तीक्ष्ण करैत छथि, याज्ञवल्क्य आत्मा आ अंतिम वास्तविकताक उत्तर विकसित करैत छथि। समानान्तर दर्शन एहि बहुवक्ता संरचनाकेँ अपन पद्धतिक प्राचीन प्रेरणा मानैत अछि।

बृहदारण्यक उपनिषद — विशेषतः याज्ञवल्क्य–मैत्रेयी आ याज्ञवल्क्य–गार्गी संवाद।

Patrick Olivelle — The Early Upaniṣads.

S. Radhakrishnan — The Principal Upanishads.

Surendranath Dasgupta — A History of Indian Philosophy, Vol. I.

M. Hiriyanna — Outlines of Indian Philosophy.

अध्याय 19 – न्याय-वैशेषिक आ मिथिलाक तार्किक संस्कार

मिथिलाक दार्शनिक गौरवक चर्चा केवल आचार्यसभक नाम-सूची बनि जाए तँ ओकर अर्थ सीमित रहि जाएत। वास्तविक योगदान पद्धतिमे अछि—दाबी स्पष्ट करब, पद परिभाषित करब, प्रतिपक्ष स्थापित करब, प्रमाणक सीमा जाँचब, हेत्वाभास चिन्हब, सम्बन्धक सूक्ष्म भेद करब आ निष्कर्षकेँ आपत्तिक सामने टिकाब। न्याय-वैशेषिक परम्परा तथा बादक नव्य-न्याय एहि तार्किक संस्कारक समृद्ध रूप प्रस्तुत करैत अछि।

19.1 न्याय-वैशेषिकक संगम

प्रारम्भिक न्यायक केन्द्र प्रमाण, तर्क आ वाद; वैशेषिकक केन्द्र पदार्थ-वर्गीकरण आ तत्त्वमीमांसा। कालक्रमे दुनू परम्पराक घनिष्ठ संगम भेल। आत्मा, पदार्थ, गुण, कारणता, ईश्वर, सामान्य, विशेष, समवाय आ अभावक

प्रश्न न्यायीय प्रमाणमीमांसा संग जुड़ैत गेल। एहि मिलनसँ एक एहन दार्शनिक प्रणाली विकसित भेल जाहिमे “की अछि?” आ “हम कोना जानैत छी?” प्रश्न परस्पर सम्बद्ध भेल।

19.2 मिथिलाक स्थान

वाचस्पति मिश्र, उदयनाचार्य आ गङ्गेश उपाध्याय मिथिला-संबद्ध न्यायीय इतिहासक प्रमुख नाम छथि, यद्यपि प्रत्येकक जीवनवृत्त, काल आ क्षेत्रीय सम्बद्धता सम्बन्धी दाबी स्रोत-समीक्षासँ करबाक चाही। गङ्गेशक तत्त्वचिन्तामणि मिथिलामे नव्य-न्यायक निर्णायक विकाससँ स्पष्ट रूपेँ जुड़ल अछि। परवर्ती अनेक विद्वानक अध्ययन-परम्परा मिथिला आ नवद्वीप-जकाँ केन्द्रसभमे विकसित भेल।

19.3 परिभाषाक अनुशासन

दार्शनिक विवादमे शब्द अस्पष्ट हो तँ तर्क अस्थिर। न्यायीय परम्परा लक्षण—परिभाषा—केँ अत्यन्त गम्भीरता सँ लैत अछि। परिभाषा अतिव्याप्ति न करय, अव्याप्ति न करय, असम्भव न हो। ई सिद्धान्त आजक कानून, विज्ञान, नीति आ सामाजिक बहसमे अत्यन्त उपयोगी अछि। “गरीब”, “अल्पसंख्यक”, “भेदभाव”, “हिंसा”, “स्वतंत्रता”—जे शब्द नीति निर्धारित करैत अछि ओकर अस्पष्टता वास्तविक अधिकार प्रभावित करैत अछि।

19.4 सम्बन्धक सूक्ष्मता

नव्य-न्यायक विशिष्ट शक्ति सम्बन्ध, अवच्छेद, विशेषणता, विषयता आ अभाव-जकाँ अवधारणाक सूक्ष्म विश्लेषणमे अछि। साधारण भाषा “घट मे लालिमा अछि” कहि कऽ रुकि जाइत अछि; तार्किक विश्लेषण पूछैत अछि—गुण कोन द्रव्यमे, कोन सम्बन्धसँ, कोन रूपमे उपस्थित? एहि सूक्ष्मताक उद्देश्य शब्दजाल नहि; अस्पष्ट निष्कर्ष रोकब अछि।

19.5 प्रमाणक भार

न्यायीय बहसमे दाबी करयवला पक्षक कारण प्रस्तुत करब आवश्यक। हेतु पक्षमे उपस्थित, अनुकूल उदाहरणमे संगत आ प्रतिकूल उदाहरणमे अनुपस्थित हो—एहि प्रकारक शर्त तर्कक अनुशासन बनबैत अछि। आधुनिक सार्वजनिक जीवनमे “दाबी पहिने, प्रमाण बादमे” प्रवृत्तिक विपरीत ई दृष्टि प्रमाणक भार याद करबैत अछि।

19.6 हेत्वाभास आ आधुनिक भ्रम

असिद्ध हेतु, विरुद्ध हेतु, सव्यभिचार, सत्प्रतिपक्ष, बाधित—न्यायीय हेत्वाभासक अलग वर्गीकरण आधुनिक मिथ्या सूचना बुझबामे उपयोगी रूपक दैत अछि। जँ कारण तथ्ये स्थापित नहि, जँ कारण निष्कर्षक विपरीत सिद्ध करैत, जँ सम्बन्ध अनियमित, जँ समान बलक विरोधी कारण उपस्थित, वा अधिक मजबूत प्रमाण निष्कर्षकेँ खण्डित करैत—तर्क असफल।

एहि वर्गीकरणकेँ यांत्रिक रूपसँ प्रत्येक आधुनिक बहसमे ठेलब नहि चाही, मुदा तार्किक सावधानीक रूपमे एकर मूल्य स्पष्ट अछि।

19.7 वाद, जल्प, वितण्डा

सत्य-अन्वेषी वाद आ विजय-केन्द्रित जल्प/वितण्डाक भेद आजक सार्वजनिक बहसमे अत्यन्त प्रासंगिक अछि। सामाजिक माध्यमक विवादमे प्रतिपक्ष बुझब उद्देश्य नहि, पराजित करब उद्देश्य भऽ सकैत अछि। समानान्तर दर्शन मिथिलाक तार्किक संस्कारक आधुनिक पुनर्जीवनकेँ “बहस जितबाक कला” नहि, “सत्य-अन्वेषी असहमतिक अनुशासन” मानैत अछि।

19.8 नव्य-न्याय: सूक्ष्म भाषा, कठिन पहुँच

नव्य-न्यायक तकनीकी भाषा अभूतपूर्व विश्लेषणात्मक सटीकता विकसित करैत अछि, मुदा अत्यधिक विशेषज्ञता ज्ञानक सार्वजनिक पहुँच घटा सकैत अछि। ई द्विविधा प्रत्येक उन्नत अनुशासनमे अछि—गणित, कानून, चिकित्सा, दर्शन सभमे तकनीकी भाषा आवश्यक, मुदा विशेषज्ञता सत्ता सेहो बनि सकैत अछि। समानान्तर दर्शनक काम तकनीकी कठोरता कम करब नहि; ओकर अर्थ स्पष्ट करि व्यापक भाषामे पहुँच उपलब्ध करब अछि।

19.9 मिथिला आ ज्ञान-संस्था

तोल, पाठशाला, पाण्डुलिपि-परम्परा, गुरु-शिष्य सम्बन्ध, शास्त्रार्थ, पारिवारिक विद्वत्ता—एहि संस्थासभ द्वारा तार्किक संस्कार पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलैत रहल। मुदा संस्थागत निरन्तरताक इतिहास स्रोतसँ लिखल जाए। स्मृति, वंशकथा आ प्रतिष्ठा महत्त्वपूर्ण स्रोत छथि, परन्तु आलोचनात्मक परीक्षणक साथ।

19.10 आधुनिक नागरिक प्रयोग

न्यायीय अनुशासनक आधुनिक रूप पाँच क्षेत्रमा विशेष उपयोगी अछि: न्यायालयमे दाबी-साक्ष्य; पत्रकारितामे स्रोत-पुष्टि; विज्ञानमे कारणात्मक अनुमान; इतिहासमे स्रोत-समीक्षा; लोकतन्त्रमे प्रतिपक्षक सबल रूप प्रस्तुत करब। समानान्तर दर्शन मिथिलाक दार्शनिक विरासतकेँ संग्रहालयक गौरव नहि, नागरिक विवेकक अभ्यास बनबैत अछि।

पूर्वपक्ष: तकनीकी तर्क मनुष्यक पीड़ा आ सामाजिक न्यायसँ दूर नहि?

उत्तरपक्ष: तर्क स्वयं न्याय नहि, मुदा न्यायबोध बिना तर्क अन्ध हो सकैत अछि आ तर्क बिना न्यायबोध असंगत। पीड़ितक कथन सुनब नैतिक कर्तव्य; ओकर कारण, संरचना आ समाधान ठीक बुझब लेल तार्किक स्पष्टता आवश्यक। समानान्तर दर्शन करुणा आ तर्ककेँ प्रतिस्पर्धी नहि मानैत अछि।

19.11 शास्त्रार्थक संस्थागत शर्त

तर्कीय परम्परा केवल महान व्यक्तिक बुद्धिसँ नहि टिकैत; पाठशाला, पाण्डुलिपि, गुरु-शिष्य अनुक्रम, आश्रय आ बहसक नियम चाही। मिथिलाक तार्किक संस्कार अध्ययनमे एहि संस्थाक प्रमाण खोजल जाए।

मौखिक प्रशिक्षण लेखित ग्रन्थमे पूर्ण नहि देखाइत। टीकाक शैली, उद्धरणक जाल आ बादक स्मृति संस्थागत सम्बन्ध संकेत करि सकैत, मुदा प्रत्येक संकेतक सीमा लिखल जाए।

आश्रय ज्ञान सम्भव बनबैत, संगहि विषय-चयन प्रभावित करि सकैत। विद्वत्ता आ सत्ता अलग नहि, पर समान सेहो नहि।

19.12 परीक्षा आ बौद्धिक प्रतिष्ठा

विद्वानक मान्यता सार्वजनिक शास्त्रार्थ, अध्यापन वा संस्थागत परीक्षा सँ जुड़ि सकैत अछि। मानक क्षमता बचबैत, मुदा प्रवेश-सीमा आ वंशगत नेटवर्क बहिष्कार बना सकैत।

‘मिथिलाक परीक्षा’ सम्बन्धी लोकप्रिय कथा स्रोत-सम्मत जाँच माँगैत अछि; प्रमाण बिना विशिष्ट विवरण पुनरावृत्त नहि कएल जाए। संस्था सम्बन्धी दावा अभिलेख, जीवनी आ स्वतंत्र स्रोतसँ पुष्ट हो।

दार्शनिक शिक्षा लेल सामान्य सूत्र पर्याप्त: ज्ञानक सार्वजनिक कसौटी प्रतिष्ठाकेँ व्यक्तिगत दावीसँ अलग करैत अछि, जँ प्रक्रिया पारदर्शी आ खुलल हो।

19.13 न्याय–वैशेषिक संयोजन

न्याय आरम्भमे प्रमाण, बहस आ मुक्ति; वैशेषिक पदार्थ-वर्गीकरण आ प्रकृति-विवेचनपर अलग बल दैत। कालक्रममे दूनू परम्पराक सिद्धान्त संयुक्त रूपमे पढ़ल गेल, मुदा आरम्भसँ एक दर्शन मानब इतिहासक भेद मिटा दैत अछि।

संयोजन दार्शनिक आवश्यकता सँ उत्पन्न: ज्ञानक विषयक तत्त्वमीमांसा चाही, आ पदार्थ-दाबीकेँ प्रमाणमीमांसा। तथापि विशिष्ट मत—ईश्वर, शब्द, गुण—विकासशील रहैत।

मिथिलाक अध्ययनमे ‘न्याय’ शब्द कखन पुरान न्याय, संयुक्त न्याय-वैशेषिक, वा नव्य-न्याय सूचित करैत से स्पष्ट हो।

19.14 पूर्वपक्ष: क्षेत्रीय दाबी दर्शनकेँ संकीर्ण करैत

दार्शनिक तर्क सार्वभौम कारण माँगैत; ओकरा मिथिलाक कहला पर भूगोल सत्यक कसौटी बनि जायत—एहन आपत्ति। वास्तवमे तर्कक वैधता जन्मस्थानपर निर्भर नहि।

क्षेत्रीय इतिहास तर्कक सत्य नहि, उत्पादनक संस्था, भाषा आ संचरण बुझबैत अछि। सार्वभौम दाबी सेहो विशिष्ट स्थलमे लिखल आ पढ़ल जाइत अछि।

समानान्तर मिथिला गौरवक स्वामित्व नहि माँगैत। ओ योगदानक प्रमाण, बाहरी संवाद आ आन्तरिक सीमा साथ रखैत अछि।

अध्याय-निष्कर्ष

मिथिलाक तार्किक संस्कारक वास्तविक महत्त्व महान नामसभक संख्या नहि, बौद्धिक जिम्मेवारीक पद्धति अछि—परिभाषा स्पष्ट करू, प्रमाण दिअ, प्रतिपक्ष सुनू, तर्कक दोष चिन्हू, निष्कर्ष संशोध्य राखू। एहि पद्धतिक आधुनिक पुनर्पाठ लोकतान्त्रिक समाजक ज्ञान-संस्कृति मजबूत कऽ सकैत अछि।

अध्याय-ग्रन्थसूची

गौतम — न्यायसूत्र।

वात्स्यायन — न्यायभाष्य।

उद्योतकर — न्यायवार्त्तिक।

वाचस्पति मिश्र — न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका।

उदयनाचार्य — न्यायवार्त्तिकतात्पर्यपरिशुद्धि; न्यायकुसुमाञ्जलि।

गङ्गेश उपाध्याय — तत्त्वचिन्तामणि।

Bimal Krishna Matilal — Logic, Language and Reality; Perception.

Jonardon Ganeri — Philosophy in Classical India; The Lost Age of Reason.

Dinesh Chandra Bhattacharya — History of Navya-Nyāya in Mithilā.

अध्याय 20 – उदयनाचार्य

उदयनाचार्य न्याय-वैशेषिक परम्पराक ओ प्रमुख दार्शनिक छथि जिनकर काज पुरान न्याय-वैशेषिकक अनेक तर्ककेँ व्यवस्थित, तीक्ष्ण आ प्रतिपक्ष-सचेत रूप दैत अछि। हुनक महत्त्व केवल ईश्वर-सिद्धिक कारण नहि; आत्मा, पदार्थ, कारणता, सार्वभौम, बौद्ध क्षणिकवाद, अनात्मवाद, मीमांसक ईश्वर-आलोचना आ न्यायीय तत्त्वमीमांसाक अनेक क्षेत्रमे हुनकर हस्तक्षेप प्रभावशाली अछि। गङ्गेशक नव्य-न्यायपूर्व बौद्धिक संसार बुझबाक लेल उदयन एक प्रमुख कड़ी छथि।

20.1 ऐतिहासिक स्थान

उदयनकेँ सामान्यतः दसम–एगारहम शताब्दीक आसपास राखल जाइत अछि। जीवनवृत्त सम्बन्धी अनेक परम्परागत कथा उपलब्ध छथि, मुदा दार्शनिक अध्ययनमे ग्रन्थक आन्तरिक साक्ष्य, उद्धरण-सम्बन्ध, टीका-परम्परा आ विश्वसनीय विद्वत् सम्पादन अधिक सुरक्षित आधार प्रदान करैत अछि। समानान्तर दर्शन हुनक क्षेत्रीय गौरवक चर्चा करैत समय काल्पनिक जीवनी विस्तारसँ बचैत अछि।

20.2 प्रमुख ग्रन्थ

उदयनक प्रमुख कृतिसभमे न्यायकुसुमाञ्जलि, आत्मतत्त्वविवेक, किरणावली तथा न्यायवार्त्तिकतात्पर्यपरिशुद्धि उल्लेखनीय छथि। न्यायकुसुमाञ्जलि ईश्वरक अस्तित्व सम्बन्धी न्यायीय तर्कक प्रसिद्ध प्रस्तुति; आत्मतत्त्वविवेक बौद्ध अनात्मवादक प्रतिवाद आ आत्माक यथार्थताक रक्षा; किरणावली

वैशेषिक परम्पराक तत्त्वमीमांसा संग संवाद; परिशुद्धि पूर्ववर्ती न्यायीय भाष्य-परम्पराक आलोचनात्मक विस्तार अछि।

20.3 प्रतिपक्षक गम्भीरता

उदयनक दार्शनिक मूल्य बुझबाक लेल केवल हुनकर निष्कर्ष गिनब पर्याप्त नहि। हुनकर पद्धति प्रतिपक्षक शक्तिशाली तर्ककेँ गंभीरतासँ ग्रहण करैत अछि। बौद्ध दर्शन, मीमांसा आ अन्य विरोधी मत बिना गम्भीर बौद्धिक चुनौतीक न्यायीय दर्शन एतेक सूक्ष्म नहि बनित। समानान्तर दर्शन एहि इतिहाससँ सीखैत अछि—प्रतिद्वन्द्वी विचार परम्पराक शत्रु नहि; अनेक बेर ओहि परम्पराक आत्मसुधारक प्रमुख कारण होइत अछि।

20.4 आत्मतत्त्वविवेक: आत्माक प्रश्न

बौद्ध अनात्मवाद स्थायी आत्मा स्वीकार करबाक आवश्यकता चुनौती दैत अछि। अनुभव, स्मृति, नैतिक निरन्तरता आ व्यक्ति-पहिचान क्षणिक अवस्थाक प्रवाहसँ बुझल जा सकैत अछि—एहन विविध बौद्ध तर्क न्यायपरम्पराक सामने छल। उदयन आत्मतत्त्वविवेकमे स्थायी आत्माक पक्षमे प्रतिवाद विकसित करैत छथि।

न्यायीय तर्क स्मृति, इच्छा, सुख-दुःख, ज्ञान आ कर्तृत्वक एक आश्रय मानबाक आवश्यकता पर बल दैत अछि। “हम काल्हि जे देखलहुँ से आइ स्मरण करैत छी”—एहि प्रत्यभिज्ञा आ स्मृतिक निरन्तरता स्थायी ज्ञाताक पक्षमे कारण रूप प्रस्तुत कएल जाइत अछि। बौद्ध प्रतिपक्ष एहि निरन्तरताकेँ कारण-श्रृंखला द्वारा बुझबाक प्रयास करैत अछि। विवादक वास्तविक केन्द्र “आत्मा अछि/नहि” नारा नहि, व्यक्तिगत निरन्तरताक सर्वोत्तम व्याख्या अछि।

20.5 क्षणिकवादक चुनौती

बौद्ध क्षणिकवाद वस्तु आ मानसिक अवस्थाकेँ क्षणभंगुर घटना रूपमे बुझैत अछि। उदयन-जकाँ न्यायीय यथार्थवादी स्थायी पदार्थ, गुणक आश्रय आ कारणात्मक निरन्तरता आवश्यक मानैत छथि। प्रश्न ई अछि—परिवर्तन चिन्हबाक लेल की कोनो स्थायी आधार चाही? अथवा निरन्तरता स्वयं क्रमबद्ध क्षणसभक सम्बन्धसँ बनि सकैत अछि?

समानान्तर दर्शन एहि विवादकेँ आधुनिक “स्थायी आत्मा बनाम मस्तिष्क” बहसमे सीधा रूपान्तरण नहि करैत। ऐतिहासिक अवधारणा अलग छथि, मुदा व्यक्ति-पहिचान, स्मृति आ निरन्तरताक समस्या आजो जीवित अछि।

20.6 ईश्वर-सिद्धि: न्यायकुसुमाञ्जलि

न्यायकुसुमाञ्जलिमे उदयन ईश्वरक अस्तित्वक पक्षमे अनेक न्यायीय अनुमान विकसित करैत छथि। कार्य-जगतक कारण, परमाणु आ अदृष्टक संयोजन, भाषिक व्यवस्था, वेदक प्रामाण्य आदि विविध आधारसँ ईश्वर-सिद्धिक प्रयास भेटैत अछि। एहि तर्कसभक रूप, संख्या आ व्याख्या टीकाकार अनुसार भिन्न रूपमे व्यवस्थित कएल जाइत अछि; तेँ सरल “आठ प्रमाण”क सूचीकेँ बिना पाठ-सन्दर्भ अंतिम मानब उचित नहि।

विशेष रूपसँ कार्यकारण-तर्क कहैत अछि जे निर्मित वस्तुक ज्ञानी कर्ता होइत अछि; जगत कार्यरूप अछि; अतः जगतक ज्ञानी कारण मानबाक कारण अछि। बौद्ध आ मीमांसक प्रतिपक्ष प्रश्न उठबैत अछि—साधारण

घट-पटसँ सम्पूर्ण जगतपर कर्ता अनुमान वैध विस्तार अछि की नहि? यदि जगत एकमात्र उदाहरण, तुलना कोना? उदयनक दर्शनक शक्ति एहि आपत्तिसभक उत्तर देबाक प्रयासमे अछि।

20.7 प्राकृतिक धर्ममीमांसा आ तर्क

उदयन आ न्यायपरम्परा धार्मिक प्रश्नकेँ “तर्कक बाहर” नहि मानैत। ईश्वरक अस्तित्व आ वेदक प्रामाण्य दार्शनिक प्रमाणक विषय बनैत अछि। समानान्तर दर्शन एहि साहसकेँ महत्त्वपूर्ण मानैत अछि। आस्था सम्मानयोग्य, मुदा सार्वजनिक दार्शनिक दाबी कारण माँगि सकैत अछि।

संगहि, तर्क प्रस्तुत भेलासँ निष्कर्ष स्वतः सिद्ध नहि। न्यायकुसुमाञ्जलिक तर्कसभ आलोचनाक लेल खुला छथि। दार्शनिक सम्मानक अर्थ निष्कर्ष स्वीकारब नहि; तर्कक सबलतम रूप बुझि ओकर परीक्षण करब।

20.8 मीमांसा संग विवाद

मीमांसा वेदक प्रामाण्य बचबैत ईश्वरक आवश्यकता अस्वीकार करैत अछि। वेद अपौरुषेय; कर्म स्वयं फलदायी; सृष्टि अनादि—एहन ढाँचामे ईश्वर अतिरिक्त परिकल्पना बुझाइत अछि। न्याय-वैशेषिक एक बुद्धिमान नियामक, जगत-व्यवस्था आ विश्वसनीय शास्त्रीय साक्ष्यक प्रश्नसँ ईश्वरक आवश्यकता प्रतिपादित करैत अछि।

ई विवाद धार्मिक आ नास्तिकक सरल विभाजन नहि। मीमांसा वैदिक परम्पराक भीतर ईश्वर-विहीन दार्शनिक ढाँचा प्रस्तुत करैत अछि; न्याय ईश्वरवादी यथार्थवाद। भारतीय दर्शनक बहुलता बुझबाक लेल ई उदाहरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अछि।

20.9 कारणता आ अदृष्ट

न्याय-वैशेषिक जगतमे कर्मफल, परमाणुसंयोग आ कारण-व्यवस्थाक प्रश्न जटिल अछि। अदृष्ट—प्रत्यक्ष नहि होयवला कर्मजन्य शक्ति—व्याख्यामे भूमिका निभबैत अछि, मुदा उदयन प्रश्न करैत छथि जे अचेतन तत्त्व स्वयं सुव्यवस्थित परिणाम कोना उत्पन्न करैत? एतयसँ बुद्धिमान नियामकक तर्क विकसित होइत अछि। प्रतिपक्ष पूछैत अछि—नियमित प्राकृतिक प्रक्रिया लेल चेतन नियामक आवश्यक किएक?

आधुनिक विज्ञान एहि विवादक ऐतिहासिक शब्दावली साझा नहि करैत। तेँ उदयनक तर्ककेँ आधुनिक भौतिक विज्ञानक पूर्वरूप कहब गलत। ओकर वास्तविक महत्त्व व्याख्यात्मक पर्याप्तता, कारणता आ बुद्धिमान कारणक दार्शनिक प्रश्नमे अछि।

20.10 सार्वभौम आ वर्गीकरण

न्याय-वैशेषिक वास्तविक सार्वभौम—जाति—स्वीकार करैत अछि। उदयन सार्वभौम मानबाक सीमा स्पष्ट करबाक प्रयास करैत छथि: प्रत्येक समानता अलग सार्वभौम नहि; अन्यथा अनावश्यक सत्ता-वृद्धि वा अनन्त प्रतिगमन हो सकैत अछि। वर्गीकरणक ई समस्या आधुनिक दर्शनमे सेहो परिचित अछि—कोन समानता वास्तविक प्रकार, कोन केवल सुविधाजनक वर्ग?

20.11 उदयनसँ गङ्गेश धरि

गङ्गेशक तत्त्वचिन्तामणि नव्य-न्यायक नूतन चरण आरम्भ करैत अछि, मुदा शून्यसँ नहि। उदयन आ पूर्ववर्ती न्यायीय परम्परा द्वारा निर्मित समस्या-संसार—प्रमाण, अनुमान, व्याप्ति, आत्मा, ईश्वर, पदार्थ, सम्बन्ध—गङ्गेशक पृष्ठभूमि अछि। गङ्गेशक नूतनता एहि विरासतकेँ अत्यन्त सूक्ष्म ज्ञानमीमांसात्मक भाषा आ विश्लेषणमे पुनर्गठित करबमे अछि।

20.12 समानान्तर दर्शन लेल उदयनक शिक्षा

उदयनसँ चारि पद्धतिगत शिक्षा विशेष महत्त्वपूर्ण अछि। पहिल—आस्थाक विषय सेहो तर्कक परीक्षणसँ बाहर नहि। दोसर—प्रतिपक्षकेँ कमजोर बनाकऽ हराएब नहि; बौद्ध आ मीमांसक आपत्तिक सबल रूपसँ सामना करू। तेसर—तत्त्वमीमांसा आ ज्ञानमीमांसा परस्पर जुड़ल; “की अछि”क दावा “कोना जानल” प्रश्न माँगैत अछि। चारिम—परम्पराक रक्षा तखन बौद्धिक होइत अछि जखन ओ आपत्तिसँ बदलय आ सूक्ष्म बनय।

पूर्वपक्ष: उदयनक ईश्वर-सिद्धि आज अप्रासंगिक?

उत्तरपक्ष: कोनो ऐतिहासिक तर्कक वर्तमान महत्त्व केवल ओकर निष्कर्ष आज स्वीकारल जाइत अछि की नहि, एहि पर निर्भर नहि। उदयन कारण, व्याख्या, अनुमानक सीमा, चेतन कर्ता, शास्त्रीय साक्ष्य आ प्रतिपक्षक भारक प्रश्न व्यवस्थित करैत छथि। आधुनिक दार्शनिक एहि तर्कसँ असहमत होइतहुँ ओकर संरचना सँ सीखि सकैत अछि।

20.13 ईश्वरसिद्धिक तर्क-रचना

उदयनक ईश्वर-विमर्श अनेक अनुमानक संरचना रखैत अछि; ओकरा ‘सभ वस्तुक निर्माता चाही’क एक पंक्ति धरि घटब अनुचित। कार्यता, आयोजन, शब्द, परम्परा आ नैतिक क्रमजकाँ भिन्न आधार अलग प्रतिज्ञा माँगैत अछि।

प्रत्येक तर्कक निष्कर्ष सेहो अलग शक्ति रखि सकैत—बुद्धिमान कारण, प्रथम संयोजक, विश्वसनीय वेद-वक्ता। एहि निष्कर्षसभसँ सर्वगुणसम्पन्न ईश्वर धरि बढ़बाक अतिरिक्त चरण स्पष्ट हो।

आलोचना आधुनिक विज्ञानक नाम मात्र नहि ले; उदयनक कारण-सिद्धान्त आ प्रमाणमीमांसा भीतर आपत्ति बनाबय। तहिना समर्थक विज्ञानक अज्ञात क्षेत्रकेँ तर्कक आसान आधार नहि बनाबय।

20.14 आत्मा आ स्मृतिक तर्क

स्मृति ‘हम ओ वस्तु देखलहुँ’ कहि पूर्व अनुभवक स्वामित्व जोड़ैत अछि। क्षणभंगुर ज्ञान-प्रवाहमे पहिल अनुभूति आ बादक स्मृति एक कर्ताक कोना—न्याय स्थायी आत्माक तर्क दैत अछि।

बौद्ध प्रतिपक्ष कारणगत प्रवाहसँ निरन्तरता बुझा सकैत अछि। प्रश्न ई जे स्वामित्वबोध स्वतन्त्र आत्मा सिद्ध करैत की स्मृति-प्रक्रियाक संरचना मात्र।

स्मृति त्रुटिपूर्ण होइत अछि; तथापि त्रुटि पहचानब लेल सेहो वर्तमान–अतीत सम्बन्ध चाही। दूनू पक्षक व्याख्यात्मक लागत तुलना कएल जाए।

20.15 नास्तिक प्रतिपक्षक सबल प्रस्तुति

ईश्वर-विरोधी मतकेँ नैतिक दोष वा जिद्द कहि देब तर्क नहि। जगतक स्वभाव, कर्म, अनादि परमाणु वा कारण-श्रृंखला सँ व्याख्या सम्भव—एहन प्रतिपक्ष अपन सबल रूपमे प्रस्तुत हो।

उदयनक उपलब्धि एहि प्रतिपक्षसँग तकनीकी संवादमे अछि। आधुनिक पाठक विजेता घोषित करबाक बदला प्रतिज्ञा, हेत्वाभास आ अनुत्तरित प्रश्न चिन्हित करय।

परम्परागत तर्कक अध्ययन विश्वास पुष्ट करबाक साधन मात्र नहि; तर्कक वैधता जाँचबाक सार्वजनिक अभ्यास। निष्कर्ष पाठकक प्रमाण-विवेचनपर निर्भर।

20.16 पूर्वपक्ष: मध्यकालीन ईश्वर-तर्क अप्रासंगिक

आधुनिक विज्ञानक बाद प्राचीन कारण-दर्शन बेकार—एहन धारणा तत्त्वमीमांसा आ विज्ञानक स्तर मिला दैत अछि। विज्ञान विशिष्ट प्रक्रियाक व्याख्या दैत; ‘किएक किछु अछि’, नियमक आधार, चेतना वा मूल्यक प्रश्न शेष रहि सकैत।

तथापि शेष प्रश्न देखिते प्राचीन उत्तर सत्य नहि। आधुनिक ज्ञान कारण, पदार्थ आ जीवन सम्बन्धी अनेक प्रतिज्ञा बदलि देलक; तर्क पुनः मूल्यांकित हो।

उदयनक स्थायी महत्त्व निष्कर्ष अचूक होयबमे नहि, सबल प्रतिपक्ष सामने औपचारिक कारण देबाक अनुशासनमे अछि।

अध्याय-निष्कर्ष

उदयनाचार्यक दर्शन न्याय-वैशेषिक परम्पराक एक उच्च बिन्दु अछि, जतय आत्मा, कारणता, ईश्वर, सार्वभौम आ प्रतिपक्ष-विमर्श एक-दोसरसँ जुड़ैत अछि। हुनक महत्त्व केवल धार्मिक निष्कर्षमे नहि, तर्कक सार्वजनिकता मे अछि—विश्वास कारण प्रस्तुत करय, आपत्ति सुने, प्रत्युत्तर दे, आ दार्शनिक कसौटी स्वीकार करय। समानान्तर दर्शन एहि बौद्धिक साहसकेँ अपन मिथिला-केन्द्रित पद्धतिक महत्त्वपूर्ण पूर्ववर्ती रूप मानैत अछि।

अध्याय-ग्रन्थसूची

उदयनाचार्य — न्यायकुसुमाञ्जलि।

उदयनाचार्य — आत्मतत्त्वविवेक।

उदयनाचार्य — किरणावली।

उदयनाचार्य — न्यायवार्त्तिकतात्पर्यपरिशुद्धि।

गौतम — न्यायसूत्र।

वात्स्यायन — न्यायभाष्य।

वाचस्पति मिश्र — न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका।

N. S. Dravid — Ātmatattvaviveka of Udayanācārya; Nyāyakusumāñjali of Udayanācārya (translations/studies).

Bimal Krishna Matilal — Logic, Language and Reality.

Internet Encyclopedia of Philosophy — “Nyāya”.

Stanford Encyclopedia of Philosophy — “Gaṅgeśa”; “Language and Testimony in Classical Indian Philosophy”.

अध्याय 21 – वाचस्पति मिश्र

भारतीय दर्शनक इतिहासमे वाचस्पति मिश्रक महत्त्व केवल एहि कारण नहि जे ओ अनेक दर्शन-परम्परासँ सम्बन्धित ग्रन्थपर व्याख्या कएलनि। हुनक महत्त्व एहि बातमे अछि जे भारतीय दार्शनिकता एक-दोसरासँ काटल बन्द कोठरीसभक समूह नहि, बल्कि सतत पारस्परिक पठन, विवाद, ग्रहण आ पुनर्व्याख्याक संसार छल—ई बात हुनक कृतित्व अत्यन्त स्पष्ट रूपसँ देखबैत अछि। समानान्तर दर्शन लेल वाचस्पति मिश्र बहुशास्त्रीय बौद्धिक अनुशासनक उदाहरण छथि।

21.1 बहुशास्त्रीयता: मतान्धताक विरुद्ध पद्धति

कोनो एक दर्शन-पद्धतिक भीतर रहि कऽ दोसर परम्पराकेँ केवल विरोधी रूपमे देखब सहज अछि। वाचस्पति मिश्रक बौद्धिक संसार एहि सरलताकेँ तोड़ैत अछि। न्याय, सांख्य, योग, मीमांसा आ वेदान्त सम्बन्धी ग्रन्थसभपर हुनक कार्य देखबैत अछि जे एक दार्शनिक परम्पराकेँ गम्भीरतासँ बुझबाक लेल ओकर पड़ोसी आ प्रतिपक्षी परम्परासभकेँ सेहो बुझब आवश्यक अछि।

एहि बहुशास्त्रीय पठनक अर्थ ई नहि जे सभ मत अन्ततः एकहि बात कहैत अछि। उलटे, भिन्नताकेँ ठीक-ठीक देखबाक क्षमता बढ़ैत अछि। सांख्यक पुरुष–प्रकृति द्वैत, वेदान्तक ब्रह्म-विमर्श, न्यायीय प्रमाणमीमांसा, योगक चित्त-वृत्ति आ मीमांसाक शब्द-प्रामाण्य—ई सभकेँ एकमे मिला देब बौद्धिक आलस्य होयत। वाचस्पति मिश्रक अध्ययन एहि विविधताकेँ सहन करबाक क्षमता सिखबैत अछि।

21.2 व्याख्या केवल पुनरुक्ति नहि

व्याख्याकारक कार्यकेँ कई बेर मूल लेखकक बात दोहराबयवला गौण कार्य मानल जाइत अछि। भारतीय शास्त्रीय परम्परामे ई धारणा बहुत अधूरी अछि। भाष्य, वार्तिक, टीका आ उपटीका अनेक बेर मूल सिद्धान्तक नूतन प्रश्न, सूक्ष्म भेद आ तर्क-विस्तारक स्थल बनैत अछि। वाचस्पति मिश्रक रचनात्मकता एहि व्याख्यात्मक परम्पराक भीतर देखबाक चाही।

व्याख्या तखन दर्शन बनैत अछि जखन पाठक कठिन पद स्पष्ट करैत अछि, विरोधी अर्थसभक परीक्षण करैत अछि, तर्कक रिक्त स्थान भरैत अछि, सम्भावित आपत्ति उठबैत अछि, आ मूल सिद्धान्तकेँ नूतन विवाद-सन्दर्भमे रखैत अछि। एहि अर्थमे व्याख्याकार परम्पराक सेवक मात्र नहि; परम्पराक सह-निर्माता सेहो भऽ सकैत अछि।

21.3 प्रमुख दार्शनिक क्षेत्र

वाचस्पति मिश्रसँ सम्बद्ध प्रसिद्ध कृतिसभमे सांख्यतत्त्वकौमुदी, तत्त्ववैशारदी, भामती, न्यायदर्शन सम्बन्धी तात्पर्य-टीका आ तत्त्वबिन्दु-जकाँ ग्रन्थ उल्लेखनीय छथि। एहि कृतिसभक विषय अलग-अलग अछि, मुदा एक समान प्रवृत्ति देखाइत अछि—दुरूह प्रश्नकेँ पद्धतिगत ढंगसँ खोलब।

सांख्यक प्रसंगमे प्रकृति, पुरुष, गुण आ मुक्तिक प्रश्न; योगक प्रसंगमे चित्त, वृत्ति, समाधि आ कैवल्य; वेदान्तमे ब्रह्म, आत्मा, अविद्या आ ज्ञान; न्यायमे प्रमाण, तर्क आ प्रतिपक्ष; भाषा-विमर्शमे शब्द आ अर्थ—ई सभ हुनक अध्ययन-क्षेत्रक विस्तार देखबैत अछि।

21.4 समानान्तर दर्शनक शिक्षा

समानान्तर दर्शन वाचस्पति मिश्रसँ एकटा महत्त्वपूर्ण पद्धति ग्रहण करैत अछि—अपन मतक सत्यता सिद्ध करबाक पहिने आन मतकेँ ओकर सबल रूपमे बुझू। न्याय पढ़ैत बौद्ध आपत्ति पढ़ू; वेदान्त पढ़ैत मीमांसा आ सांख्य पढ़ू; मार्क्स पढ़ैत उदारवाद; गांधी पढ़ैत आम्बेडकर; परम्परा पढ़ैत ओकर हाशिया।

बहुशास्त्रीयता तटस्थता नहि। अन्ततः निष्कर्ष देबाक आवश्यकता रहैत अछि। मुदा निष्कर्षक मूल्य तखन बढ़ैत अछि जखन ओ विरोधी पक्षक वास्तविक शक्ति देखलाक बाद देल गेल हो। एहि अर्थमे बहुशास्त्रीय अध्ययन बौद्धिक न्याय अछि।

21.5 व्याख्या, सत्ता आ परम्परा

प्रत्येक परम्परा अपन अधिकृत व्याख्या बनबैत अछि। कोन टीका पढ़ल जाए, कोन ग्रन्थ पाठ्यक्रममे, कोन मत ‘मुख्य’ कहल जाए—ई निर्णय ज्ञानक इतिहास प्रभावित करैत अछि। वाचस्पति मिश्रक बहुपरम्परागत उपस्थिति समानान्तर दर्शनकेँ याद दिअबैत अछि जे परम्परा एकरूप नहि; ओकर भीतर अनेक पठन सम्भव रहैत अछि।

तेँ इतिहास लिखैत समय केवल ‘मूल ग्रन्थ’ नहि, व्याख्यात्मक परम्परासभक मार्ग सेहो देखबाक चाही। विचारक प्रभाव कई बेर मूल सूत्रसँ कम, ओकर टीका-परम्परासँ बेसी फैलैत अछि।

पूर्वपक्ष: बहुशास्त्रीयता सँ दार्शनिक प्रतिबद्धता कमजोर होइत अछि

आपत्ति ई हो सकैत अछि जे अनेक परम्परा गम्भीरतासँ पढ़ला पर व्यक्ति अपन स्पष्ट दर्शन खो देत। उत्तर ई जे असली प्रतिबद्धता आलोचनासँ डरैत नहि। जे मत केवल विरोधी मत नहि सुनलाक कारण टिकैत अछि, ओकर शक्ति संदिग्ध अछि।

21.6 सर्वतन्त्रस्वतन्त्रताक दार्शनिक अर्थ

वाचस्पति मिश्रक बौद्धिक व्यक्तित्व बुझबाक लेल ‘सर्वतन्त्रस्वतन्त्र’ पद उपयोगी अछि, मुदा एकरा अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसामे बदलि देब उचित नहि। एकर ठोस अर्थ ई जे ओ न्याय, सांख्य, योग, मीमांसा आ वेदान्त-जकाँ भिन्न परम्पराक तकनीकी भाषा भीतर प्रवेश कऽ सकैत छथि। कोनो मतक विवेचन करैत समय ओ बाहरी आलोचकक सुविधाजनक भाषा नहि थोपैत छथि; मतक अपन प्रश्न, प्रमाण आ पारिभाषिक अनुशासनकेँ पहिने ग्रहण करैत छथि।

एहन बहुशास्त्रीय दक्षता समन्वयवादसँ भिन्न अछि। समन्वयवाद मतभेदकेँ अन्ततः एक कहि सकैत अछि; वाचस्पतिक लेखन मतभेदक वास्तविकता बनौने रखैत अछि। सांख्यमे पुरुष-प्रकृति, न्यायमे प्रमाण-प्रमेय, योगमे चित्तवृत्ति, आ अद्वैतमे अध्यास—ई सभ एक-दोसरक सरल पर्याय नहि। समानान्तर दर्शन लेल शिक्षा ई जे अनेक परम्परा पढ़बाक अर्थ ओकर भिन्नता मेटायब नहि, बल्कि प्रत्येककेँ ओकर सबल रूपमे बुझि साझा प्रश्नक धरातल खोजब होयत।

21.7 भाष्य, टीका आ मौलिकताक सम्बन्ध

आधुनिक पाठक प्रायः मौलिक ग्रन्थकेँ प्रधान आ टीका-भाष्यकेँ दोसर दर्जाक लेखन मानि लैत अछि। भारतीय शास्त्रीय परम्परामे ई विभाजन अपर्याप्त अछि। टीकाकार पाठक वाक्य खोलैत, आपत्ति व्यवस्थित करैत, अस्पष्ट पदक सीमा निश्चित करैत आ नूतन विवादक उत्तर दैत छथि। एहि क्रियामे व्याख्या स्वयं दार्शनिक सृजन बनैत अछि। वाचस्पतिक कृतिसभ एहि बातक उदाहरण छथि जे परम्पराक भीतर रहितो प्रश्नक संरचना बदली सकैत अछि।

मुदा भाष्यकारक अधिकार असीम नहि। व्याख्या मूल पाठक सम्भव अर्थ, अन्य उपलब्ध व्याख्या, आ दार्शनिक संगतिक कसौटीपर जाँचल जायत। जँ कोनो बादक टीका अपन सम्प्रदायगत निष्कर्ष मूल लेखकपर आरोपित करैत अछि, तँ पाठालोचन आ तुलनात्मक अध्ययन आवश्यक होइत अछि। एहि कारण समानान्तर पद्धति मूल सूत्र, आरम्भिक भाष्य, बादक टीका आ आधुनिक इतिहासकारक कथनकेँ एकहि स्तरक स्रोत नहि मानैत अछि।

21.8 तत्त्ववैशारदी आ चित्तक प्रश्न

योगपर वाचस्पतिक विवेचन चित्त, वृत्ति, संस्कार, क्लेश आ समाधि-जकाँ पदसभक परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट करबाक प्रयास करैत अछि। चित्त केवल आधुनिक अर्थक ‘मन’ नहि; ई अनुभव, स्मृति, प्रवृत्ति आ बन्धनक प्रक्रियासँ जुड़ल एक सूक्ष्म दार्शनिक उपकरण अछि। वृत्तिनिरोधकेँ चेतनाक विनाश मानलासँ योगक लक्ष्य विकृत होयत; प्रश्न ई अछि जे द्रष्टा आ चित्तक परिवर्तनशील रूपक भेद कोना प्रत्यक्ष हो।

एहि विश्लेषणकेँ आधुनिक मनोविज्ञानक पूर्वरूप कहि देब प्रमाणविहीन होयत। दुनू अनुशासनक लक्ष्य, पद्धति आ शब्दावली अलग अछि। तथापि संस्कार, ध्यान, अभ्यास आ आत्मपहिचानक प्रश्नपर संरचनात्मक संवाद सम्भव अछि। संवादक शर्त ई जे प्राचीन पदकेँ आधुनिक निदानक नाम नहि देल जाए आ आधुनिक अनुभवजन्य निष्कर्षकेँ शास्त्रीय वाक्यक प्रमाण नहि मानल जाए।

21.9 भामती परम्परा आ अविद्याक समस्या

अद्वैत व्याख्यामे अविद्या केवल जानकारीक अभाव नहि, अनुभवगत भेदकेँ अन्तिम सत्य मानबाक मूल भ्रमसँ जुड़ल अछि। मुदा अविद्या ककर आश्रित अछि, ओकर विषय की, आ ब्रह्मज्ञानसँ ओकर निवृत्ति कोना—एहि प्रश्नसभ बिना अद्वैतक तर्क अधूरा रहैत अछि। वाचस्पतिक भामती एहि विवादक दीर्घ परम्परामे महत्त्वपूर्ण पड़ाव अछि, कारण ओ सूत्रात्मक निष्कर्षक बदला आपत्ति आ उत्तरक विस्तृत संरचना प्रस्तुत करैत अछि।

समानान्तर दृष्टि एतय दू स्तर अलग रखैत अछि। आत्मपहिचानक भ्रम वास्तविक मानवीय समस्या भऽ सकैत अछि; मुदा सामाजिक उत्पीड़नकेँ केवल व्यक्तिक अज्ञान मानि लेब संस्थागत कारण ढाँकि देत। ज्ञानमुक्ति आ सामाजिक न्याय एक-दोसरक विकल्प नहि। आत्मबोध मनुष्यकेँ जन्माधारित अहंकारसँ मुक्त करय, तँ ओकर नैतिक परिणति व्यवहारिक समानतामे जाँचल जायत।

21.10 मतानुवर्तन आ आलोचनात्मक दूरी

वाचस्पतिक अध्ययनमे एक कठिन व्याख्यात्मक प्रश्न उठैत अछि: अनेक दर्शनपर लिखैत समय ओ प्रत्येक मतकेँ केवल प्रस्तुत करैत छथि, अथवा अपन स्वतंत्र स्थिति सेहो रखैत छथि? एकर उत्तर कृतिविशेषक निकट पाठ बिना नहि देल जा सकैत। लेखकक एक नाम देखिते सभ ग्रन्थमे एकहि अन्तिम मत खोजब सरल, मुदा जोखिमपूर्ण अछि। भाष्यक विधा प्रायः विवेचित परम्पराक प्रतिज्ञा भीतर तर्क करबाक अपेक्षा रखैत अछि।

तेँ बौद्धिक जीवनी आ ग्रन्थार्थ अलग प्रमाण माँगैत अछि। कोन कृति ककर भाष्य, कोन आपत्ति पूर्वपक्ष, कोन उत्तर सिद्धान्त, आ कोन वाक्य सम्पादक वा बादक परम्परासँ प्रभावित—ई प्रश्न क्रमशः जाँचल जाएत। एहि सावधानीसँ वाचस्पति ‘सभ दर्शनक एकता’क प्रतीक नहि, बल्कि निष्पक्ष पुनर्निर्माण, आन्तरिक आलोचना आ भाष्यात्मक मौलिकताक जटिल उदाहरण बनैत छथि।

अध्याय-निष्कर्ष

वाचस्पति मिश्रक दार्शनिक महत्त्व बहुशास्त्रीय पठन, व्याख्यात्मक सृजनशीलता आ परम्परासभक पारस्परिक संवादमे अछि। समानान्तर दर्शन एहि आदर्शकेँ अपनबैत अछि—एक विद्यालय, एक स्रोत, एक व्याख्या वा एक केन्द्रकेँ अन्तिम अधिकार नहि मानब; मतभेदकेँ नष्ट नहि, स्पष्ट करब; आ आलोचनात्मक पठनकेँ बौद्धिक निष्ठाक रूपमे स्वीकारब।

अध्याय-ग्रन्थसूची

वाचस्पति मिश्र — सांख्यतत्त्वकौमुदी।

वाचस्पति मिश्र — तत्त्ववैशारदी।

वाचस्पति मिश्र — भामती।

वाचस्पति मिश्र — न्यायदर्शन सम्बन्धी तात्पर्य-टीका।

वाचस्पति मिश्र — तत्त्वबिन्दु।

Surendranath Dasgupta — A History of Indian Philosophy.

Karl H. Potter — Encyclopedia of Indian Philosophies.

अध्याय 22 – गङ्गेश उपाध्याय

गङ्गेश उपाध्यायक तत्त्वचिन्तामणि भारतीय प्रमाणमीमांसाक इतिहासमे एक निर्णायक मोड़ प्रस्तुत करैत अछि। एहि ग्रन्थक चारि व्यापक विभाग—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान आ शब्द—न्यायीय प्रमाण-सिद्धान्तकेँ एहन सूक्ष्म विश्लेषणक स्तरपर लऽ जाइत अछि जे बादक नव्य-न्याय परम्पराक भाषा आ पद्धति गढ़बाक आधार बनल। आधुनिक शोध गङ्गेशकेँ चौदहम शताब्दीक मिथिलाक प्रमुख न्यायाचार्य आ नव्य-न्यायक आरम्भिक केन्द्रीय व्यक्तित्व मानैत अछि।

22.1 तत्त्वचिन्तामणि: प्रमाणक पुनर्परीक्षण

तत्त्वचिन्तामणि पुरान न्याय-दर्शनक केवल सारांश नहि। गङ्गेश पूर्ववर्ती न्याय परम्परा, विशेषत: उदयन आदि द्वारा विकसित प्रश्नसभकेँ ग्रहण कऽ अनेक मूल अवधारणाक पुनर्परीक्षण करैत छथि। ‘ज्ञान’, ‘यथार्थता’, ‘प्रमाण’, ‘व्याप्ति’, ‘अनुमान’, ‘शब्द’—ई सभ सामान्य शब्द नहि रहि जाइत; प्रत्येकक शर्त, सीमा आ अपवाद सूक्ष्मतासँ निर्धारित होइत अछि।

एहि पद्धतिक एकटा मूल गुण अछि—परिभाषा एहन हो जे अतिव्याप्ति आ अव्याप्ति सँ बचय। जँ परिभाषा ओहि वस्तुकेँ सेहो समेटि ले जे विषय नहि, तँ अतिव्याप्ति; जँ विषयक किछु सही उदाहरण बाहर छोड़ि दे, तँ अव्याप्ति। नव्य-न्यायीय परिभाषा-शिल्पक पाछाँ एहि प्रकारक अनुशासन सक्रिय अछि।

22.2 प्रत्यक्ष: अनुभवक संरचना

प्रत्यक्षक प्रश्न केवल ‘आँखिसँ देखल’ धरि सीमित नहि। ज्ञाता, इन्द्रिय, विषय, सम्पर्क, बोध आ बोधक यथार्थताक सम्बन्ध विश्लेषण माँगैत अछि। भ्रमक उदाहरण एहि कारण महत्त्वपूर्ण होइत अछि—यदि शुक्तिमे रजत देखाइत अछि, तँ गलत बोधक संरचना की? जे उपस्थित नहि, ओकर गुण वस्तुपर कोना आरोपित भेल?

एहि प्रश्नसभसँ एकटा सामान्य ज्ञानमीमांसक शिक्षा निकलैत अछि: अनुभवक निश्चितता अनुभव होयब मात्रसँ सिद्ध नहि। अनुभवक कारण-रचना, प्रसंग आ वस्तुसँ सम्बन्ध देखबाक आवश्यकता अछि।

22.3 अनुमान आ व्याप्ति

गङ्गेशक अनुमान-विमर्शक केन्द्रमे व्याप्ति—हेतु आ साध्यक अविनाभाव सम्बन्ध—विशेष महत्त्व रखैत अछि। धुआँसँ आगिक अनुमान तखन उचित जखन धुआँ आ आगिक सम्बन्धकेँ केवल संयोग नहि, व्यवस्थित सम्बन्धक रूपमे जानल जाए। प्रश्न अछि—एहन सार्वत्रिक सम्बन्ध कोना जानल जाए? अपवादक सम्भावना कोना हटत? उपाधि अर्थात् छिपल शर्त अनुमानकेँ कोना बिगाड़ि सकैत अछि?

ई प्रश्न आधुनिक आगमन-समस्या समान नहि, मुदा समस्या-संरचनात्मक तुलना उपयोगी अछि। दुनू क्षेत्रमे सीमित ज्ञात उदाहरणसँ व्यापक सम्बन्धक औचित्य प्रश्न बनैत अछि। समानान्तर दर्शन एहि तुलनाक उपयोग करैत अछि, ऐतिहासिक समरूपता घोषित नहि करैत।

22.4 शब्द आ विश्वसनीयता

मनुष्यक अधिकांश ज्ञान भाषिक संप्रेषणसँ अबैत अछि। तेँ शब्दप्रमाण केवल धार्मिक ग्रन्थक प्रश्न नहि; सामाजिक ज्ञानक मूल प्रश्न अछि। कथन ककरा कारण ज्ञान दैत अछि? वक्ता वा स्रोतक विश्वसनीयता कखन मानल जाए? शब्दक अर्थ कोना निश्चित? वाक्यक अभिप्राय कोना बुझल जाए?

एहि विमर्शक आधुनिक उपयोग समाचार, न्यायालय, शैक्षणिक लेख, विशेषज्ञ मत आ डिजिटल माध्यम धरि फैलि सकैत अछि। गङ्गेशक सिद्धान्तकेँ सीधा आधुनिक संचार-सिद्धान्त मानब गलत होयत, मुदा विश्वसनीय भाषिक ज्ञानक समस्या निश्चित रूपसँ साझा दार्शनिक प्रश्न अछि।

22.5 नव्य-न्यायक भाषिक मोड़

गङ्गेशक लेखनसँ एकटा एहन तकनीकी दार्शनिक भाषा विकसित होयत लागल जाहिमे सम्बन्ध, गुण, अवच्छेदक, प्रतियोगिता, विषयता आ ज्ञानक सूक्ष्म स्थितिसभ व्यक्त कएल जा सकय। एहि भाषाक कठिनता प्रसिद्ध अछि, मुदा ओकर उद्देश्य केवल विद्वत्ता प्रदर्शन नहि; अस्पष्ट वाक्यसँ उत्पन्न भ्रम कम करब अछि।

समानान्तर दर्शन गङ्गेशसँ एहि अर्थमे प्रेरणा लैत अछि—सूक्ष्म भेद कखनो व्यर्थ शब्दक्रीड़ा नहि; ओ गलत सामान्यीकरण रोकबाक साधन भऽ सकैत अछि। मुदा भाषा एतेक गूढ़ हो जे संवाद समाप्त भऽ जाए, तँ पद्धति अपन सामाजिक उपयोग खो सकैत अछि।

22.6 मिथिला आ ज्ञानक भूगोल

गङ्गेशकेँ मिथिलाक बौद्धिक इतिहासमे रखब गौरवक प्रश्न मात्र नहि। प्रश्न ई अछि जे कोन प्रकारक शैक्षणिक संस्था, शास्त्रार्थ-संस्कार, पाण्डुलिपि-परम्परा आ गुरु-शिष्य नेटवर्क एहन दर्शनक विकास सम्भव बनौलक। ज्ञान व्यक्तिक प्रतिभासँ उत्पन्न होइत अछि, मुदा संस्था, भाषा आ विवाद-संस्कृति ओकर रूप प्रभावित करैत अछि।

समानान्तर इतिहास-दृष्टि एहि कारण दार्शनिकक जीवनीसँ आगाँ ज्ञानक सामाजिक आधार देखैत अछि।

पूर्वपक्ष: अत्यधिक सूक्ष्मता दर्शनकेँ जीवनसँ काटि दैत अछि

एहि आपत्तिमे किछु सत्य अछि। तकनीकी भाषा यदि केवल बन्द विद्वत् समुदायक संकेत बनि जाए, तँ सार्वजनिक दर्शन कठिन होइत अछि। मुदा उत्तर ई नहि जे सूक्ष्मता छोड़ि दी। उचित मार्ग अछि—जटिल विश्लेषण राखू, संगहि ओकर स्पष्ट सामान्य भाषा सेहो विकसित करू।

22.7 तत्त्वचिन्तामणिक चारि प्रश्न-क्षेत्र

तत्त्वचिन्तामणि प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान आ शब्द—न्यायसम्मत चारि प्रमाण—क आधारपर व्यवस्थित अछि। ई विभाजन केवल ग्रन्थक बाहरी अनुक्रम नहि; प्रत्येक खण्डमे ज्ञानक उत्पत्ति, विषय, प्रामाण्य, त्रुटि आ भाषिक अभिव्यक्तिक अलग समस्या खुलैत अछि। प्रत्यक्षमे इन्द्रिय-विषय सम्बन्ध, अनुमानमे व्याप्ति आ परामर्श, उपमानमे सादृश्यजन्य बोध, आ शब्दमे वाक्यार्थ तथा विश्वसनीयताक प्रश्न सामने अबैत अछि।

चारि प्रमाणक चर्चा देखबैत अछि जे ‘हम कोना जानैत छी’क एकमात्र उत्तर नहि। आँखिसँ देखल ज्ञान आ प्रशिक्षित वक्ताक कथन समान प्रक्रिया नहि, तथापि दुनू जाँच योग्य ज्ञान दे सकैत अछि। बहुप्रमाणीय

विवेकवादक आरम्भिक आधार एतहि अछि: प्रमाण अनेक, मुदा मनमाना नहि; प्रत्येकक साधन, उचित विषय आ विफलताक विशिष्ट रूप अछि।

22.8 व्याप्ति: पुनरावृत्तिसँ अधिक

अनुमानक हृदय व्याप्ति अछि—हेतु आ साध्यक एहन अविनाभाव सम्बन्ध जकर आधारपर ज्ञात चिन्हसँ अज्ञात निष्कर्ष धरि पहुँचल जा सकय। केवल किछु बेर धूम संग आगि देखब पर्याप्त नहि, कारण आकस्मिक सहघटना सार्वत्रिक सम्बन्ध सिद्ध नहि करैत अछि। विपरीत उदाहरण, उपाधि, प्रसंग आ हेतुक वास्तविक प्रासंगिकता जाँचब आवश्यक अछि।

गङ्गेशक विश्लेषण अनुमानकेँ यान्त्रिक सूत्र नहि मानैत। ज्ञात व्याप्तिकेँ पक्षपर लागू करबाक मानसिक प्रक्रिया, स्मृति आ निर्णायक बोधक सम्बन्ध सेहो महत्त्वपूर्ण अछि। आधुनिक पाठक लेल शिक्षा ई जे सहसम्बन्ध तुरन्त कारण वा अनिवार्य सम्बन्ध नहि। आँकड़ा उपयोगी अछि, मुदा नमूना, वैकल्पिक कारण, मापन आ प्रतिवादक परीक्षा बिना निष्कर्ष कमजोर रहत। ई आधुनिक विज्ञानक समानता नहि, तर्कीय सावधानीक तुलनीय रूप अछि।

22.9 अवच्छेदक आ सम्बन्धक स्पष्टता

सामान्य भाषामे ‘किछु ककरो संग सम्बन्धित अछि’ कहब सहज, मुदा दार्शनिक विवादमे सम्बन्धक प्रकार अस्पष्ट रहला पर भ्रम होइत अछि। गुण द्रव्यमे कोन प्रकारसँ अछि, ज्ञानक विषय ज्ञानसँ कोना सम्बन्धित, अभाव कोन अधिकरणमे मानल जाए—एहि प्रश्नसभ लेल सीमा-निर्धारक पदावली आवश्यक भेल। अवच्छेदकक भाषा दाबी कोन वस्तु, धर्म वा सम्बन्ध धरि सीमित अछि से बतबैत अछि।

एहि सूक्ष्मता अतिरिक्त शब्दाडम्बर नहि, जँ ओ वास्तविक अस्पष्टता दूर करैत हो। मुदा तकनीकी पद स्वयं प्रमाण नहि। पदावली एतेक जटिल भऽ जाए जे प्रतिपक्ष मूल दाबी बुझि नहि सकय, तँ संवाद विफल होयत। समानान्तर दर्शन दू कसौटी रखैत अछि: तकनीकी भाषा अर्थक आवश्यक भेद बचबय, आ प्रत्येक तकनीकी कथन साधारण व्याख्या तथा उदाहरणमे फेर प्रस्तुत कएल जा सकय।

22.10 अभावक ज्ञान

‘मेजपर पुस्तक नहि अछि’—एहन नकारात्मक ज्ञान कोना सम्भव? हम अनुपस्थित वस्तु देखैत छी, अथवा उपयुक्त स्थानक प्रत्यक्ष आ अपेक्षाक विफलतासँ अभाव बुझैत छी? न्याय परम्परामे अभावकेँ वास्तविक पदार्थ-श्रेणी रूपमे ग्रहण करबाक दिशा विकसित भेल, मुदा अभावक ज्ञानक साधन आ स्वरूपपर सूक्ष्म विवाद रहल। गङ्गेशीय विश्लेषण नकारात्मक कथनकेँ केवल भाषिक सुविधा मानि टारैत नहि।

अभाव-ज्ञानक सामाजिक महत्त्व सेहो अछि। अभिलेखमे नाम नहि भेटब ई प्रमाण भऽ सकैत अछि, मुदा ओकर अर्थ तुरन्त ‘घटना नहि भेल’ नहि। अभिलेख बनबाक प्रथा, संरक्षण, पहुँच आ सत्ता जाँचल जाएत। योग्य खोजक बाद अनुपस्थिति प्रमाणक भार बदलि सकैत अछि; अव्यवस्थित वा पक्षपाती अभिलेखमे मौन कमजोर प्रमाण होयत। न्यायीय भेदबुद्धि इतिहासक स्रोत-समीक्षामे एहन सावधानी प्रेरित करैत अछि।

22.11 प्रामाण्य आ त्रुटि-संशोधन

ज्ञानक सत्यता केना निश्चित होइत अछि—ज्ञान स्वयं अपन प्रामाण्य प्रकट करैत अछि, अथवा बादक सफल प्रवृत्ति आ पुष्टिसँ प्रामाण्य ज्ञात होइत अछि? न्याय परम्परा परतःप्रामाण्यक पक्षमे कारण, गुण-दोष आ फलदायी प्रवृत्तिक भूमिका देखैत अछि। एहि दृष्टिमे केवल ‘हमरा स्पष्ट लगैत अछि’ पर्याप्त नहि; ज्ञान उत्पन्न करयवला प्रक्रिया विश्वसनीय छल की नहि से जाँच आवश्यक अछि।

एहि सिद्धान्तक आधुनिक संस्थागत रूप सहकर्मी समीक्षा, पुनर्परीक्षण, अपील आ सार्वजनिक कारणमे देखल जा सकैत अछि, यद्यपि ई सभ न्यायशास्त्रक प्रत्यक्ष अनुवाद नहि। महत्त्वपूर्ण सूत्र ई जे त्रुटि सम्भव मानब ज्ञान त्यागब नहि। बल्कि त्रुटि चिन्हबाक मार्ग—विरोधी प्रमाण, असफल व्यवहार, दोषपूर्ण साधन, अविश्वसनीय वक्ता—स्पष्ट करब ज्ञानकेँ अधिक उत्तरदायी बनबैत अछि।

अध्याय-निष्कर्ष

गङ्गेश उपाध्यायक महत्त्व प्रमाणमीमांसाक चारि क्षेत्रक पुनर्विश्लेषण, अनुमान–व्याप्तिक सूक्ष्मता, भाषिक ज्ञानक परीक्षण आ नव्य-न्यायीय विश्लेषण-भाषाक विकासमे अछि। समानान्तर दर्शन हुनक पद्धतिसँ एकटा

मूल सिद्धान्त ग्रहण करैत अछि—अस्पष्टता विचारक शत्रु हो सकैत अछि; परिभाषा, सम्बन्ध आ प्रमाणक सूक्ष्म परीक्षण न्यायपूर्ण निष्कर्षक आधार बनि सकैत अछि।

अध्याय-ग्रन्थसूची

गङ्गेश उपाध्याय — तत्त्वचिन्तामणि।

उदयनाचार्य — न्यायकुसुमाञ्जलि; आत्मतत्त्वविवेक।

Dinesh Chandra Bhattacharya — History of Navya-Nyāya in Mithilā.

Bimal Krishna Matilal — Logic, Language and Reality.

Stephen H. Phillips — Epistemology in Classical India.

Jonardon Ganeri — Philosophy in Classical India; The Lost Age of Reason.

अध्याय 23 – नव्य-न्याय: भाषाक सूक्ष्म अनुशासन

नव्य-न्याय भारतीय दर्शनमे केवल एक नूतन विद्यालय नहि, दार्शनिक विश्लेषणक एक विशिष्ट भाषा आ पद्धतिक विकास अछि। गङ्गेश उपाध्यायक बाद एहि परम्परामे अवधारणासभक सम्बन्ध एतेक सूक्ष्मतासँ व्यक्त कएल गेल जे सामान्य संस्कृत दार्शनिक गद्यसँ अलग एक तकनीकी विश्लेषण-शैली बनि गेल।

23.1 कठिन भाषा किएक?

जँ हम कही—‘राम घट देखैत अछि’—सामान्य संप्रेषण लेल वाक्य पर्याप्त अछि। मुदा दार्शनिक विश्लेषण पूछि सकैत अछि: ज्ञानक विषय की? घट स्वयं, घटत्व, विशेष घट, कि घटक कोनो गुण? ज्ञाता आ ज्ञेयक सम्बन्ध कोन प्रकारक? ज्ञानमे वस्तुक उपस्थितिक सीमा की? स्मृति आ प्रत्यक्षक भेद कतेक?

जखन प्रश्न सूक्ष्म होइत अछि, सामान्य भाषा कई बेर अस्पष्ट साबित होइत अछि। नव्य-न्याय एहि अस्पष्टता कम करबाक लेल सम्बन्धसभकेँ क्रमबद्ध भाषा दैत अछि।

23.2 अवच्छेद, सम्बन्ध आ सीमा

नव्य-न्यायीय विश्लेषणक एक प्रमुख प्रवृत्ति अछि—कथन ककरा द्वारा, कोन सम्बन्धसँ, कोन सीमा धरि सत्य अछि से स्पष्ट करब। कोनो गुण कोन वस्तुमे, कोन सम्बन्धसँ, कोन विशिष्टतासहित उपस्थित—ई प्रश्न बिना सीमा स्पष्ट कएने भ्रम पैदा करैत अछि।

एहि प्रकारक भाषा आधुनिक औपचारिक तर्कक समान नहि, मुदा दुनूक साझा प्रेरणा स्पष्टता अछि। तुलनात्मक दर्शनक नियम अनुसार समस्या-संरचनात्मक समानता मानल जा सकैत अछि, ऐतिहासिक समानता नहि।

23.3 परिभाषा आ दोष

नव्य-न्याय परिभाषाकेँ अत्यन्त कठोर कसौटी पर जाँचैत अछि। अव्याप्ति, अतिव्याप्ति आ असम्भवता-जकाँ दोष केवल शब्दक खेल नहि; ई देखबैत अछि जे परिभाषा वास्तविक उदाहरणसभपर टिकैत अछि की नहि।

समकालीन सार्वजनिक विमर्शमे एहि पद्धतिक सीधा बौद्धिक लाभ अछि। ‘राष्ट्र’, ‘धर्म’, ‘हिंसा’, ‘भ्रष्टाचार’, ‘स्वतंत्रता’, ‘अल्पसंख्यक’, ‘वैज्ञानिक’ जकाँ शब्द बिना स्पष्ट परिभाषाक बहसमे उपयोग होइत अछि। परिभाषा बदलैत रहला पर निष्कर्ष सेहो भ्रमपूर्ण होइत अछि।

23.4 नव्य-न्याय आ मिथिला

मिथिला नव्य-न्यायक विकासक प्रमुख केन्द्रसभमे एक रहल। गङ्गेशक बाद न्यायीय अध्ययनक जटिल परम्परा एतय विकसित भेल, बादमे नवद्वीप सहित अन्य केन्द्रसभमे सेहो विस्तार पाओल। एहि इतिहासकेँ एक क्षेत्रक निजी सम्पत्ति बनायब अनुचित; बौद्धिक परम्परा यात्रा करैत अछि, विद्यार्थी आ पाण्डुलिपि केन्द्र बदलैत अछि, आ भाषा नूतन रूप लैत अछि।

समानान्तर दृष्टि एतय क्षेत्रीय योगदान स्वीकारैत अछि, मुदा अतिरंजित स्वामित्व-दाबी नहि करैत।

23.5 सूक्ष्मता आ संप्रेषणक तनाव

नव्य-न्यायक आलोचना ई रहल अछि जे एकर तकनीकी भाषा अत्यन्त कठिन भऽ गेल। एहि आलोचनाकेँ हल्का नहि लेबाक चाही। दर्शन जँ केवल प्रशिक्षित विशेषज्ञक बीच सीमित भऽ जाए, तँ सामाजिक संवाद घटैत अछि।

मुदा कठिनताक दोसर पक्ष सेहो अछि। गणित, विधिशास्त्र, चिकित्सा, संगणक विज्ञान—सभ क्षेत्र तकनीकी भाषा बनबैत अछि कारण सामान्य शब्द कखनो पर्याप्त नहि। प्रश्न ‘कठिन भाषा चाही की नहि’ नहि; प्रश्न अछि—कठिनता विषयक आवश्यकता सँ उत्पन्न अछि की प्रतिष्ठा प्रदर्शनसँ?

समानान्तर दर्शन दू स्तर प्रस्तावित करैत अछि: विशेषज्ञ विश्लेषणमे पूर्ण सूक्ष्मता, सार्वजनिक संवादमे स्पष्ट अनुवाद।

23.6 डिजिटल युगमे नव्य-न्यायीय शिक्षा

डिजिटल माध्यममे कथन छोट, तीव्र आ प्रसंगहीन होइत अछि। एक शब्दक अर्थ बदलि विवाद उत्पन्न होइत अछि। एतय नव्य-न्यायक अनुशासन स्मरणीय अछि—कथनक विषय, सीमा, सम्बन्ध, अपवाद आ पूर्वधारणा स्पष्ट करू।

ई नव्य-न्यायकेँ आधुनिक ‘तथ्य-जाँच’ बना देब नहि; बल्कि एक प्राचीन विश्लेषण-परम्परासँ आधुनिक बौद्धिक अनुशासन लेल शिक्षा लेब अछि।

पूर्वपक्ष: अत्यधिक विश्लेषण वास्तविक जीवनक जटिलता नष्ट करैत अछि

कखनो सूक्ष्म विभाजन जीवनक समग्र अनुभव खण्डित कऽ सकैत अछि। उत्तर ई जे विश्लेषण अन्तिम दृष्टि नहि; उपकरण अछि। भाग बुझि फेर समग्रतामे लौटब आवश्यक।

23.7 नव्य-न्यायीय वाक्यक आन्तरिक नकाशा

नव्य-न्यायीय भाषा दाबीकेँ घटकमे तोड़ैत अछि: विषय की, ओकर धर्म की, सम्बन्ध कोन प्रकारक, सम्बन्धक सीमा की, आ निषेध ककर विरोधी अछि। साधारण वाक्य ‘घट नील अछि’ व्यवहारमे पर्याप्त, मुदा जँ विवाद ई हो जे नीलता घटमे समवायसँ अछि की कोनो अन्य सम्बन्धसँ, तँ अतिरिक्त स्पष्टता चाही। एहि स्पष्टताक लेल तकनीकी पद दार्शनिक नकाशा बनबैत अछि।

नकाशाक मूल्य तखन अछि जखन ओ अस्पष्टता घटबय। एकहि शब्द अलग स्तरपर प्रयुक्त भेला सँ उत्पन्न छल-कपट, विषय बदलि देब, अथवा सामान्य कथनसँ अपवाद छिपायब कठिन होइत अछि। मुदा नकाशा भूभाग नहि: औपचारिक विश्लेषण अनुभव, ऐतिहासिक प्रसंग आ नैतिक परिणामक स्थान नहि लऽ सकैत। नव्य-न्याय समानान्तर पद्धतिक एक उपकरण अछि, सम्पूर्ण पद्धति नहि।

23.8 निषेध, प्रतियोगी आ अधिकरण

अभावक कथनमे तीन प्रश्न विशेष महत्त्वपूर्ण होइत अछि: कोन वस्तुक अभाव, कतय अभाव, आ कोन सम्बन्धक दृष्टिसँ अभाव? आँगनमे वृक्ष नहि कहला पर आँगन अधिकरण, वृक्ष प्रतियोगी, आ निर्दिष्ट सम्बन्ध अभावक सीमा बनैत अछि। ई भेद बिना ‘नहि अछि’क दाबी अनावश्यक रूपेँ व्यापक भऽ सकैत अछि।

सार्वजनिक विवादमे एहि उपकरणक उपयोग स्पष्ट अछि। ‘एहि नीतिसँ लाभ नहि भेल’ कहला पर पूछल जाएत—ककरा लाभ नहि, कोन अवधिमे, कोन सूचकपर, आ कोन तुलनाक आधारपर? अस्पष्ट निषेध भावनात्मक रूपसँ शक्तिशाली, मुदा प्रमाणीय रूपसँ कमजोर हो सकैत अछि। नव्य-न्यायीय अनुशासन नकारात्मक दाबीकेँ माप, क्षेत्र आ प्रतिपक्षसँ जोड़ैत अछि।

23.9 परिष्कार: परिभाषाक क्रमिक सुधार

दार्शनिक परिभाषा पहिल प्रयत्नमे पूर्ण होएब आवश्यक नहि। प्रतिपक्ष अव्याप्ति देखाबय—जाहि वस्तुपर परिभाषा लागू होयबाक चाही ओ छुटि गेल; अतिव्याप्ति देखाबय—जाहि पर लागू नहि होयबाक चाही ओहो

समा गेल; अथवा असम्भवता देखाबय। तकर बाद परिभाषा सुधारल जाए। एहि क्रमिक प्रक्रियाकेँ परिष्कार कहि सकैत छी।

परिष्कार हार मानब नहि, बौद्धिक प्रगति अछि। जँ नूतन उदाहरण पुरान परिभाषा तोड़ैत अछि, तँ उदाहरणकेँ दबेबाक बदला परिभाषा बदलल जाए। मुदा प्रत्येक आपत्तिपर अपवाद जोड़ैत-जोड़ैत परिभाषा अनुपयोगी सेहो भऽ सकैत अछि। तेँ सरलता, व्याख्यात्मक शक्ति आ प्रतिवाद सहबाक क्षमता तीनू जाँचल जाएत।

23.10 शास्त्रार्थमे दायित्वक वितरण

ककरा प्रमाण देबाक दायित्व अछि? जे सकारात्मक दाबी करैत अछि ओकरा कारण देब पड़त, मुदा प्रतिपक्ष सेहो केवल अनन्त संशय उठाकऽ मुक्त नहि। जँ ओ दाबीक विशिष्ट दोष बतबैत अछि तँ दोषक उदाहरण वा तर्क देत। नव्य-न्यायीय विवादपरम्परा प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण आ उपाधि स्पष्ट करैत दायित्वक वितरण सिखबैत अछि।

डिजिटल बहसमे प्रायः स्रोत माँगलाक बाद असम्बद्ध लिंक, अथवा प्रत्येक प्रमाणक बाद नूतन शर्त जोड़ि चर्चा अनन्त कएल जाइत अछि। ई विवेकपूर्ण संशय नहि, प्रमाण-दायित्वसँ पलायन भऽ सकैत अछि। अनुशासित संवाद पहिने तय करत जे कोन दाबी पर की प्रकारक प्रमाण पर्याप्त होयत आ कोन प्रतिवाद निर्णय बदलि सकैत अछि।

23.11 अनुवादक कठिनाई

नव्य-न्यायक पदसभक आधुनिक भाषा मे एक-शब्दीय अनुवाद प्रायः भ्रामक होइत अछि। ‘अवच्छेदक’, ‘प्रकारता’, ‘विशेष्यता’, ‘प्रतियोगिता’ वा ‘अनुयोगिता’क अर्थ कृति आ विवादक प्रसंगसँ खुलैत अछि। केवल अंग्रेजी पर्याय देलासँ अवधारणा स्पष्ट नहि होइत; कखनो मूल पद, कार्यात्मक परिभाषा आ उदाहरण तीनू राखब आवश्यक अछि।

मैथिलीमे नव्य-न्याय लिखबाक चुनौती अवसर सेहो अछि। जनभाषामे उदाहरण देला सँ तकनीकी पदक वास्तविक काम सामने अबैत अछि। जँ अवधारणा केवल संस्कृत सूत्र वा अंग्रेजी टिप्पणीमे बुझाइत हो, तँ

सम्भव अछि जे ओकर कार्य एखन स्पष्ट नहि भेल। अनुवाद एहि अर्थमे ज्ञानक परीक्षा अछि, शब्द-बदली मात्र नहि।

अध्याय-निष्कर्ष

नव्य-न्यायक महत्त्व भाषाक सूक्ष्म अनुशासन, परिभाषाक कठोर परीक्षण आ सम्बन्ध-स्पष्टतामे अछि। समानान्तर दर्शन एहि परम्परासँ सटीकता ग्रहण करैत अछि, मुदा संप्रेषणकेँ समान महत्त्व दैत अछि। सूक्ष्मता बिना विचार भ्रमपूर्ण; संप्रेषण बिना सूक्ष्मता निष्प्रभावी।

अध्याय-ग्रन्थसूची

गङ्गेश उपाध्याय — तत्त्वचिन्तामणि।

रघुनाथ शिरोमणि — नव्य-न्याय सम्बन्धी चयनित ग्रन्थ।

Dinesh Chandra Bhattacharya — History of Navya-Nyāya in Mithilā.

Bimal Krishna Matilal — Logic, Language and Reality.

Jonardon Ganeri — Philosophy in Classical India.

अध्याय 24 – लोक, शास्त्र आ समानान्तर मिथिला

मिथिलाक दर्शन केवल संस्कृत पोथी, औपचारिक शास्त्रार्थ वा विख्यात आचार्यसभमे सीमित नहि। लोकगीत, कहबी, कथा, संस्कार, पाबनि-तिहार, कृषिजीवन, स्त्री-अनुभव, पारिवारिक सम्बन्ध, नदी–जल–भूमि सम्बन्धी व्यवहारज्ञान—ई सभ मानवजीवनक मूल्य, समय, देह, प्रकृति, सम्बन्ध आ न्याय सम्बन्धी धारणासभ धारण करैत अछि। एहि सामग्रीकेँ बिना परीक्षण ‘दर्शन’ घोषित करब उचित नहि, मुदा ओकरा दर्शनक योग्य सामग्री न मानब सेहो अनुचित।

24.1 लोकज्ञानक दार्शनिक स्थिति

लोकज्ञान प्रायः लिखित सिद्धान्तक रूपमे नहि अबैत। ओ व्यवहार, गीत, कथा, कहबी वा रीति रूपमे उपस्थित होइत अछि। एहि कारण ओकर दार्शनिक पुनर्निर्माणमे विशेष सावधानी चाही। शोधकर्ता लोककथासँ जे सिद्धान्त निकालैत अछि, ओ सदैव लोकसमुदायक आत्मवर्णन नहि हो सकैत अछि।

तेँ समानान्तर पद्धति दू स्तर अलग करैत अछि—लोकस्रोत वास्तवमे की कहैत अछि, आ दार्शनिक विश्लेषक ओकर अर्थ की प्रस्तावित करैत अछि। दुनूकेँ मिला देब स्रोतक अपमान होयत।

24.2 स्त्री-अनुभव आ घरेलू संसार

औपचारिक शास्त्रीय ग्रन्थसभ प्रायः सार्वजनिक, अनुष्ठानिक अथवा दार्शनिक संस्थाक भाषा बोलैत छथि। लोकगीत आ घरेलू परम्परामे विवाह, विरह, मातृत्व, श्रम, सम्पत्ति, पीड़ा, देह, परदेश, पारिवारिक सत्ता आ स्त्रीक स्वायत्तताक अनुभव भिन्न स्वरमे अबैत अछि।

एहि स्रोतसभकेँ केवल ‘लोकसाहित्य’ कहि सौन्दर्यक क्षेत्रमे सीमित करब पर्याप्त नहि। ओ सामाजिक नैतिकता आ सत्ता-संरचनाक दस्तावेज सेहो भऽ सकैत अछि। मुदा प्रत्येक गीतकेँ सीधा ऐतिहासिक तथ्य मानब अनुचित; विधा, प्रसंग आ प्रदर्शनक नियम बुझब आवश्यक।

24.3 पाबनि, प्रकृति आ समय

कृषि-आधारित समाजमे ऋतु, वर्षा, नदी, माटि, सूर्य, चन्द्र, फसल आ पशु मात्र आर्थिक संसाधन नहि; समय, पवित्रता आ सामुदायिक जीवनक संरचना बनबैत अछि। पाबनि-तिहार प्रकृतिक संग मानवीय सम्बन्धक मूल्यात्मक रूप व्यक्त करैत अछि।

आधुनिक पर्यावरण-दर्शन एहि स्रोतसभसँ संवाद कऽ सकैत अछि, मुदा रोमानीकरण सँ बचबाक चाही। पारम्परिक व्यवहारसभ पर्यावरण-सम्मत सेहो भऽ सकैत अछि, पर्यावरण-विरोधी सेहो। परम्परा स्वयं प्रमाण नहि।

24.4 शास्त्र बनाम लोक: झूठा द्वन्द्व

‘शास्त्र दमनकारी, लोक मुक्तिदायक’ अथवा ‘शास्त्र सत्य, लोक अज्ञान’—दुनू अत्यधिक सरल विभाजन अछि। लोकसमाजमे जाति, लिंग, अन्धविश्वास आ बहिष्कार उपस्थित भऽ सकैत अछि; शास्त्रीय परम्परामे आत्मालोचना, तर्क आ मुक्ति-विमर्श उपस्थित भऽ सकैत अछि।

समानान्तर दर्शन दुनू पर समान आलोचनात्मक कसौटी लागू करैत अछि: कोन दावा? कोन प्रमाण? कोन नैतिक परिणाम? ककर आवाज? ककर मौन?

24.5 भाषा आ ज्ञानक अधिकार

जँ दर्शन केवल संस्कृत, अंग्रेजी अथवा विश्वविद्यालयीय भाषा मे मान्य हो, तँ स्थानीय भाषाक अनुभव स्वतः निम्न दर्जा पबैत अछि। मैथिलीमे दर्शन लिखनाइ एहि कारण केवल अनुवादक कार्य नहि; ज्ञानक सार्वजनिक अधिकारक प्रश्न सेहो अछि।

मातृभाषामे जटिल अवधारणा व्यक्त करब भाषा-समृद्धिक कार्य अछि। संगहि सावधानी आवश्यक—तकनीकी पदक अर्थ बिगाड़ि ‘शुद्धता’क नामपर अस्पष्टता पैदा नहि हो। भाषा जीवित हो, सटीक हो, आ संवादक्षम हो।

24.6 समानान्तर मिथिला: भूगोल नहि, पद्धति

एहि ग्रन्थमे मिथिला तीन स्तरपर उपस्थित अछि—ऐतिहासिक भूगोल, भाषिक-सांस्कृतिक संसार, आ प्रश्नपरम्परा। समानान्तर मिथिलाक अर्थ गौरवक एकरेखीय कथा नहि। एकर अर्थ अछि—विदेहक उपनिषदिक संवाद, न्याय-मीमांसा-नव्यन्याय, लोकजीवन, स्त्रीस्वर, क्षेत्रीय भाषा, आधुनिक सामाजिक प्रश्न—सभकेँ एकहि आलोचनात्मक मंचपर आनब।

एहि मंचपर कोनो स्रोत आलोचनासँ मुक्त नहि। यही समानान्तरताक अर्थ अछि।

पूर्वपक्ष: लोक सामग्रीकेँ दर्शन कहब सीमा-विस्तारक अतिरेक अछि

आपत्ति महत्त्वपूर्ण अछि। प्रत्येक कहबी दर्शन नहि, जेना प्रत्येक वाक्य साहित्य नहि। उत्तर ई जे लोक सामग्री दर्शनक ‘मूल ग्रन्थ’ स्वतः नहि; ओ दार्शनिक प्रश्नक स्रोत भऽ सकैत अछि। दर्शन तखन बनैत अछि जखन अवधारणा, तर्क, मूल्य आ प्रतिपक्ष स्पष्ट रूपसँ विश्लेषित हो।

24.7 लोकक भीतरक बहुलता

‘लोक’केँ एकमत, शुद्ध आ अपरिवर्तनशील समुदाय मानब ऐतिहासिक भूल अछि। एकहि गाममे जाति, पेशा, लिंग, आयु, सम्पत्ति आ धार्मिक सम्बन्धक आधारपर अनुभव अलग होइत अछि। जे प्रथा एक समूह लेल उत्सव, दोसर लेल श्रम वा बहिष्कार भऽ सकैत अछि। तेँ लोकक नामपर ककर स्वर बोलि रहल अछि, ककर मौन अछि, आ ककर अनुभव दस्तावेजमे नहि पहुँचल—ई प्रश्न आवश्यक अछि।

लोकज्ञानक सम्मान ओकर आन्तरिक मतभेद मेटाएब नहि। मौखिक परम्पराक अनेक संस्करण, गीतक भिन्न पाठ, अनुष्ठानक स्थानीय रूप आ स्मृतिक विरोधी कथा सभ प्रमाणीय सामग्री छथि। समानान्तर मिथिला एक ‘असली’ संस्करण खोजि बाकीकेँ दूषित नहि कहैत; संस्करणक वितरण, प्रसंग आ सामाजिक कार्य जाँचैत अछि।

24.8 शास्त्रक भीतरक बहस

जकाँ लोक एकरूप नहि, तहिना शास्त्र सेहो एक आवाज नहि। सूत्र, भाष्य, वार्त्तिक, टीका, विरोधी सम्प्रदाय आ व्यवहारिक निबन्ध अलग ऐतिहासिक क्षणक उत्तर छथि। ‘शास्त्र कहैत अछि’ वाक्य तखन धरि अधूरा अछि जखन धरि ग्रन्थ, अंश, पाठभेद, व्याख्याकार आ उपयोगक प्रसंग नहि बताओल जाए।

शास्त्रीय अधिकारक परीक्षा दू स्तरपर होयत। पहिल, पाठ वास्तवमे की कहैत अछि; दोसर, ओ कथन आज नैतिक वा सार्वजनिक रूपसँ उचित अछि की नहि। प्राचीनता ऐतिहासिक महत्त्व दे सकैत अछि, नैतिक अचूकता नहि। एहि भेदसँ परम्पराक अध्ययन सम्मानजनक रहैत अछि आ आलोचना सेहो सम्भव रहैत अछि।

24.9 व्यवहार, प्रथा आ औचित्य

कोनो प्रथा दीर्घकालसँ चलि रहल अछि—ई ओकर अस्तित्व आ सामाजिक स्थिरताक प्रमाण अछि; ई अपने-आप ओकर न्यायसंगततताक प्रमाण नहि। प्रथा ककर हित साधैत अछि, ककर लागत बढ़बैत अछि, विकल्प रोकैत अछि की नहि, आ असहमति लेल स्थान दैत अछि की नहि—एहि प्रश्नपर औचित्य निर्भर करत।

तथापि बाहरी सुधारकक त्वरित निर्णय सेहो त्रुटिपूर्ण भऽ सकैत अछि। प्रथाक स्थानीय अर्थ, उपयोगक विविधता, आ समुदाय भीतरक आलोचनात्मक आवाज बुझब आवश्यक अछि। समानान्तर पद्धति न अन्ध संरक्षण करैत अछि, न अज्ञानपूर्ण नकार; ओ सहभागी वर्णन, स्रोत-समीक्षा आ गरिमा-आधारित नैतिक परीक्षा जोड़ैत अछि।

24.10 मौखिक स्रोतक प्रमाण-विवेचन

मौखिक स्रोत लिखित अभिलेखसँ कमतर नहि, मुदा ओकर परीक्षणक विधि अलग अछि। कथावाचकक स्थान, स्मृतिक अवधि, प्रसंग, श्रोताक अपेक्षा, पुनरावृत्ति आ अन्य संस्करणसँ तुलना जाँचल जाएत। स्मृति घटना मात्र नहि रखैत; ओ अर्थ, पहचान आ वर्तमान चिन्ता सेहो पुनर्गठित करैत अछि।

जँ अनेक स्वतंत्र स्मृति कोनो संरचनात्मक अनुभवपर मिलैत अछि, तकर प्रमाणीय वजन बढ़ैत अछि। जँ विवरण भिन्न अछि तँ भिन्नता स्वयं अध्ययनक विषय अछि। तिथि वा संख्याक अनिश्चितता स्पष्ट लिखल जाए, मुदा एहि कारण अनुभवक सम्पूर्ण साक्ष्य फेकि देब उचित नहि। मौखिक इतिहासक सावधानी ओकर सम्मानक आवश्यक शर्त अछि।

24.11 मिथिलाक सीमा आ प्रवासन

मिथिलाकेँ केवल स्थिर भूगोल मानलासँ प्रवासन, नगर, सीमा-पार सम्बन्ध आ बहुभाषिक जीवन अदृश्य भऽ जाइत अछि। लोक अपन संग भाषा, गीत, भोजन, स्मृति आ अनुष्ठान लऽ जाइत अछि; नव स्थानमे ई सभ

बदलैत सेहो अछि। परिवर्तनकेँ ‘मूल संस्कृतिक पतन’ कहब सरल, मुदा ऐतिहासिक जीवन प्रायः मिश्रण आ पुनर्रचनासँ चलैत अछि।

दार्शनिक प्रश्न ई जे पहचान निरन्तरता कोना बनौने रखैत अछि। की समानता भाषा मे, स्मृति मे, सामाजिक सम्बन्धमे, अथवा स्वीकृत आत्मपहिचानमे अछि? एकटा कसौटी सभ प्रसंगपर पर्याप्त नहि। सहअस्तित्वात्मक यथार्थवाद पहचानकेँ न शुद्ध सार मानैत अछि, न इच्छामात्र; ओ इतिहास, सम्बन्ध, संस्था आ आत्मनिर्णयक संयुक्त परिणाम मानैत अछि।

अध्याय-निष्कर्ष

लोक आ शास्त्र परस्पर विरोधी संसार नहि, मानव-अनुभवक अलग अभिलेख छथि। समानान्तर दर्शन शास्त्रक कठोर अवधारणात्मक साधन आ लोकक अनुभवगत सामग्री दुनूकेँ आलोचनात्मक संवादमे रखैत अछि। मिथिलाक दार्शनिक पुनर्पाठ तखन विश्वसनीय होयत जखन गौरवक संग आत्मालोचना, परम्पराक संग हाशिया, आ संस्कृत ग्रन्थक संग मैथिली लोकस्वर सेहो उपस्थित रहत।

अध्याय-ग्रन्थसूची

बृहदारण्यक उपनिषद।

गौतम — न्यायसूत्र।

गङ्गेश उपाध्याय — तत्त्वचिन्तामणि।

मिथिलाक लोकगीत, कहबी आ मौखिक परम्परासभ — स्रोत-विशिष्ट आलोचनात्मक उपयोग।

Jonardon Ganeri — The Lost Age of Reason.

चतुर्थ खण्ड – पाश्चात्य दर्शन

अध्याय 25 – यूनानी प्रश्न

प्राचीन यूनानी दर्शन पाश्चात्य दर्शनक इतिहासमे केन्द्रीय स्थान रखैत अछि, मुदा ओकरा ‘मानव विचारक एकमात्र आरम्भ’ मानब ऐतिहासिक रूपसँ अनुचित अछि। भारत, चीन, मिस्र, मेसोपोटामिया आ अन्य सभ्यतामे सेहो प्रकृति, व्यवस्था, नैतिकता, मृत्यु, राज्य आ ज्ञान सम्बन्धी गम्भीर विचार-परम्परा विकसित भेल। यूनानी दर्शनक विशिष्टता ओकर प्रश्न, ग्रन्थ-परम्परा आ तर्क-विकासमे खोजबाक चाही, विश्वक अन्य परम्पराकेँ गौण कऽ नहि।

25.1 मिथकसँ तर्क: सरल कथा सँ बचू

बहुत पाठ्यपुस्तक यूनानी दर्शनक आरम्भकेँ ‘मिथक सँ तर्क’क सीधा संक्रमण कहैत अछि। एहि कथनमे आंशिक सत्य अछि—प्रकृतिक घटनाक कारणक अधिक व्यवस्थित, गैर-वंशावलीय व्याख्या विकसित भेल। मुदा मिथकीय आ तर्कपूर्ण सोच पूर्णतः अलग कालखंड नहि। यूनानी दर्शनमे देवता, आत्मा, ब्रह्माण्डीय व्यवस्था आ तर्क अनेक रूपमे साथ-साथ रहैत अछि।

तेँ दर्शनक जन्मकेँ ‘अन्धविश्वास समाप्त, तर्क आरम्भ’ जकाँ विजय-कथा बनायब उचित नहि। बेहतर प्रश्न अछि—कखन, कोना आ कोन प्रसंगमे तर्कक सार्वजनिक मानदण्ड विकसित भेल?

25.2 आयोनियाई प्रकृति-प्रश्न

मिलेटससँ सम्बद्ध प्रारम्भिक विचारकसभ प्रकृतिक मूल तत्त्व अथवा सिद्धान्तक प्रश्न उठबैत छथि। थेलीससँ जल, अनाक्सिमेनेससँ वायु, अनाक्सिमान्दरक अपैरोन-जकाँ धारणासभ जुड़ल अछि। ऐतिहासिक स्रोत सीमित आ परवर्ती लेखकसभ पर निर्भर छथि, तेँ एहि विचारसभक पुनर्निर्माण सावधानीसँ करबाक चाही।

दार्शनिक महत्त्व उत्तरक ‘वैज्ञानिक सहीपन’मे नहि। जल वा वायु आधुनिक विज्ञानक मूल पदार्थ नहि; महत्त्व ई जे विविध घटनाक पाछाँ एक व्यवस्थित व्याख्यात्मक आधार खोजबाक प्रवृत्ति विकसित भेल।

25.3 परिवर्तन आ स्थायित्व

हेराक्लाइटस परिवर्तन, संघर्ष आ प्रक्रियाक महत्त्वक कारण प्रसिद्ध छथि; परमेनिदेस परिवर्तनक बोध आ अस्तित्वक तार्किक स्थिरताक बीच तीक्ष्ण तनाव प्रस्तुत करैत छथि। एहि विरोधकेँ ‘एक कहलक सभ बदलैत अछि, दोसर कहलक किछु नहि बदलैत’ धरि सीमित करब बहुत सरल होयत।

मूल दार्शनिक प्रश्न आजो जीवित अछि—वास्तविकता मूलतः वस्तु अछि की प्रक्रिया? पहचान परिवर्तनक बीच कोना टिकैत अछि? ‘एकहि नदी’क अर्थ की जँ जल निरन्तर बदलैत अछि?

25.4 संख्या, रूप आ व्यवस्था

पाइथागोरससँ सम्बद्ध परम्परा संख्या, अनुपात, संगीत आ ब्रह्माण्डीय व्यवस्थाक सम्बन्धक प्रश्न उठबैत अछि। ऐतिहासिक पाइथागोरस आ परवर्ती पाइथागोरियन परम्पराकेँ अलग करब कठिन अछि, तेँ निश्चित दाबी सँ बचब आवश्यक।

दार्शनिक दृष्टिसँ महत्त्वपूर्ण प्रश्न अछि—गणितीय संरचना जगतक खोज अछि की मनुष्यक निर्मित भाषा? प्रकृति किएक गणितीय वर्णन स्वीकार करैत अछि? ई प्रश्न विज्ञान-दर्शन धरि चलैत अछि।

25.5 परमाणुवाद आ बहुलता

लेउकिप्पस आ डेमोक्रिटससँ सम्बद्ध प्राचीन परमाणुवाद परिवर्तनशील दृश्य जगतकेँ अविभाज्य कण आ रिक्त स्थानक आधारपर बुझबाक प्रयास करैत अछि। आधुनिक परमाणु-विज्ञानसँ एहि सिद्धान्तकेँ सीधा जोड़ब अनैतिहासिक होयत। समान शब्द ‘परमाणु’ ऐतिहासिक समरूपता सिद्ध नहि करैत।

मुदा दार्शनिक प्रश्न समान रूपेँ महत्त्वपूर्ण अछि—जटिलता सरल घटकसँ कोना बनैत अछि? गुण मूल घटकमे अछि की संयोजनसँ उत्पन्न? रिक्त स्थान वास्तविक अछि की नहि?

25.6 सोफिस्ट आ सार्वजनिक तर्क

यूनानी नगर-राज्यक सार्वजनिक जीवनमे वक्तृत्व, नागरिकता आ न्याय सम्बन्धी प्रश्नक महत्त्व बढ़ल। सोफिस्टसभकेँ केवल छलपूर्ण वक्ता मानब प्लेटो-प्रभावित सरलीकरण हो सकैत अछि। ओ भाषा, मानक, प्रकृति–परम्परा, कानून आ सापेक्षताक प्रश्न उठबैत छथि।

एहि पृष्ठभूमिमे सुकरातक प्रश्न-पद्धति अधिक स्पष्ट होइत अछि। दर्शन केवल ब्रह्माण्डक मूल तत्व नहि, ‘नीक जीवन की?’ ‘न्याय की?’ ‘ज्ञान आ सद्गुणक सम्बन्ध की?’ जकाँ प्रश्न दिस बढ़ैत अछि।

25.7 यूनान आ विश्व-दर्शन

समानान्तर दर्शन यूनानी परम्पराकेँ न कम करैत अछि, न एकाधिकार दैत अछि। प्लेटो, अरस्तू, स्तोइक, एपिक्यूरियन, संशयवादी—ई सभ विश्व-दर्शनक महत्त्वपूर्ण वार्ताकार छथि। मुदा ‘दर्शन यूनानमे जन्मल, बाँकी सभ धर्म वा मिथक’ जकाँ कथन ज्ञानक औपनिवेशिक श्रेणीकरणकेँ पुनरुत्पादित कऽ सकैत अछि।

विश्व-दर्शनक उचित पद्धति समान प्रमाण-कसौटी, ऐतिहासिक प्रसंग आ परम्परागत स्वतन्त्रताक सम्मान माँगैत अछि। भारतक न्यायकेँ यूनानी तर्कक ‘प्रतिलिपि’ नहि, यूनानी तर्ककेँ न्यायसँ ‘पूर्व’ होयबाक कारण श्रेष्ठ नहि—दुनू अपन इतिहासमे समझल जाए।

पूर्वपक्ष: यूनानी दर्शनकेँ केन्द्रसँ हटेला पर पाश्चात्य दर्शनक इतिहास अस्पष्ट होयत

उत्तर ई नहि जे यूनानी केन्द्रत्व नकारल जाए। पाश्चात्य दार्शनिक परम्पराक विकासमे यूनान निश्चय केन्द्रीय अछि। आपत्ति केवल तखन अछि जखन ‘पाश्चात्य इतिहासक केन्द्र’ कैं ‘मानव दर्शनक एकमात्र केन्द्र’ बना देल जाए।

25.8 प्रकृतिक कारण खोजबाक परिवर्तन

आरम्भिक यूनानी चिन्तकसभक महत्त्व ‘पहिल वैज्ञानिक’क सरल उपाधिमे नहि, बल्कि प्रकृतिक घटनाक व्याख्यामे नियमित कारण, मूल तत्त्व आ परिवर्तनक सिद्धान्त खोजबाक प्रयत्नमे अछि। जल, अपरिमित, वायु, संख्या, परिवर्तन वा अपरिवर्तन—भिन्न प्रस्ताव एकहि प्रश्नक अनेक उत्तर छथि: विविध जगतक आधार की, आ परिवर्तनक बीच निरन्तरता कोना सम्भव?

एहि प्रस्तावसभकैं आधुनिक रसायन वा भौतिकीक अधूरा रूप मानब कालभ्रम होयत। ओकर प्रमाण, अवधारणा आ उद्देश्य अलग छल। दार्शनिक मूल्य ई जे परम्परागत कथा बाहरी अधिकारसँ नहि, तर्कसंगत प्रतिपादन आ प्रतिवादसँ जाँचल जाए। मुदा मिथकीय भाषा एकदम समाप्त भेल—एहन सीधा इतिहास सेहो सही नहि; तर्क आ कथा दीर्घ समय धरि सहअस्तित्वमे रहल।

25.9 परिवर्तन आ स्थायित्वक विवाद

हेराक्लाइटस परिवर्तनक व्यापकता आ विरोधी तनावपर बल दैत छथि, जखनकि पार्मेनिदेस सत्य अस्तित्वकैं अजन्मा, अविनाशी आ अपरिवर्तनशील मानबाक तर्क प्रस्तुत करैत छथि। दुनूकैं ‘सभ बदलैत अछि’ बनाम ‘किछु नहि बदलैत’क नारा धरि सीमित करब अपर्याप्त अछि। मूल समस्या ई जे अनुभव परिवर्तन देखबैत अछि, मुदा तर्क स्थिर पहिचान बिना कथन सम्भव कोना मानत?

परवर्ती यूनानी दर्शन एहि तनावक उत्तर पदार्थ, रूप, परमाणु, कारण आ सम्भाव्यता-जकाँ अवधारणासँ खोजैत अछि। समानान्तर दर्शन एहि विवादकैं भारतीय सत्कार्यवाद, क्षणिकवाद वा द्रव्य-गुण चर्चासँ तुलना करैत समय समानता संग भिन्नता स्पष्ट रखैत अछि। साझा प्रश्न विश्वदर्शनक संवाद सम्भव करैत अछि; शब्द वा निष्कर्षक ऐतिहासिक अभिन्नता सिद्ध नहि करैत।

25.10 सोफिस्ट आ सार्वजनिक तर्क

सोफिस्टसभकेँ केवल छलपूर्ण वक्ता कहि देब प्लेटोपर निर्भर एकपक्षीय चित्र होयत। ओ भाषा, शिक्षा, नागरिक सफलता, कानूनक परम्परागत स्वरूप आ दृष्टिकोणक शक्ति सम्बन्धी प्रश्न उठबैत छलाह। नगर-राज्यक सार्वजनिक जीवनमे बोलबाक कला वास्तविक राजनीतिक साधन छल; तेँ वक्तृत्वक अध्ययन लोकतान्त्रिक भागीदारी आ सत्ता दुनूसँ जुड़ल छल।

समस्या तखन उठैत अछि जखन प्रभाव सत्यक स्थान लऽ लैत अछि। कुशल भाषण कमजोर कारणकेँ शक्तिशाली देखाबि सकैत अछि। मुदा प्रभावहीन सत्य सार्वजनिक जीवनमे अप्रभावी सेहो रहि सकैत अछि। समानान्तर पद्धति वक्तृत्वकेँ न पूर्ण दोष मानैत, न सत्यक माप; ओ कारणक गुणवत्ता, प्रमाण, श्रोताक स्वतंत्रता आ भाषिक रणनीति अलग जाँचैत अछि।

25.11 नोमोस आ फ्यूसिस

यूनानी बहसमे प्रकृति आ मानवीय प्रथा अथवा कानूनक भेद महत्त्वपूर्ण बनल। जे व्यवस्था एक नगरमे न्याय मानल जाइत अछि, दोसर नगरमे भिन्न भऽ सकैत अछि; एहि विविधतासँ प्रश्न उठैत अछि जे न्याय केवल प्रचलन अछि की ओकर कोनो व्यापक आधार अछि। प्रथाक विविधता सापेक्षतावादक सम्भावना खोलैत अछि, मुदा अन्यायक आलोचना लेल प्रथासँ परे कसौटीक आवश्यकता सेहो देखबैत अछि।

भारतीय धर्म, आचार आ लोकप्रथाक तुलनात्मक अध्ययनमे सेहो एहन प्रश्न उठैत अछि, मुदा ‘धर्म = नोमोस’ कहब गलत समतुल्यता होयत। दूनूक भाषिक इतिहास आ दार्शनिक क्षेत्र भिन्न अछि। तुलना प्रश्नक स्तरपर उपयोगी अछि: प्रथा कतेक परिवर्तनशील, प्रकृतिक नामपर कोन सत्ता वैध ठहराओल जाइत, आ सार्वभौम नैतिक दाबी कोना प्रमाणित होयत?

25.12 त्रासदी, भाग्य आ उत्तरदायित्व

यूनानी त्रासदी दार्शनिक ग्रन्थ नहि, तथापि ओ कर्म, अज्ञान, भाग्य, परिवार, राज्य आ उत्तरदायित्वक जटिल अनुभव प्रस्तुत करैत अछि। पात्र कखनो पूर्ण जानकारी बिना निर्णय लैत अछि; सदिच्छा सेहो विनाशकारी

परिणाम दऽ सकैत अछि; दू नैतिक कर्तव्य परस्पर टकरा सकैत अछि। एतय अशुभ केवल खराब व्यक्तिक इच्छा नहि, संरचना आ सीमित ज्ञानसँ सेहो उत्पन्न होइत अछि।

साहित्यिक साक्ष्य सिद्धान्तक प्रमाणक समान नहि, मुदा नैतिक कल्पनाकेँ विस्तृत करैत अछि। अमूर्त नियम जे द्वन्द्व छिपा दैत अछि, कथा ओकर मानवीय मूल्य देखबैत अछि। समानान्तर दर्शन त्रासदीक उपयोग उदाहरण आ अनुभव-वर्णन रूपमे करैत अछि, ऐतिहासिक तथ्य वा सार्वभौम नियम रूपमे नहि।

अध्याय-निष्कर्ष

प्राचीन यूनानी दर्शनक शक्ति ओकर प्रश्नक बहुलतामे अछि—प्रकृतिक मूल, परिवर्तन, स्थायित्व, संख्या, पदार्थ, भाषा, कानून, ज्ञान आ नीक जीवन। समानान्तर दर्शन एहि परम्पराकेँ गम्भीरतासँ ग्रहण करैत अछि, मुदा बहु-आरम्भक विश्व-दृष्टि राखैत अछि। दर्शनक इतिहास एकटा एकल मशालक यात्रा नहि; अनेक अग्निक परस्पर प्रकाश अछि।

अध्याय-ग्रन्थसूची

Heraclitus — Fragmenta, उपलब्ध खण्ड।

Parmenides — On Nature, उपलब्ध खण्ड।

Plato — प्रारम्भिक संवाद; Republic.

Aristotle — Metaphysics; Physics.

Diogenes Laertius — Lives of Eminent Philosophers.

G. S. Kirk, J. E. Raven and M. Schofield — The Presocratic Philosophers.

अध्याय 26 – सुकरात, प्लेटो आ अरस्तू

सुकरात, प्लेटो आ अरस्तूक संग प्राचीन यूनानी दर्शन एकटा नूतन चरणमे प्रवेश करैत अछि। प्रकृतिक मूल तत्त्वक प्रश्न एखन मनुष्य, ज्ञान, सद्गुण, न्याय, राज्य, शिक्षा, आत्मा आ उत्तम जीवनक प्रश्नसँ जुड़ि जाइत अछि। एहि तीनू दार्शनिककेँ एकहि सूत्रमे बाँधब सहज अछि, मुदा उचित नहि। सुकरातक विचार मुख्यतः संवाद आ प्रश्नक रूपमे सुरक्षित अछि; प्लेटो दार्शनिक संवादक माध्यमसँ न्याय, रूप, ज्ञान आ राज्यक व्यापक संरचना विकसित करैत छथि; अरस्तू अनुभव, वर्गीकरण, तर्क, नैतिकता आ राजनीति के अधिक व्यवस्थित ढंगसँ संयोजित करैत छथि।

26.1 सुकरात: प्रश्न पूछबाक नैतिक साहस

सुकरात स्वयं कोनो ग्रन्थ नहि लिखलनि। हुनक विचारक प्रमुख स्रोत प्लेटोक संवाद, जेनोफोनक लेखन आ अरिस्टोफेनीजक व्यंग्यात्मक प्रस्तुति अछि। एहि स्रोतसभमे अन्तर अछि; तेँ ऐतिहासिक सुकरात आ प्लेटोक साहित्यिक सुकरातकेँ पूर्णतः एक मानब उचित नहि। तथापि एक बात स्पष्ट अछि—सुकरात दर्शनकेँ सार्वजनिक प्रश्नोत्तरक क्रिया बनबैत छथि।

हुनक पद्धति ककरो मतकेँ तुरन्त नकारब नहि, बल्कि शब्दक अर्थ पूछब, उदाहरण माँगब, विरोधाभास देखेब, आ वक्तासँ अपन विश्वासक आधार पुनः जाँचबाक लेल बाध्य करब छल। “साहस की?”, “न्याय की?”,

“सद्गुण की?”—एहन प्रश्न केवल शब्दार्थक खेल नहि; व्यक्ति जे जीवन जीबैत अछि, ओकर नैतिक आधारक परीक्षा छल।

सुकरातक दार्शनिक महत्त्व एहि कारण उत्तरसँ बेसी प्रश्नमे अछि। पर प्रश्न पूछब मात्र दर्शन नहि। प्रश्न ईमानदार हो, उत्तर सुनबाक इच्छा हो, अपन मत बदलबाक सम्भावना हो—तखन प्रश्न दर्शन बनैत अछि। एहि दृष्टिसँ सुकराती संवाद आ न्यायीय वाद-पद्धति बीच तुलनात्मक साम्य देखल जा सकैत अछि: दुनू सत्य-अन्वेषी संवादक आदर्श प्रस्तुत करैत अछि, यद्यपि ऐतिहासिक विकास स्वतंत्र अछि।

26.2 ज्ञान आ सद्गुण

सुकरातसँ जुड़ल एक प्रसिद्ध धारणा अछि जे नैतिक भूल अज्ञानसँ उत्पन्न होइत अछि। जँ व्यक्ति वास्तवमे जानि जाए जे उचित की अछि, तँ ओ जानि-बुझि कऽ बेजाय नहि करत। एहि विचारमे नैतिक ज्ञानक महत्त्व अत्यन्त ऊँच अछि। मुदा आधुनिक अनुभव प्रश्न उठबैत अछि—मनुष्य अनेक बेर जानितो गलत करैत अछि; इच्छा, लोभ, भय, समूह-दबाव आ स्वार्थ ज्ञानपर भारी पड़ि सकैत अछि। तेँ ज्ञान सद्गुणक आवश्यक आधार भऽ सकैत अछि, पर्याप्त शर्त नहि।

26.3 प्लेटो: न्याय, ज्ञान आ रूप

प्लेटोक दर्शन संवादात्मक अछि। Republic मे न्यायपूर्ण व्यक्ति आ न्यायपूर्ण नगरक तुलना द्वारा ओ पूछैत छथि—मानव आत्माक सुव्यवस्था आ राज्यक सुव्यवस्था बीच की सम्बन्ध? ज्ञान, मत आ अज्ञानक भेद की? जे शासन करय, ओकर योग्यताक आधार की? शिक्षा सत्ता-संरचनाकेँ कोना प्रभावित करैत अछि?

प्लेटोक रूप-सिद्धान्त सामान्यतः एहि विचारसँ जुड़ल अछि जे परिवर्तनशील इन्द्रिय-जगतक पाछाँ स्थायी बोधगम्य रूप अथवा आदर्श संरचना अछि। सुन्दर वस्तु बदलैत अछि, मुदा “सुन्दरता”क अवधारणा केवल एहि बदलैत उदाहरणसभक जोड़ नहि। एहि सिद्धान्तक अनेक व्याख्या अछि; समानान्तर दर्शन लेल मूल प्रश्न अछि—ज्ञानकेँ केवल दृश्य उदाहरणसँ परे सामान्य संरचना चाही की? भारतीय न्यायमे सामान्य, बौद्ध अपोह-विचार आ जैन सामान्य-विशेष विश्लेषण एहि प्रश्नसँ अलग ऐतिहासिक मार्गसँ संवाद खोलि सकैत अछि।

26.4 गुफाक रूपक आ ज्ञानक राजनीति

Republic क गुफा-रूपक ज्ञान आ अज्ञानक प्रसिद्ध चित्र अछि। मनुष्य छायाकेँ सत्य मानि सकैत अछि; शिक्षा दृष्टि बदलैत अछि। मुदा एहि रूपकक राजनीतिक प्रश्न सेहो अछि—जँ किछु लोक सत्य देखैत छथि आ बहुसंख्यक छाया, तखन ज्ञानक आधारपर शासनक दाबी कोना वैध होयत? विशेषज्ञता आवश्यक अछि, पर विशेषज्ञता नागरिक समानताकेँ समाप्त नहि करैत अछि। समानान्तर दर्शन एहि कारण ज्ञान-सत्ता सम्बन्धपर प्रश्न करैत अछि।

26.5 प्लेटोक आदर्श राज्यक सीमा

प्लेटोक राजनीतिक दर्शनकेँ केवल आदर्शवाद कहि छोड़ब अनुचित। ओ शिक्षा, चरित्र, सत्ता आ संस्थाक सम्बन्धक गम्भीर विश्लेषण करैत छथि। मुदा समानान्तर पाठ पूछैत अछि—स्त्रीक स्थान की? दासक स्वर कतय? श्रम करयवला वर्गकेँ निर्णयमे कतेक स्थान? विदेशी आ पराजित समुदायक अनुभव की? इतिहासक महान ग्रन्थकेँ ओकर उत्तरसँ संग ओकर मौन सेहो पढ़ल जाय।

26.6 अरस्तू: अनुभव, वर्गीकरण आ कारण

अरस्तू प्लेटोक शिष्य छलाह, मुदा अनेक प्रश्नपर अलग मार्ग अपनौलनि। हुनक काज तर्कशास्त्र, तत्त्वमीमांसा, जीवविज्ञान, नैतिकता, राजनीति, काव्यशास्त्र आ भाषिक विश्लेषण धरि विस्तृत अछि। अरस्तू वस्तुक व्याख्यालेल कारणक अनेक स्तर—द्रव्य, रूप, प्रेरक कारण आ प्रयोजन—विचारैत छथि। आधुनिक विज्ञान सभ संदर्भमे प्रयोजनात्मक व्याख्या स्वीकार नहि करैत, मुदा कारणक प्रकारसभ अलग करबाक अरस्तूकीय आग्रह एखनो दार्शनिक रूपसँ उपयोगी अछि।

26.7 सद्गुण नैतिकता

Nicomachean Ethics मे अरस्तू उत्तम जीवनकेँ केवल नियमपालन नहि, चरित्र-निर्माणक प्रश्न मानैत छथि। सद्गुण अभ्याससँ बनैत अछि। साहस डरक अभाव नहि; भय आ उद्दण्डताक बीच विवेकपूर्ण स्थिति अछि। उदारता, संयम, न्याय—सभ मानवीय चरित्रक गठनसँ जुड़ल अछि।

एहि दृष्टिक लाभ अछि जे नैतिक जीवनकेँ एकल निर्णयक बजाय दीर्घ अभ्यास मानैत अछि। सीमा ई जे “मध्यम मार्ग” प्रत्येक अन्यायपर लागू नहि। दासता, जातीय अपमान वा स्त्री-दमनक बीच “मध्यम” खोजब नैतिक भूल होयत। किछु प्रसंगमे स्पष्ट निषेध आवश्यक अछि।

26.8 राजनीति आ मानवकल्याण

अरस्तू राजनीति के मानवकल्याणसँ जुड़ल व्यावहारिक विज्ञान मानैत छथि। मनुष्य सामाजिक-राजनीतिक प्राणी अछि; पूर्ण मानव-विकास संस्था आ समुदायसँ जुड़ल अछि। मुदा हुनक ऐतिहासिक समाजमे नागरिकताक सीमा संकुचित छल। स्त्री, दास आ अनेक श्रमिक पूर्ण राजनीतिक नागरिक नहि मानल जाइत छलाह। समानान्तर दर्शन एतय एकटा महत्त्वपूर्ण नियम स्थापित करैत अछि—दार्शनिक अन्तर्दृष्टि ग्रहण करू, मुदा ओकर ऐतिहासिक बहिष्कारकेँ अदृश्य नहि बनाउ।

26.9 तीनू दार्शनिकक समानान्तर पाठ

सुकरात प्रश्नक नैतिकता सिखबैत छथि; प्लेटो ज्ञान, न्याय आ संस्थाक सम्बन्ध; अरस्तू चरित्र, अनुभव आ राजनीति के व्यवस्थित विश्लेषण। मुदा तीनूकेँ यूरोपीय दर्शनक “एकमात्र मूल” मानब उचित नहि। ओ विश्व-दर्शनक महान परम्परामे एक केन्द्र छथि, एकमात्र केन्द्र नहि। भारतीय, चीनी, ईरानी, बौद्ध, जैन, मिथिला आ अन्य परम्परासभक स्वतन्त्र दार्शनिक आरम्भ समान आदरसँ पढ़ल जायत।

पूर्वपक्ष: महान ग्रन्थकेँ आधुनिक नैतिक कसौटीपर किएक जाँचब?

आपत्ति उठि सकैत अछि जे प्राचीन समाजक दासता वा स्त्री-स्थिति आधुनिक मानदण्डसँ जाँचब अनैतिहासिक अछि।

उत्तरपक्ष: ऐतिहासिक प्रसंग बुझब आवश्यक, पर नैतिक परीक्षण निषिद्ध नहि। हम एहि बातकेँ बुझि सकैत छी जे कोनो विचार अपन युगमे किएक सम्भव छल, आ संगहि पूछि सकैत छी जे ओकर तर्क आज स्वीकार्य अछि की नहि। इतिहास-समझ आ नैतिक समीक्षा परस्पर विरोधी नहि।

26.10 सुकराती अज्ञान आ उत्तरदायी प्रश्न

सुकराती अज्ञानक अर्थ सभ विषयमे किछु नहि जानब नहि। एकर अर्थ अपन दाबीक सीमा पहचानब आ प्रतिष्ठा, बहुमत वा आत्मविश्वासकेँ ज्ञानक प्रमाण नहि मानब अछि। संवादमे प्रश्न धीरे-धीरे देखबैत अछि जे आरम्भिक परिभाषा अपवाद सहि नहि पबैत, उदाहरण एक-दोसरसँ टकराइत अछि, अथवा वक्ता अनजाने दू विरोधी प्रतिज्ञा मानि रहल अछि।

एहन प्रश्न अपमानक साधन बनि सकैत अछि जँ प्रश्नकर्ता अपन निष्कर्ष छिपाऽ केवल दोसरकेँ पराजित करय। उत्तरदायी सुकराती पद्धतिमे प्रश्नकर्ता सेहो परीक्षा लेल खुलल रहत, पद स्पष्ट करत, आ प्रतिपक्षक उत्तरकेँ सबल रूपमे ग्रहण करत। लक्ष्य व्यक्ति नहि, दाबीक संगति अछि।

26.11 प्लेटोक रूप आ ज्ञानक स्तर

प्लेटोक रूप-सिद्धान्त परिवर्तनशील विशेष वस्तु आ स्थिर ज्ञानक सम्बन्ध बुझबाक प्रयास अछि। अनेक सुन्दर वस्तु बदलैत अछि, मुदा ‘सुन्दरता’क विचार केवल एहि क्षणक पसन्द अछि की कोनो अधिक स्थिर मानक? रूपकेँ आकाशमे राखल भौतिक वस्तु बुझब भ्रान्ति होयत; ई वस्तुक बोध, परिभाषा आ मूल्यांकनक आधार सम्बन्धी तत्त्वमीमांसात्मक प्रस्ताव अछि।

रूपक सिद्धान्तपर भागीदारी, पृथकता आ अनन्त प्रत्यावर्तन-जकाँ आपत्ति उठैत अछि, आ प्लेटोक संवाद स्वयं एहि कठिनाइकेँ छिपबैत नहि। समानान्तर अध्ययन निष्कर्षक संग आत्मालोचना सेहो पढ़ैत अछि। कोनो दार्शनिककेँ एक स्थिर ‘मत’मे बन्द करबाक बदला ओकर संवादसभमे प्रश्नक विकास देखब अधिक विश्वसनीय अछि।

26.12 आत्माक त्रिभाग आ नैतिक संघर्ष

प्लेटो मानवीय क्रियामे तर्क, उत्साह वा मान-बोध, आ इच्छा-जकाँ भिन्न प्रेरणा देखैत छथि। मनुष्य जखन उचित जानितो विपरीत करैत अछि, तखन केवल अज्ञानक व्याख्या पर्याप्त नहि लगैत। आत्माक त्रिभाग एहन आन्तरिक संघर्ष बुझबाक एक नमूना अछि, शारीरिक अवयवक वैज्ञानिक वर्णन नहि।

राज्यक वर्गसभसँ एहि मनोवैज्ञानिक विभाजनक तुलना नैतिक आ राजनीतिक जोखिम राखैत अछि। व्यक्तिक भीतर कार्यात्मक भेद जन्माधारित सामाजिक पदानुक्रमक प्रमाण नहि। समानान्तर दर्शन प्लेटोक सामंजस्यक प्रश्न ग्रहण करैत अछि, मुदा सामाजिक दर्जा स्थिर करबाक औचित्य स्वतंत्र रूपसँ जाँचैत अछि।

26.13 अरस्तूक चारि कारण

कोनो वस्तु बुझब केवल ‘किससँ बनल’ बतब नहि। अरस्तू पदार्थ, रूप, प्रेरक स्रोत आ प्रयोजन—चारि प्रकारक कारणक चर्चा करैत छथि। मूर्ति लेल पत्थर पदार्थ, आकृति रूप, शिल्पीक कार्य प्रेरक कारण, आ निर्धारित उपयोग वा लक्ष्य प्रयोजन भऽ सकैत अछि। सभ वस्तुमे चारू कारण एकहि ढंगसँ लागू होयत—एहन यान्त्रिक नियम नहि।

आधुनिक प्राकृतिक विज्ञान प्रायः प्रयोजनक बदला प्रक्रियात्मक कारणपर बल दैत अछि, मुदा जीव, उपकरण आ मानवीय संस्था बुझबमे कार्य वा उद्देश्यक भाषा एखनहुँ उपयोगी अछि। सावधानी ई जे मानवीय उद्देश्य प्रकृतिपर आरोपित नहि हो, आ ‘काज की अछि’ प्रश्न ‘उत्पन्न कोना भेल’क स्थान नहि लय।

26.14 सद्गुण, अभ्यास आ मध्यमार्ग

अरस्तूक नैतिकतामे सद्गुण केवल नियम मानबाक घटना नहि; उचित भाव, चयन आ अभ्याससँ बनल चरित्र अछि। साहस भयक अभाव नहि, उचित कारण लेल उचित ढंगसँ भयक सामना अछि। मध्यमार्ग गणितीय बीच नहि; परिस्थिति, व्यक्ति आ विवेक अनुसार अति आ न्यूनताक बीच उचित आचरण अछि।

एहि दृष्टिक सीमा सेहो अछि। चरित्रपर बल देला सँ अन्यायपूर्ण संस्था अदृश्य भऽ सकैत अछि, आ ‘उचित’ निर्णय ककर सामाजिक अनुभवसँ बनल से प्रश्न रहैत अछि। गरिमा-आधारित नैतिकता सद्गुणकेँ अधिकार, समान दर्जा आ संरचनात्मक न्यायसँ जोड़ि पढ़ैत अछि।

अध्याय-निष्कर्ष

सुकरात, प्लेटो आ अरस्तू दार्शनिक इतिहासक तीन विशिष्ट शैली प्रस्तुत करैत छथि—प्रश्न, संवादात्मक सिद्धान्त-निर्माण, आ व्यवस्थित विश्लेषण। समानान्तर दर्शन हुनक बौद्धिक शक्ति ग्रहण करैत अछि, मुदा एकहि संग पूछैत अछि जे ज्ञानक अधिकार ककरा भेटल, नागरिकता ककरा लेल छल, आ कोन अनुभव दार्शनिक इतिहासक बाहर छोड़ल गेल। महान परम्पराक सम्मान ओकर आलोचना रोकैत नहि; उलटे, कठोर आलोचना सम्मानक गम्भीर रूप अछि।

अध्याय-ग्रन्थसूची

Plato — Apology; Republic; Meno; Phaedo.

Aristotle — Nicomachean Ethics; Politics; Metaphysics.

Xenophon — Memorabilia.

Gregory Vlastos — Socrates: Ironist and Moral Philosopher.

Terence Irwin — Plato’s Ethics; Aristotle’s First Principles.

Julia Annas — An Introduction to Plato’s Republic.

अध्याय 27 – मध्ययुगीन दर्शन

“मध्ययुग” शब्द स्वयं एक विशेष यूरोपीय काल-विभाजन अछि। एकरा सम्पूर्ण विश्वक इतिहासपर यांत्रिक रूपसँ लागू कएल जाए तँ भ्रम उत्पन्न होइत अछि। यूरोपक मध्ययुगक समय भारत, इस्लामी संसार, यहूदी

बौद्धिक केन्द्र, चीन आ अन्य क्षेत्रमे अलग ऐतिहासिक कालक्रम आ दार्शनिक परिवर्तन चलि रहल छल। तेँ एहि अध्यायमे “मध्ययुगीन दर्शन” मुख्यतः यूरोपीय, इस्लामी आ यहूदी दार्शनिक संवादक सन्दर्भमे प्रयुक्त अछि।

27.1 “अन्धकार युग”क मिथक

लोकप्रिय इतिहास कखनो प्राचीन यूनानक बाद एकटा अन्धकार आ फेर Renaissance/Modernity क अचानक प्रकाशक कथा सुनबैत अछि। ई अत्यधिक सरल रेखा अछि। यूनानी दर्शनक ग्रन्थसभक संरक्षण, अनुवाद, व्याख्या आ आलोचनामे सीरियाक, अरबी, फारसी, यहूदी आ लैटिन विद्वानसभक विशाल योगदान रहल। दर्शन नष्ट भऽ कऽ पुनर्जन्म नहि लेलक; अनेक भाषिक-सांस्कृतिक मार्गसँ रूपान्तरित भेल।

27.2 आस्था आ तर्क

मध्ययुगीन दर्शनक एक केन्द्रीय प्रश्न—धार्मिक प्रकाशना आ मानवीय तर्कक सम्बन्ध की? जँ सत्य ईश्वरसँ अबैत अछि तँ दर्शनक स्वतंत्र भूमिका की? आ जँ तर्क स्वतंत्र अछि तँ धार्मिक ग्रन्थक व्याख्या कोना हो? एहि प्रश्नक उत्तर अलग परम्परामे अलग रहल।

ऑगस्टीन विश्वास आ समझक परस्पर सम्बन्धपर बल दैत छथि। अन्सेल्म ईश्वर-अस्तित्वक तर्क प्रस्तुत करैत छथि। थॉमस अक्वाइनस अरस्तूकीय दर्शन आ ईसाई धर्मशास्त्रक विस्तृत समन्वय करैत छथि। मुदा एहि यूरोपीय विकासकेँ इस्लामी दर्शनसँ अलग पढ़ल जाए तँ कथा अधूरी रहत।

27.3 इस्लामी दर्शनक भूमिका

अल-फाराबी, इब्न सीना, इब्न रुश्द, अल-गजाली आदि विचारक यूनानी दर्शनक केवल संरक्षक नहि छलाह; ओ अपन स्वतन्त्र प्रश्न, आलोचना आ सिद्धान्त विकसित कएलनि। इब्न सीनाक अस्तित्व-तत्त्वमीमांसा, आवश्यक आ सम्भव अस्तित्वक भेद, आत्मा-विमर्श; इब्न रुश्दक अरस्तू-व्याख्या; अल-गजालीक दार्शनिक आलोचना—ई सभ मध्ययुगीन बौद्धिक इतिहासक सक्रिय निर्माण अछि।

27.4 यहूदी दार्शनिक परम्परा

माइमोनिडीज जकाँ विचारक धर्मग्रन्थ, तर्क, भाषा आ ईश्वरक गुणक प्रश्नपर महत्वपूर्ण चिन्तन करैत छथि। नकारात्मक धर्ममीमांसा—ईश्वरक विषयमे हम की नहि कहि सकैत छी—भाषाक सीमा आ धार्मिक ज्ञानक समस्या सामने आनैत अछि।

27.5 सार्वभौमक समस्या

“मनुष्य” जकाँ सामान्य शब्द वास्तविकता मे कोनो स्वतन्त्र सामान्य तत्त्वक संकेत करैत अछि, अथवा केवल अनेक व्यक्तिक लेल एक नाम? सार्वभौम सम्बन्धी यथार्थवाद, नामवाद आ अवधारणावादक विवाद मध्ययुगीन तर्क आ भाषा-दर्शनक केन्द्रीय प्रश्न बनल। एहि प्रश्नक तुलनात्मक प्रतिध्वनि भारतीय सामान्य, अपोह आ शब्दार्थ-विमर्शमे भेटि सकैत अछि, मुदा ऐतिहासिक समानता मानि लेब उचित नहि।

27.6 अक्वाइनस: तर्क, प्रकृति आ ईश्वर

अक्वाइनस अरस्तूकीय दर्शनकेँ ईसाई धर्ममीमांसासँ संयोजित करैत छथि। हुनक “पाँच मार्ग” ईश्वर-अस्तित्वक विभिन्न प्रकारक तर्क प्रस्तुत करैत अछि—परिवर्तन, कारण, सम्भाव्यता, मूल्य-क्रम आ प्रयोजनसँ। आधुनिक धर्म-दर्शन एहि तर्कसभपर व्यापक बहस करैत अछि। समानान्तर दर्शनक लेल महत्वपूर्ण बात ई जे आस्थाक प्रश्न तर्कक सीमा बाहर घोषित नहि कएल गेल।

27.7 विश्वविद्यालय, टिप्पणी आ शास्त्रार्थ

मध्ययुगीन यूरोपीय विश्वविद्यालयी संस्कृति प्रश्न (quaestio), आपत्ति, प्रत्युत्तर आ निष्कर्षक व्यवस्थित रूप विकसित करैत अछि। भारतीय पूर्वपक्ष–उत्तरपक्ष परम्परासँ रूपात्मक तुलना रोचक अछि। दुनू परम्परामे प्रतिपक्षक तर्क प्रस्तुत करब आ उत्तर देब बौद्धिक शैलीक अंग अछि, यद्यपि सामाजिक संस्था आ ऐतिहासिक विकास अलग अछि।

27.8 धर्म, सत्ता आ सीमा

मध्ययुगीन दर्शनकेँ केवल तर्क-परम्परा कहब पर्याप्त नहि। धार्मिक आ राजनीतिक सत्ता, विधर्मक प्रश्न, स्त्रीक सीमित संस्थागत पहुँच, यहूदी आ अन्य अल्पसंख्यक समुदायक स्थिति—ई सभ ज्ञानक सामाजिक भूगोल प्रभावित करैत छल। जे ग्रन्थ सुरक्षित भेल, जे पाठ्यक्रम मान्य भेल, जे आवाज संस्थागत स्थान पेलक—ई सभ सत्ता-संरचनासँ पृथक नहि।

27.9 समानान्तर पाठ

समानान्तर दर्शन मध्ययुगकेँ आधुनिकताक विफल पूर्वकथा नहि मानैत अछि। ई अपन स्वतन्त्र प्रश्नवला जटिल काल अछि। एहि कालक बौद्धिक उत्पादन आधुनिक विज्ञान, विश्वविद्यालय, विधि, तत्त्वमीमांसा आ धर्म-दर्शनक अनेक प्रश्नक पृष्ठभूमि बनल।

पूर्वपक्ष: मध्ययुगीन दर्शन धर्मशास्त्र मात्र छल?

उत्तरपक्ष: धार्मिक प्रश्न प्रमुख छल, मुदा तर्क, भाषा, अस्तित्व, कारणता, ज्ञान, नैतिकता, राजनीति आ विधिक प्रश्न स्वतंत्र दार्शनिक विश्लेषण पेलक। धर्मशास्त्र आ दर्शनक सीमा सदा स्पष्ट नहि, पर एकरा दर्शन-विहीन कहब ऐतिहासिक रूपसँ गलत।

27.10 विश्वास आ बुद्धिक अनेक सम्बन्ध

मध्ययुगीन दर्शनकेँ केवल आस्था द्वारा तर्कक दमन कहब ऐतिहासिक विविधता मिटा दैत अछि। किछु विचारक तर्ककेँ धार्मिक सत्यक स्पष्टीकरण मानैत छथि, किछु प्राकृतिक बुद्धिसँ सिद्ध होय योग्य निष्कर्ष आ प्रकाशनपर निर्भर दाबी अलग करैत छथि, किछु तर्कक सीमा पर बल दैत छथि। ‘विश्वास’ आ ‘बुद्धि’ दू स्थिर शिविर नहि, अनेक सम्बन्धक नाम छथि।

दार्शनिक परीक्षा लेल प्रश्न ई जे कोन निष्कर्ष सार्वजनिक कारणसँ समर्थित अछि आ कोन विशिष्ट धार्मिक प्रतिज्ञापर निर्भर। धार्मिक समुदाय भीतरक तर्क वैध हो सकैत अछि, मुदा राज्यक बाध्यकारी निर्णय लेल साझा प्रमाण चाही। एहि भेदसँ आस्थाक अपमान नहि, कारणक क्षेत्र स्पष्ट होइत अछि।

27.11 सार्वभौम आ विशेष वस्तुक समस्या

‘मनुष्य’, ‘वृक्ष’ वा ‘लालिमा’ जकाँ सामान्य पद वास्तविक सार्वभौम सत्ता सूचित करैत अछि, वस्तुसभमे उपस्थित साझा रूप, मनक अवधारणा, अथवा नाम मात्र? मध्ययुगीन यथार्थवाद, संकल्पनावाद आ नामवाद एहि प्रश्नक भिन्न उत्तर दैत अछि। विवाद भाषाक खेल नहि, कारण ज्ञान, वर्गीकरण आ ईश्वरक सृष्टि बुझबाक ढाँचासँ जुड़ल अछि।

भारतीय जाति, सामान्य, अपोह आ शब्दार्थ-विवादसँ तुलना उपयोगी अछि, मुदा समान पद देखिते ऐतिहासिक समानता मानब अनुचित। दुनू परम्परामे समस्या-क्षेत्र आ तर्कक संरचना जाँचल जाए। तुलनाक लक्ष्य ‘कियो पहिने कहल’ सिद्ध करब नहि, वैकल्पिक समाधानक शक्ति आ सीमा देखब होयत।

27.12 एन्सेल्मक तर्क आ अवधारणासँ अस्तित्व

एन्सेल्मक प्रसिद्ध तर्क ईश्वरक अवधारणासँ अस्तित्वक निष्कर्ष धरि पहुँचबाक प्रयास करैत अछि। तर्कक बल एहि प्रश्नमे अछि जे सर्वोच्च सम्भव सत्ता केवल मनमे रहला पर की ओहि अवधारणासँ विरोध उत्पन्न होइत अछि। आलोचक पूछैत छथि जे कोनो वस्तुक परिभाषामे पूर्णता जोड़ि ओकर बाह्य अस्तित्व सिद्ध कएल जा सकैत अछि की नहि।

एहि बहसकेँ एक वाक्यक चमत्कार नहि मानल जाए। अवधारणा, सम्भाव्यता, आवश्यक अस्तित्व आ वास्तविकता बीच सम्बन्ध स्पष्ट करब पड़त। तर्क सफल हो वा नहि, ई देखबैत अछि जे ईश्वरक प्रश्न केवल अनुभवजन्य वस्तु खोजबाक प्रश्न नहि; तत्त्वमीमांसा आ तर्कक प्रकृति स्वयं विवादमे प्रवेश करैत अछि।

27.13 थॉमस एक्विनास आ कारणक मार्ग

एक्विनास गति, कारण, सम्भाव्यता, मूल्यक्रम आ जगतक व्यवस्था सँ ईश्वरक दिशामे अनेक मार्ग प्रस्तुत करैत छथि। ई सभ एकहि तर्कक पुनरावृत्ति नहि। प्रत्येक मार्ग अनुभवगत जगतसँ आरम्भ करैत अछि, मुदा निष्कर्ष धरि पहुँचबाक लेल कारण-श्रृंखला, निर्भरता आ अन्तिम व्याख्याक सिद्धान्त मानैत अछि।

आलोचना पूछैत अछि जे अनन्त श्रृंखला असम्भव किएक, पहिल कारण धार्मिक परम्पराक ईश्वर किएक, आ जगतक व्यवस्था प्राकृतिक प्रक्रियासँ कतेक बुझल जा सकैत अछि। समानान्तर पद्धति तर्ककेँ ओकर सबल रूपमे पुनर्निर्मित कऽ प्रत्येक अतिरिक्त प्रतिज्ञा अलग जाँचैत अछि।

27.14 इस्लामी आ यहूदी दार्शनिक संवाद

मध्ययुगीन दर्शन केवल लैटिन ईसाई यूरोपक कथा नहि। अरबी आ यहूदी दार्शनिक परम्परासभ यूनानी ग्रन्थक संरक्षण, अनुवाद, आलोचना आ नूतन विकासमे निर्णायक छल। बुद्धि, प्रकाशन, आत्मा, सृष्टि, आवश्यक सत्ता आ कानूनक प्रश्न बहुभाषिक बौद्धिक संसारमे घुमैत रहल।

‘पूर्व’सँ ज्ञान ‘पश्चिम’ पहुँचल—एहन एकदिश सरल कथा सेहो अपर्याप्त। अनुवाद चयन, टीका, संस्थागत संरक्षण आ राजनीतिक प्रसंगसँ बदलैत अछि। इतिहासक न्याय लेल विचारक नाम जोड़ब मात्र नहि, ज्ञान-संचरणक सम्बन्ध, ऋण आ विवाद स्पष्ट करब आवश्यक अछि।

अध्याय-निष्कर्ष

मध्ययुगीन दर्शनक इतिहास ज्ञानक बहुभाषिक परिसंचरणक इतिहास सेहो अछि। यूनानी, अरबी, यहूदी आ लैटिन संसार परस्पर अनुवाद, आलोचना आ पुनर्व्याख्यासँ जुड़ल। एहि कालकेँ अन्धकार कहि हटायब इतिहासक जटिलताकेँ नष्ट करैत अछि। समानान्तर दर्शन इतिहासकेँ सीधा प्रगति-रेखा नहि, बहुकेन्द्रिक संवादक रूपमे पढ़ैत अछि।

अध्याय-ग्रन्थसूची

Augustine — Confessions; City of God.

Anselm — Proslogion.

Thomas Aquinas — Summa Theologiae; Summa Contra Gentiles.

Avicenna (Ibn Sīnā) — The Metaphysics of The Healing.

Averroes (Ibn Rushd) — Long Commentaries; The Decisive Treatise.

Al-Ghazālī — The Incoherence of the Philosophers.

Maimonides — The Guide for the Perplexed.

Etienne Gilson — History of Christian Philosophy in the Middle Ages.

अध्याय 28 – देकार्त, स्पिनोजा आ लाइबनित्स

सतरहम शताब्दीक यूरोपमे विज्ञान, गणित, धर्मयुद्ध, राजनीतिक परिवर्तन आ ज्ञानक संस्थासभक रूपान्तरणक बीच निश्चित ज्ञानक आधारक प्रश्न तीक्ष्ण भेल। देकार्त, स्पिनोजा आ लाइबनित्सकेँ प्रायः “बुद्धिवादी” कहल जाइत अछि। ई वर्गीकरण अध्ययन लेल उपयोगी अछि, मुदा तीनू दार्शनिकक विचार एकरूप नहि।

28.1 देकार्तक पद्धतिगत संशय

देकार्त एहन विश्वास खोजैत छथि जे संशयक कठोरतम परीक्षा सहि सकय। इन्द्रिय भ्रमित करैत अछि; स्वप्न अनुभव जागृत अनुभव-जकाँ बुझा सकैत अछि; अतः ओ क्रमशः अपन विश्वास पर संशय करैत छथि। मुदा संशय करैत समय एक बात नकारल नहि जा सकैत—संशय करयवला चिन्तनशील अस्तित्व अछि। एतयसँ cogito क प्रसिद्ध निष्कर्ष निकलैत अछि।

एहि संशयक उद्देश्य स्थायी संशय नहि, निश्चित आधार खोजब अछि। समानान्तर दर्शन देकार्तक संशयकेँ अनुशासित पद्धति रूपमे ग्रहण करैत अछि, मुदा सर्वव्यापी संशयकेँ दैनिक ज्ञानक आदर्श नहि मानैत। न्याय

परम्परा संशय उत्पन्न होयबाक विशिष्ट कारण पर परीक्षण करैत अछि; देकार्त पद्धतिगत रूपसँ व्यापक संशय उत्पन्न करैत छथि। तुलना उपयोगी, समानता घोषित करब नहि।

28.2 मन–देह द्वैत

देकार्त मनकेँ विचारशील तत्त्व आ देहकेँ विस्तृत तत्त्वक रूपमे अलग करैत छथि। एहि विभाजनसँ चेतना, पहचान आ शरीरक प्रश्न नूतन रूपमे सामने अबैत अछि। मुदा तखन कठिनाई उठैत अछि—दू भिन्न तत्त्व परस्पर कारणात्मक सम्बन्ध कोना बनबैत अछि? आधुनिक मन-दर्शनक अनेक प्रश्न एहि Cartesian विरासतसँ जुड़ल अछि।

28.3 स्पिनोजा: एक तत्त्व, अनेक गुण

स्पिनोजा देकार्तक द्वैतक स्थानपर एकतत्त्ववाद प्रस्तुत करैत छथि। ईश्वर अथवा प्रकृति एकहि अनन्त तत्त्वक दू नाम-जकाँ समझल जाइत अछि। मन आ देह दू स्वतंत्र पदार्थ नहि, बल्कि एकहि वास्तविकताक भिन्न गुणात्मक अभिव्यक्ति।

स्पिनोजाक दर्शनमे स्वतंत्रता मनमाना इच्छा नहि। हम कारण-क्रमक अंग छी; वास्तविक स्वतंत्रता आवश्यकताकेँ बुझब, भावनात्मक दास्यसँ मुक्त होयब आ बुद्धिगत जीवन विकसित करबमे अछि। एहि दृष्टिमे नैतिकता ब्रह्माण्डीय समझसँ जुड़ैत अछि।

28.4 भावना आ स्वतंत्रता

Ethics क महत्त्व केवल तत्त्वमीमांसामे नहि; स्पिनोजा भय, आशा, ईर्ष्या, प्रेम, घृणा आ इच्छाकेँ कारणात्मक रूपसँ बुझैत छथि। भावनाकेँ केवल नैतिक दोष कहि नकारबक बजाय ओकर उत्पत्ति बुझब आवश्यक अछि। आधुनिक मनोविज्ञानसँ सीधा समानता उचित नहि, मुदा भावनात्मक जीवनक कारणात्मक विश्लेषण दार्शनिक रूपसँ उल्लेखनीय अछि।

28.5 लाइबनित्स: पर्याप्त कारण

लाइबनित्स पूछैत छथि—किछु अछि किएक, शून्य किएक नहि? पर्याप्त कारणक सिद्धान्त अनुसार कोनो तथ्य वा सत्यक उचित कारण चाही। संगहि ओ contradiction क सिद्धान्त, सम्भव संसार, मोनाड आ पूर्वस्थापित सामंजस्यक अवधारणा विकसित करैत छथि।

“सम्भव संसार” आधुनिक modal दर्शनमे व्यापक प्रभाव रखैत अछि, यद्यपि आधुनिक उपयोग लाइबनित्सक मूल तत्त्वमीमांसासँ भिन्न हो सकैत अछि।

28.6 मोनाड आ बहुलता

लाइबनित्सक मोनाड सरल, अविभाज्य तत्त्व-जकाँ अछि जे अपन-अपन दृष्टिकोणसँ जगत प्रतिबिम्बित करैत अछि। भिन्न दृष्टि एकहि जगतक भिन्न प्रस्तुति दे सकैत अछि। समानान्तर दर्शन एतयसँ बहुदृष्टिगतताक रूपकात्मक प्रेरणा लऽ सकैत अछि, मुदा अपन सिद्धान्तकेँ लाइबनित्सक प्रत्यक्ष ऐतिहासिक उत्तराधिकारी घोषित नहि करैत।

28.7 बुद्धिवादक सीमा

देकार्त, स्पिनोजा, लाइबनित्स सभ गणितीय स्पष्टता, तर्क आ सिद्धान्तक उच्च आदर्श रखैत छथि। मुदा अनुभवसँ पर्याप्त सम्बन्ध बिना तर्क आत्मसंगत होइतहुँ जगतसँ कटि सकैत अछि। एहि कारण अगिला अनुभववादी परम्परा प्रश्न उठबैत अछि—विचारक सामग्री अबैत कतयसँ अछि?

28.8 वर्गीकरणक सावधानी

“बुद्धिवादी बनाम अनुभववादी”क पाठ्यपुस्तकीय विभाजन दार्शनिक इतिहासक शुरुआती नक्शा अछि, भूभाग स्वयं नहि। देकार्त अनुभवक चर्चा करैत छथि; लॉक तर्कक उपयोग करैत छथि; लाइबनित्स अनुभवकेँ नकारैत नहि। समानान्तर दर्शन प्रत्येक विचारककेँ ओकर तर्कक जटिलतामे पढ़ैत अछि।

पूर्वपक्ष: निश्चित ज्ञानक खोज असम्भव आदर्श अछि?

उत्तरपक्ष: पूर्ण अचूकता सम्भव न हो, तथापि स्पष्टता, कारण आ संशय-परीक्षणक आदर्श मूल्यवान अछि। समस्या तखन होइत अछि जखन अचूकताकेँ ज्ञानक अनिवार्य शर्त बनाओल जाए। समानान्तर दर्शन त्रुटिसंशोध्य ज्ञानक पक्ष लेैत अछि।

28.9 विधिसम्मत संशयक सीमा

देकार्तक संशय जीवनक सभ विश्वास स्थायी रूपसँ त्यागब नहि, निश्चित आधार खोजबाक विधि अछि। इन्द्रिय कखनो भ्रम दैत अछि, स्वप्न अनुभव जागरण-जकाँ लगैत अछि, आ विचारमे व्यवस्थित धोखा सम्भव मानल जा सकैत अछि। मुदा ‘किछु निश्चित नहि’ निष्कर्ष स्वयं संशयक क्रियाकेँ मानि रहल अछि।

एहि पद्धतिक शक्ति आधारहीन विश्वास हटेबामे अछि; सीमा ई जे प्रतिदिनक ज्ञान अनन्त निश्चितता नहि माँगैत। न्यायालय, विज्ञान आ नागरिक जीवन सम्भाव्यता, पुष्ट स्रोत आ त्रुटि-संशोधनपर चलैत अछि। पूर्ण निश्चितता न भेटला कारण सभ दाबी समान नहि भऽ जाइत।

28.10 मन-शरीरक अन्तरक्रिया

जँ मन विस्तारहीन चिन्तनशील द्रव्य आ शरीर विस्तारित द्रव्य अछि, तँ दूनू एक-दोसरपर प्रभाव कोना दैत अछि? इच्छासँ हाथ उठैत अछि आ चोटसँ पीड़ा होइत अछि। देकार्तीय द्वैत अनुभवक निजी चेतना आ भौतिक शरीरक भेद बचबैत अछि, मुदा अन्तरक्रियाक कठिनाई उत्पन्न करैत अछि।

आधुनिक चेतना-दर्शनमे एहि समस्याक नूतन रूप अछि, मुदा देकार्तकेँ सीधा आधुनिक स्नायुविज्ञानक विरोधी कहब अनुचित। ऐतिहासिक सिद्धान्त ओकर समयक यान्त्रिक प्रकृति-विचार भीतर बुझल जाए। समानान्तर अध्ययन निजी अनुभवक अवमूल्यन नहि करैत, संगहि शारीरिक प्रमाणक सार्वजनिक जाँच आवश्यक मानैत अछि।

28.11 स्पिनोजाक एकद्रव्यवाद

स्पिनोजा ईश्वर वा प्रकृतिक एकमात्र अनन्त द्रव्य मानैत छथि; मन आ शरीर स्वतंत्र द्रव्य नहि, एक वास्तविकताक भिन्न गुणगत अभिव्यक्ति रूपमे बुझल जाइत अछि। एतय ईश्वर जगतसँ बाहर कारीगर-जकाँ कारण नहि। एहि कारण परम्परागत व्यक्तिवादी ईश्वर-धारणासँ तनाव उत्पन्न होइत अछि।

एकद्रव्यवाद अद्वैतक समान अछि—एहन त्वरित निष्कर्ष गलत होयत। ब्रह्म, माया, आत्मन्, गुण, मोक्ष आ स्पिनोजाक द्रव्य, गुण, प्रकार, बौद्धिक प्रेमक वैचारिक पृष्ठभूमि अलग अछि। तुलना निर्भरता, एकता आ भिन्नताक प्रश्नपर हो, शब्दगत अभिन्नतापर नहि।

28.12 आवश्यकता, स्वतंत्रता आ भाव

स्पिनोजाक अनुसार मनुष्य प्रायः अपन इच्छाकेँ स्वतंत्र मानैत अछि कारण ओ इच्छाक कारण नहि जानैत। स्वतंत्रताक अर्थ कारणरहित चयन नहि, आवश्यकताक पर्याप्त बोध आ सक्रिय भावक वृद्धि अछि। जे भाव बाहरी कारणक अधीन निष्क्रिय बनबैत अछि, ओकर ज्ञान मनुष्यकेँ अधिक सक्रिय करि सकैत अछि।

ई दृष्टि नैतिक दोषारोपण कम करि कारण बुझबाक प्रेरणा दैत अछि, मुदा उत्तरदायित्व समाप्त कएलासँ न्याय कठिन होयत। समानान्तर दर्शन कारणगत समझ, रोकथाम, सुधार आ गरिमाक रक्षा जोड़ैत अछि। व्यक्ति कारण-श्रृंखलाक भाग होइतहुँ सामाजिक उत्तरदायित्वक सम्बन्धमे रहैत अछि।

28.13 लाइबनित्सक पर्याप्त कारण

पर्याप्त कारणक सिद्धान्त पूछैत अछि—एहन किएक, अन्यथा किएक नहि? केवल घटना गिनब व्याख्या नहि। लाइबनित्स सम्भव जगत, आवश्यक सत्य आ तथ्यगत सत्यक भेदक माध्यमसँ जगतक अस्तित्व आ व्यवस्था बुझबाक प्रयास करैत छथि।

मुदा प्रत्येक बातक पर्याप्त कारण माँगलासँ अन्तिम कारण स्वयं कोना समर्थित होयत, आ मानवीय ज्ञान ओ कारण धरि पहुँचि सकैत अछि की नहि—ई आपत्ति रहैत अछि। व्यावहारिक अनुसन्धानमे सिद्धान्त उपयोगी प्रश्न अछि, पूर्ण व्याख्या भेटबाक दावा नहि। अनिश्चितता स्वीकारितो कारण खोज जारी राखल जा सकैत अछि।

अध्याय-निष्कर्ष

देकार्त संशयक अनुशासन, स्पिनोजा वास्तविकताक एकता आ कारणात्मक समझ, लाइबनित्स पर्याप्त कारण आ सम्भाव्यताक गम्भीरता सामने आनैत छथि। तीनू मिलि आधुनिक यूरोपीय तत्त्वमीमांसा आ ज्ञानमीमांसाक प्रमुख प्रश्न बनबैत छथि, मुदा हुनका एक “बुद्धिवादी” कोठलीमे बन्द करब उचित नहि।

René Descartes — Meditations on First Philosophy; Discourse on Method.

Baruch Spinoza — Ethics; Theological-Political Treatise.

G. W. Leibniz — Monadology; Discourse on Metaphysics; New Essays on Human Understanding.

Margaret Wilson — Descartes.

Michael Della Rocca — Spinoza.

Robert Merrihew Adams — Leibniz: Determinist, Theist, Idealist.

अध्याय 29 – लॉक, बर्कली आ ह्यूम

लॉक, बर्कली आ ह्यूमकेँ प्रायः ब्रिटिश अनुभववादी परम्पराक तीन प्रमुख नाम मानल जाइत अछि। अनुभव ज्ञानक आरम्भिक सामग्रीक महत्त्व रखैत अछि—ई साझा प्रवृत्ति भेटैत अछि; मुदा बाह्य जगत, पदार्थ, आत्मा, कारणता आ ज्ञानक सीमा सम्बन्धी हुनक निष्कर्ष बहुत भिन्न अछि।

29.1 लॉक: मनक सामग्री कतयसँ?

Locke अपन Essay Concerning Human Understanding मे जन्मजात विचारक कठोर रूपपर प्रश्न करैत छथि। संवेदना आ आत्म-निरीक्षण अनुभवक मुख्य स्रोत बनैत अछि। सरल विचार अनुभवसँ अबैत अछि; मन ओकर संयोजन, तुलना आ अमूर्तन द्वारा जटिल विचार बनबैत अछि।

एहि दृष्टिमे ज्ञानक सीमा महत्वपूर्ण अछि। मनुष्यक बुद्धि सीमित अछि; सभ प्रश्नक निश्चित उत्तर सम्भव नहि। व्यावहारिक जीवन लेल पर्याप्त ज्ञान आ सम्भाव्यता सेहो आवश्यक भूमिका निभबैत अछि। ई ज्ञानात्मक विनम्रता समानान्तर दर्शनक त्रुटिसंशोध्य ज्ञान-दृष्टिसँ संवाद करैत अछि।

29.2 प्राथमिक आ द्वितीयक गुण

लॉक वस्तुक आकार, विस्तार, गति आदि गुण आ रंग, स्वाद, गन्ध-जकाँ अनुभूति-निर्भर गुण बीच भेद करैत छथि। एहि भेदपर बादमे व्यापक आलोचना भेल। बर्कली प्रश्न उठबैत छथि—जँ द्वितीयक गुण मन-निर्भर अछि तँ प्राथमिक गुण पूर्णत: मन-स्वतन्त्र कोना सिद्ध होयत?

29.3 व्यक्ति-पहिचान

लॉकक व्यक्ति-पहिचान सम्बन्धी विचार विशेष प्रभावशाली अछि। व्यक्ति वही भौतिक पदार्थ वा आत्मा मात्र नहि; चेतना आ स्मृतिक निरन्तरता महत्वपूर्ण भूमिका निभबैत अछि। मुदा स्मृति त्रुटिपूर्ण होइत अछि; विस्मृति भेल तँ पहचान समाप्त? एहि प्रश्नसँ आधुनिक personal identity दर्शन विकसित होइत अछि।

29.4 बर्कली: पदार्थक आलोचना

बर्कली भौतिक पदार्थक एहन स्वतंत्र आधार मानबाक आवश्यकता पर प्रश्न करैत छथि जे प्रत्यक्ष अनुभवसँ परे अछि। हुनक प्रसिद्ध आदर्शवादी सूत्रानुसार अस्तित्व आ अनुभूति/अनुभवक सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ अछि। ओ सामान्य जीवनक वस्तु नकारैत नहि; ओ “पदार्थ” नामक अज्ञात आधारक दार्शनिक आवश्यकता नकारैत छथि।

एहि सिद्धान्तकेँ “जगत कल्पना अछि” कहि सरल बना देब गलत होयत। बर्कलीक दर्शन धार्मिक तत्त्वमीमांसा, अनुभूति आ भाषिक आलोचनासँ जुड़ल अछि।

29.5 ह्यूम: प्रत्यक्ष प्रभाव आ विचार

ह्यूम मनक सामग्रीकेँ impressions आ ideas रूपमे विश्लेषित करैत छथि। ओ देखैत छथि जे अनेक दार्शनिक अवधारणा अनुभवसँ सम्बन्ध स्पष्ट नहि करैत। एहि कारण ओ आत्मा, कारणता, पदार्थ आ आवश्यक सम्बन्धक दावासभपर कठोर प्रश्न उठबैत छथि।

29.6 कारणता

हम एक घटना बाद दोसर घटना बारम्बार देखैत छी—आगि बाद ताप, धक्का बाद गति। मुदा “आवश्यक सम्बन्ध” स्वयं प्रत्यक्ष देखैत छी की? ह्यूमक अनुसार अनुभव नियमित अनुक्रम दैत अछि; मन आदतक कारण अपेक्षा बनबैत अछि। एहि विश्लेषणसँ कारणताक दार्शनिक आधार चुनौती पबैत अछि।

29.7 आगमनक समस्या

भविष्य अतीतक समान रहत—ई धारणा वैज्ञानिक आ दैनिक जीवन दुनूक आधार अछि। मुदा एहि सिद्धान्तक तर्कसंगत औचित्य की? अतीतमे प्रकृति नियमित रहल, तेँ भविष्य सेहो नियमित रहत—ई तर्क स्वयं आगमनक उपयोग करैत अछि। ह्यूम एहि चक्रकेँ उजागर करैत छथि।

29.8 भारतीय व्याप्ति-विमर्शसँ संवाद

भारतीय अनुमानमीमांसामे व्याप्ति—हेतु आ साध्यक अविनाभाव सम्बन्ध—क ज्ञान कोना सम्भव, ई केन्द्रीय प्रश्न अछि। न्याय, बौद्ध आ अन्य परम्परा एहि विषयमे अलग समाधान विकसित करैत छथि। ह्यूमक आगमन-संशय आ व्याप्तिक समस्या समान ऐतिहासिक समस्या नहि, मुदा सामान्यीकरणक औचित्य सम्बन्धी संरचनात्मक संवाद सम्भव अछि।

एहि तुलनामे सावधानी आवश्यक: “न्याय ह्यूमक समस्या पहिने समाधान कऽ देने छल” वा “ह्यूम भारतीय अनुमानकेँ अस्वीकार करैत छथि”—एहन कथन ऐतिहासिक आधार बिना अनुचित। उद्देश्य परस्पर प्रश्न, विजय घोषित करब नहि।

29.9 ह्यूमक आत्मा-विमर्श

आत्मनिरीक्षणमे स्थायी अपरिवर्तित आत्मा भेटैत अछि की केवल बदलैत अनुभवक प्रवाह? ह्यूमक bundle-प्रवृत्ति भारतीय बौद्ध अनात्म-विमर्शक याद दिआ सकैत अछि, मुदा दार्शनिक आधार, उद्देश्य आ ऐतिहासिक प्रसंग अलग अछि। तुलनात्मक दर्शन समानता आ भिन्नता दुनू स्पष्ट राखैत अछि।

29.10 नैतिकता आ भावना

ह्यूम नैतिक निर्णयमे भावनाक भूमिकापर बल दैत छथि। केवल तर्क मनुष्यकेँ कर्म लेल प्रेरित नहि करैत; सहानुभूति, अनुमोदन, सामाजिक भावना नैतिक जीवनक अंग अछि। समानान्तर दर्शन एतयसँ सीखैत अछि जे करुणा बिना तर्क निर्दय भऽ सकैत अछि, मुदा भावना बिना आलोचना सेहो पक्षपाती हो सकैत अछि।

पूर्वपक्ष: अनुभववाद स्वयं अनुभवसँ बाहर कोनो सिद्धान्त मानि सकैत अछि?

उत्तरपक्ष: “अनुभववाद” एकल कठोर सूत्र नहि। लॉक, बर्कली आ ह्यूमक मतभेद देखबैत अछि जे अनुभवक अर्थ, मनक भूमिका आ तर्कक स्थान पर स्वयं व्यापक विवाद अछि।

29.11 सरल विचार आ अनुभवक संरचना

लॉक अनुभवकेँ ज्ञानक स्रोत मानैत छथि, मुदा मन निष्क्रिय भण्डार मात्र नहि। संवेदन बाहरी वस्तुसँ सामग्री दैत अछि, आत्मपर्यवेक्षण मनक अपन क्रियाक बोध दैत अछि, आ मन तुलना, संयोजन तथा अमूर्तनसँ जटिल विचार बनबैत अछि। जन्मजात विचारक आलोचना अनुभवक संगठन नकारब नहि।

एहि दृष्टिक प्रश्न ई जे अनुभव स्वयं अवधारणाविहीन अछि की भाषा आ पूर्व अपेक्षा ओकरा आकार दैत अछि। बादक दर्शन देखबैत अछि जे ‘देल सामग्री’ कहब सरल नहि। समानान्तर ज्ञानमीमांसा प्रत्यक्षक प्राथमिकता मानैत अछि, मुदा स्मृति, भाषा, सामाजिक प्रशिक्षण आ अनुमानक भूमिका स्पष्ट रखैत अछि।

29.12 प्राथमिक आ गौण गुण

लॉक आकार, विस्तार, संख्या आ गति-जकाँ प्राथमिक गुण तथा रंग, स्वाद, गन्ध-जकाँ गौण गुणक भेद प्रस्तावित करैत छथि। प्राथमिक गुण वस्तुमे मानल जाइत, गौण गुण वस्तुक शक्ति आ अनुभवकर्ताक इन्द्रियक सम्बन्धसँ अनुभूति उत्पन्न करैत अछि।

भेद बाह्य जगतक यथार्थता बचबैत अछि, मुदा प्रश्न उठैत अछि जे प्राथमिक गुणक ज्ञान सेहो अनुभूति मार्फत अछि; तखन ओकर विशेष विश्वसनीयता कोना? आधुनिक विज्ञानक निष्कर्षकेँ लॉकक सिद्धान्तक सीधा प्रमाण नहि मानल जाए। दार्शनिक महत्त्व अनुभवक गुण आ बाह्य कारणक सम्बन्ध स्पष्ट करबामे अछि।

29.13 बर्कली आ अनुभूत वस्तु

बर्कली भौतिक द्रव्यक एहन अवधारणापर प्रश्न करैत छथि जे सिद्धान्ततः सभ अनुभूत गुणसँ अलग हो। हम रंग, आकार, कठोरता आ गति अनुभवैत छी; एहि गुणक पाछाँ पूर्णतः अज्ञेय पदार्थ मानब व्याख्या बढ़बैत अछि की नहि? हुनक आदर्शवाद वस्तुक नियमित अनुभव नकारैत नहि, ओकर स्वतंत्र भौतिक आधारपर प्रश्न करैत अछि।

‘देखनिहार नहि तँ वस्तु गायब’ एहन हास्यास्पद सार हुनक तर्कक उचित प्रतिनिधित्व नहि। ईश्वरक निरन्तर अनुभूति हुनक व्यवस्थामे वस्तुगत स्थिरता बचबैत अछि। आलोचना फेर ई पूछत जे ईश्वरक स्थापना स्वतंत्र प्रमाण पबैत अछि की सिद्धान्त बचेबाक साधन बनैत अछि।

29.14 ह्यूमक कारणता आ आदत

हम एक घटना बाद दोसर घटना बारम्बार देखैत छी, मुदा ‘आवश्यक सम्बन्ध’ इन्द्रियसँ प्रत्यक्ष नहि देखैत। ह्यूम कारणताक विश्वासकेँ नियमित सहघटना आ मनक आदतसँ जोड़ैत छथि। भविष्य अतीत-जकाँ होयत—ई मान्यता प्रत्येक आगमनक आधार, मुदा ओकर गैर-चक्राकार प्रमाण कठिन अछि।

एहि आलोचनासँ विज्ञान निरर्थक नहि होइत। विज्ञान नियंत्रित परीक्षण, गणितीय नमूना, वैकल्पिक व्याख्याक तुलना आ त्रुटि-संशोधनसँ साधारण आदतसँ अधिक विश्वसनीय बनैत अछि। तथापि निष्कर्ष संशोध्य रहैत अछि। ह्यूम निश्चिततात्क दम्भ घटबैत छथि, प्रमाणक अनुशासन नहि।

29.15 व्यक्तित्व आ स्मृति

लॉक व्यक्तिक निरन्तरतार्केँ चेतना आ स्मृतिसँ जोड़ैत छथि, जखनकि ह्यूम आत्मनिरीक्षणमे स्थिर आत्माक बदला अनुभूतिसभक प्रवाह देखैत छथि। प्रश्न ई जे स्मृति टूटला पर व्यक्ति बदलि जाइत अछि की नहि, आ गलत स्मृति उत्तरदायित्वकेँ कोना प्रभावित करैत अछि।

शरीर, स्मृति, सामाजिक पहिचान आ नैतिक सम्बन्ध—सभ निरन्तरतामे भूमिका रखैत अछि। एकटा कसौटी सभ प्रसंग सुलझा नहि सकैत। न्यायिक उत्तरदायित्व, पारिवारिक सम्बन्ध आ आत्मानुभव अलग प्रश्न उठा सकैत अछि। सहअस्तित्वात्मक दृष्टि व्यक्तिकेँ न शाश्वत एकक मात्र मानैत, न क्षणिक प्रवाह मात्र।

अध्याय-निष्कर्ष

लॉक ज्ञानक उत्पत्ति आ सीमा, बर्कली पदार्थक अवधारणा, ह्यूम कारणता, आत्मा आ आगमनक औचित्यपर मूल प्रश्न उठबैत छथि। समानान्तर दर्शन विशेषतः ह्यूमक आगमन-संशयकेँ भारतीय व्याप्ति-विमर्शसँ संवादमे रखैत अछि—ऐतिहासिक एकरूपता बिना, समस्या-संरचनात्मक तुलना द्वारा।

अध्याय-ग्रन्थसूची

John Locke — An Essay Concerning Human Understanding; Two Treatises of Government.

George Berkeley — A Treatise Concerning the Principles of Human Knowledge; Three Dialogues.

David Hume — A Treatise of Human Nature; An Enquiry Concerning Human Understanding; An Enquiry Concerning the Principles of Morals.

Barry Stroud — Hume.

Michael Ayers — Locke.

Kenneth Winkler — Berkeley: An Interpretation.

अध्याय 30 – कान्ट

इमानुएल कान्ट आधुनिक दर्शनक एहन मोड़ छथि जतय बुद्धिवाद आ अनुभववादक पूर्ववर्ती विवाद नूतन रूप पबैत अछि। हुनक प्रश्न अछि—अनुभव सम्भव कोना अछि? ज्ञानक सीमा की? नैतिक कर्तव्यक आधार की? सौन्दर्यात्मक निर्णय कोना सम्भव? मनुष्य स्वतंत्र कोना सोचल जा सकैत अछि?

30.1 ‘कोपरनिकीय’ परिवर्तन

कान्ट प्रस्ताव करैत छथि जे ज्ञानमे मन केवल बाहरसँ आबयवला सामग्रीक निष्क्रिय पात्र नहि। अनुभूतिक संरचना मे ज्ञाताक योगदान अछि। स्थान आ समय अनुभूतिक रूप, आ बुद्धिक श्रेणी अनुभवकेँ व्यवस्थित करैत अछि। एहि कारण हम वस्तुकेँ जेना हमरा अनुभवमे प्रकट होइत अछि ताहि रूपमे जानैत छी; वस्तु अपने-आपमे की अछि, ओकर ज्ञान सीमित अछि।

30.2 अनुभवपूर्व आ अनुभवोत्तर

कान्ट a priori आ a posteriori ज्ञानक भेदकेँ नूतन गहराई दैत छथि। संगहि analytic आ synthetic निर्णयक भेद पर चर्चा करैत synthetic a priori ज्ञानक सम्भावना पूछैत छथि। गणित आ प्राकृतिक विज्ञानक सार्वभौमिकता समझेबाक हुनक परियोजना एहि प्रश्नसँ जुड़ल अछि।

30.3 phenomenon आ noumenon

प्रतीत जगत (phenomenal world) अनुभवक शर्तसभमे ज्ञात अछि। noumenon अथवा वस्तु-अपने-आपमे अवधारणा ज्ञानक सीमा चिह्नित करैत अछि, सरल “दोसर अदृश्य जगत”क प्रत्यक्ष ज्ञान नहि। एहि सूक्ष्मता बिना कान्टकेँ “हम वास्तविकता नहि जानि सकैत छी” कहि संक्षिप्त करब भ्रमपूर्ण होयत।

30.4 कारणता आ ह्यूमक चुनौती

ह्यूमक कारणता-संशय कान्टपर गहरा प्रभाव छोड़लक। कान्ट कारणताकेँ अनुभवसँ बादमे बनल आदत मात्र नहि, अनुभवकेँ वस्तुगत क्रममे बुझबाक आवश्यक बौद्धिक श्रेणी मानैत छथि। एहि प्रकार ओ वैज्ञानिक ज्ञानक सार्वभौमिकता बचाबय चाहैत छथि, मुदा ज्ञानक सीमा सेहो स्पष्ट करैत छथि।

30.5 नैतिकता: स्वायत्तता आ कर्तव्य

कान्टक नैतिक दर्शनमे मनुष्य स्वयं विधि-निर्माणक्षम विवेकशील प्राणी अछि। नैतिकता बाहरी पुरस्कार, भय अथवा इच्छा पर मात्र आधारित नहि। categorical imperative व्यक्ति के एहन नियमपर कर्म करबाक मांग करैत अछि जे सार्वभौमिक विधि बनि सकय।

एक दोसर प्रसिद्ध रूप कहैत अछि—मानवताकेँ, अपन वा दोसर व्यक्तिमे, केवल साधन नहि बल्कि सदैव साध्यक रूपमे व्यवहार करू। एहि विचारसँ मानवीय गरिमाक आधुनिक धारणा गहरा संवाद रखैत अछि।

30.6 सार्वभौमिकता आ समानता

कान्टक नैतिक सार्वभौमिकता शक्तिशाली अछि कारण ओ नैतिक विशेषाधिकारकेँ चुनौती दऽ सकैत अछि। जँ नियम सभ विवेकशील व्यक्ति लेल समान, तँ जन्म, पद अथवा निजी लाभक आधारपर अलग नैतिक नियम कठिन होइत अछि। समानान्तर दर्शन एहि सार्वभौमिक आग्रहकेँ गरिमा-आधारित नैतिकताक महत्वपूर्ण संवाददाता मानैत अछि।

30.7 मुदा ‘सार्वभौम मनुष्य’ के?

इतिहासमे सार्वभौमिक भाषा अनेक बेर विशेष सामाजिक समूहक अनुभवकेँ सामान्य मानव अनुभव मानि लेलक। स्त्री, उपनिवेशित समाज, जातिगत रूपसँ बहिष्कृत समुदाय, श्रमिक, दास अथवा नस्लीकृत समुदायक अनुभव दार्शनिक “मनुष्य”क परिभाषासँ बाहर रहल। तेँ सार्वभौमिकता छोड़ब समाधान नहि; सार्वभौमिकताकेँ अधिक वास्तविक समावेशनसँ भरब आवश्यक अछि।

30.8 कान्टक ऐतिहासिक सीमा

कान्टक लेखनमे नस्ल आ मानव विविधता सम्बन्धी किछु विचार आज गंभीर आलोचनाक विषय छथि। दार्शनिक इतिहासमे ई तथ्य छिपायब उचित नहि। एक विचारकक महान नैतिक सिद्धान्त आ ओकर ऐतिहासिक पूर्वग्रह एकहि व्यक्ति मे सहअस्तित्व रखि सकैत अछि। समानान्तर पद्धति एहि विरोधाभासकेँ अध्ययनक विषय बनबैत अछि, न कि असुविधाजनक तथ्य हटबैत अछि।

30.9 स्वतंत्रता

प्राकृतिक जगत कारण-नियमक अधीन बुझाइत अछि; नैतिक जिम्मेवारी स्वतंत्रताक धारणा माँगैत अछि। कान्ट एहि तनावकेँ phenomenon/noumenon भेदक माध्यमसँ सँभालबाक प्रयास करैत छथि। एहि समाधानपर व्यापक विवाद अछि, मुदा प्रश्न आजो जीवित: जँ हमर प्रत्येक कर्म कारण-शृंखलासँ निर्धारित, तखन नैतिक जिम्मेवारी कोना?

30.10 सार्वजनिक विवेक आ प्रबोधन

कान्ट प्रबोधनकेँ व्यक्ति द्वारा अपन बुद्धिक सार्वजनिक उपयोगक साहससँ जोड़ैत छथि। सत्ता द्वारा निर्देशित अल्पवयस्कता सँ बाहर आबि स्वतन्त्र विवेकक उपयोग आधुनिक नागरिकता लेल महत्वपूर्ण आदर्श बनैत अछि। मुदा सार्वजनिक विवेकक वास्तविक उपयोग लेल शिक्षा, अभिव्यक्ति-स्वतंत्रता आ सामाजिक समानता

चाही। भूख, जातीय दमन, लिंग-असमानता वा औपनिवेशिक अधीनता मे केवल “विवेकक उपयोग करू” कहब अपर्याप्त अछि।

30.11 भारतीय दर्शनसँ तुलनात्मक संवाद

कान्टक ज्ञाता-सक्रियता, ज्ञानक सीमा आ अनुभवक शर्तक प्रश्न भारतीय दर्शनक अनेक परम्परासँ संवाद खोलि सकैत अछि—न्यायक वस्तुगत ज्ञान, बौद्ध ज्ञप्ति-विमर्श, वेदान्तक ज्ञाता-ज्ञेय प्रश्न आदि। मुदा प्रत्यक्ष समतुल्यता बनायब उचित नहि। तुलना तखन फलदायी अछि जखन समस्या-संरचना स्पष्ट हो, शब्द-समानता मात्र नहि।

पूर्वपक्ष: कान्टक सार्वभौमिक नैतिकता अत्यधिक अमूर्त अछि?

आपत्ति अछि जे वास्तविक सामाजिक सम्बन्ध, भावना, इतिहास आ असमानता अमूर्त नियममे पर्याप्त रूपसँ नहि समाहित होइत।

उत्तरपक्ष: आलोचना उचित अछि, मुदा सार्वभौमिकता स्वयं त्याज्य नहि। बिना सार्वभौमिक गरिमा, शक्तिशाली समूह अपन विशेष नियम बना सकैत अछि। आवश्यक अछि—सार्वभौमिक नैतिक कसौटी + ऐतिहासिक असमानताक ठोस विश्लेषण।

30.12 संश्लेषणात्मक पूर्वानुभविक निर्णय

कान्टक मूल प्रश्न अछि—एहन ज्ञान कोना सम्भव जे अनुभव बढ़बैत अछि, मुदा केवल विशिष्ट अनुभवक सामान्यीकरण नहि? गणित आ प्राकृतिक विज्ञानक किछु आधारभूत निर्णय हुनका लेल संश्लेषणात्मक पूर्वानुभविक उदाहरण छथि। ‘संश्लेषणात्मक’ विषयमे नूतन बात जोड़ैत, ‘पूर्वानुभविक’ ओकर आवश्यक औचित्य केवल अनुभवसँ नहि लैत।

एहि वर्गीकरणक प्रत्येक उदाहरण विवादमुक्त नहि। आधुनिक गणित आ विज्ञानक विकास बाद प्रश्न पुनः उठल। तथापि दार्शनिक महत्त्व ई जे ज्ञानकेँ केवल शब्दार्थक सत्य आ अनुभवजन्य तथ्यक दू भागमे समेटब कठिन हो सकैत अछि। ज्ञान सम्भव होयबाक शर्त स्वयं अनुसन्धानक विषय बनैत अछि।

30.13 संवेदनक रूप: स्थान आ काल

कान्ट स्थान आ कालकेँ वस्तुस्वतन्त्र पात्र नहि, मानवीय संवेदनक पूर्वरूप मानैत छथि। अनुभवमे जे किछु भेटैत अछि, ओ स्थानिक वा कालिक व्यवस्थामे भेटैत अछि; तेँ हम अनुभवसँ बाहर स्थान-कालक वस्तुस्वरूप पर सीधा दावा नहि कऽ सकैत छी।

एकरा आधुनिक सापेक्षता सिद्धान्तक पूर्वानुमान कहब गलत। कान्टक प्रश्न ज्ञानक अतिक्रमणीय शर्त सम्बन्धी अछि; आधुनिक भौतिकीक प्रश्न मापन, गति आ गुरुत्वक अनुभवजन्य-गणितीय सिद्धान्त सम्बन्धी। संवाद सम्भव अछि, ऐतिहासिक समानता नहि।

30.14 बुद्धिक कोटि आ अनुभव

संवेदन सामग्री दैत अछि, मुदा वस्तु रूपमे अनुभव लेल बुद्धिक एकता आ अवधारणात्मक कोटि आवश्यक अछि। कारणता, द्रव्य आ एकता केवल बाहरसँ नकल कएल चिह्न नहि; ओ अनुभवकेँ निर्णययोग्य बनबैत अछि। एतय मन जगतक मनमाना निर्माता नहि, अनुभवक सक्रिय संयोजक अछि।

आपत्ति ई जे कान्ट निर्धारित कोटिसभक पूर्णता कोना सिद्ध करैत छथि। भिन्न भाषा वा संस्कृतिक अवधारणा अनुभवक संगठन बदलैत अछि की नहि? समानान्तर दर्शन कान्टक सक्रिय ज्ञानकर्ता स्वीकारैत अछि, मुदा सामाजिक-भाषिक विविधताकेँ अधिक स्पष्ट रूपसँ जोड़ैत अछि।

30.15 स्वायत्तता आ नैतिक नियम

नैतिक स्वायत्तताक अर्थ मन जे चाहय से करब नहि; एहन नियम अपन मानब जे सभ तर्कशील व्यक्तिपर समान रूपसँ लागू हो सकय। व्यक्ति साधन मात्र नहि, अपने में लक्ष्य अछि। एहि कारण छल, जबरदस्ती आ शोषण व्यक्तिक तर्कशील दर्जाक अपमान करैत अछि।

मुदा अमूर्त तर्कशीलता शरीर, निर्भरता, देखभाल आ सामाजिक असमानता पर्याप्त रूपसँ पकड़ैत अछि की नहि—ई आलोचना महत्त्वपूर्ण अछि। गरिमा-आधारित नैतिकता स्वायत्ततासँ पीड़ा, पारस्परिक निर्भरता, समान दर्जा आ न्यायपूर्ण अवसरसँ जोड़ैत अछि।

30.16 सौन्दर्य, प्रयोजन आ साझा निर्णय

सौन्दर्यनिर्णय निजी आनन्दसँ आरम्भ होइतहुँ साझा स्वीकृतिक दावा करैत अछि। ‘ई सुन्दर अछि’ कहब केवल ‘हमरा पसन्द अछि’ नहि, यद्यपि अवधारणात्मक प्रमाणसँ बाध्य नहि कएल जा सकैत। कान्ट एहि विचित्र सार्वभौमिक दावीक आधार कल्पना आ बुद्धिक मुक्त सामंजस्य मे खोजैत छथि।

सौन्दर्यरुचि सामाजिक प्रशिक्षण आ सत्ता सँ मुक्त नहि। कोन कला प्रतिष्ठित, ककर भाषा साहित्य मानल जाए, आ ककर शिल्प ‘लोक’ कहि नीचा राखल जाए—ई प्रश्न कान्टक अमूर्त संरचनासँ ऐतिहासिक परीक्षा दैत अछि। साझा निर्णय खुलल आलोचना माँगैत अछि, प्रभुत्वपूर्ण मानक नहि।

अध्याय-निष्कर्ष

कान्ट ज्ञानमे ज्ञाताक सक्रिय भूमिका, अनुभवक सीमा, कारणताक संरचना, नैतिक स्वायत्तता आ सार्वभौमिक गरिमाक शक्तिशाली रूप प्रस्तुत करैत छथि। समानान्तर दर्शन हुनक सार्वभौमिकतासँ स्वीकारैतहुँ ओकर ऐतिहासिक सीमासँ प्रश्न करैत अछि। सार्वभौमिकता तखन न्यायपूर्ण बनत जखन “मनुष्य” शब्दमे वास्तवमे सभ मनुष्य समाहित होथि।

Immanuel Kant — Critique of Pure Reason; Groundwork of the Metaphysics of Morals; Critique of Practical Reason; What Is Enlightenment?

Henry E. Allison — Kant’s Transcendental Idealism.

Christine M. Korsgaard — Creating the Kingdom of Ends.

Onora O’Neill — Constructions of Reason.

Pauline Kleingeld — Kant and Cosmopolitanism.

अध्याय 31 – हेगेल आ द्वन्द्व

हेगेलक दर्शन आधुनिक यूरोपीय चिन्तनमे इतिहास, चेतना, समाज आ तर्ककेँ एकहि गतिशील प्रक्रियामे बुझबाक महत्त्वाकांक्षी प्रयास अछि। हुनक दर्शनक मूल शक्ति एहि विचारमे अछि जे वास्तविकताकेँ केवल स्थिर वस्तुसभक संग्रह नहि मानल जाए। मनुष्य, संस्था, विचार, नैतिकता आ इतिहास—सभ परिवर्तनशील सम्बन्धसभक भीतर बनैत अछि। विरोध एहि परिवर्तनक बाधा मात्र नहि; अनेक बेर परिवर्तनक माध्यम सेहो अछि। मुदा एहि बिन्दुसँ तुरन्त ई निष्कर्ष निकालब कि इतिहासक एक निश्चित अन्त, एक अनिवार्य दिशा अथवा एक सार्वभौम मंजिल पहिने सँ तय अछि—एहि ग्रन्थक समानान्तर दृष्टि एहन दाबीपर सावधानी बरतैत अछि।

31.1 स्थिर वस्तुसँ प्रक्रिया दिस

दैनिक बुद्धि वस्तुसभकेँ पृथक, तैयार आ स्थिर मानबाक प्रवृत्ति रखैत अछि। मुदा सामाजिक संस्था, नैतिक मूल्य, राजनीतिक व्यवस्था अथवा आत्मचेतना वास्तवमे स्थिर वस्तु नहि। ई इतिहासक भीतर बदलैत सम्बन्धसभक परिणाम अछि। हेगेलक चिन्तन एहि गतिशीलतापर बल दैत अछि। कोनो अवधारणा अपन अर्थ केवल अपन भीतर नहि, अपन विपरीत, सीमा आ सम्बन्धसँ सेहो पबैत अछि। स्वतंत्रता ककरा कहल जाए—ई प्रश्न दासता, बाध्यता, कानून आ सामाजिक मान्यतासँ काटि कऽ नहि बुझल जा सकैत अछि।

31.2 द्वन्द्वक अर्थ

हेगेलक नामसँ ‘थीसिस–एण्टीथीसिस–सिन्थेसिस’ सूत्र लोकप्रिय अछि, मुदा हुनक वास्तविक पद्धति एहि विद्यालयी त्रिपदीसँ अधिक जटिल अछि। महत्त्वपूर्ण बात ई जे अवधारणा अपन भीतर एहन तनाव उत्पन्न करैत अछि जे ओकर सीमाकेँ उजागर करैत अछि। एक रूपक अपूर्णता दोसर रूपक आवश्यकता जन्मबैत अछि। ई प्रक्रिया केवल बहसक तकनीक नहि; चेतना, समाज आ इतिहासक विकास बुझबाक पद्धति बनैत अछि।

31.3 स्वामी–दास सम्बन्ध

Phenomenology of Spirit मे स्वामी–दास प्रसंग आधुनिक सामाजिक दर्शनपर गहरा प्रभाव छोड़लक। आत्मचेतना केवल अकेले ‘हम’ द्वारा पूर्ण नहि; दोसर आत्मचेतनाक मान्यता आवश्यक अछि। प्रभुत्व चाहयवला व्यक्ति विरोधीकेँ केवल वस्तु बनाबय चाहैत अछि, मुदा ओहि व्यक्ति द्वारा मान्यता तखने

अर्थपूर्ण हो सकैत अछि जखन ओ स्वयं स्वतंत्र आत्मचेतना हो। एहि विरोधाभाससँ प्रभुत्वक सीमा उजागर होइत अछि। समानान्तर दर्शन एहि विचारकेँ जाति, वर्ग, लिंग आ औपनिवेशिक सम्बन्धसभक विश्लेषणमे उपयोगी संकेत मानैत अछि—अपमानित व्यक्तिक मान्यता छीनि लेब प्रभुत्वशालीक आत्मबोधकेँ सेहो विकृत करैत अछि।

31.4 स्वतंत्रता आ संस्था

हेगेलक लेल स्वतंत्रता केवल ‘हम जे चाही से करी’ नहि। वास्तविक स्वतंत्रता कानून, परिवार, नागरिक समाज आ राज्य-जकाँ संस्थासभक माध्यमसँ सामाजिक रूप पबैत अछि। एहि विचारक शक्ति ई अछि जे स्वतंत्रताकेँ सामाजिक बनबैत अछि। मुदा खतरा सेहो अछि—जँ विद्यमान संस्थाकेँ तर्कक पूर्ण अभिव्यक्ति मानि लेल जाए तँ संस्था-आलोचना कमजोर भऽ सकैत अछि। समानान्तर दर्शन संस्थाक आवश्यकता स्वीकारैत अछि, मुदा कोनो ऐतिहासिक संस्थाकेँ अंतिम विवेकक रूप नहि मानैत अछि।

31.5 इतिहासक दिशा

हेगेल इतिहासमे स्वतंत्रताक चेतनाक विस्तार देखबैत छथि। एहि विचारक प्रेरक पक्ष ई जे इतिहास अर्थहीन घटनाक ढेर नहि; संस्थागत परिवर्तन नैतिक अर्थ रखि सकैत अछि। मुदा इतिहासकेँ एकरेखीय प्रगतिक कथामे बदललासँ समस्या उत्पन्न होइत अछि। जे समाज यूरोपीय आधुनिकताक मार्गसँ नहि गुजरल, ओकरा ‘पाछाँ’ घोषित करब औपनिवेशिक श्रेष्ठताबोधकेँ वैचारिक आधार दऽ सकैत अछि। समानान्तर दर्शन कहैत अछि—इतिहासमे दिशा खोजू, मुदा दिशा प्रमाणसँ; प्रगति कहू, मुदा ककर प्रगति, ककर लागत, ककर विस्थापन—ई प्रश्न सेहो पूछू।

31.6 भारतीय आ मिथिला-समानान्तर संवाद

भारतीय दर्शनमे विरोध, परिवर्तन आ तर्कक अनेक रूप अछि, मुदा ओकरा हेगेलीय द्वन्द्वक पूर्वरूप कहब अनैतिहासिक होयत। न्यायीय पूर्वपक्ष–उत्तरपक्ष, बौद्ध मध्यमकक प्रतिपक्ष-विघटन, सांख्यक गुणगत परिवर्तन, वेदान्तीय भेद–अभेद विवाद—ई सभ अलग ऐतिहासिक पद्धति अछि। उपयोगी तुलना एतय एतेक अछि जे सत्य-अन्वेषण विरोधकेँ हटबैत नहि, ओकरा विचारक साधन बना सकैत अछि। मिथिलाक शास्त्रार्थ-संस्कार सेहो विरोधी पक्षकेँ सुनबाक अनुशासन विकसित करैत अछि।

31.7 पूर्वपक्ष: द्वन्द्व इतिहासक नियम अछि

एक मत कहि सकैत अछि जे प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था अपन विरोध उत्पन्न करैत अछि, आ ओहि विरोधसँ अगिला उच्चतर अवस्था अनिवार्य रूपसँ निकलैत अछि। एहि दृष्टिसँ इतिहासक दिशा तर्कसंगत आ पूर्वानुमेय बुझाइत अछि।

उत्तरपक्ष: विरोध वास्तविक, परिणाम खुला

समानान्तर दर्शन विरोधक वास्तविकता स्वीकारैत अछि, मुदा परिणामकेँ पूर्वनिर्धारित नहि मानैत अछि। एकहि विरोधसँ सुधार, दमन, विघटन, समझौता अथवा हिंसा—अनेक परिणाम सम्भव। मानवीय कर्म, संस्था, संयोग, तकनीक, संसाधन आ नैतिक चुनाव इतिहासक दिशा प्रभावित करैत अछि।

31.8 द्वन्द्वक भीतर निषेध आ संरक्षण

हेगेलीय द्वन्द्वकेँ ‘थीसिस–एण्टीथीसिस–सिन्थेसिस’क स्थिर तीन चरणमे समेटब प्रायः भ्रामक अछि। महत्त्वपूर्ण बात ई जे कोनो अवधारणा अपन सीमा भीतर विरोध उत्पन्न करैत अछि, आ ओकर अतिक्रमण पुरानकेँ केवल नष्ट नहि करैत—किछु पक्ष नकारैत, किछु बचबैत, आ नूतन सम्बन्धमे बदलैत अछि। जर्मन पद ‘आउफहेबुंग’क एहि बहुअर्थकता कारण एक-शब्दीय अनुवाद कठिन अछि।

द्वन्द्वक उपयोग तखन प्रमाणीय होयत जखन विशिष्ट अवधारणात्मक संक्रमण देखाओल जाए। केवल दू विरोधी घटना देखिकऽ ‘द्वन्द्व’ कहब व्याख्या नहि। कोन आन्तरिक तनाव, किएक पुरान रूप अपर्याप्त, आ नूतन रूप कोन पक्ष बचबैत अछि—ई तीन प्रश्न स्पष्ट होयत।

31.9 स्वामी-दास सम्बन्ध आ मान्यता

आत्मचेतना स्वयंकेँ केवल एकान्त निरीक्षणसँ पूर्ण नहि पबैत; ओकरा दोसर आत्मचेतनाक मान्यता चाही। प्रभुत्वक संघर्षमे स्वामी दासक मान्यता चाहैत अछि, मुदा जबरदस्ती प्राप्त मान्यता स्वतंत्र स्रोतक नहि रहैत। दास श्रमक माध्यमसँ वस्तु-जगत बदलैत आ अपन शक्ति सम्बन्धी बोध पबैत अछि।

एहि रूपककेँ प्रत्येक ऐतिहासिक दासता वा वर्ग-संघर्षक पूर्ण व्याख्या मानब अनुचित। तथापि मान्यताक असमान सम्बन्ध बुझबामे उपयोगी अछि। जे सत्ता अधीन व्यक्तिक स्वतंत्र निर्णय नष्ट करैत अछि, ओ ओकर प्रशंसा पाबितो वास्तविक मान्यता नहि पबैत। सम्मान पारस्परिक स्वतंत्रतापर निर्भर अछि।

31.10 इतिहासमे स्वतंत्रताक विस्तार

हेगेल इतिहासकेँ स्वतंत्रताक चेतनाक विकास रूपमे पढ़ैत छथि। एहि दृष्टिसँ संस्था केवल बाहरी बन्धन नहि; परिवार, नागरिक समाज आ राज्य स्वतंत्रताकेँ ठोस रूप दे सकैत अछि। मुदा इतिहासक एकरेखीय दिशा आ यूरोपकेँ परिणति मानबाक प्रवृत्ति गंभीर आलोचनाक विषय अछि।

उपनिवेश, जाति, स्त्री-अधीनता आ क्षेत्रीय अनुभव देखबैत अछि जे स्वतंत्रताक घोषणा संग अस्वतंत्रता सहअस्तित्वमे रहि सकैत अछि। समानान्तर इतिहास-दृष्टि प्रगतिक दाबीकेँ लाभान्वित आ बहिष्कृत दुनूक

प्रमाणपर जाँचैत अछि। इतिहासक अर्थ पूर्वनिर्धारित अन्त नहि, विवादित परिवर्तनक आलोचनात्मक पुनर्निर्माण अछि।

31.11 अमूर्त अधिकार आ ठोस संस्था

केवल ‘हम स्वतंत्र छी’ कहब पर्याप्त नहि, जँ सम्पत्ति, शिक्षा, कानून वा सामाजिक मान्यता स्वतंत्र क्रियाक साधन नहि दे। हेगेल अमूर्त अधिकारसँ नैतिक जीवन धरि बढ़ैत संस्था भीतर स्वतंत्रताक ठोस रूप खोजैत छथि। व्यक्ति आ समुदायकेँ पूर्ण विरोधी मानब एहि दृष्टिमे गलत अछि।

मुदा संस्था स्वतंत्रताक साधन होइतहुँ प्रभुत्वक साधन बनि सकैत अछि। राज्यकेँ नैतिक विचारक मूर्ति मानि आलोचनासँ ऊपर राखल नहि जा सकैत। वैध संस्था अपील, अधिकार, प्रतिनिधित्व आ सार्वजनिक समीक्षा स्वीकारत; केवल ऐतिहासिक अस्तित्व नैतिक औचित्य सिद्ध नहि करैत।

31.12 प्रणाली आ अपूर्णता

हेगेलक दर्शन व्यापक प्रणाली बनबैत अछि—तर्क, प्रकृति, आत्मा, इतिहास, कला, धर्म आ दर्शनकेँ परस्पर सम्बन्धित करैत। प्रणालीक लाभ अछि जे अलग प्रश्नक छिपल सम्बन्ध देखाइत अछि; खतरा ई जे जे अनुभव प्रणालीमे नहि समाए, ओकरा गौण वा अपरिपक्व कहल जाए।

समानान्तर दर्शन प्रणालीक आकांक्षा ग्रहण करैत, अन्तिम पूर्णताक दावा नहि। कोनो ढाँचा अपन अपवाद, मौन आ स्रोत-सीमा लिखत। जे सिद्धान्त प्रतिवादकेँ ‘इतिहासक आवश्यक चरण’ कहि निष्प्रभावी करैत अछि, ओ परीक्षणसँ बचैत अछि। आत्मसमीक्षा बिना समग्रता बौद्धिक सत्ता बनि सकैत अछि।

अध्याय-निष्कर्ष

हेगेलसँ समानान्तर दर्शन तीन शिक्षा ग्रहण करैत अछि—वास्तविकताकेँ प्रक्रिया मानू, विरोधकेँ विचारक शत्रु नहि बल्कि परीक्षणक साधन मानू, आ स्वतंत्रताकेँ सामाजिक संस्थासँ जोड़ू। मुदा ओ इतिहासक पूर्वनिर्धारित अन्त स्वीकार नहि करैत अछि। द्वन्द्व उपयोगी अछि; नियतिवाद आवश्यक नहि।

अध्याय-ग्रन्थसूची

G. W. F. Hegel — Phenomenology of Spirit.

G. W. F. Hegel — Elements of the Philosophy of Right.

G. W. F. Hegel — Lectures on the Philosophy of History.

Charles Taylor — Hegel.

Robert Pippin — Hegel’s Idealism.

Frederick Beiser — Hegel.

अध्याय 32 – मार्क्स

मार्क्स आधुनिक दर्शनक केन्द्रमे श्रम, उत्पादन, सम्पत्ति, वर्ग आ भौतिक सामाजिक सम्बन्धकेँ आनैत छथि। हुनक प्रश्न अछि—मनुष्य जे विचार करैत अछि, जे संस्था बनबैत अछि, जे नैतिक भाषा उपयोग करैत अछि, ओकर पाछाँ आर्थिक आ सामाजिक संरचना की भूमिका निभबैत अछि? दर्शन जँ केवल चेतनाक भीतर रहि जाए आ कारखाना, मजदूरी, भूमिसम्बन्ध, सम्पत्ति आ श्रम-विभाजनकेँ नहि देखय, तँ समाजक वास्तविक शक्ति-संरचना छूटि सकैत अछि।

32.1 ऐतिहासिक भौतिक दृष्टि

मार्क्स इतिहासकेँ केवल महान विचार वा महान व्यक्तिक कथा नहि मानैत छथि। उत्पादनक साधन, श्रमक संगठन, सम्पत्ति सम्बन्ध आ वर्ग-संरचना समाजक रूपरेखा गढ़ैत अछि। एकर अर्थ ई नहि जे विचार निरर्थक अछि; बल्कि विचारक सामाजिक आधार पूछबाक आवश्यकता अछि। समानान्तर दर्शन एहि प्रश्नकेँ विस्तार दैत अछि—कोनो विचार ककर अनुभवसँ बनल, ककर हितकेँ सामान्य हितक रूपमे प्रस्तुत करैत अछि, आ ककर अनुभव ओकर बाहर रहि जाइत अछि?

32.2 विमुखता

प्रारम्भिक मार्क्सक विमुखता-विमर्शमे श्रमिक अपन श्रमक उत्पाद, श्रम-प्रक्रिया, अन्य मनुष्य आ अपन मानवीय सम्भावनासँ दूर भऽ सकैत अछि। जँ श्रम केवल जीवित रहबाक मजबूरी बनि जाए आ श्रमिक अपन काजपर अर्थपूर्ण नियन्त्रण नहि रखय, तँ आर्थिक शोषण मात्र नहि, मानवीय आत्मसम्बन्ध सेहो विकृत होइत अछि। समानान्तर दर्शन एहि अन्तर्दृष्टिक आधुनिक विस्तार अस्थायी रोजगार, मंच-आधारित श्रम, प्रवासी श्रम आ अवैतनिक देखभाल श्रम धरि करैत अछि।

32.3 वस्तु, मूल्य आ वस्तुपूजा

Capital मे वस्तु केवल उपयोगी चीज नहि; बाजारमे ओकर विनिमय-मूल्य आ सामाजिक सम्बन्ध अछि। वस्तुपूजाक विश्लेषण देखबैत अछि जे मनुष्यसभक सामाजिक सम्बन्ध वस्तुसभक सम्बन्ध-जकाँ देखाइत लगैत अछि। मूल्य मानो वस्तुमे स्वभावतः बसल हो, जबकि ओकर पाछाँ श्रम, संस्था आ विनिमय-संरचना

अछि। ई विश्लेषण आधुनिक उपभोक्तावाद, ब्राण्ड, डिजिटल मंच आ डेटा-आधारित अर्थव्यवस्थापर प्रश्न उठेबाक साधन दैत अछि।

32.4 वर्ग आ सत्ता

मार्क्सक वर्ग-विश्लेषण आर्थिक शक्ति आ राजनीतिक सत्ता बीच सम्बन्ध बुझबाक लेल अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अछि। जे समूह उत्पादन-साधनपर नियन्त्रण रखैत अछि, ओ केवल आर्थिक लाभ नहि, सामाजिक प्रभाव सेहो अर्जित करि सकैत अछि। मुदा समानान्तर दर्शन एतय एक आवश्यक विस्तार करैत अछि: मनुष्य केवल वर्ग नहि। जाति, लिंग, भाषा, धर्म, क्षेत्र, परिवार, शिक्षा, सांस्कृतिक पूँजी आ राज्यीय पहचान सेहो अवसर आ प्रभुत्व प्रभावित करैत अछि। वर्ग विश्लेषण आवश्यक अछि; पर्याप्त नहि।

32.5 विचारधारा

विचारधाराक प्रश्न ई नहि जे ‘सभ विचार झूठ अछि’। प्रश्न ई जे कोन सामाजिक व्यवस्था अपन विशेष हितकेँ सार्वभौम सत्यक रूपमे प्रस्तुत करैत अछि। जँ असमानता ‘प्राकृतिक’, गरीबी ‘व्यक्तिगत असफलता’, जन्माधारित विशेषाधिकार ‘परम्परा’ आ श्रमक कम मूल्य ‘बाजारक नियम’ कहि कऽ स्वतःसिद्ध बनाओल जाए, तँ दार्शनिक आलोचना आवश्यक अछि। मुदा प्रत्येक नैतिक आदर्शकेँ केवल वर्गहित कहि देब सेहो संकुचन होयत।

32.6 क्रान्ति आ सुधार

मार्क्सवादी परम्परासभमे सामाजिक परिवर्तनक मार्गपर गम्भीर मतभेद रहल अछि। समानान्तर दर्शन कोनो एक ऐतिहासिक मॉडलकेँ अनिवार्य नहि मानैत अछि। ओकर कसौटी अछि—परिवर्तन मानव गरिमा, स्वतंत्रता, समानता आ लोकतान्त्रिक सहभागिता बढ़बैत अछि की नहि। शोषण हटेबाक नामपर नूतन निरंकुशता स्थापित भऽ जाए तँ लक्ष्य साधनकेँ पवित्र नहि करैत अछि।

32.7 मिथिला आ भारतीय सन्दर्भ

भारतीय समाजमे भूमि, श्रम, जाति आ सामाजिक प्रतिष्ठा परस्पर जुड़ल रहल अछि। केवल वर्गक भाषा जातिक दीर्घ संस्थागत शक्ति बुझबाक लेल पर्याप्त नहि; केवल जातिक भाषा आर्थिक असमानता बुझबाक लेल पर्याप्त नहि। समानान्तर दर्शन बहु-अक्षीय विश्लेषण प्रस्तावित करैत अछि: जन्माधारित पदानुक्रम, सम्पत्ति, शिक्षा, भाषा, लिंग आ क्षेत्रीय अवसर एक-दोसराकेँ मजबूत अथवा कमजोर करि सकैत अछि।

32.8 पूर्वपक्ष: आर्थिक आधार सभक व्याख्या करैत अछि

जँ उत्पादन-संरचना समाजक मूल आधार अछि, तँ धर्म, कानून, कला, नैतिकता आ राजनीति ओकर परिणाम मात्र मानल जा सकैत अछि।

उत्तरपक्ष: कारणता बहुस्तरीय अछि

आर्थिक संरचना प्रभावशाली अछि, मुदा सामाजिक इतिहासमे परस्पर कारणता होइत अछि। धार्मिक संस्था सम्पत्ति-संरचना बदलि सकैत अछि; जाति श्रम-बाजार सीमित करि सकैत अछि; कानून सम्पत्ति-वितरण बदलि

सकैत अछि; भाषा शिक्षा-अवसर प्रभावित करि सकैत अछि। समानान्तर दर्शन आर्थिक विश्लेषणकेँ विस्तृत करैत अछि, निरस्त नहि।

32.9 विमुख श्रम

विमुखताक विश्लेषणमे श्रमिक अपन उत्पाद, श्रम-क्रिया, मानवीय सृजनशीलता आ दोसर मनुष्यसँ अलगाव अनुभव करैत अछि। श्रम जीवनक आत्मप्रकाश होयबाक बदला जीविका लेल बाहरी बाध्यता बनि सकैत अछि; बनाओल वस्तु पर श्रमिकक नियन्त्रण नहि रहैत। ई केवल उदासी नहि, उत्पादन-सम्बन्धक संरचनात्मक परिणाम अछि।

सभ वेतनभोगी श्रम समान रूपसँ विमुख—एहन निष्कर्ष जल्दबाजी होयत। नियन्त्रण, अर्थ, सुरक्षा, सहयोग, कौशल आ उत्पादपर अधिकारक मात्रा अलग होइत अछि। विश्लेषण वास्तविक कार्यस्थल, अनुबंध आ निर्णय-सत्ता जाँचत। मनोवैज्ञानिक अनुभूति आ आर्थिक संरचना एक-दोसरक प्रमाण हो सकैत अछि, पर्याय नहि।

32.10 वस्तु, मूल्य आ सामाजिक सम्बन्ध

बाजारमे वस्तु मूल्यसहित स्वतंत्र चीज जकाँ देखाइत अछि, मुदा ओकर पाछाँ श्रम, संसाधन, स्वामित्व आ विनिमयक सामाजिक सम्बन्ध रहैत अछि। वस्तुपूजाक विश्लेषण एहि उलटावपर ध्यान दैत अछि—मनुष्यक सम्बन्ध वस्तुक सम्बन्ध जकाँ आ वस्तुक शक्ति प्राकृतिक जकाँ देखाइत अछि।

मूल्यक विशिष्ट आर्थिक सिद्धान्तपर विवाद सम्भव अछि, तथापि दृश्य वस्तुक पाछाँ अदृश्य सम्बन्ध खोजबाक पद्धति उपयोगी अछि। सस्ता सामान ककर श्रम, पर्यावरणीय लागत वा जोखिमपर निर्भर अछि? नैतिक आलोचना लेल आपूर्ति-श्रृंखला, मजदूरी आ स्वामित्वक प्रमाण चाही; केवल उपभोगक अपराधबोध पर्याप्त नहि।

32.11 विचारधारा आ सामान्य बुद्धि

विचारधारा केवल झूठक सूची नहि। सामाजिक व्यवस्था अपन ऐतिहासिक स्वरूपकेँ प्राकृतिक, अपरिहार्य वा सभक हितमे देखाबि सकैत अछि। जे धारणा प्रतिदिनक भाषा आ संस्थामे बसि जाइत, ओ स्पष्ट प्रचार बिना सेहो असमानता वैध ठहरा सकैत अछि।

मुदा प्रत्येक असहमति ‘विचारधारा’ कहि खारिज करब आत्मरक्षा अछि। आलोचक अपन स्थान, हित आ प्रमाण सेहो जाँचत। कोन दाबी तथ्यगत रूपसँ गलत, कोन चयनात्मक, कोन मूल्याधारित, आ कोन संस्थागत लाभसँ पोषित—ई भेद बिना विचारधारा-विमर्श आरोप बनि जाइत अछि।

32.12 इतिहास बनबैत मनुष्य

मनुष्य इतिहास बनबैत अछि, मुदा अपन चुन्नल शून्य परिस्थितिमे नहि। प्राप्त संस्था, संसाधन, वर्गसम्बन्ध, तकनीक आ राजनीतिक शक्ति विकल्पक सीमा बनबैत अछि। एहि कारण कठोर नियतिवाद आ पूर्ण इच्छास्वातंत्र्य दुनू अपर्याप्त छथि।

राजनीतिक कार्य लेल ई द्वैत महत्त्वपूर्ण अछि। जँ सभ किछु संरचना तय करैत अछि तँ उत्तरदायित्व आ परिवर्तन निरर्थक; जँ केवल इच्छा पर्याप्त तँ विफलता पीड़ितक दोष बनि जाइत। समानान्तर दर्शन संरचनात्मक बाधा, सामूहिक संगठन आ व्यक्तिक नैतिक निर्णय तीनूकेँ संयुक्त विश्लेषणमे रखैत अछि।

32.13 वर्गसँ परे, वर्गकेँ नकारि नहि

जाति, लिंग, भाषा वा धर्मक सत्ता वर्गमे पूर्णतः समा नहि जाइत; तथापि आर्थिक संसाधन एहि सभ सम्बन्धकेँ प्रभावित करैत अछि। एकहि जाति वा लिंग भीतर सम्पत्तिक अन्तर अनुभव बदलैत अछि, जखनकि समान आयवला व्यक्तिसभ सामाजिक दर्जा आ हिंसाक जोखिममे भिन्न हो सकैत छथि।

तेँ विश्लेषण जोड़-घटाव नहि, अन्तःसम्बन्धक अध्ययन होयत। कोन संस्था आर्थिक आ सामाजिक पदानुक्रमकेँ एक-दोसरसँ जोड़ैत, कोन नीति एक असमानता घटाकऽ दोसर बढ़बैत, आ ककर आवाज संगठनमे प्रधान—ई प्रश्न ठोस प्रमाण माँगैत अछि। वर्ग आवश्यक आयाम अछि, एकमात्र चाबी नहि।

अध्याय-निष्कर्ष

मार्क्सक स्थायी योगदान ई अछि जे दर्शनकेँ श्रम, उत्पादन, वर्ग आ भौतिक जीवनक ठोस धरातलपर आनलनि। समानान्तर दर्शन एहि शक्ति-समीक्षाकेँ ग्रहण करैत अछि, मुदा आर्थिक नियतिवाद अस्वीकार करैत अछि। न्याय लेल वर्ग देखब आवश्यक; संगहि जाति, लिंग, भाषा, क्षेत्र आ अन्य सत्ता-संरचना सेहो देखब आवश्यक।

अध्याय-ग्रन्थसूची

Karl Marx — Capital, Vol. I.

Karl Marx — Economic and Philosophic Manuscripts of 1844.

Karl Marx and Friedrich Engels — The German Ideology.

Karl Marx — Critique of the Gotha Programme.

G. A. Cohen — Karl Marx’s Theory of History.

David Harvey — A Companion to Marx’s Capital.

अध्याय 33 – कीर्केगार्द आ नीत्शे

उन्नीसम शताब्दीक यूरोपीय दर्शनमे कीर्केगार्द आ नीत्शे दुनू विशाल तन्त्रक विरुद्ध व्यक्तिक जीवन, चुनाव, मूल्य आ आत्मसम्बन्धक प्रश्न तीक्ष्ण करैत छथि, यद्यपि दुनूक दिशा बहुत भिन्न अछि। कीर्केगार्द व्यक्ति,

चिन्ता, निर्णय, आस्था आ अस्तित्वगत जिम्मेवारीपर बल दैत छथि; नीत्शे मूल्यसभक उत्पत्ति, नैतिकताक वंशावली, शक्ति, आत्मनिर्माण आ सांस्कृतिक क्षयक प्रश्न उठबैत छथि।

33.1 व्यक्ति बनाम तन्त्र

जँ दार्शनिक तन्त्र सम्पूर्ण इतिहासक व्याख्या करय, मुदा वास्तविक व्यक्ति कष्ट, भय, प्रेम, मृत्यु आ चुनावक क्षणमे अकेले पड़ि जाए, तँ दर्शन अधूरा अछि। कीर्केगार्दक मूल आग्रह एतय अछि—‘व्यक्ति’ केवल विशाल अवधारणाक उदाहरण नहि। अस्तित्व जीवित निर्णयक क्षेत्र अछि। सत्यक किछु रूप एहन होइत अछि जकर अर्थ व्यक्ति कोना जीबैत अछि ताहिसँ जुड़ल अछि।

33.2 चिन्ता आ चुनाव

चिन्ता केवल मानसिक रोगक तकनीकी अर्थ नहि; कीर्केगार्दीय सन्दर्भमे ई सम्भावनाक चक्कर-जकाँ अछि। मनुष्य अनेक सम्भावनासामने स्वतंत्र अछि, आ स्वतंत्रता जिम्मेवारी लबैत अछि। चुनाव नहि करब सेहो चुनाव बनि सकैत अछि। समानान्तर दर्शन एहि अन्तर्दृष्टिकेँ स्वीकारैत अछि, मुदा सामाजिक सीमा जोड़ैत अछि—सभ व्यक्तिक सम्भावना समान नहि। गरीब, जाति-पीड़ित, विस्थापित अथवा हिंसा-पीड़ित व्यक्तिक चुनावक्षेत्र संरचनात्मक रूपसँ सीमित भऽ सकैत अछि।

33.3 आस्था आ छलाँग

कीर्केगार्द आस्थाकेँ मात्र बौद्धिक निष्कर्ष नहि मानैत छथि। धार्मिक अस्तित्वमे जोखिम, समर्पण आ व्यक्तिगत निर्णय अछि। मुदा सार्वजनिक दर्शनक दृष्टिसँ एतय सीमा आवश्यक अछि: व्यक्तिगत आस्था व्यक्ति लेल अस्तित्वगत अर्थ रखि सकैत अछि, परन्तु सार्वजनिक कानून अथवा दोसर व्यक्तिपर बाध्यकारी नियम बनाबय लेल अतिरिक्त साझा कारण चाही।

33.4 नीत्शे आ मूल्यक वंशावली

नीत्शे पूछैत छथि—जे मूल्य आज ‘स्वाभाविक’ बुझाइत अछि, ओ कतयसँ आएल? ‘नीक’, ‘बेजाय’, ‘पाप’, ‘दोष’, ‘त्याग’, ‘विनम्रता’ जकाँ शब्दक इतिहास की? वंशावली मूल्यक नैतिक दाबीक पाछाँ शक्ति, संघर्ष, स्मृति आ संस्थागत निर्माण खोजैत अछि। समानान्तर दर्शन लेल ई पद्धति अत्यन्त उपयोगी अछि, विशेषतः जाति, लिंग, भाषा आ सामाजिक सम्मानक इतिहास जाँचबाक लेल।

33.5 वंशावलीक सीमा

ककरो मूल्यक इतिहास सत्ता-संघर्षसँ जुड़ल भेटलासँ ओ मूल्य स्वतः झूठ नहि भऽ जाइत अछि। मानवाधिकारक इतिहास राजनीतिक संघर्षसँ भरल अछि; ताहिसँ मानवाधिकार असत्य नहि। वैज्ञानिक संस्थाक इतिहास सत्ता-संरचनासँ जुड़ल; ताहिसँ विज्ञानक प्रत्येक निष्कर्ष गलत नहि। वंशावली दाबीकेँ पुनः परीक्षण लेल खोलैत अछि; सत्य-असत्यक अन्तिम निर्णय नहि दैत अछि।

33.6 ‘ईश्वर मरि गेल’क दार्शनिक अर्थ

नीत्शेक प्रसिद्ध कथनकेँ केवल धार्मिक नारा मानब संकुचन होयत। प्रश्न ई अछि—जँ पारम्परिक परम मूल्य-स्रोत आधुनिक समाजमे विश्वसनीयता गमाबय, तँ मूल्यक आधार की रहत? शून्यवादक संकट एतय उत्पन्न होइत अछि। समानान्तर दर्शन एहि प्रश्नक उत्तर गरिमा, तर्क, सहअस्तित्व, करुणा आ सार्वजनिक औचित्यक बहुस्रोत आधारमे खोजैत अछि।

33.7 शक्ति आ आत्मनिर्माण

नीत्शेक शक्ति-विमर्श अनेक व्याख्या उत्पन्न करैत अछि। समानान्तर दर्शन ‘शक्ति’केँ केवल प्रभुत्व नहि, आत्म-अतिक्रमण, सृजनशीलता आ मूल्य-निर्माणक क्षमता रूपमे पढ़बाक सम्भावना स्वीकारैत अछि। मुदा ककरो अधिक शक्ति ओकरा दोसराक गरिमा उल्लंघनक नैतिक अधिकार नहि दैत अछि।

33.8 समानान्तर संवाद

कीर्केगार्द स्मरण करबैत छथि जे व्यक्ति संस्थासँ विलीन नहि; नीत्शे स्मरण करबैत छथि जे मूल्य इतिहासहीन नहि। समानान्तर दर्शन दुनूक शिक्षा जोड़ैत अछि—व्यक्ति आ संरचना दुनू देखू; मूल्यक इतिहास पूछू, मुदा इतिहाससँ नैतिक निर्णय स्वतः नहि निकालू।

33.9 कीर्केगार्दक अस्तित्वगत चयन

व्यक्ति केवल सार्वभौम सिद्धान्तक उदाहरण नहि; ओकरा एहन निर्णय लेब पड़ैत अछि जेकर पूर्ण वस्तुगत गारंटी नहि। कीर्केगार्दक लेखन सौन्दर्यपरक, नैतिक आ धार्मिक जीवन-दृष्टिक तनाव देखबैत अछि। चयन केवल विकल्प चुनब नहि, अपन जीवनक रूप आ उत्तरदायित्व ग्रहण करब अछि।

एहि बलसँ निजी सत्य मनमानापन नहि बनैत। तथ्यगत दाबी सार्वजनिक प्रमाण माँगैत अछि; अस्तित्वगत प्रतिबद्धता जीवनमे कतेक ईमानदारीसँ धारण कएल गेल से अलग प्रश्न अछि। ‘हमरा लेल सत्य’ कहि इतिहास वा विज्ञानक तथ्य बदलल नहि जा सकैत।

33.10 निराशा आ आत्मसम्बन्ध

निराशा केवल क्षणिक दुःख नहि, आत्मक अपन सम्भावना आ आधारसँ विकृत सम्बन्ध हो सकैत अछि। मनुष्य जे अछि ओकरा स्वीकार नहि करय, अथवा जे बनि सकैत अछि तकर जिम्मेदारीसँ भागय—दुनू रूपमे आत्म-विभाजन उत्पन्न होइत अछि।

एहि धार्मिक-अस्तित्वगत विश्लेषणकेँ आधुनिक मानसिक रोगक निदान मानब अनुचित। चिकित्सकीय स्थिति अनुभवजन्य मूल्यांकन माँगैत अछि। तथापि अर्थहीनता, आत्मछल आ चयनक भय वर्णन करबामे दार्शनिक भाषा सहायक भऽ सकैत अछि, जँ ओ उपचारक स्थान नहि लय।

33.11 नीत्शे आ मूल्यक वंशावली

मूल्य शाश्वत आ स्वयंस्पष्ट रूपमे उपस्थित नहि; ओ इतिहास, संघर्ष, शरीर, धर्म आ सामाजिक शक्ति भीतर बनैत अछि। वंशावली पूछैत अछि—कोन मूल्य कखन, ककर प्रतिक्रिया रूपमे, आ कोन प्रकारक जीवनकेँ प्रोत्साहित करैत उत्पन्न भेल? ई इतिहास केवल उद्गम बतब नहि, वर्तमान मूल्यक दाबी कमजोर वा जटिल करब होयत।

उद्गम बतलासँ सत्यता अपने-आप नष्ट नहि होइत। कोनो मूल्य संघर्षसँ जन्मल होइतहुँ उचित भऽ सकैत अछि। आनुवंशिक भ्रमसँ बचबाक लेल इतिहासक बाद स्वतंत्र नैतिक परीक्षा चाही। वंशावली प्रश्न खोलैत अछि; अन्तिम निर्णयक एकमात्र कसौटी नहि।

33.12 दृष्टिकोणवाद आ सत्य

सभ ज्ञान कोनो दृष्टिसँ होइत अछि—एहि कथनक अर्थ सभ दृष्टि समान सत्य नहि। शरीर, भाषा, हित आ ऐतिहासिक स्थान ध्यानक क्षेत्र बदलैत अछि; अलग दृष्टि वस्तुक अलग पक्ष देखाबि सकैत अछि। मुदा वस्तु आ प्रतिवाद दृष्टिकोणपर सीमा लगबैत अछि।

दृष्टिकोणक बहुलता अधिक कठोर परीक्षण माँगैत अछि: स्रोत स्वतंत्र अछि की नहि, दृष्टि कोन पक्ष अदृश्य करैत, आ विरोधी साक्ष्यसँ निष्कर्ष बदलैत अछि की नहि। सापेक्षतावाद प्रतिवाद समाप्त करैत; अनुशासित दृष्टिकोणवाद प्रतिवाद बढ़बैत अछि।

33.13 शक्ति-इच्छाक सावधान पाठ

शक्ति-इच्छाकेँ केवल राजनीतिक प्रभुत्व वा हिंसक बलक इच्छा मानब अत्यधिक संकुचित अछि। ई आत्म-अतिक्रमण, रूप-देनाइ, मूल्य-सृजन आ जीवनक सक्रिय व्याख्यासँ जुड़ल विविध प्रयोगमे अबैत अछि। नीत्शेक प्रकाशित कृति आ बादमे संकलित टिप्पणी बीच स्रोत-स्तर अलग राखब विशेष आवश्यक अछि।

एहि अवधारणाक नामपर कमजोरक अधिकार नकारब वा उत्पीड़न महिमामण्डित करब नैतिक रूपसँ अस्वीकार्य अछि। सृजनशील आत्म-अतिक्रमण दोसरक गरिमा नष्ट किए बिना सम्भव अछि की नहि—समानान्तर दर्शन एहि कसौटीपर शक्ति-विमर्श जाँचैत अछि।

अध्याय-निष्कर्ष

अस्तित्वगत चुनाव आ मूल्यक वंशावली आधुनिक दर्शनक दू शक्तिशाली उपकरण अछि। समानान्तर दर्शन कीर्केगार्दसँ व्यक्तिगत जिम्मेवारी आ नीत्शेसँ मूल्य-समीक्षा ग्रहण करैत अछि, मुदा आस्था अथवा शक्ति ककरो सार्वजनिक नैतिक परीक्षणसँ ऊपर नहि राखैत अछि। वंशावली आलोचनाक आरम्भ अछि, निष्कर्ष नहि।

अध्याय-ग्रन्थसूची

Søren Kierkegaard — Fear and Trembling.

Søren Kierkegaard — The Concept of Anxiety.

Søren Kierkegaard — Concluding Unscientific Postscript.

Friedrich Nietzsche — On the Genealogy of Morality.

Friedrich Nietzsche — Beyond Good and Evil.

Friedrich Nietzsche — The Gay Science.

अध्याय 34 – प्रघटनावाद आ अस्तित्ववाद

प्रघटनावाद अनुभवकेँ ओहि रूपमे बुझबाक प्रयास करैत अछि जाहि रूपमे ओ चेतनामे प्रकट होइत अछि। अस्तित्ववाद एहि अनुभवक भीतर स्वतंत्रता, चुनाव, मृत्यु, चिन्ता, निरर्थकता, जिम्मेवारी आ प्रामाणिक जीवनक प्रश्न तीक्ष्ण करैत अछि। दुनू परम्पराकेँ एक मानब उचित नहि, मुदा बीसम शताब्दीक अनेक विचारकमे एहि दुनूक गहरा संवाद अछि।

34.1 अनुभव दिस फेरब

हुसर्लक प्रसिद्ध आग्रह ‘वस्तुसभ दिस फेरू’क अर्थ सामान्य अनुभवकेँ बिना परीक्षण स्वीकारब नहि; बल्कि सिद्धान्तक पूर्वधारणाकेँ कोष्ठकमे राखि अनुभव कोना प्रकट होइत अछि से वर्णन करब। चेतना सदैव किछु दिस उन्मुख होइत अछि—एहि गुणकेँ उद्देश्यता कहल जाइत अछि। देखब, स्मरण, आशा, भय—सभमे कोनो वस्तु, घटना वा सम्भावना दिस चेतना उन्मुख अछि।

34.2 जीवन-जगत

वैज्ञानिक अमूर्तन महत्त्वपूर्ण अछि, मुदा मानव अनुभव केवल वैज्ञानिक माप नहि। हम पहिने संसारमे जीबैत छी—रास्ता चलैत छी, सम्बन्ध बनबैत छी, वस्तु उपयोग करैत छी, भाषा बोलैत छी—तकर बाद वैज्ञानिक वर्णन करैत छी। जीवन-जगतक विचार एहि पूर्ववैज्ञानिक अनुभवक महत्त्व देखबैत अछि। समानान्तर दर्शन एतय लोकज्ञान, भाषा आ दैनिक अनुभवक दार्शनिक महत्त्व देखैत अछि, बिना वैज्ञानिक कसौटी छोड़ने।

34.3 हैडेगर: संसारमे-होयब

मानव अस्तित्वकेँ अलग मस्तिष्क-जकाँ बुझब अपर्याप्त अछि। हम पहिने सँ संसार, उपकरण, सम्बन्ध, इतिहास आ सम्भावनाक भीतर छी। मृत्यु-जागरूकता आ समयशीलता व्यक्तिक अस्तित्वक अर्थ बदलैत अछि। मुदा हैडेगरक दार्शनिक महत्त्व स्वीकार करैत समय हुनक राजनीतिक इतिहासक आलोचनात्मक चर्चा दबायल नहि जा सकैत अछि। विचार आ जीवनक इतिहास अलग प्रश्न होइतहुँ नैतिक समीक्षा आवश्यक अछि।

34.4 सार्त्र: स्वतंत्रता आ जिम्मेवारी

सार्त्रक प्रसिद्ध विचार—मनुष्य पहिने अस्तित्वमे अबैत अछि, फेर अपन चुनावसँ अर्थ बनबैत अछि—पूर्वनिर्धारित मानव-सारक विरुद्ध स्वतंत्रताक घोषणाक रूपमे पढ़ल जाइत अछि। बहाना, आत्मछल आ ‘बदनीयती’ व्यक्ति अपन स्वतंत्रतासँ बचबाक प्रयास हो सकैत अछि। मुदा समानान्तर दर्शन प्रश्न करैत

अछि—कतेक स्वतंत्रता? भूख, जाति, पितृसत्ता, गरीबी, युद्ध, विकलांगता, कारावास आ राज्यीय हिंसा वास्तविक सम्भावना सीमित करैत अछि।

34.5 देह आ अनुभव

प्रघटनावादी परम्पराक बादक विकास, विशेषतः मर्लो-पोन्ती, देहकेँ केवल वस्तु नहि बल्कि संसार अनुभव करबाक माध्यम मानैत अछि। हम 'देह रखैत' मात्र नहि; हम देहधारी अस्तित्व छी। बीमारी, विकलांगता, लिंग, श्रम आ स्थान अनुभवक संरचना बदलैत अछि। समानान्तर दर्शनक गरिमा-आधारित नैतिकता लेल देहधारित अनुभव महत्त्वपूर्ण अछि।

34.6 दोसर व्यक्ति

अन्य व्यक्ति केवल हमर अनुभवक वस्तु नहि। ओकर अपन दृष्टि, इच्छा आ स्वतंत्रता अछि। प्रेम, संघर्ष, लज्जा, मान्यता आ हिंसा—सभ अन्य आत्मचेतनाक उपस्थितिसँ बनैत अछि। सामाजिक न्यायक प्रश्न एतय अनुभववादी गहराई पबैत अछि: अपमान केवल संसाधनक कमी नहि, व्यक्ति कोना सार्वजनिक संसारमे देखल आ मानल जाइत अछि ताहिसँ जुड़ल अछि।

34.7 अस्तित्ववाद आ सामाजिक न्याय

अस्तित्ववादक आलोचना ई रहल जे ओ कखनो अत्यधिक व्यक्तिगत होइत अछि। समानान्तर दर्शन एहि सीमा सुधारैत अछि। 'चुनाव करू'क उपदेश तखन खोखला अछि जखन व्यक्ति लेल वास्तविक विकल्प बंद

अछि। स्वतंत्रता लेल केवल कानूनी निषेध हटेनाइ पर्याप्त नहि; शिक्षा, भोजन, स्वास्थ्य, सुरक्षा, सामाजिक सम्मान आ राजनीतिक आवाजक न्यूनतम परिस्थिति सेहो चाही।

34.8 मिथिला-समानान्तर अनुभव

क्षेत्रीय भाषा, प्रवासन, बाढ़, कृषि, स्त्रीक घरेलू श्रम, जातिगत व्यवहार, उत्सव, पञ्जी, लोकस्मृति—ई सभ ‘अनुभव’क संसार बनबैत अछि। एहि अनुभवकेँ दर्शनमे स्थान देब लोकजीवनकेँ रोमानी बनायब नहि; ओकर संरचना, पीड़ा, अर्थ आ सत्ता सम्बन्धक सूक्ष्म वर्णन करब अछि।

34.9 आशयिता: चेतना सदैव किछुक चेतना

प्रघटनावादक मूल सूत्र अनुसार चेतना खाली पात्र नहि; देखब, स्मरण, चाहब, डरब वा कल्पना करब सदैव किछु दिस उन्मुख अछि। वस्तु चेतनामे एकहि बेर पूर्ण नहि भेटैत; दृष्टिकोण, स्मृति आ सम्भावित अगिला अनुभवसँ ओकर अर्थ बनैत अछि।

आशयिता बाह्य वस्तुक अस्तित्व नकारब आवश्यक नहि। प्रश्न पहिने ई जे वस्तु अनुभवमे कोना प्रकट होइत अछि। समानान्तर यथार्थवाद अनुभवक संरचना वर्णित करैत, संगहि मानैत अछि जे वस्तु हमर अपेक्षाक प्रतिरोध करैत आ पारस्परिक परीक्षण सम्भव बनबैत अछि।

34.10 कोष्ठकीकरण आ वर्णन

प्रघटनात्मक कोष्ठकीकरण प्राकृतिक विश्वास स्थायी रूपसँ नकारब नहि; किछु समय लेल ‘वस्तु वास्तवमे अछि की नहि’ प्रश्न रोकि, ओ अनुभवमे कोना देल जाइत अछि से देखब अछि। एहि विरामसँ परिचित वस्तुक छिपल संरचना—दृष्टि, पृष्ठभूमि, अपेक्षा, शरीर—सामने अबैत अछि।

पूर्ण पूर्वधारणाहीन वर्णन सम्भव अछि की नहि, ई विवादित। भाषा आ चयन पहिनेसँ अर्थ दैत अछि। तेँ कोष्ठकीकरण पूर्ण निष्पक्षताक दावा नहि, आत्म-जागरूक अनुशासन मानल जाए। शोधकर्ता अपन दृष्टि लिखत आ वैकल्पिक वर्णनसँ तुलना करत।

34.11 हाइडेगर: संसारमे होयब

मनुष्य पहिने पृथक मन नहि जे बादमे बाह्य जगतसँ सम्बन्ध जोड़य। ओ आरम्भसँ काम, भाषा, उपकरण, दोसर व्यक्ति आ सम्भावना सँ बनल संसारमे स्थित अछि। हथौड़ी सामान्यतः निरीक्षणक वस्तु नहि, कामक साधन रूपमे बुझाइत अछि; टूटला पर ओकर वस्तुगत गुण स्पष्ट होइत अछि।

एहि विश्लेषणसँ व्यवहारक प्राथमिकता देखाइत अछि, मुदा प्राकृतिक विज्ञानक वस्तुनिष्ठ अध्ययन नष्ट नहि होइत। उपकरणगत संसार आ वैज्ञानिक वर्णन भिन्न उद्देश्यक स्तर छथि। कोनो एककेँ सम्पूर्ण वास्तविकता मानब अधूरापन उत्पन्न करत।

34.12 सार्त्र: स्वतंत्रता आ दुर्निष्ठा

सार्त्र मनुष्यकेँ पूर्वनिर्धारित सार बिना अपन चयनसँ बनैत प्राणी मानैत छथि। परिस्थिति सीमा दैत अछि, मुदा व्यक्ति अपन स्थितिक अर्थ आ प्रतिक्रिया लेल उत्तरदायी रहैत अछि। दुर्निष्ठा तखन होइत अछि जखन व्यक्ति स्वयंकेँ वस्तु मात्र वा पूर्णतः सीमाहीन स्वतंत्रता मानि जिम्मेदारीसँ बचैत अछि।

चरम गरीबी, हिंसा वा सामाजिक बन्धनमे ‘तँ चुनू’ कहब पीड़ितक दोषारोपण बनि सकैत अछि। स्वतंत्रता सदैव स्थितिगत अछि। समानान्तर दर्शन व्यक्तिक चयन स्वीकारैत, विकल्पक वास्तविक उपलब्धता, जोखिम आ संस्थागत बाधा सेहो मापैत अछि।

34.13 देह, लिंग आ दोसर

देह केवल चेतनाक बाहरी वस्तु नहि; हम संसारकेँ देहक माध्यमसँ जीबैत छी। देहक क्षमता, पीड़ा, दृष्टि आ सामाजिक अर्थ अनुभवक क्षेत्र बनबैत अछि। लिंगगत देहपर समाजक अपेक्षा, निगाह आ भूमिका आरोपित भेला सँ ‘दोसर’ बनबाक अनुभव उत्पन्न हो सकैत अछि।

जीववैज्ञानिक तथ्य आ सामाजिक अर्थ अलग कऽ फेर सम्बन्धित करब आवश्यक अछि। शरीरक वास्तविकता नकारब उचित नहि, मुदा शरीरसँ स्थिर सामाजिक भाग्य निकालब सेहो गलत। प्रघटनात्मक वर्णन व्यक्तिगत अनुभव दैत अछि; व्यापक दाबी लेल अनेक अनुभव आ संस्थागत प्रमाण चाही।

अध्याय-निष्कर्ष

प्रघटनावाद अनुभवक बनावट बुझबैत अछि; अस्तित्ववाद स्वतंत्रता आ जिम्मेवारी तीक्ष्ण करैत अछि। समानान्तर दर्शन दुनूक शक्ति ग्रहण करैत अछि, मुदा स्वतंत्रताकेँ सामाजिक परिस्थिति सँ काटि नहि देखैत अछि। व्यक्ति चुनाव करैत अछि, मुदा चुनावक मैदान इतिहास आ सत्ता द्वारा असमान रूपसँ बनाओल जाइत अछि।

अध्याय-ग्रन्थसूची

Edmund Husserl — Ideas Pertaining to a Pure Phenomenology.

Martin Heidegger — Being and Time.

Jean-Paul Sartre — Being and Nothingness.

Jean-Paul Sartre — Existentialism Is a Humanism.

Maurice Merleau-Ponty — Phenomenology of Perception.

Simone de Beauvoir — The Ethics of Ambiguity.

अध्याय 35 – विश्लेषणात्मक दर्शन

विश्लेषणात्मक दर्शन एकटा एकरूप सिद्धान्त नहि, बल्कि बीसम आ एकैसम शताब्दीमे भाषा, तर्क, अर्थ, ज्ञान, विज्ञान, मन आ अवधारणाक सूक्ष्म विश्लेषणपर बल देनिहार अनेक धाराक व्यापक नाम अछि। फ्रेगे, रसेल, मूर, विट्गेन्स्टाइन आ बादक अनेक विचारक एहि परम्परामे भिन्न-भिन्न दिशा विकसित कएलनि। समानान्तर दर्शन लेल एकर विशेष महत्त्व एहि कारण अछि जे नव्य-न्यायक भाषिक–तार्किक सूक्ष्मतासँ समस्या-स्तरीय संवाद सम्भव अछि, मुदा ऐतिहासिक समानता घोषित करब अनुचित।

35.1 भाषा आ तर्कक नूतन मोड़

फ्रेगे आधुनिक तर्कमे कथनक संरचना, फलन, परिमाणक आ अर्थ–सन्दर्भक भेद विकसित कएलनि। रसेल वर्णनक विश्लेषण द्वारा देखेलनि जे व्याकरणिक रूप आ तार्किक रूप अलग भऽ सकैत अछि। ‘फ्रांसक वर्तमान राजा गंजा अछि’ जकाँ वाक्य देखबैत अछि जे साधारण व्याकरण कखनो अस्तित्व सम्बन्धी छिपल दाबी राखैत अछि। दर्शनक अनेक भ्रम भाषिक रूपक गलत पठनसँ उत्पन्न भऽ सकैत अछि।

35.2 प्रारम्भिक विट्गेन्स्टाइन

Tractatus मे भाषा आ जगतक सम्बन्ध चित्र-सिद्धान्तक माध्यमसँ बुझबाक प्रयास अछि। सार्थक कथन तथ्यक सम्भावित अवस्था दर्शबैत अछि। तर्क भाषा आ जगतक संरचना स्पष्ट करैत अछि। मुदा नैतिकता, सौन्दर्य आ जीवनक अर्थ एहन क्षेत्र हो सकैत अछि जे तथ्यात्मक कथनक समान रूपमे व्यक्त नहि हो। एहि सीमा-विमर्शक प्रभाव गहरा रहल।

35.3 बादक विट्गेन्स्टाइन

Philosophical Investigations मे दृष्टि बदलैत अछि। शब्दक अर्थ अनेक बेर ओकर उपयोगमे अछि। भाषा एकहि कठोर संरचना नहि; भाषा-खेलसभक बहुलता अछि। आदेश, प्रश्न, प्रार्थना, मजाक, गणना, कविता, विधिक घोषणा—सभक नियम अलग। दर्शनक काम कखनो सिद्धान्त बनाबय सँ अधिक भाषिक गाँठ खोलब हो सकैत अछि।

35.4 अवधारणात्मक स्पष्टता

विश्लेषणात्मक पद्धति पूछैत अछि—‘ज्ञान’, ‘कारण’, ‘स्वतंत्रता’, ‘व्यक्ति’, ‘सत्य’, ‘कर्तव्य’ जकाँ शब्दक आवश्यक आ पर्याप्त शर्त की? यद्यपि बादक दर्शन कठोर परिभाषाक सीमा देखेलक, स्पष्ट भेदक मूल्य बनल रहल। समानान्तर दर्शन एहि अनुशासनकेँ अपनैत अछि: अस्पष्ट शब्द पर आधारित सामाजिक बहस शीघ्र भ्रमित होइत अछि।

35.5 तर्क आ नैतिकता

विश्लेषणात्मक दर्शन केवल भाषा-क्रीड़ा नहि। आधुनिक नैतिकता, राजनीतिक दर्शन, मन-दर्शन, विज्ञान-दर्शन आ ज्ञानमीमांसाक बहुत भाग एहि परम्पराक भीतर विकसित भेल। रॉल्सक न्याय सिद्धान्त, समकालीन स्वतंत्र इच्छा-विमर्श, मन–मस्तिष्क सम्बन्ध, व्यक्तिगत पहचान, कृत्रिम बुद्धि—सभमे विश्लेषणात्मक स्पष्टता महत्त्वपूर्ण अछि।

35.6 नव्य-न्यायसँ संवाद

नव्य-न्याय सम्बन्ध, अवच्छेद, ज्ञान, अभाव, व्याप्ति आ भाषिक संरचनाक वर्णन लेल अत्यन्त सूक्ष्म तकनीकी भाषा विकसित करैत अछि। विश्लेषणात्मक दर्शन सेहो तार्किक रूप, सन्दर्भ, गुण, सम्बन्ध आ ज्ञानक शर्त सूक्ष्म करैत अछि। एहि समानतासँ तुलनात्मक संवाद सम्भव अछि। मुदा ‘गङ्गेश फ्रेगे छलाह’ अथवा ‘नव्य-न्याय आधुनिक symbolic logic छल’ कहब ऐतिहासिक भूल होयत। प्रश्न, प्रयोजन, संकेत-पद्धति आ दार्शनिक पृष्ठभूमि अलग अछि।

35.7 सूक्ष्मताक खतरा

तकनीकी स्पष्टता उपयोगी अछि, मुदा भाषा एतेक विशेषज्ञीय भऽ जाए जे व्यापक बौद्धिक समुदाय प्रवेशे नहि करि सकय, तँ दर्शन सामाजिक जीवनसँ कटि सकैत अछि। नव्य-न्याय आ आधुनिक विश्लेषणात्मक दर्शन दुनू एहि आलोचनासँ परिचित अछि। समानान्तर दर्शन दूहरा लेखन-अनुशासन प्रस्तावित करैत अछि—तकनीकी स्तरपर आवश्यक सूक्ष्मता, आ सामान्य पाठक लेल स्पष्ट व्याख्या।

35.8 ‘समस्या विलीन’ बनाम ‘समस्या हल’

किछु दार्शनिक समस्या भाषिक भ्रम हो सकैत अछि; सही विश्लेषणसँ समस्या विलीन भऽ जाए। मुदा सभ समस्या एहन नहि। गरीबी, जातिगत अपमान, धार्मिक हिंसा, जलवायु संकट केवल शब्दक भ्रम नहि। विश्लेषणात्मक स्पष्टता समस्या बुझबैत अछि, सामाजिक क्रिया आवश्यक रहैत अछि।

35.9 पूर्वपक्ष: स्पष्टता ही दर्शनक सर्वोच्च गुण अछि

जँ अस्पष्टता भ्रमक स्रोत अछि तँ दर्शनक काम केवल स्पष्ट परिभाषा आ वैध तर्क रहि जाए?

उत्तरपक्ष: स्पष्टता आवश्यक, पर्याप्त नहि

स्पष्ट अन्याय सेहो अन्याय हो सकैत अछि। कोनो दमनकारी नियम तार्किक रूपसँ पूर्ण स्पष्ट भऽ सकैत अछि। तेँ दर्शनकेँ स्पष्टताक संग सत्य, प्रमाण, इतिहास, नैतिकता आ सत्ता-समीक्षा जोड़य पड़त।

35.10 तर्कीय रूप आ साधारण भाषा

विश्लेषणात्मक दर्शनक एक धारा साधारण वाक्यक पाछाँ तर्कीय रूप खोजैत अछि। व्याकरणिक सतह कखनो अस्तित्व वा सम्बन्धक विषयमे भ्रम उत्पन्न करैत अछि। दोसर धारा साधारण भाषाक उपयोग, प्रसंग आ भाषिक व्यवहारकेँ दार्शनिक स्पष्टताक आधार मानैत अछि।

दूनू दृष्टि विरोधी मात्र नहि। किछु समस्यामे औपचारिक रूप अस्पष्टता हटबैत, किछुमे प्रसंग काटलासँ अर्थ नष्ट होइत। उपकरण समस्या अनुसार चुनल जाए। एकहि विधिक सार्वभौम प्रभुत्व विश्लेषणात्मक दर्शनक अपन बहुलता नकारत।

35.11 रसेलक वर्णन-सिद्धान्त

‘वर्तमान मिथिलाक राजा’ जकाँ निश्चित वर्णन जँ कोनो वास्तविक व्यक्ति सूचित नहि करय, तँ वाक्य अर्थहीन होयत की मिथ्या? वर्णन-सिद्धान्त वाक्यकेँ अस्तित्व, एकत्व आ गुणक संयुक्त दाबी रूपमे विश्लेषित करैत अछि। एहि सँ काल्पनिक नाम वा अनुपस्थित वस्तु मानबाक दबाव घटैत अछि।

औपचारिक विश्लेषणक लाभ स्पष्ट, मुदा सभ नाम आ वर्णन एकहि ढाँचामे समाइत अछि की नहि ई विवादित। वक्ताक आशय, सामाजिक प्रथा आ प्रसंग सेहो सन्दर्भ निर्धारण करैत अछि। तर्कीय रूप आवश्यक स्पष्टीकरण दे सकैत अछि, सम्पूर्ण भाषिक जीवन नहि।

35.12 आरम्भिक आ परवर्ती विट्गेन्स्टाइन

आरम्भिक विट्गेन्स्टाइन भाषा आ जगतक चित्रात्मक सम्बन्ध, कथनीयक सीमा आ तर्कीय रूपपर बल दैत छथि। परवर्ती लेखन अर्थकेँ उपयोग, भाषा-खेल आ जीवन-रूपसँ जोड़ैत अछि। एहि परिवर्तनकेँ सरल आत्मखण्डन कहब पर्याप्त नहि; दार्शनिक समस्याक स्रोत सम्बन्धी दृष्टि बदलैत अछि।

‘अर्थ उपयोग अछि’ कहला सँ सत्य मनमाना सामाजिक सहमति नहि बनैत। उपयोग नियमबद्ध होइत, आ जगत सफल-असफल क्रियासँ प्रतिरोध करैत अछि। भाषा-खेलक भिन्नता प्रमाणक क्षेत्र बुझबैत अछि; खेलसभ बीच आलोचना असम्भव नहि।

35.13 निजी भाषाक प्रश्न

जँ कोनो शब्द केवल एहन निजी अनुभूति सूचित करय जकर सही-गलत उपयोगक सार्वजनिक कसौटी सम्भव नहि, तँ ‘नियम मानब’ आ ‘हमरा ठीक लगल’ बीच भेद कोना होयत? निजी भाषा-विमर्श अनुभवक निजीपन नकारैत नहि; भाषिक अर्थक मानक सार्वजनिक अभ्याससँ जुड़ल अछि से देखबैत अछि।

पीड़ा व्यक्तिगत अछि, तथापि पीड़ाक भाषा सामाजिक रूपेँ सीखल जाइत अछि। सार्वजनिक कसौटी व्यक्तिक अनुभव रद्द करबाक अधिकार नहि दैत। चिकित्सकीय मापन आ आत्मवर्णन दूनू प्रमाण, मुदा अलग पक्षक। बहुप्रमाणीय विवेकवाद एककेँ दोसरमे घटबैत नहि।

35.14 अवधारणात्मक विश्लेषण आ सत्ता

‘स्वतंत्रता’, ‘समानता’, ‘जाति’ वा ‘भाषा’क परिभाषा केवल शब्दकोशीय प्रश्न नहि। संस्था एहि पदक अधिकृत अर्थ बनबैत आ अधिकार बाँटैत अछि। कौन बोलि ‘मानक भाषा’, कोन काम ‘कुशल’, आ कोन क्षति ‘निजी मामला’—अवधारणा राजनीतिक परिणाम दैत अछि।

एहि कारण स्पष्टता स्वयं तटस्थ नहि, मुदा अस्पष्टता आलोचनाक साधन सेहो नहि। विश्लेषण पदक उपयोग, सीमा, लाभान्वित पक्ष आ छूटल अनुभव देखत। सामाजिक इतिहास बिना अवधारणात्मक विश्लेषण अधूरा, आ स्पष्ट अवधारणा बिना सत्ता-आलोचना धुँधला रहत।

अध्याय-निष्कर्ष

विश्लेषणात्मक दर्शन समानान्तर दर्शनकेँ भाषिक स्पष्टता, तर्कीय अनुशासन आ अवधारणात्मक सूक्ष्मता दैत अछि। नव्य-न्याय एहि संवादक भारतीय साझेदार बनि सकैत अछि, मुदा दुनूक ऐतिहासिक स्वतन्त्रता सुरक्षित रहबाक चाही। सूक्ष्मता उपयोगी तखन अछि जखन ओ गलत निष्कर्ष घटबैत अछि आ सार्वजनिक समझ बढ़बैत अछि।

अध्याय-ग्रन्थसूची

Gottlob Frege — “On Sense and Reference”.

Bertrand Russell — “On Denoting”.

Ludwig Wittgenstein — Tractatus Logico-Philosophicus.

Ludwig Wittgenstein — Philosophical Investigations.

G. E. Moore — Principia Ethica.

Bimal Krishna Matilal — Logic, Language and Reality.

Jonardon Ganeri — Philosophy in Classical India.

अध्याय 36 – व्यवहारवाद

व्यवहारवादक मूल शक्ति एहि बातमे अछि जे ओ दर्शनकेँ जीवनसँ काटल, केवल अमूर्त परिभाषाक खेल बनि रहबाक अनुमति नहि दैत अछि। चार्ल्स सैण्डर्स पियर्स, विलियम जेम्स आ जॉन ड्यूईसँ जुड़ल एहि परम्परामे विचारक अर्थ, सत्य, अन्वेषण, अनुभव आ क्रियाक सम्बन्ध बारम्बार सामने अबैत अछि। मुदा व्यवहारवादकेँ “जे उपयोगी, से सत्य” कहि देब ओकर गम्भीर दार्शनिक रूपकेँ अत्यधिक छोट करब होयत। उपयोगिता, व्यावहारिक परिणाम आ दीर्घकालिक जाँच महत्त्वपूर्ण छथि, मुदा तुरन्त लाभ सत्यक पर्याय नहि।

36.1 अर्थ आ व्यावहारिक परिणाम

पियर्सक प्राग्मैटिक सूत्रक मूल भावना ई अछि जे कोनो अवधारणाक अर्थ बुझबाक लेल देखू जे व्यावहारिक भेद ओ अवधारणा सम्भव अनुभव अथवा क्रियामे उत्पन्न करैत अछि। जँ दू सिद्धान्त सभ सम्भव परिस्थिति मे एकहि परिणाम देत, तँ हुनकर कथित अन्तर सम्भवतः केवल शब्दगत भऽ सकैत अछि। एहि पद्धतिक महत्त्व दार्शनिक अस्पष्टता कम करबमे अछि। “स्वतंत्रता”, “सत्य”, “विश्वास”, “कारण”, “अधिकार” जकाँ शब्द केवल आदर्श घोषणासँ स्पष्ट नहि होइत अछि; पूछब पड़ैत अछि—ई अवधारणा व्यवहारमे कोन अन्तर करैत अछि?

36.2 सत्य: क्षणिक लाभ नहि, अन्वेषणक अनुशासन

विलियम जेम्स सत्यक जीवित, अनुभवगत पक्षपर बल दैत छथि, मुदा एतय सावधानी आवश्यक अछि। कोनो झूठ अल्पकालमे लाभकारी भऽ सकैत अछि। अफवाह राजनीतिक लाभ दऽ सकैत अछि, मिथ्या औषधीय दावा बाजार बना सकैत अछि, अन्धविश्वास मानसिक सांत्वना दे सकैत अछि। एहि कारण “काम करैत अछि”क अर्थ स्पष्ट होयबाक चाही—ककर लेल, कोन समयावधिमे, कोन प्रमाणपर, आ कोन मूल्यक आधारपर?

पियर्सक दीर्घकालिक अन्वेषणक विचार व्यवहारवादकेँ मनमाना व्यक्तिवादसँ बचबैत अछि। सत्य केवल “हमरा उपयोगी लगैत अछि” नहि; सार्वजनिक जाँच, आलोचना, पुनरावलोकन आ समुदायगत अनुसन्धानक प्रक्रिया आवश्यक अछि। समानान्तर दर्शन एहि बिन्दुसँ अपन त्रुटिसंशोध्य ज्ञान-दृष्टिक पुष्टि देखैत अछि।

36.3 ड्यूई: दर्शन, शिक्षा आ लोकतन्त्र

ड्यूई विचारकेँ समस्या-समाधान, शिक्षा, लोकतन्त्र आ सामाजिक प्रयोगसँ जोड़ैत छथि। लोकतन्त्र केवल मतदान-पद्धति नहि, बल्कि साझा अन्वेषण, संचार आ अनुभव-संशोधनक जीवनरूप सेहो भऽ सकैत अछि। एहि दृष्टिमे संस्था पवित्र नहि; संस्था सामाजिक समस्या हल करैत अछि की नहि, नागरिक गरिमा बढ़बैत अछि की नहि, नव अनुभवसँ सीखैत अछि की नहि—ई प्रश्न आवश्यक अछि।

36.4 व्यवहारवाद आ नैतिकता

कोनो नीति सिद्धान्ततः न्यायपूर्ण कहल गेल, मुदा व्यवहारमे निरन्तर किछु समूहकेँ अपमानित, बहिष्कृत अथवा असहाय बनबैत अछि, तँ नीति पुनः परीक्षण योग्य अछि। परिणाम नैतिक तर्कक एक महत्त्वपूर्ण भाग अछि।

मुदा परिणाम एकमात्र कसौटी नहि। यदि बहुमतक लाभ लेल अल्पसंख्यकक मूल अधिकार नष्ट कएल जाए, तँ “कुल उपयोगिता” पर्याप्त उत्तर नहि। तेँ समानान्तर दर्शन परिणाम, अधिकार, गरिमा, प्रक्रिया आ दीर्घकालिक सामाजिक प्रभाव सभकेँ एक संग जाँचैत अछि।

36.5 भारतीय परम्परासँ संवाद

न्याय परम्परामे यथार्थ ज्ञान सफल प्रवृत्तिसँ जुड़ल चर्चा भेटैत अछि; मीमांसा कर्म आ फल, बौद्ध परम्परा दुःखनिरोधक व्यावहारिक दिशाक, आ अनेक भारतीय दर्शन मुक्तिक जीवनगत उद्देश्य पर जोर दैत अछि। मुदा एहि समानतासभकेँ प्रत्यक्ष ऐतिहासिक समानता घोषित नहि करबाक चाही। समानान्तर दर्शन समस्या-संरचनात्मक संवाद करैत अछि—ज्ञान आ जीवनक सम्बन्ध दुनू परम्परामे कोना विचारल गेल?

पूर्वपक्ष: जँ परिणाम महत्त्वपूर्ण, तँ सिद्धान्तक स्वतंत्र मूल्य की?

उत्तरपक्ष: सिद्धान्त दिशा दैत अछि, परिणाम ओकर परीक्षण करैत अछि। केवल परिणाम बिना सिद्धान्त अवसरवाद बनि सकैत अछि; केवल सिद्धान्त बिना परिणाम-जाँच कठोर कट्टरता।

36.6 पियर्सक संशय आ विश्वास

पियर्स कृत्रिम सर्वसंशयक बदला वास्तविक संशयपर बल दैत छथि। विश्वास क्रियाक आदत बनबैत अछि; जखन अनुभव वा विरोधी कारण एहि आदतकेँ अस्थिर करैत अछि तखन अनुसन्धान आरम्भ होइत अछि। केवल ‘हम सभपर संशय करैत छी’ कहब, जँ ककरो व्यवहार वा निर्णय नहि बदलय, दार्शनिक मुद्रा भऽ सकैत अछि।

विश्वास स्थिर करबाक हठ, अधिकार, सहज बोध आ सार्वजनिक अनुसन्धान-जकाँ विधि अलग विश्वसनीयता रखैत अछि। सार्वजनिक अनुसन्धानक श्रेष्ठता ई नहि जे शोधकर्ता निष्पक्ष देवता छथि, बल्कि विधि दीर्घकालमे व्यक्तिगत पक्षपात सुधारबाक अवसर दैत अछि। परिणाम अन्तिम नहि, समुदाय द्वारा संशोध्य अछि।

36.7 प्राग्मैटिक अर्थ-स्पष्टता

कोनो अवधारणाक व्यावहारिक परिणाम की हो सकैत अछि से सोचला पर ओकर अर्थ स्पष्ट होइत अछि। ‘वस्तु कठोर अछि’क अर्थ सम्भावित स्पर्श, दबाव आ व्यवहारमे खुलैत अछि। एहि सूत्रक अर्थ सत्य केवल तत्काल लाभ अछि नहि; परिणाम अवधारणाक बोधक कसौटी अछि।

नैतिक वा धार्मिक अवधारणामे परिणाम दीर्घकालीन, सामूहिक आ अप्रत्यक्ष भऽ सकैत अछि। तेँ व्यावहारिकता त्वरित सुविधा नहि। कोन परिणाम, ककरा लेल, कोन अवधि मे, आ कोन मूल्यक दृष्टिसँ—ई प्रश्न बिना ‘काम करैत अछि’ अस्पष्ट वाक्य अछि।

36.8 जेम्स आ सत्यक जीवित प्रश्न

विलियम जेम्स विश्वासक एहन स्थिति पर विचार करैत छथि जतय विकल्प जीवित, महत्त्वपूर्ण आ टारल नहि जा सकय, मुदा निर्णायक प्रमाण एखन उपलब्ध नहि। एतय निर्णय स्थगित करब सेहो निर्णयक परिणाम दऽ सकैत अछि। हुनक बहस विज्ञानक स्थापित तथ्य इच्छा अनुसार बदलबाक अनुमति नहि।

विश्वासक अधिकार सीमित परिस्थितिमे अछि। जँ दाबी दोसरपर बाध्यकारी नीति बनबैत, अथवा पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध अछि, तँ निजी इच्छा सार्वजनिक औचित्य नहि। बहुप्रमाणीय विवेकवाद निजी अस्तित्वगत प्रतिबद्धता आ सार्वजनिक तथ्य-दाबी अलग रखैत अछि।

36.9 ड्यूई: अनुभव, समस्या आ लोकतन्त्र

ड्यूई लेल अनुभव निष्क्रिय संवेदन नहि, जीव आ परिवेशक परस्पर क्रिया अछि। समस्या तखन उठैत अछि जखन चलैत आदत विफल होइत; अनुसन्धान सम्भावित समाधान बनबैत, परीक्षण करैत आ परिणाम अनुसार सुधारैत अछि। ज्ञान जीवनसँ अलग दर्शकक चित्र नहि।

लोकतन्त्र मतदानक विधि मात्र नहि, संयुक्त समस्या-समाधानक सामाजिक पद्धति सेहो अछि। शिक्षा प्रश्न, सहयोग आ परिणामक समीक्षा सिखबय। मुदा शक्ति-असमानता उपेक्षित रहला पर ‘साझा प्रयोग’ शक्तिशालीक एजेंडा बनि सकैत अछि; समान भागीदारी लेल संसाधन आ आवाजक शर्त आवश्यक अछि।

36.10 परिणाम आ नैतिक सीमा

कोनो विचार उपयोगी साबित भेल—एतयसँ ओकर सभ अर्थमे सत्यता सिद्ध नहि। उपयोग छल, हिंसा वा अल्पकालिक लाभसँ सेहो भेटि सकैत अछि। परिणामवादी परीक्षणमे लाभ-हानिक वितरण, दीर्घकालीन प्रभाव, अधिकार आ विकल्पक न्याय जाँचल जाएत।

व्यवहारवादक सर्वोत्तम रूप सिद्धान्तकेँ अनुभव लेल खुलल रखैत अछि। खराब रूप ‘जे चलि जाए वही ठीक’ बनि सकैत अछि। समानान्तर दर्शन प्रयोगशीलता ग्रहण करैत, मनुष्यक गरिमा आ तथ्यगत ईमानदारीकेँ एहन सीमा मानैत अछि जकरा सुविधा लेल त्यागल नहि जा सकैत।

अध्याय-निष्कर्ष

व्यवहारवाद दर्शनकेँ जीवनक बीच वापस अनैत अछि। एकर शिक्षा ई नहि जे सत्य सुविधाक नाम अछि, बल्कि ई जे अवधारणा, सिद्धान्त आ संस्था अपन व्यावहारिक परिणामसँ पूर्णतः अलग नहि रहि सकैत अछि। समानान्तर दर्शन एहि शिक्षाकेँ अपन प्रमाण-संवेदनशीलता आ गरिमा-आधारित नैतिकतासँ जोड़ैत अछि।

अध्याय-ग्रन्थसूची

Charles S. Peirce — चयनित दार्शनिक लेख.

William James — Pragmatism.

John Dewey — Experience and Nature; Democracy and Education.

Stanford Encyclopedia of Philosophy — “Pragmatism”.

अध्याय 37 – विज्ञान-दर्शन

विज्ञान तथ्यसभक सूची मात्र नहि। विज्ञान प्रश्न, परिकल्पना, अवलोकन, मापन, प्रयोग, गणना, मॉडल, सिद्धान्त, आलोचना, पुनरुत्पादन आ संस्थागत जाँचक जटिल प्रक्रिया अछि। वैज्ञानिक ज्ञान बदलैत अछि, मुदा परिवर्तन मनमानापन सिद्ध नहि करैत अछि। वास्तवमे संशोधनक क्षमता विज्ञानक शक्ति अछि।

37.1 विज्ञानक विशेषता की?

दार्शनिक प्रश्न अछि—विज्ञानकेँ गैर-विज्ञानसँ अलग करयवला कसौटी की? केवल प्रयोग? खगोलविज्ञानक बहुत निष्कर्ष प्रत्यक्ष नियंत्रित प्रयोग बिना बनैत अछि। केवल गणित? जीवविज्ञानक अनेक क्षेत्र गणितीय होइतहुँ अवलोकन-प्रधान अछि। कार्ल पॉप्पर खण्डनीयतापर बल देलनि—वैज्ञानिक दाबी एहन हो जे सम्भावित प्रमाण ओकरा गलत सिद्ध कऽ सकय। मुदा वास्तविक विज्ञानक इतिहास देखबैत अछि जे एकल असफल अवलोकनपर सिद्धान्त तुरन्त त्यागल नहि जाइत; उपकरण, सहायक परिकल्पना, आँकड़ा आ विधि सेहो जाँचल जाइत अछि।

37.2 कून आ वैज्ञानिक प्रतिमान

थॉमस कून विज्ञानक इतिहासमे “सामान्य विज्ञान”, संकट आ प्रतिमान-परिवर्तनक चर्चा करैत छथि। एहि विचारकेँ “विज्ञान केवल फैशन अछि” कहि देब गलत। प्रतिमान सामाजिक आ अवधारणात्मक ढाँचा दैत अछि, मुदा नूतन सिद्धान्तक स्वीकृति केवल शक्ति-संघर्ष नहि; समस्या-समाधान, भविष्यवाणी, व्याख्यात्मक क्षमता, आँकड़ा आ अनुसंधानक फलदायिता महत्त्वपूर्ण रहैत अछि।

37.3 वैज्ञानिक यथार्थवाद आ उपकरणवाद

जखन विज्ञान इलेक्ट्रॉन, जीन, क्वार्क, वक्रित अवकाश-काल वा आन अप्रत्यक्ष वस्तुक चर्चा करैत अछि, प्रश्न उठैत अछि—ई वस्तु वास्तवमे अछि, कि सिद्धान्त केवल सफल गणनात्मक उपकरण? वैज्ञानिक यथार्थवाद कहैत अछि सफल सिद्धान्त प्रायः जगतक वास्तविक संरचनाक किछु पक्ष पकड़ैत अछि। उपकरणवादी दृष्टि सावधान करैत अछि जे भविष्यवाणी-सफलता स्वतः पूर्ण तत्त्वमीमांसीय सत्य सिद्ध नहि करैत। समानान्तर दर्शन एहि विवादमे अचूकता नहि, प्रमाणानुसार स्तरित विश्वास स्वीकारैत अछि।

37.4 अवलोकन आ सिद्धान्त

“हम केवल तथ्य देखैत छी” वाक्य सरल अछि। वैज्ञानिक अवलोकन उपकरण, मापन-विधि, अवधारणा आ पृष्ठभूमि सिद्धान्तसँ जुड़ल होइत अछि। मुदा एहि बातसँ ई निष्कर्ष नहि निकलैत अछि जे तथ्य मनमाना बनि जाइत अछि। अलग दल समान उपकरण, पुनरावृत्ति, सार्वजनिक आँकड़ा आ आलोचनात्मक पद्धतिसँ एक-दोसराक दाबी जाँचि सकैत अछि।

37.5 कारणता, आगमन आ अनिश्चितता

विज्ञान केवल सहसम्बन्ध नहि, कारणात्मक व्याख्या खोजैत अछि। नियंत्रित प्रयोग, प्राकृतिक प्रयोग, सांख्यिकीय मॉडल, यान्त्रिक व्याख्या आ विविध विधिसँ कारणता जाँचल जाइत अछि। ह्यूमक आगमन-समस्या याद दिलबैत अछि जे अतीतसँ भविष्यक निष्कर्ष दार्शनिक रूपसँ सहज नहि। आधुनिक विज्ञान अनिश्चितताकेँ छिपबैत नहि; सम्भाव्यता, विश्वास-अन्तराल, त्रुटि, पुनरावृत्ति आ स्वतंत्र सत्यापन द्वारा ओकरा व्यवस्थित करैत अछि।

37.6 विज्ञान आ मूल्य

विज्ञान बता सकैत अछि कोन नीति प्रदूषण घटाओत, कोन औषधि औसतन प्रभावी, कोन तकनीक जोखिम बढ़बैत अछि। मुदा “कतेक जोखिम न्यायसंगत?”, “ककर हित प्राथमिक?”, “ककरा बलिदान देब उचित?”—ई नैतिक प्रश्न केवल आँकड़ासँ समाप्त नहि होइत अछि। तथ्य मूल्यक निर्णयकेँ सूचित करैत अछि; मूल्य तथ्यकेँ रद्द नहि करैत अछि।

37.7 वैज्ञानिकतावाद आ विज्ञानविरोध

एक अतिवाद कहैत अछि—केवल विज्ञाने सभ अर्थपूर्ण प्रश्नक उत्तर दऽ सकैत अछि। दोसर कहैत अछि—विज्ञान सेहो एक विचारधारा मात्र, तेँ कोनो विशेष ज्ञानात्मक अधिकार नहि। दुनू अनुचित। प्राकृतिक जगत, रोग, पदार्थ, जैविक प्रक्रिया, जलवायु आ तकनीकी प्रभावक प्रश्नमे विज्ञानक सार्वजनिक, परीक्षणीय पद्धति अत्यन्त शक्तिशाली अछि। मुदा न्याय, सौन्दर्य, अधिकार, जीवनक अर्थ आ धार्मिक अनुभवक प्रश्न केवल प्रयोगशाला-मापनमे समाप्त नहि।

पूर्वपक्ष: विज्ञान बदलैत अछि, तेँ आजक विज्ञानपर भरोसा किएक?

उत्तरपक्ष: बदलनाइ विफलताक नहि, सुधारक संकेत हो सकैत अछि। विश्वसनीयता अचूकतासँ नहि, पारदर्शी विधि, परीक्षण, स्वतंत्र समीक्षा आ संशोधनक क्षमतासँ बनैत अछि।

37.8 व्याख्या, पूर्वानुमान आ नियन्त्रण

वैज्ञानिक सिद्धान्त केवल देखल घटना सारांशित नहि करैत; ओ कारण वा संरचना प्रस्तावित करैत, नूतन परिणामक पूर्वानुमान दैत आ कखनो हस्तक्षेप सम्भव बनबैत अछि। ई तीन कार्य एक नहि। कोनो नमूना सही पूर्वानुमान दऽ सकैत अछि मुदा कारण गलत बुझा सकैत; कोनो ऐतिहासिक विज्ञान सटीक नियन्त्रण बिना सबल व्याख्या दे सकैत अछि।

विज्ञानक मूल्यांकन विषयानुसार होयत। ग्रहक गति, रोगक प्रसार, भूगर्भीय इतिहास आ सामाजिक व्यवहार एकहि प्रयोगशाला-विधिसँ नहि जाँचल जाए। विधिक बहुलता प्रमाण-अराजकता नहि; प्रत्येक क्षेत्रमे पारदर्शी मापन, प्रतिवाद आ त्रुटि-संशोधन आवश्यक रहत।

37.9 सिद्धान्त-निर्भर अवलोकन

वैज्ञानिक जे देखैत छथि ओ उपकरण, प्रशिक्षण आ अवधारणासँ प्रभावित होइत अछि। दूरबीनक छवि, सूक्ष्मदर्शी नमूना वा आँकड़ा-पट्टिका साधारण नयन-दर्शन नहि; संकेत पढ़बाक सिद्धान्त चाही। एहि कारण ‘निर्मल तथ्य’क धारणा सरल नहि।

मुदा सिद्धान्त-निर्भरता तथ्यक मनमानापन नहि। अलग उपकरण, स्वतंत्र दल, अन्ध परीक्षण आ सफल पूर्वानुमान सिद्धान्तपर बाहरी दबाव बनबैत अछि। जगत हमर भाषा अनुसार सभ परिणाम नहि दैत। आलोचनात्मक यथार्थवाद मध्यस्थता आ वस्तुगत प्रतिरोध दुनू स्वीकारैत अछि।

37.10 खण्डनीयता आ ओकर सीमा

खण्डनीयताक सिद्धान्त अनुसार वैज्ञानिक दाबी एहन जोखिम लेत जे सम्भावित अवलोकन ओकरा गलत ठहरा सकय। ई सिद्धान्त विज्ञानकेँ हर परिणाम संग मेल खायवला दाबीसँ अलग करैत अछि। मुदा एकटा विफल पूर्वानुमान केवल मुख्य सिद्धान्त नहि, सहायक धारणा, उपकरण वा मापन-दोषपर निर्भर भऽ सकैत अछि।

तेँ वैज्ञानिक व्यवहार एक परीक्षणपर तुरन्त सिद्धान्त त्यागैत नहि। पुनर्परीक्षण, वैकल्पिक व्याख्या आ समग्र प्रमाण जाँचल जाइत अछि। लचीलापन उचित हो सकैत अछि; लगातार अपवाद जोड़ि सिद्धान्त बचायब अनुचित। सीमा केना तय होयत ई इतिहास आ समुदायिक निर्णयक विषय सेहो अछि।

37.11 प्रतिमान आ वैज्ञानिक परिवर्तन

वैज्ञानिक समुदाय साझा उदाहरण, प्रश्न, उपकरण आ मानक भीतर काम करैत अछि। संकट कालमे पुरान प्रतिमानक क्षमता घटि सकैत आ नूतन प्रतिमान समस्या नव ढंगसँ व्यवस्थित करैत अछि। परिवर्तन केवल नूतन तथ्य जोड़ब नहि, प्रासंगिक तथ्य देखबाक ढाँचा बदलब सेहो होयत।

प्रतिमान-विमर्शसँ विज्ञान केवल राजनीति बनि जाइत—एहन निष्कर्ष गलत। प्रमाण, समस्या-समाधान, सटीकता आ फलदायिता वास्तविक भूमिका रखैत अछि, यद्यपि निर्णय पूर्ण यान्त्रिक नहि। इतिहास विज्ञानक मानवीय संस्था देखबैत अछि; एकर उपलब्धि नकारैत नहि।

37.12 अनिश्चितता सार्वजनिक रूपसँ कहब

वैज्ञानिक निष्कर्ष प्रायः सम्भाव्यता, त्रुटि-सीमा आ शर्तसहित अबैत अछि। सार्वजनिक संवादमे ई सीमा हटि जाए तँ निष्कर्ष अचूक आदेश जकाँ देखाइत; सीमा मात्र दोहराओल जाए तँ उपयोगी ज्ञान सेहो निष्प्रभावी होइत। उचित भाषा मुख्य निष्कर्ष, विश्वासक स्तर, प्रमुख अनिश्चितता आ निर्णयक परिणाम अलग बतबैत अछि।

अनिश्चितता निष्क्रियताक कारण नहि। सम्भावित हानि गंभीर आ अपरिवर्तनीय हो तखन अपूर्ण ज्ञानक बीच सावधानी उचित भऽ सकैत अछि। निर्णय विज्ञान अकेले नहि करैत; मूल्य, लागत आ न्याय प्रवेश करैत अछि। मुदा तथ्यगत आधारक सही प्रस्तुति नैतिक निर्णयक पूर्वशर्त अछि।

अध्याय-निष्कर्ष

समानान्तर दर्शन विज्ञानकेँ न देवत्व दैत अछि, न अवमूल्यित करैत अछि। विज्ञान भौतिक जगत बुझबाक सर्वोत्तम सार्वजनिक पद्धतिसभमे एक अछि; नैतिक मूल्यक एकमात्र स्रोत नहि।

अध्याय-ग्रन्थसूची

Karl Popper — The Logic of Scientific Discovery.

Thomas S. Kuhn — The Structure of Scientific Revolutions.

Carl G. Hempel — Philosophy of Natural Science.

Stanford Encyclopedia of Philosophy — “Scientific Method”; “Scientific Realism”.

पंचम खण्ड – सामाजिक आ राजनीतिक दर्शन

अध्याय 38 – व्यक्ति आ समाज

व्यक्ति समाजसँ बाहर जन्म नहि लैत अछि। भाषा, नाम, सम्बन्ध, स्मृति, शिक्षा, व्यवसाय, अवसर, भय, मान्यता आ प्रतिबन्ध—सभ सामाजिक संसारसँ जुड़ल अछि। मुदा व्यक्ति समाजक निष्क्रिय उत्पाद सेहो नहि। व्यक्ति प्रश्न करैत अछि, विद्रोह करैत अछि, नूतन भाषा बनबैत अछि, परम्परा सुधारैत अछि, संस्था बदलैत अछि। तेँ व्यक्ति आ समाजक सम्बन्ध एकतरफा कारणता नहि; पारस्परिक निर्माण अछि।

38.1 सामाजिक रूपसँ निर्मित व्यक्ति

जन्मक बाद बच्चा कोनो तैयार “स्वतंत्र आत्म” रूपमे सामाजिक अर्थ बिना नहि रहैत। भाषा सिखैत, सम्बन्ध बनबैत, नियम बुझैत, अपन देह आ पहिचानक सामाजिक अर्थ ग्रहण करैत व्यक्ति बनैत अछि। “हम”क भावना सेहो “हमरा कोना देखल जाइत अछि” सँ प्रभावित होइत अछि। परिवार, जाति, वर्ग, लिंग, भाषा, क्षेत्र आ धर्म अनेक अवसर आ सीमा निर्धारित कऽ सकैत अछि।

38.2 समाज व्यक्ति नहि निगलय

यदि सभ विचारकेँ केवल सामाजिक उत्पाद कहल जाए, तखन सामाजिक आलोचना स्वयं कोना सम्भव? सुधारक, विद्रोही, कवि, वैज्ञानिक, दार्शनिक आ सामान्य नागरिक अपन समाजक मान्यतासँ असहमत होइत छथि। सामाजिक प्रभाव वास्तविक अछि, पूर्ण नियतत्व नहि। समानान्तर दर्शन एहि कारण व्यक्ति-स्वायत्तता आ सामाजिक स्थितिक दुनूकेँ स्वीकारैत अछि।

38.3 समुदाय आ गरिमा

समुदाय मनुष्यकेँ भाषा, सुरक्षा, आत्मीयता आ अर्थ दैत अछि। मुदा समुदाय पवित्र नहि। जातिगत बहिष्कार, स्त्री-विरोधी नियम, धर्मपरिवर्तन पर हिंसा, भाषिक दमन, परिवारक नामपर स्वायत्तताक नाश—ई सभ देखबैत अछि जे समुदाय स्वयं अन्याय करि सकैत अछि। व्यक्ति-गरिमा समुदायगत परम्परासँ निम्न नहि होयबाक चाही।

38.4 उदारवाद आ सामुदायिक आलोचना

उदार परम्परा व्यक्तिक अधिकार, चुनाव आ राज्यसँ सुरक्षा पर बल दैत अछि। सामुदायिक आलोचक स्मरण करबैत छथि जे वास्तविक व्यक्ति सम्बन्धविहीन परमाणु नहि। ओकर मूल्य, भाषा, विकल्प आ पहिचान सामाजिक इतिहासमे बनैत अछि। समानान्तर दर्शन एहि विवादकेँ “एक पक्ष चुनू” रूपमे नहि देखैत अछि। अधिकार बिना समुदाय अत्याचारी भऽ सकैत अछि; सम्बन्ध बिना व्यक्ति-कथन काल्पनिक हो सकैत अछि।

38.5 मान्यता आ सामाजिक अस्तित्व

मनुष्य केवल संसाधन नहि चाहैत अछि; सम्मान आ मान्यता सेहो चाहैत अछि। अपमान, अस्पृश्यता, भाषिक हीनता, जातीय रूढ़ि, लिंगगत अवमूल्यन व्यक्तिक आत्मसम्बन्ध प्रभावित करैत अछि। सामाजिक न्यायक अर्थ केवल आय-वितरण नहि; सम्मानक संरचना सेहो।

38.6 डिजिटल समाज

डिजिटल माध्यम व्यक्तिक सामाजिकता नूतन रूप देलक। नेटवर्क समुदाय, एल्गोरिद्मिक दृश्यता, समूह-पहिचान, ऑनलाइन अपमान, सामूहिक स्मृति आ दुष्प्रचार व्यक्ति-समाज सम्बन्धकेँ बदलैत अछि। व्यक्ति अधिक बोलि सकैत अछि, मुदा अधिक निगरानी, समूह-दबाव आ सूचना-प्रवर्तनक अधीन सेहो भऽ सकैत अछि।

पूर्वपक्ष: व्यक्ति समाजक उत्पाद अछि, तेँ व्यक्तिगत जिम्मेवारी घटि जाइत अछि?

उत्तरपक्ष: सामाजिक कारण जिम्मेवारीक सन्दर्भ बुझबैत अछि, ओकरा पूर्ण समाप्त नहि करैत। जिम्मेवारी क्षमता, बाध्यता, ज्ञान आ विकल्पक स्तर अनुसार विचारल जाए।

38.12 समाजक तत्त्वमीमांसा: जोड़ की संरचना?

समाजकेँ व्यक्तिसभक जोड़ मात्र मानल जाए तँ भाषा, मुद्रा, कानून आ परम्परा-जकाँ एहन तथ्य कठिन होइत अछि जे कोनो एक व्यक्तिक इच्छासँ उत्पन्न वा समाप्त नहि होइत। विपरीत रूपसँ समाजकेँ स्वतंत्र जीव मानल जाए तँ व्यक्तिगत पीड़ा आ जिम्मेदारी अदृश्य भऽ जाइत। उचित विश्लेषण उद्भूत संरचना मानैत अछि: व्यक्तिक क्रियासँ बनल, मुदा बनलाक बाद व्यक्तिक विकल्पपर वास्तविक प्रभाव देनिहार।

उदाहरणतः बाजार लाखों निर्णयसँ बनैत अछि, तथापि मूल्य आ रोजगारक स्थिति एक व्यक्ति सामने बाहरी बाधा जकाँ उपस्थित होइत अछि। परिवार सदस्यसभक सम्बन्धसँ अछि, मुदा उत्तराधिकार आ लिंग-भूमिका पीढ़ीगत नियम बनि सकैत अछि। संरचना बदलय लेल व्यक्तिगत सदिच्छा संग सामूहिक नियमक परिवर्तन चाही।

प्रमाण-विवेचनमे स्तर स्पष्ट रहय। व्यक्तिक कथनसँ संस्था सम्बन्धी परिकल्पना बनि सकैत, मुदा व्यापक दाबी लेल अनेक अनुभव, नियम, आँकड़ा आ ऐतिहासिक परिवर्तन जाँचल जाए। समूह-स्तरक आँकड़ा सँ प्रत्येक व्यक्तिक गुण निकालब सेहो भूल अछि।

38.13 सामाजिक अनुकरण आ आलोचनात्मक दूरी

मनुष्य आचरण केवल स्पष्ट आदेशसँ नहि सीखैत; देखादेखी, प्रशंसा, लज्जा आ पुनरावृत्तिसँ मानक भीतर बसैत अछि। एहि कारण अन्यायपूर्ण व्यवहार कानून निषिद्ध भेलाक बादो सामान्य आदत रूपमे जीवित रहि सकैत अछि। सामाजिक परिवर्तनक लेल दण्डसँ अधिक नूतन उदाहरण, भाषा आ संस्थागत प्रोत्साहन आवश्यक।

अनुकरण सभ समय दमन नहि। बच्चा भाषा, सहयोग आ कौशल एहि मार्गसँ सीखैत अछि। प्रश्न ई जे मानक प्रश्न लेल खुलल अछि की जन्मगत दर्जा रूपमे थोपल। आलोचनात्मक दूरी अपन परम्पराकेँ बाहरी वस्तु बना कऽ नकारब नहि, ओकर कारण आ परिणाम देखबाक क्षमता अछि।

विद्यालय आ सार्वजनिक माध्यमक नैतिक भूमिका एतय अबैत अछि। ओ एक ‘आदर्श नागरिक’क संकीर्ण छवि नहि थोपय, बल्कि अलग जीवन-रूपक समान गरिमा, प्रमाण माँगबाक अभ्यास आ असहमतिक भाषा विकसित करय।

38.14 एकान्त, समुदाय आ मानसिक अवकाश

समुदाय अर्थ आ सहारा दैत अछि, मुदा निरन्तर सामाजिक दृष्टि व्यक्तिक आत्मचिन्तन रोकि सकैत अछि। एकान्तक अधिकार व्यक्ति केँ भूमिका सँ थोड़े दूरी लऽ अपन मूल्य जाँचबाक अवसर दैत अछि। ई सामाजिक पलायन नहि, अधिक उत्तरदायी सहभागिताक तैयारी भऽ सकैत अछि।

दोसर दिस मजबूर अलगाव—बहिष्कार, प्रवासन, वृद्धावस्था वा डिजिटल वंचना—स्वतंत्र एकान्त नहि। समान शब्दक पाछाँ अनुभव उलटा भऽ सकैत अछि। नीति चुनावसहित निजी अवकाश आ अनिच्छित अकेलापनक सहायता अलग करय।

दार्शनिक रूपसँ व्यक्ति न पूर्ण आत्मनिर्भर, न समुदायमे विलीन। ओकरा सम्बन्ध चाही आ सम्बन्धपर विचार करबाक दूरी सेहो। सहअस्तित्व एहि लयक नाम अछि।

38.15 पूर्वपक्ष: सामाजिक व्याख्या व्यक्तिक दोष मिटा दैत अछि

आपत्ति अछि जे संरचना, भूमिका आ सामाजिक प्रशिक्षणपर बल देलासँ प्रत्येक गलत काजक जिम्मेदारी समाजपर चलि जायत। व्यक्ति कहि सकत जे ओ परम्परा अनुसार कएलक, अतः दोषी नहि। एहन निष्कर्ष नैतिक अभिकर्तृत्व नष्ट करैत अछि।

उत्तर ई जे कारण बतब औचित्य देब नहि। सामाजिक दबाव विकल्प कठिन बना सकैत, मुदा पूर्णतः असम्भव हरदम नहि। जिम्मेदारी मापैत समय जानकारी, शक्ति, प्रतिरोधक जोखिम आ लाभ देखल जाए; सभपर समान दोष नहि, ककरो पर शून्य दोष सेहो नहि।

संरचनात्मक सुधार भविष्यक हानि रोकैत अछि, व्यक्तिगत उत्तरदायित्व विशिष्ट कृत्यक न्याय करैत अछि। दूनू बिना एक-दोसर अधूरा छथि।

38.7 सामाजिक व्यक्तिक निर्माण

व्यक्ति जन्मसँ तैयार आत्मनिर्भर एकक नहि। भाषा, देखभाल, परिवार, विद्यालय, श्रम आ सार्वजनिक मान्यता ओकर क्षमता बनबैत अछि। एहि सामाजिक निर्माणक अर्थ व्यक्ति भ्रम अछि नहि; बल्कि व्यक्तित्व सम्बन्धक माध्यमसँ वास्तविक बनैत अछि।

समुदाय व्यक्तिक स्रोत होइतहुँ ओकर मालिक नहि। जे परम्परा प्रश्न, प्रस्थान वा जीवन-विकल्प रोकैत अछि, ओ अपन पोषणकारी भूमिकाक सीमा पार करैत अछि। व्यक्ति आ समाजक उचित सम्बन्ध पारस्परिक निर्माण संग आलोचना आ निकासक स्वतंत्रता स्वीकारत।

38.8 भूमिका आ आत्मपहिचान

मनुष्य अनेक भूमिका निभबैत अछि—परिजन, पेशाकर्मी, नागरिक, भाषिक समुदाय सदस्य। भूमिका अपेक्षा आ अर्थ दैत अछि, मुदा व्यक्ति कोनो एक भूमिकामे पूर्ण समाप्त नहि। संघर्ष तखन होइत अछि जखन दू भूमिका विरोधी कर्तव्य देत, अथवा समाज जन्मसँ भूमिका स्थिर करि देत।

आत्मपहिचान केवल निजी घोषणा नहि, आ केवल बाहरी आरोप सेहो नहि। देह, इतिहास, सम्बन्ध, अनुभव आ आत्मनिर्णय मिलि पहचान बनबैत अछि। नीति बनबैत समय व्यक्तिक अपन आवाज महत्त्वपूर्ण, मुदा दाबीक सामाजिक परिणाम आ दोसरक अधिकार सेहो जाँचल जाएत।

38.9 सामूहिक उत्तरदायित्व

संस्था द्वारा भेल हानिक जिम्मेदारी केवल अन्तिम आदेश देनिहार व्यक्तिपर राखलासँ प्रक्रिया अदृश्य भऽ सकैत अछि। नियम बनौनिहार, लागू करनिहार, लाभ लेनिहार आ विरोध रोकनिहारक भूमिका भिन्न होइत अछि। सामूहिक उत्तरदायित्व एहि भूमिकाक वितरण जाँचैत अछि।

मुदा समूहक नामपर प्रत्येक सदस्य समान दोषी नहि। जानकारी, शक्ति, लाभ आ प्रतिरोधक सम्भावना अनुसार जिम्मेदारी बदलैत अछि। न्याय लेल व्यक्तिगत दोष, संस्थागत सुधार आ पीड़ितक प्रतिकार अलग साधन चाही।

38.10 विश्वास आ सामाजिक पूँजी

सहयोग लेल किछु विश्वास आवश्यक अछि। प्रत्येक कथन स्वयं जाँचब असम्भव; संस्था, पड़ोसी आ विशेषज्ञपर निर्भरता सामाजिक जीवनक शर्त अछि। विश्वास टूटला पर लेनदेन, ज्ञान आ लोकतान्त्रिक संवादक लागत बढ़ैत अछि।

अन्ध विश्वास पूँजी नहि, जोखिम अछि। विश्वसनीयता पारदर्शिता, उत्तरदायित्व, समान नियम आ त्रुटि-सुधारसँ बनैत अछि। हाशियाक समुदाय जँ ऐतिहासिक अनुभवक कारण संस्थापर अविश्वास करैत अछि, तँ उपदेश नहि, संस्थागत प्रमाण चाही।

38.11 निजता आ सार्वजनिकता

व्यक्तिक निजी क्षेत्र स्वतंत्रता आ आत्मविकास लेल आवश्यक, मुदा ‘निजी’ नाम दऽ घरेलू हिंसा वा असमानता अदृश्य कएल जा सकैत अछि। दोसर दिस राज्य वा समाजक अत्यधिक हस्तक्षेप आत्मनिर्णय नष्ट करैत अछि। सीमा हानि, सहमति, निर्भरता आ शक्ति अनुसार तय होयत।

डिजिटल जीवनमे निजी व्यवहार डेटा बनि सार्वजनिक प्रभाव उत्पन्न करैत अछि। सहमति केवल लम्बा शर्तपत्र स्वीकारब नहि; जानकारी, वास्तविक विकल्प आ वापसीक अधिकार चाही। व्यक्ति–समाज सम्बन्धक नूतन क्षेत्र डेटा-सत्ता अछि।

अध्याय-निष्कर्ष

समाज बिना व्यक्ति अधूरा; व्यक्तिगत गरिमा बिना समाज अत्याचारी। समानान्तर दर्शन सामाजिक स्थितिक वास्तविक प्रभाव स्वीकारैत अछि, संगहि व्यक्तिक आलोचनात्मक स्वायत्तता आ समान मूल गरिमाकेँ केन्द्रमे रखैत अछि।

अध्याय-ग्रन्थसूची

John Stuart Mill — On Liberty.

G. W. F. Hegel — Philosophy of Right.

Charles Taylor — Sources of the Self.

Axel Honneth — The Struggle for Recognition.

अध्याय 39 – राज्यक औचित्य

राज्य आदेश दैत अछि, कर लैत अछि, कानून बनबैत अछि, दण्ड दैत अछि, सम्पत्ति-व्यवस्था नियंत्रित करैत अछि, सीमा बनबैत अछि आ कखनो बल प्रयोग करैत अछि। एहि कारण राज्यक मूल दार्शनिक प्रश्न अछि—एहन बाध्यकारी सत्ता उचित किएक? “राज्य अछि, तेँ मानू” औचित्य नहि। शक्ति आ वैधता अलग वस्तु अछि।

39.1 सुरक्षा: हॉब्सक प्रश्न

हॉब्स असुरक्षित अवस्थाक भय देखबैत मजबूत सार्वभौम सत्ताक औचित्य खोजैत छथि। सुरक्षा निश्चय राजनीतिक जीवनक आधारभूत आवश्यकता अछि। मुदा केवल सुरक्षा पर्याप्त नहि। जेल सेहो अत्यन्त सुरक्षित भऽ सकैत अछि, मुदा स्वतंत्र समाज नहि। राज्य जँ सुरक्षाक नामपर अनियन्त्रित सत्ता ग्रहण करय, तँ सुरक्षा स्वयं नागरिकक भयक स्रोत बनि सकैत अछि।

39.2 अधिकार: लॉकक दिशा

लॉक जीवन, स्वतंत्रता आ सम्पत्तिक संरक्षण दिस राजनीतिक सत्ता उचित ठहरबैत छथि। सरकारक वैधता शासितक सहमति आ अधिकार-संरक्षणसँ जुड़ैत अछि। एहि परम्पराक गम्भीर योगदान ई अछि जे राज्य नागरिकक मालिक नहि; सरकारक शक्ति उद्देश्य-बद्ध आ सीमित अछि।

39.3 रूसो आ स्वशासन

रूसोक प्रश्न केवल “कतेक कम राज्य?” नहि, “कानून वास्तवमे ककर इच्छा व्यक्त करैत अछि?” यदि नागरिक स्वयं समान सदस्य रूपमे कानून-निर्माणमे भाग लैत छथि, राजनीतिक आज्ञापालनक अर्थ बदलैत अछि। मुदा “सामान्य इच्छा”क नामपर बहुमत अथवा शासक समूह अपन मत थोपय, तखन सामूहिकता दमन बनि सकैत अछि।

39.4 वैधानिकता आ नैतिक वैधता

कोनो कानून विधिसम्मत प्रक्रिया सँ पारित भऽ सकैत अछि, तथापि अन्यायी हो सकैत अछि। दासता, जातिगत बहिष्कार, स्त्रीक अधिकार-वंचना, औपनिवेशिक कानून—इतिहास देखबैत अछि जे विधिक वैधता आ नैतिक न्याय एक नहि। तेँ नागरिक आज्ञापालनक कर्तव्य पूर्णतः असीम नहि।

39.5 सार्वजनिक औचित्य

समानान्तर दर्शन राज्यसँ सार्वजनिक कारण माँगैत अछि। स्वतंत्रता सीमित किएक? कर किएक? निगरानी किएक? भूमि अधिग्रहण किएक? भाषा-नीति किएक? नागरिकक जीवन प्रभावित करैत निर्णयक कारण सार्वजनिक, जाँचयोग्य आ समान कसौटीपर उचित होयबाक चाही। “राज्यक हित” स्वयं अन्तिम उत्तर नहि।

39.6 न्यूनतम राज्य कि कल्याणकारी राज्य?

एक मत कहैत अछि राज्य मुख्यतः सुरक्षा, अनुबन्ध आ अधिकार-सुरक्षा धरि सीमित रहय। दोसर मत कहैत अछि वास्तविक स्वतंत्रता लेल शिक्षा, स्वास्थ्य, सामाजिक सुरक्षा आ न्यूनतम आर्थिक अवसर आवश्यक, तेँ राज्यक सकारात्मक भूमिका चाही। समानान्तर दर्शन एहि विवादमे प्रभाव, संसाधन, क्षमता आ गरिमाकेँ जाँचैत अछि। राज्य अधिक करय अथवा कम—मूल प्रश्न अछि ओकर शक्ति उत्तरदायी, पारदर्शी आ समान गरिमा-संगत अछि की नहि।

39.7 संघवाद, स्थानीयता आ बहुकेन्द्रिक सत्ता

सत्ता अत्यधिक केन्द्रीकृत भेला पर स्थानीय ज्ञान, भाषा आ आवश्यकता दबि सकैत अछि। मुदा स्थानीय सत्ता सेहो जाति, लिंग वा समुदायगत दमन करि सकैत अछि। तेँ बहुकेन्द्रिक लोकतन्त्रक अर्थ केवल विकेन्द्रीकरण नहि; स्थानीय स्वायत्तता + मौलिक अधिकार + उत्तरदायित्व + न्यायिक सुरक्षा।

पूर्वपक्ष: बिना मजबूत राज्य व्यवस्था टूटि जाएत।

उत्तरपक्ष: मजबूत संस्थाक आवश्यकता अछि, अनियन्त्रित राज्यक नहि। शक्ति जतेक अधिक, औचित्य, समीक्षा आ उत्तरदायित्व ततेक अधिक चाही।

39.13 राज्यक ज्ञानात्मक सीमा

राज्य व्यापक आँकड़ा, विशेषज्ञता आ समन्वय रखैत अछि, मुदा स्थानीय जीवनक सूक्ष्म ज्ञान ओकरा नहि रहि सकैत। केन्द्रक नीति औसत व्यक्तिक कल्पनापर बनि विविध भूगोल आ भाषा मे विफल हो सकैत अछि। राज्यक क्षमता आ अज्ञान एकहि समय स्वीकारब चाही।

स्थानीय परामर्श केवल निर्णय बादक औपचारिक सभा नहि। समस्या परिभाषित करबा, विकल्प चुनबा आ परिणाम जाँचबामे प्रभावित लोक भाग लेथि। तथापि स्थानीय मत स्वयं तथ्यगत अचूक नहि; स्वतंत्र मापन आ अधिकारक सीमा रहत।

ज्ञानात्मक विनम्र राज्य कारण प्रकाशित करैत, परीक्षणात्मक नीति बनबैत, त्रुटि मानैत आ सुधारक मार्ग रखैत अछि। प्रतिष्ठा बचेबाक लेल असफल नीति जारी रखब सार्वजनिक विश्वास नष्ट करैत अछि।

39.14 कर आ पारस्परिक दायित्व

कर व्यक्तिक सम्पत्तिमे केवल जबरन कटौती नहि; कानून, मुद्रा, सड़क, शिक्षा आ सुरक्षा-जकाँ सामाजिक शर्तक वित्तपोषण अछि। मुदा राज्यक अधिकार असीम नहि। करक बोझ, उपयोग आ प्रक्रिया सार्वजनिक औचित्य माँगैत अछि।

समान दर कखनो असमान बोझ दैत अछि, कारण न्यून आयक व्यक्ति लेल एकहि राशि जीवनोपयोगी संसाधन घटबैत अछि। प्रगतिशीलता, उपभोग कर, सम्पत्ति कर आ सेवा शुल्क अलग वितरणात्मक परिणाम दैत अछि। न्याय दाबी वास्तविक आँकड़ा आ प्रशासनिक क्षमता पर जाँचल जाए।

कर अनुपालन विश्वाससँ जुड़ल अछि। भ्रष्टाचार, अपारदर्शी खर्च वा विशेष पक्षक छूट नागरिक कर्तव्य कमजोर करैत अछि। उत्तरदायित्व नागरिकक कर-कर्तव्यक विरोधी नहि, ओकर नैतिक आधार अछि।

39.15 सीमा, प्रवासन आ राज्यक अधिकार

राज्य सीमा नियंत्रित करैत अछि, मुदा सीमा पार करनिहार व्यक्ति अधिकारविहीन नहि। सुरक्षा, श्रम, शरण आ परिवारक प्रश्न राज्यक आत्मनिर्णय तथा सार्वभौम गरिमा बीच तनाव उत्पन्न करैत अछि।

‘नागरिक नहि’ कहि मनमाना हिरासत, शोषण वा मूल सेवा सँ वंचना उचित नहि। दोसर दिस संसाधन आ संस्थागत क्षमताक वास्तविक सीमा नकारल सेहो नहि जाए। नीति जोखिम, मानवीय आवश्यकता, कानून आ बोझ-वितरण स्पष्ट करय।

प्रवासनक कारण एकल नहि—रोजगार, विवाह, हिंसा, पर्यावरण आ शिक्षा जुड़ि सकैत अछि। श्रेणीकरण व्यक्तिक कथा सुनबा बिना कएल जाए तँ न्यायिक भूलक सम्भावना बढ़ैत अछि।

39.16 पूर्वपक्ष: सुरक्षा लेल असीम सत्ता चाही

संकटमे त्वरित निर्णयक आवश्यकता देखाकऽ कहल जाइत अछि जे कार्यपालिका कैं व्यापक, लगभग असीम शक्ति देल जाए। विलम्ब हानि बढ़ा सकैत अछि; सामान्य प्रक्रिया हर स्थिति लेल पर्याप्त नहि।

मुदा असीम शक्ति सूचना छिपा, आलोचना दबा आ संकट लम्बा घोषित करि सकैत अछि। त्वरित अधिकारक स्पष्ट विषय, अवधि, भौगोलिक सीमा आ विधायी-न्यायिक समीक्षा हो। जे उपाय आवश्यक छल से प्रमाणित करबाक दायित्व राज्यपर रहय।

सुरक्षा आ स्वतंत्रता स्थिर विनिमय नहि। पारदर्शी, लक्षित आ समयबद्ध उपाय दुनू बचा सकैत अछि; मनमाना शक्ति अन्ततः सुरक्षा सेहो कमजोर करैत अछि।

39.8 राज्य आ वैध बल

राज्य कानून लागू करबाक लेल बलक संगठित क्षमता रखैत अछि। प्रश्न केवल बल अछि की नहि, बल्कि कखन, ककर अधिकारसँ, कोन अनुपातमे आ कोन समीक्षा भीतर प्रयोग होइत अछि। कानूनसम्मत कहला मात्रसँ बल न्यायपूर्ण नहि भऽ जाइत, कारण अन्यायपूर्ण कानून सेहो सम्भव अछि।

वैधता लेल सार्वजनिक नियम, उचित प्रक्रिया, अनुपातिकता, अपील आ समान संरक्षण आवश्यक। आपातकालमे त्वरित शक्ति चाही भऽ सकैत, मुदा समय-सीमा आ स्वतंत्र समीक्षा बिना अपवाद स्थायी शासन बनि सकैत अछि।

39.9 सहमति, निवास आ नागरिकता

सामाजिक अनुबंध वास्तविक ऐतिहासिक हस्ताक्षर नहि, राजनीतिक औचित्यक विचार-प्रयोग अछि। जन्म वा निवासकैं मौन सहमति मानब कमजोर अछि, विशेषतः जखन बाहर जाएब व्यावहारिक रूपसँ असम्भव। वैध शासन निरन्तर अधिकार-सुरक्षा आ भागीदारीसँ सहमति नवीकृत करैत अछि।

नागरिकता अधिकार संग कर्तव्य दैत अछि, मुदा राज्य कर्तव्य माँगिते व्यक्तिक मूल गरिमा शर्ताधीन नहि कऽ सकैत। गैर-नागरिक, प्रवासी वा अल्पमत व्यक्तिक न्यूनतम अधिकार बहुमतक इच्छा पर निर्भर नहि।

39.10 कल्याण आ पितृसत्तात्मक राज्य

राज्य शिक्षा, स्वास्थ्य, सुरक्षा आ न्यूनतम जीवन-शर्त सुनिश्चित करैत स्वतंत्रता सक्षम बना सकैत अछि। मुदा ‘नागरिकक भलाई’ नामपर ओकर निर्णय छीनब पितृसत्तात्मक शासन बनि सकैत अछि। सहायता आ नियन्त्रणक सीमा स्पष्ट होयत।

हानि रोकब, निर्भर व्यक्तिक रक्षा आ सार्वजनिक संसाधनक न्यायोचित उपयोग हस्तक्षेपक कारण भऽ सकैत अछि। साधन न्यूनतम प्रतिबन्धकारी, प्रमाण-आधारित आ अपीलयोग्य हो। व्यक्तिक असहमति केवल अज्ञान मानि खारिज नहि कएल जाए।

39.11 कानूनक शासन

कानूनक शासनक अर्थ केवल बहुत कानून नहि। नियम सार्वजनिक, अपेक्षाकृत स्थिर, भविष्याभिमुख, बुझब योग्य आ समान रूपसँ लागू होयत। अधिकारी सेहो कानूनक अधीन रहत। मनमाना विवेक नागरिककेँ अनिश्चित निर्भरतामे राखैत अछि।

मुदा औपचारिक समानता अन्यायपूर्ण सामग्री बचा सकैत अछि। सभपर समान नियम जँ ऐतिहासिक रूपसँ असमान बोझ दैत अछि तँ परिणामक परीक्षा चाही। कानूनक शासन आ सामाजिक न्याय परस्पर सुधारक कसौटी छथि।

39.12 प्रतिरोधक औचित्य

जँ राज्य मूल अधिकार निरन्तर नष्ट करय आ सुधारक वैधानिक मार्ग बन्द करय, तँ प्रतिरोधक प्रश्न उठैत अछि। प्रत्येक असहमति विद्रोहक औचित्य नहि। हानिक गम्भीरता, प्रमाण, लक्ष्य, साधन, नागरिकपर जोखिम आ विकल्प जाँचल जाएत।

अहिंसक असहयोग नैतिक शक्ति राखैत अछि, मुदा सभ परिस्थिति समान नहि। हिंसाक प्रश्नमे विशेष कठोर अनुपातिकता आ निर्दोषक रक्षा आवश्यक। समानान्तर दर्शन रोमानी वीरताक बदला जिम्मेदार परिणाम-विवेचन माँगैत अछि।

अध्याय-निष्कर्ष

राज्य नागरिकक मालिक नहि; सार्वजनिक औचित्यक अधीन संस्था अछि। सुरक्षा, अधिकार, स्वशासन, कल्याण आ न्याय राज्यक सम्भावित औचित्य दैत अछि, मुदा कोनो एक उद्देश्य अनियन्त्रित सत्ता उचित नहि ठहरबैत।

अध्याय-ग्रन्थसूची

Thomas Hobbes — Leviathan.

John Locke — Two Treatises of Government.

Jean-Jacques Rousseau — The Social Contract.

John Rawls — Political Liberalism.

अध्याय 40 – स्वतंत्रता

स्वतंत्रताक अर्थ केवल “राज्य हमरा रोकय नहि” नहि। व्यक्ति कानूनी रूपसँ स्वतंत्र होइतहुँ भूख, ऋण, जातिगत बहिष्कार, पितृसत्ता, अशिक्षा, हिंसा, विकलांगता-अनुकूल संरचनाक अभाव अथवा सामाजिक भय कारण वास्तविक विकल्पहीन भऽ सकैत अछि। संगहि “वास्तविक स्वतंत्रता”क नामपर राज्य वा समुदाय व्यक्तिक चुनाव अपने हाथमे लऽ ले, तखन स्वतंत्रता फेर नष्ट भऽ जाइत अछि। तेँ स्वतंत्रता बहुस्तरीय अवधारणा अछि।

40.1 नकारात्मक स्वतंत्रता

नकारात्मक स्वतंत्रताक मूल प्रश्न—कौन हमरा रोकि रहल अछि? अनावश्यक दमन, सेंसरशिप, मनमाना गिरफ्तारी, धार्मिक बाध्यता, आवागमन-निषेध, विवाह-चयन पर बल—ई सभ स्वतंत्रताक प्रत्यक्ष बाधा अछि। राज्य आ समुदाय दुनू हस्तक्षेपकारी भऽ सकैत अछि। व्यक्तिक एक संरक्षित क्षेत्र आवश्यक अछि जतय ओ अपन जीवनक सम्बन्धमे स्वयं निर्णय लऽ सकय।

40.2 सकारात्मक स्वतंत्रता

केवल अवरोधक अभाव पर्याप्त नहि यदि व्यक्ति अपन लक्ष्य साधबाक न्यूनतम क्षमता नहि रखय। शिक्षा, स्वास्थ्य, भोजन, सूचना, शारीरिक सुरक्षा, गतिशीलता—ई सभ वास्तविक विकल्पक क्षेत्र प्रभावित करैत अछि। सकारात्मक स्वतंत्रता एहि प्रश्नपर बल दैत अछि—व्यक्ति वास्तवमे की करि सकैत अछि?

मुदा खतरा ई जे राज्य “तोहर असली हित हम जानैत छी” कहि कऽ पितृसत्तात्मक नियन्त्रण करय। तेँ क्षमता-विस्तार व्यक्तिक एजेंसी बढ़ाबय, ओकरा प्रतिस्थापित नहि करय।

40.3 स्वायत्तता आ जीवनक अर्थ

स्वतंत्रता केवल विकल्पक संख्या नहि। व्यक्तिक अपन मूल्य, सम्बन्ध, पेशा, विश्वास, भाषा, धर्म वा अधर्म, प्रेम, सृजन आ जीवन-योजना चुनबाक क्षमता सेहो महत्त्वपूर्ण अछि। स्वायत्तता समाजविहीन आत्मनिर्भरता नहि; सूचना, विचार, सम्बन्ध आ आत्मपरीक्षणक पर्याप्त अवसरमे स्वयं निर्णय करब अछि।

40.4 स्वतंत्रता आ समानता

अत्यधिक आर्थिक असमानता कानूनी स्वतंत्रताकेँ खोखला कऽ सकैत अछि। कागजपर दुनूक बाजार-स्वतंत्रता समान, मुदा एक व्यक्तिक लगे भोजनक विकल्प नहि आ दोसराक लगे विशाल संसाधन—तखन विनिमयक “स्वतंत्रता” समान शक्ति नहि। उलटे, पूर्ण समानता थोपबाक लेल कठोर नियन्त्रण व्यक्तिक चुनाव कुचलि सकैत अछि। समानान्तर दर्शनक सूत्र: स्वतंत्रता बिना समानता विशेषाधिकार बनि सकैत अछि; समानता बिना स्वतंत्रता नियन्त्रण।

40.5 स्वतंत्रता आ दोसराक गरिमा

“हमर स्वतंत्रता” दोसर व्यक्तिक समान अधिकार नष्ट करबाक अनुमति नहि। घृणा, हिंसा, उत्पीड़न, धोखाधड़ी, सार्वजनिक स्वास्थ्य-हानि वा प्रत्यक्ष अधिकार-उल्लंघनक प्रसंगमे सीमा उचित हो सकैत अछि। मुदा सीमा प्रमाणित, अनुपातिक आ न्यूनतम आवश्यक होयबाक चाही।

40.6 मिलक हानि-सिद्धान्त

जॉन स्टुअर्ट मिलक प्रसिद्ध दिशा ई अछि जे सभ्य समाजमे व्यक्तिपर बलपूर्वक रोक मुख्यतः दोसराकेँ हानि सँ बचाबय लेल उचित ठहरि सकैत अछि। ई सिद्धान्त अभिव्यक्ति, जीवन-शैली आ व्यक्तित्वक विविधताक शक्तिशाली रक्षा करैत अछि। मुदा “हानि”क परिभाषा कठिन—भावनात्मक अपमान, आर्थिक प्रभाव, सामूहिक जोखिम, दुष्प्रचार, संरचनात्मक अन्याय—सभ एकहि प्रकारक हानि नहि। तेँ विस्तृत सार्वजनिक तर्क आवश्यक अछि।

40.7 सामाजिक स्वतंत्रता

जाति, लिंग, भाषा आ धर्मक अनौपचारिक नियम कखनो कानूनसँ अधिक कठोर होइत अछि। कानून अन्तरजातीय विवाहक अनुमति दे, मुदा परिवारिक हिंसा व्यक्ति रोकय; संविधान भाषा-अधिकार दे, मुदा सामाजिक उपहास मातृभाषा छोड़बा पर बाध्य करय—तखन स्वतंत्रता केवल कानूनी प्रश्न नहि। सामाजिक संरचना बदलनाइ सेहो आवश्यक।

40.8 डिजिटल युगक स्वतंत्रता

डिजिटल मंच अभिव्यक्ति बढ़बैत अछि, मुदा निगरानी, डाटा-संग्रह, एल्गोरिद्मिक नियन्त्रण आ सूचना-हेरफेर नूतन समस्या बनबैत अछि। विकल्प स्वतंत्र बुझाइत अछि, मुदा यदि विकल्पक संरचना अदृश्य प्रणाली द्वारा निर्देशित, तखन स्वायत्तताक प्रश्न पुनः उठैत अछि।

पूर्वपक्ष: स्वतंत्रताक एतेक स्तर बनाओलासँ अवधारणा अत्यधिक व्यापक नहि भऽ जाएत?

उत्तरपक्ष: स्तर अलग राखब आवश्यक अछि। दमन-अभाव, क्षमता आ स्वायत्तता एकहि वस्तु नहि, मुदा वास्तविक मानवीय स्वतंत्रता बुझबाक लेल तीनू महत्त्वपूर्ण। विश्लेषणमे स्पष्ट करबाक चाही कोन स्तरक चर्चा अछि।

40.14 विकल्पक संख्या आ गुणवत्ताक भेद

बहुत विकल्प होयब स्वतः अधिक स्वतंत्रता नहि। सभ विकल्प असुरक्षित, अपमानजनक वा आर्थिक रूपसँ असम्भव हो तखन संख्या भ्रम दैत अछि। एकटा विश्वसनीय निकास कखनो दस काल्पनिक विकल्पसँ अधिक मूल्यवान होइत।

विकल्पक गुणवत्ता सूचना, लागत, जोखिम आ वापसीक सम्भावनासँ तय होइत अछि। उपभोक्ता अनुबंधमे अनेक योजना देखाइत, मुदा शर्त अबुझ हो तखन चयन स्वतंत्र नहि। राजनीतिक चुनावमे नाम बहुत, मुदा सूचना आ निष्पक्ष प्रतिस्पर्धा नहि तँ स्वतंत्रता सीमित।

क्षमता-दृष्टि एहि कारण ‘करबाक वास्तविक अवसर’ पूछैत अछि। नीति विकल्प गिनबा संग बाधा मापय। व्यक्तिक चुनावक सम्मान हो, मुदा बाध्य परिस्थितिक परिणामकेँ पसन्द कहि वैध नहि ठहराओल जाए।

40.15 आत्मसंयम आ स्वतंत्रता

इच्छाक प्रत्येक आवेग पूरा करब स्वतंत्रता नहि। व्यसन, भय वा क्षणिक क्रोध व्यक्ति केँ अपन दीर्घकालीन मूल्यविरुद्ध चलाबि सकैत अछि। आत्मसंयम अपन चुन्नल उद्देश्य अनुसार व्यवहारक क्षमता अछि।

मुदा ‘सच्चा आत्म’क नामपर बाहरी सत्ता व्यक्तिक निर्णय छीनि सकैत अछि। सहायता, शिक्षा वा उपचार सहमति, प्रमाण आ न्यूनतम प्रतिबन्धपर आधारित हो। असहमति केँ तुरन्त अविवेक नहि कहल जाए।

दार्शनिक भेद ई जे क्षमता बढ़ेबा आ जीवन-योजना थोपब अलग काज। स्वतंत्र समाज आत्मनियन्त्रणक साधन उपलब्ध करैत अछि, आधिकारिक सद्गुणक एक रूप अनिवार्य नहि करैत।

40.16 आर्थिक निर्भरता आ निकास

कर्मचारी कानूनी रूपसँ काम छोड़ि सकैत अछि, मुदा भोजन, आवास वा उपचार रोजगारसँ बन्हल हो तँ निकासक लागत असहनीय। परिवारमे आर्थिक निर्भरता हिंसक सम्बन्ध छोड़बा रोकि सकैत अछि। औपचारिक अनुबंध एहि वास्तविकता छिपा सकैत अछि।

सामाजिक सुरक्षा, बचत, कौशल आ वैकल्पिक रोजगार व्यक्तिक मोल-भाव शक्ति बढ़बैत अछि। ई बाजार-विरोध नहि, स्वैच्छिक विनिमयक वास्तविक शर्त बनबैत अछि।

नीति निर्भरता पूर्ण समाप्त नहि करि सकैत, न करबाक चाही। लक्ष्य मनमाना प्रभुत्व घटेब, आवश्यक सहायता बिना अधिकार-हानि देब, आ निकासक सम्भावना वास्तविक बनायब अछि।

40.17 पूर्वपक्ष: स्वतंत्रता केवल कानूनक विषय अछि

आपत्ति अछि जे राज्यक काज हस्तक्षेप रोकब; गरीबी, सामाजिक भय वा पारिवारिक दबावकेँ स्वतंत्रताक प्रश्न बनाओलासँ राज्य सभ जीवनमे प्रवेश करत। सीमा अस्पष्ट भऽ जायत।

उत्तर ई जे सभ कठिनाई कानूनसँ समाधान योग्य नहि, मुदा किछु बाधा संस्था द्वारा बनल आ सुधार योग्य अछि। हिंसा रोकब, शिक्षा देब, अनुबंध लागू करब आ भेदभाव निषिद्ध करब स्वतंत्रता सक्षम करैत अछि।

राज्यक उपाय स्वयं समीक्षा योग्य रहत। क्षमता बढ़ेबाक दाबीपर वास्तविक परिणाम, लागत आ अनपेक्षित नियन्त्रण जाँचल जाए। सकारात्मक स्वतंत्रता असीम पितृसत्ता नहि।

40.9 नकारात्मक आ सकारात्मक स्वतंत्रताक तनाव

नकारात्मक स्वतंत्रता बाहरी बाधासँ मुक्ति पूछैत अछि; सकारात्मक स्वतंत्रता अपन जीवनपर वास्तविक नियन्त्रण आ क्षमता। भूखल व्यक्ति कानूनी रूपसँ पुस्तक खरीदबाक स्वतंत्र होइतहुँ वास्तविक विकल्प नहि

रखि सकैत अछि। मुदा क्षमता देबाक नामपर राज्य ककर ‘सच्चा हित’ तय करय, तखन नियन्त्रणक खतरा अछि।

दूनू अवधारणा एक-दोसरक शत्रु नहि। मूल अधिकार हस्तक्षेप रोकैत, शिक्षा-स्वास्थ्य अवसर सक्षम बनबैत। नीति जाँचत जे साधन विकल्प बढ़बैत अछि की आधिकारिक जीवन-रूप थोपैत।

40.10 प्रभुत्वसँ मुक्ति

कोनो व्यक्ति एखन हस्तक्षेप नहि करितो मनमाना हस्तक्षेपक शक्ति रखैत हो, तँ अधीन व्यक्ति स्वतंत्र नहि। मालिक दयालु हो तखनहुँ दासक स्थिति स्वतंत्रता नहि, कारण अधिकार कृपापर निर्भर। प्रभुत्व-विरोधी स्वतंत्रता स्थिर नियम आ अपीलक सुरक्षा माँगैत अछि।

परिवार, कार्यस्थल आ स्थानीय संस्थामे सेहो एहन शक्ति रहि सकैत अछि। केवल राज्य-विरोधी स्वतंत्रता पर्याप्त नहि। जहाँ निर्भरता अछि ओतय पारदर्शी नियम, आवाज, निकास आ प्रतिकारक साधन चाही।

40.11 अभिव्यक्ति आ हानि

अभिव्यक्तिक स्वतंत्रता असहमति, ज्ञान-सुधार आ लोकतन्त्रक आधार अछि। अप्रिय वा गलत विचारकेँ केवल अप्रियता कारण रोकलासँ सत्ता सत्यक निर्णायक बनि सकैत अछि। तथापि सीधा धमकी, लक्षित उत्पीड़न, मानहानि वा हिंसक उकसावा दोसरक स्वतंत्रता नष्ट करैत अछि।

सीमा सामग्री मात्र नहि, प्रसंग, पहुँच, शक्ति आ सम्भावित हानि अनुसार जाँचल जाएत। आलोचना आ घृणा, व्यंग्य आ धमकी, भूल आ समन्वित छल बीच भेद कठिन, मुदा आवश्यक। प्रक्रिया पारदर्शी आ अपीलयोग्य हो।

40.12 संघ बनाबय आ नहि बनाबयक स्वतंत्रता

धार्मिक, राजनीतिक, श्रमिक वा सांस्कृतिक संघ व्यक्ति केँ संयुक्त आवाज दैत अछि। संघक स्वतंत्रता बिना अलग व्यक्ति शक्तिशाली संस्था सामने कमजोर रहत। मुदा संघ अपन सदस्यपर जबरदस्ती करय वा बहिर्गमन रोकय तखन सामूहिक स्वतंत्रता व्यक्तिगत स्वतंत्रतासँ टकराइत अछि।

उचित व्यवस्था संगठनक स्वायत्तता, सदस्यक आवाज आ निकास, तथा बाहरी व्यक्तिक अधिकार संतुलित करत। कमजोर सदस्य लेल औपचारिक निकास पर्याप्त नहि जँ आर्थिक वा सामाजिक दण्ड असहनीय हो।

40.13 स्वतंत्रता मापबाक प्रश्न

कानूनमे अधिकार लिखल अछि की नहि ई पहिल प्रश्न। दोसर, व्यक्ति ओकर उपयोग करि सकैत अछि की नहि; तेसर, उपयोगपर अनौपचारिक दण्ड अछि की नहि; चारिम, प्रतिकार उपलब्ध अछि की नहि। एहि चारि स्तर बिना स्वतंत्रताक दाबी कागजी रहि सकैत अछि।

सांख्यिक सूचक उपयोगी, मुदा अनुभवगत साक्ष्य सेहो चाही। भय, अपमान वा स्थानीय बहिष्कार सरकारी आँकड़ामे नहि देखाइत। बहुप्रमाणीय मूल्यांकन कानून, संसाधन, परिणाम आ जीवन-वर्णन जोड़ैत अछि।

अध्याय-निष्कर्ष

स्वतंत्रता बहुस्तरीय अछि—दमनसँ मुक्ति, वास्तविक विकल्पक उपलब्धता, आ अपन जीवनक अर्थ चुनबाक क्षमता। मुदा स्वतंत्रता असीम अधिकार नहि; दोसर व्यक्तिक समान गरिमा ओकर नैतिक सीमा अछि।

अध्याय-ग्रन्थसूची

John Stuart Mill — On Liberty.

Isaiah Berlin — “Two Concepts of Liberty”.

Amartya Sen — Development as Freedom.

Martha C. Nussbaum — Creating Capabilities.

अध्याय 41 – समानता

समानताक अर्थ सभ मनुष्यकेँ एकरूप बना देब नहि। समानता मूलतः नैतिक दर्जाक समानता अछि—प्रत्येक मनुष्य समान मूल गरिमा, समान नागरिक सम्मान आ सार्वजनिक औचित्यक समान दावा रखैत अछि। आधुनिक राजनीतिक दर्शनमे समानता एतय सँ आगाँ एकटा कठिन प्रश्न उठबैत अछि: समानता कोन वस्तुमे? अधिकार? अवसर? संसाधन? क्षमता? सम्मान? राजनीतिक प्रभाव? एहि प्रश्नक उत्तर बिना “समानता” केवल नारा बनि सकैत अछि।

41.1 समानता आ एकरूपताक भेद

दू व्यक्तिक प्रतिभा, रुचि, देह, भाषा, पारिवारिक परिस्थिति आ जीवन-योजना भिन्न भऽ सकैत अछि। समानता एहि भिन्नताकेँ मिटाबय नहि चाहैत। एकर लक्ष्य ई हो जे भिन्नता अपमान, नागरिक हीनता वा जन्मगत अधीनताक आधार नहि बनय। समान व्यवहार कखनो न्यायपूर्ण होइत अछि, कखनो असमान परिस्थिति कारण अलग सहायता आवश्यक होइत अछि। अतः समानता “एके वस्तु सभकेँ” नहि, बल्कि उचित कारण बिना श्रेष्ठ–हीन दर्जाक निषेध अछि।

41.2 औपचारिक आ वास्तविक समानता

कानून कहि सकैत अछि—सभ नागरिक समान छथि। ई आवश्यक उपलब्धि अछि, मुदा पर्याप्त नहि। यदि शिक्षा, स्वास्थ्य, भूमि, पूँजी, सामाजिक सम्पर्क आ सुरक्षित सार्वजनिक स्थानक पहुँच अत्यन्त असमान अछि, तखन समान अधिकारक उपयोग क्षमता सेहो असमान रहत। एहि कारण औपचारिक समानता आ वास्तविक अवसरक समानता अलग करब आवश्यक अछि।

ऐतिहासिक असमानता केवल “आब सभ बराबर छी” कहलासँ समाप्त नहि होइत अछि। दौड़मे ककरो पीढ़ी-दर-पीढ़ी बाँधि कऽ राखल गेल हो आ बादमे रस्सी काटि कऽ कहल जाए—“आब सभ स्वतंत्र छी”—तऽ औपचारिक समानता वास्तविक न्याय नहि।

41.3 समान अवसर आ ओकर सीमा

समान अवसरक आदर्श कहैत अछि जे पद, शिक्षा आ सार्वजनिक अवसर जन्मगत पहचानक आधारपर बन्द नहि रहय। मुदा प्रारम्भिक परिस्थिति बहुत असमान हो तँ केवल खुला प्रतियोगिता पर्याप्त नहि। पोषण, विद्यालय, भाषा, सामाजिक सुरक्षा, भेदभाव आ पारिवारिक संसाधन प्रतियोगिताक पूर्वशर्त बनैत अछि। तेँ अवसरक समानता संस्थागत पूर्वशर्त माँगैत अछि।

41.4 संसाधन, क्षमता आ गरिमा

संसाधन बराबर बाँटलासँ परिणाम सदैव बराबर नहि होयत, कारण व्यक्तिक आवश्यकता भिन्न। वृद्ध, विकलांग, शिशु वा सामाजिक रूपसँ वंचित व्यक्तिक स्वतंत्र जीवन लेल अतिरिक्त समर्थन चाही। क्षमता-

दृष्टि एहि बातपर बल दैत अछि जे प्रश्न केवल “कतेक वस्तु भेटल” नहि, बल्कि “व्यक्ति वास्तवमे की करि आ बनि सकैत अछि” सेहो हो। समानान्तर दर्शन एहि दृष्टिकेँ गरिमा-सिद्धान्तसँ जोड़ैत अछि।

41.5 सम्बन्धात्मक समानता

समानता वितरणक प्रश्न मात्र नहि; सम्बन्धक प्रश्न सेहो अछि। यदि समाजमे कोनो समूह दोसरक चरण छूबय, अलग बर्तन उपयोग करय, सार्वजनिक स्थानसँ दूर रहय, वा निर्णयमे ओकर आवाज कम मूल्यवान मानल जाए, तखन आर्थिक संसाधन बढ़लाक बादो असमान नागरिक सम्बन्ध बचल रहि सकैत अछि। समानता एहि कारण “हम सभक मूल्य समान”क सार्वजनिक संस्कार सेहो अछि।

पूर्वपक्ष: प्राकृतिक भिन्नता कारण असमानता स्वाभाविक अछि

उत्तरपक्ष: प्राकृतिक भिन्नता सामाजिक अधीनताक स्वतः औचित्य नहि। शक्ति, बुद्धि, धन वा जन्मक अन्तर ककरो समान नैतिक दर्जा नष्ट नहि करैत।

41.11 भाग्य, परिश्रम आ नैतिक पात्रता

व्यक्ति परिश्रम करैत अछि, मुदा प्रतिभा, परिवार, स्वास्थ्य, जन्मस्थान आ ऐतिहासिक अवसर ओकर चुन्नल नहि। सफलता मे प्रयत्नक भूमिका स्वीकारितो सम्पूर्ण फलकेँ शुद्ध नैतिक पात्रता मानब कठिन। असफलताकेँ चरित्र-दोष कहब सेहो अनुचित।

एहि तर्कसँ उपलब्धिक सम्मान समाप्त नहि। प्रश्न फलसँ उत्पन्न अधिकारक सीमा अछि। उत्कृष्ट कार्यक प्रोत्साहन रहि सकैत, संगहि ओ सामाजिक शर्तक ऋण स्वीकारि मूल अवसर लेल योगदान दे।

न्याय ई तय करत जे कुन असमानता उपयोगी आ स्वैच्छिक, कुन मनमाना भाग्यक प्रभुत्व। भेद वास्तविक आँकड़ा, प्रोत्साहनक प्रभाव आ गरिमाक न्यूनतमपर जाँचल जाए।

41.12 क्षैतिज आ ऊर्ध्व समानता

समान स्थितिवला लोकक समान व्यवहार क्षैतिज समानता; भिन्न आवश्यकता वा क्षमता अनुसार भिन्न सहायता ऊर्ध्व समानता। एकहि औषधि सभ रोगीकेँ देब औपचारिक समान, चिकित्सकीय रूपसँ अनुचित हो सकैत अछि।

भिन्न व्यवहार भेदभाव बनत की न्याय—ई प्रासंगिक कारणपर निर्भर। श्रेणी वास्तविक उद्देश्यसँ सम्बन्धित, आवश्यक सीमा धरि आ समीक्षा योग्य हो। जन्मगत पूर्वाग्रहक भाषा ‘भिन्न आवश्यकता’ बनि फेर नहि लौटय।

पारदर्शी कसौटी विशेष महत्त्वपूर्ण अछि। लाभार्थी आ वंचित दुनू बुझि सकथि जे भेद किएक कएल गेल आ अपील कोना होयत।

41.13 प्रतिनिधित्वक परिणाम

विविध प्रतिनिधित्व प्रतीकात्मक गरिमा दैत, नूतन अनुभव निर्णयमे आनैत आ संस्थाक वैधता बढ़बैत अछि। मुदा केवल संख्या बढ़ला पर एजेंडा, संसाधन आ बोलबाक अधिकार पुरान समूहक हाथमे रहि सकैत अछि।

प्रतिनिधित्वक माप पदक संख्या संग निर्णयपर प्रभाव, टिकाउपन, पदोन्नति आ समुदाय दिस उत्तरदायित्व देखय। ‘एक व्यक्ति आ गेल’ कहि संरचना बदली गेल मानब जल्दबाजी।

एक समूहक प्रतिनिधि सभ सदस्यक एकमत आवाज नहि। आन्तरिक बहुलता सुरक्षित रहय, मुदा एहि कारण ऐतिहासिक बहिष्कारक उपाय टारल नहि जाए।

41.14 पूर्वपक्ष: समानता उत्कृष्टता घटबैत अछि

आपत्ति अछि जे समानतामूलक नीति मानक कमजोर करैत आ प्रयासक प्रेरणा घटबैत अछि। जँ परिणाम बराबर करबाक दबाव हो, तँ प्रतिभा आ नवोन्मेष बाधित भऽ सकैत।

उत्तर ई जे समानताक सभ रूप परिणाम-समानता नहि। पोषण, शिक्षा आ भेदभावमुक्त अवसर बढ़ला पर अधिक प्रतिभा सामने अबैत अछि। मानक कार्यसँ प्रासंगिक रखल जाए, विशेषाधिकारसँ नहि।

नीतिक वास्तविक प्रभाव जाँचल जाए। जँ उपाय लक्ष्य पूरा नहि करैत वा नूतन अन्याय बनबैत अछि तँ सुधार हो; मुदा अनुमानित भयकेँ ऐतिहासिक बहिष्कार जारी रखबाक कारण नहि बनाओल जाए।

41.6 औपचारिक आ वास्तविक समानता

एकहि नियम सभपर लागू होयब औपचारिक समानता अछि। मुदा जँ आरम्भिक संसाधन, सामाजिक जोखिम आ पहुँच बहुत भिन्न हो, तँ समान नियम असमान परिणाम स्थिर करि सकैत अछि। सीढ़ी सभ लेल समान होइतहुँ चलबमे असमर्थ व्यक्तिक प्रवेश सुनिश्चित नहि करैत।

वास्तविक समानता परिणाम बिल्कुल समान करब नहि; अवसर उपयोग करबाक उचित क्षमता, बाधा हटेबा आ समान दर्जा सुनिश्चित करब अछि। अलग सहायता कखनो विशेषाधिकार नहि, समान पहुँचक साधन हो सकैत अछि।

41.7 समान अवसरक तीन स्तर

पहिल स्तर खुलल प्रतिस्पर्धा: पद जन्मसँ बन्द नहि। दोसर स्तर तैयारीक उचित अवसर: शिक्षा, पोषण आ जानकारी उपलब्ध। तेसर स्तर चयनक नियम स्वयं प्रासंगिक योग्यता मापैत अछि की सामाजिक विशेषाधिकार? केवल आवेदन खुलल होयब समान अवसरक पूर्णता नहि।

योग्यता इतिहासविहीन नहि। परीक्षा कोन भाषा, अनुभव आ प्रशिक्षण मानैत अछि से जाँचल जाए। तथापि मानक पूर्ण त्यागल नहि जाए; कार्यसँ प्रासंगिक, पारदर्शी आ सुधारयोग्य मानक बनाओल जाए।

41.8 सम्मानक समानता

आय समान होइतहुँ सार्वजनिक अपमान, अस्पृश्यता वा निर्णयसँ बहिष्कार मनुष्यक समान दर्जा नष्ट करैत अछि। सम्बन्धात्मक समानता नागरिककेँ मालिक-आश्रित, उच्च-नीच वा दाता-याचक सम्बन्धसँ मुक्त करबाक प्रश्न अछि।

कल्याणकारी सहायता जँ अपमानजनक प्रक्रिया सँ भेटय तँ भौतिक लाभ संग दर्जागत हानि होइत अछि। नीति केवल कतेक देलक नहि, कोना व्यवहार कएलक से सेहो जाँचल जाए। गरिमा वितरणक विधिक कसौटी अछि।

41.9 आरक्षण आ प्रतिकारक औचित्य

प्रतिनिधित्व वा आरक्षणक औचित्य दया नहि, ऐतिहासिक बहिष्कार, वर्तमान बाधा आ संस्थागत वैधतासँ जुड़ल हो सकैत अछि। समान नियम जँ पुरान विशेषाधिकारक परिणाम ढोइत अछि, तँ लक्षित उपाय वास्तविक प्रतिस्पर्धा बनाबय।

उपायक रचना प्रमाण माँगैत अछि: लाभ ककरा पहुँचि रहल, भीतरक वंचित समूह छुटि रहल की नहि, अवधि आ समीक्षा की, आ गुणवत्ता कोना सुरक्षित। आलोचना उपाय सुधारय, बहिष्कारक इतिहास नकारय नहि।

41.10 समानता आ पर्याप्तता

किछु मत पूछैत अछि सभक बीच अन्तर घटेब महत्वपूर्ण, अथवा प्रत्येककेँ सम्मानजनक न्यूनतम स्तर देब? पर्याप्तता भूख, स्वास्थ्य आ शिक्षा जकाँ मूल सीमा पर बल दैत अछि। मुदा अत्यधिक असमानता पर्याप्त न्यूनतम रहितो राजनीतिक प्रभुत्व उत्पन्न करि सकैत अछि।

तेँ न्यूनतम सुरक्षा आ अन्तरक सीमा दुनू जाँचल जाए। कियो धनी अछि मात्रसँ अन्याय सिद्ध नहि, मुदा धन राजनीतिक आवाज, अवसर आ कानून खरीदय तखन समान नागरिकता संकटमे पड़ैत अछि।

अध्याय-निष्कर्ष

समानता एकरूपता नहि; समान नैतिक दर्जा, समान नागरिक सम्मान, उचित अवसर आ वास्तविक क्षमता सुनिश्चित करबाक सिद्धान्त अछि। समानान्तर दर्शनक सूत्र: जन्म नैतिक योग्यता नहि।

John Rawls — A Theory of Justice.

Ronald Dworkin — Sovereign Virtue.

Amartya Sen — Inequality Reexamined; Development as Freedom.

Martha C. Nussbaum — Creating Capabilities.

Elizabeth Anderson — चयनित लेख सामाजिक समानता पर.

Stanford Encyclopedia of Philosophy — “Equality”; “Egalitarianism”.

अध्याय 42 — न्याय

न्याय वितरण मात्र नहि। सम्मान सेहो न्याय अछि। प्रतिनिधित्व सेहो। सुनल जाएब सेहो। निष्पक्ष प्रक्रिया सेहो। इतिहासक अन्यायक सुधार सेहो। न्याय पूछैत अछि—ककरा की भेटय, किएक भेटय, निर्णय के करय, नियम कोना बनय, आ नियमक भार के वहन करय?

42.1 न्याय: व्यक्ति सँ संस्था धरि

व्यक्ति न्यायपूर्ण वा अन्यायी व्यवहार कऽ सकैत अछि; कानून आ संस्था सेहो। आधुनिक समाजमे कर, शिक्षा, स्वास्थ्य, सम्पत्ति, पुलिस, न्यायालय, चुनाव, श्रम-बाजार आ परिवारक नियम जीवन-अवसर गढ़ैत अछि। एहि कारण न्याय केवल व्यक्तिगत सद्गुण नहि; सामाजिक संरचनाक कसौटी सेहो अछि।

42.2 वितरणात्मक न्याय

वितरणात्मक न्याय संसाधन, अवसर, भार आ लाभक उचित बाँट पूछैत अछि। समान बाँट, आवश्यकता-आधारित बाँट, योग्यता, योगदान, स्वतंत्र विनिमय—सभ अलग सिद्धान्त प्रस्तुत करैत अछि। कोनो एक सिद्धान्त प्रत्येक क्षेत्रमे पर्याप्त नहि। आपातकालीन औषधि आवश्यकता अनुसार, पुरस्कार उपलब्धि अनुसार, नागरिक अधिकार समान रूपसँ—अलग वस्तु अलग न्याय-तर्क माँगि सकैत अछि।

42.3 रॉल्स आ निष्पक्षता

रॉल्सक कल्पित मूल-स्थिति व्यक्तिक सामाजिक पहचान, सम्पत्ति, जाति, लिंग, प्रतिभा आदिक जानकारी हटाकऽ निष्पक्ष सिद्धान्त सोचबाक साधन प्रदान करैत अछि। एकर बल ई अछि जे व्यक्ति नियम तखन चुनय जखन ओकरा नहि मालूम जे ओ समाजक कोन स्थानपर जन्म लेत। समानान्तर दर्शन एहि कल्पनाकेँ उपयोगी मानैत अछि, मुदा संगहि पूछैत अछि—इतिहासक वास्तविक अन्यायकेँ केवल काल्पनिक निष्पक्षता सँ कतेक बुझल जा सकैत अछि?

42.4 मान्यता, प्रतिनिधित्व आ आवाज

न्याय तय करबाक मेजपर के बैसल अछि? जँ न्यायक सिद्धान्त पीड़ितक स्वर बिना बनल, तऽ सिद्धान्तक निष्पक्षता पुनः जाँचल जएबाक चाही। प्रतिनिधित्व मात्र संख्या नहि; प्रभावी भागीदारी, भाषा पहुँच, सूचना आ निर्णयपर वास्तविक प्रभाव आवश्यक अछि।

42.5 प्रक्रियात्मक न्याय

सही परिणाम पर्याप्त नहि जँ प्रक्रिया अपारदर्शी, पक्षपाती वा अपमानजनक हो। सुनवाई, कारणयुक्त निर्णय, अपील, समान नियम, हित-संघर्षक खुलासा—ई प्रक्रियात्मक न्यायक अंग अछि। न्यायालयसँ विद्यालय धरि “हमर बात सुनल गेल” नागरिक सम्मानक महत्त्वपूर्ण रूप अछि।

42.6 सुधारात्मक आ ऐतिहासिक न्याय

अतीतक अन्याय वर्तमान संरचना बनि कऽ जीवित रहि सकैत अछि। भूमि-वंचना, दासता, जाति-बहिष्कार, शिक्षा-निषेध, स्त्रीक सम्पत्ति-वंचना—एहि इतिहासक प्रभाव पीढ़ी पार जा सकैत अछि। सुधारात्मक न्याय प्रतिशोध नहि; वर्तमान असमानताक ऐतिहासिक स्रोत पहचानि संस्थागत उत्तर खोजब अछि।

पूर्वपक्ष: न्याय केवल समान नियम लागू करब अछि

उत्तरपक्ष: समान नियम आवश्यक, मुदा यदि प्रारम्भिक परिस्थिति संरचनात्मक रूपसँ असमान अछि तँ नियमक समानता परिणाममे पुरान अन्याय सुरक्षित कऽ सकैत अछि।

42.12 मरुभूमि आ पात्रताक प्रश्न

लोक प्रायः कहैत छथि जे योग्य व्यक्ति अपन फल पाबय। मुदा योग्यता कोन आधारपर—प्रयत्न, योगदान, आवश्यकता, त्याग वा नियमपालन? ई कसौटी अलग परिणाम दैत अछि। एकहि वितरणसभकेँ एक साथ पूरा करब कठिन।

प्रयत्न मापब कठिन, कारण अवसर आ क्षमता अलग। योगदान बाजार-मूल्यसँ पूर्ण समान नहि; देखभालक श्रम समाज लेल आवश्यक होइतहुँ कम भुगतान पबैत अछि। आवश्यकता पर बल देला सँ प्रोत्साहनक प्रश्न उठैत अछि।

न्याय एक सिद्धान्तक अन्ध प्रयोग नहि। क्षेत्रानुसार कसौटी स्पष्ट हो: पुरस्कारमे उपलब्धि, स्वास्थ्य सेवामे आवश्यकता, नागरिक अधिकारमे समान दर्जा। श्रेणी बदलिते कारण सेहो बदलत।

42.13 दण्डात्मक न्याय

अपराधपर दण्ड प्रतिशोध, भय-निवारण, सुधार, समाज-सुरक्षा वा पीड़ितक मान्यता—अनेक उद्देश्य राखि सकैत अछि। एक साधन सभ उद्देश्य समान रूपसँ पूरा नहि करैत। कठोर दण्ड लोकप्रिय होइतहुँ अपराध घटेबामे प्रभावहीन भऽ सकैत अछि।

उचित दण्ड दोष, हानि, आशय आ प्रक्रिया अनुसार अनुपातिक हो। निर्दोषक जोखिम घटेब सर्वोच्च शर्त, कारण गलत दण्ड वापस नहि कएल जा सकैत। गरीबक कमजोर कानूनी सहायता समान कानूनकेँ असमान बना सकैत अछि।

दोषी व्यक्ति गरिमा गमबैत नहि। पुनर्वास, शिक्षा आ समाजमे वापसीक सम्भावना न्यायकेँ कमजोरी नहि, भविष्यक हानि रोकबाक साधन बनि सकैत अछि।

42.14 पुनर्स्थापनात्मक न्याय

पुनर्स्थापनात्मक दृष्टि अपराधकेँ केवल कानून-भंग नहि, व्यक्ति आ सम्बन्धमे भेल हानि मानैत अछि। पीड़ितक आवश्यकता, अपराधीक जिम्मेदारी आ समुदायिक सुधारकेँ संवादमे आनल जाइत अछि।

ई हर अपराध लेल उपयुक्त नहि। शक्ति-असमानता वा हिंसामे पीड़ितपर मेल-मिलापक दबाव दोसर हानि दे सकैत अछि। सहभागिता स्वैच्छिक, सुरक्षा मजबूत आ वैधानिक अधिकार सुरक्षित रहय।

सफलता केवल क्षमा नहि; सत्य स्वीकार, प्रतिकार, व्यवहारिक सुधार आ पुनरावृत्ति रोकबाक योजना चाही। दण्डात्मक आ पुनर्स्थापनात्मक साधन प्रसंगानुसार संयुक्त भऽ सकैत अछि।

42.15 पूर्वपक्ष: न्याय पूर्णतः निष्पक्ष नियम अछि

एक मत कहैत अछि जे न्यायाधीशक आँखि बन्द हो; व्यक्तिक इतिहास वा पहचान देखिते पक्षपात प्रवेश करत। समान नियमक आदर्श मनमाना विशेष व्यवहार रोकैत अछि।

मुदा प्रसंग न देखला पर समान नियम असमान वास्तविकता दोहराबि सकैत अछि। भूखल द्वारा भोजन चोरी आ लाभ लेल संगठित चोरीक आशय-परिणाम भिन्न। प्रसंग देखब पक्षपात नहि, जँ कसौटी सार्वजनिक आ समान रूपसँ लागू हो।

निष्पक्षताक अर्थ व्यक्ति-विहीनता नहि; अप्रासंगिक पहचान हटायब आ प्रासंगिक परिस्थिति स्पष्ट कारणसँ ग्रहण करब अछि।

42.7 वितरणक वस्तु की?

न्याय केवल धन बाँटबाक प्रश्न नहि। अधिकार, अवसर, सम्मान, समय, सुरक्षा, शिक्षा, स्वास्थ्य आ राजनीतिक आवाज सेहो वितरित होइत अछि। समान आयवला दू व्यक्तिक वास्तविक स्वतंत्रता देह, देखभालक बोझ वा सामाजिक भेदभाव कारण अलग भऽ सकैत अछि।

एकहि सूचक सभ हानि नहि पकड़ैत। नीति पहिने तय करत जे कोन वस्तु नैतिक रूपसँ प्रासंगिक, तकर बाद वितरण जाँचत। मापन चयन स्वयं मूल्यनिर्णय अछि; ओकर कारण सार्वजनिक होयत।

42.8 प्रक्रिया आ परिणाम

निष्पक्ष प्रक्रिया उचित परिणामक सम्भावना बढ़बैत अछि, मुदा प्रक्रिया निष्पक्ष देखाइतहुँ संरचनात्मक बाधा दोहराबि सकैत अछि। दोसर दिस वांछित परिणाम लेल मनमाना प्रक्रिया अधिकार नष्ट करि सकैत अछि। न्याय दुनूकेँ संयुक्त कसौटी मानैत अछि।

चयन, सुनवाई, कारण-लेखन आ अपील प्रक्रियागत न्यायक अंग छथि। परिणाममे बोझ-लाभ, प्रभावित समूह आ दीर्घकालीन प्रभाव देखल जाए। एक पक्षक सफलता मात्र न्यायक प्रमाण नहि।

42.9 रॉल्सक अज्ञान-आवरण

अज्ञान-आवरणक विचार-प्रयोगमे निर्णयकर्ता अपन वर्ग, जाति, प्रतिभा, धर्म वा सामाजिक स्थान नहि जानैत। उद्देश्य निजी लाभक पक्षपात घटाकऽ एहन सिद्धान्त चुनब जे ककरो स्थान पड़ला पर स्वीकार्य हो। ई वास्तविक सभा नहि, निष्पक्षताक परीक्षण अछि।

आलोचना पूछैत अछि जे व्यक्ति समुदायिक सम्बन्धसँ एतेक अलग सोचि सकैत अछि की नहि, आ ऐतिहासिक अन्याय अमूर्त चयनमे अदृश्य होइत अछि की नहि। समानान्तर पद्धति निष्पक्षता संग पीड़ितक वास्तविक इतिहास जोड़ैत अछि।

42.10 क्षमता-दृष्टि

संसाधन समान देला पर सभ व्यक्ति समान काज नहि कऽ सकैत। क्षमता-दृष्टि पूछैत अछि व्यक्ति वास्तवमे की करि आ बनि सकैत अछि। स्वास्थ्य, सामाजिक समर्थन, परिवेश आ भेदभाव संसाधनकेँ स्वतंत्रतामे बदलबाक शक्ति प्रभावित करैत अछि।

क्षमताक सूची कियो तय करत—ई कठिन प्रश्न अछि। विशेषज्ञक सूची पर्याप्त नहि; प्रभावित व्यक्तिक आवाज आ सार्वजनिक तर्क चाही। क्षमता बढ़ेबाक नामपर जीवन-रूप थोपल नहि जाए।

42.11 पीढ़ीगत न्याय

आजक निर्णय भविष्यक लोकपर ऋण, पर्यावरणीय हानि आ संस्थागत अवसर छोड़ैत अछि। भावी व्यक्ति एखन सहमति नहि दऽ सकैत, मुदा ओकर हित नैतिक रूपसँ शून्य नहि। वर्तमान लाभक पूरा लागत भविष्यपर डालब अनुचित अछि।

अनिश्चित भविष्य कारण निर्णय असम्भव नहि। सम्भावित गम्भीर हानि, विकल्पक उपलब्धता आ अपरिवर्तनीयता अनुसार सावधानी बढ़त। पीढ़ीगत न्याय विकास रोकब नहि, लागतक ईमानदार लेखा माँगैत अछि।

अध्याय-निष्कर्ष

न्याय संसाधन, अधिकार, सम्मान, प्रक्रिया, प्रतिनिधित्व आ इतिहास सभकेँ समेटैत अछि। समानान्तर दर्शन न्यायकेँ गरिमा आ सार्वजनिक औचित्यक संयुक्त कसौटी मानैत अछि।

अध्याय-ग्रन्थसूची

John Rawls — A Theory of Justice.

Amartya Sen — The Idea of Justice.

Nancy Fraser — Scales of Justice.

Iris Marion Young — Justice and the Politics of Difference.

B. R. Ambedkar — Annihilation of Caste; States and Minorities.

Stanford Encyclopedia of Philosophy — “Justice”; “Original Position”.

अध्याय 43 – जाति आ सामाजिक पदानुक्रम

जाति केवल व्यक्तिगत पूर्वग्रह नहि; ऐतिहासिक सामाजिक संरचना अछि। विवाह, श्रम, शिक्षा, प्रतिष्ठा, निवास, धार्मिक अधिकार आ सामाजिक सम्पर्क—अनेक क्षेत्रमे जाति दीर्घकाल धरि अवसर निर्धारित करैत रहल। जाति-दर्शनक प्रश्न एहि कारण केवल “लोक एक-दोसराकेँ पसिन्न करैत अछि वा नहि” नहि, बल्कि जन्म आ नैतिक दर्जाक सम्बन्धक प्रश्न अछि।

43.1 जन्म आ नैतिक योग्यता

समानान्तर दर्शनक उत्तर स्पष्ट अछि—जन्म नैतिक योग्यता नहि। कोनो परम्परा मनुष्यक समान गरिमाकेँ नकारैत हो तँ परम्पराक आलोचना नैतिक रूपसँ उचित अछि। परम्परा पुरान होयब ओकर ऐतिहासिक महत्त्व सिद्ध करैत अछि; नैतिक उचितता नहि।

43.2 जाति: श्रम-विभाजन वा श्रमिकक विभाजन?

जातिक पक्षमे कखनो कार्य-विभाजनक तर्क देल जाइत अछि। मुदा प्रश्न उठैत अछि—कार्य जन्मसँ किएक तय हो? पेशा बदलबाक स्वतंत्रता किएक सीमित? विवाह, भोजन, शिक्षा, निवास आ सम्मानक पदानुक्रम किएक जुड़ल? एहि कारण जातिक समस्या केवल आर्थिक भूमिका नहि; सामाजिक बन्दिश आ वंशानुगत दर्जा अछि।

43.3 अस्पृश्यता आ देहक राजनीति

अस्पृश्यता मनुष्यक देहकेँ अपवित्र घोषित कऽ सामाजिक दूरी बनबैत अछि। ई केवल धार्मिक विचार नहि; जल, रास्ता, विद्यालय, मन्दिर, घर, भोजन, विवाह आ श्रमक वास्तविक पहुँच निर्धारित कऽ सकैत अछि। एहि स्तरपर गरिमा अमूर्त शब्द नहि, शरीरक सार्वजनिक उपस्थिति अछि।

43.4 अम्बेडकरक मूल चुनौती

अम्बेडकर जातिक आलोचना केवल सद्भावक अपीलसँ नहि करैत छथि; ओ सामाजिक संरचना, धार्मिक औचित्य, अन्तर्विवाह आ राजनीतिक प्रतिनिधित्वक प्रश्न उठबैत छथि। जाति-विनाशक अर्थ केवल अपमानजनक व्यवहार घटेनाइ नहि, बल्कि जन्म-आधारित बन्द संरचनाकेँ तोड़ब अछि।

43.5 कानून आ सामाजिक परिवर्तन

कानून आवश्यक अछि—भेदभाव निषिद्ध करब, अधिकार देब, प्रतिनिधित्व सुनिश्चित करब। मुदा सामाजिक आदत, विवाह-नेटवर्क, आर्थिक निर्भरता, भाषिक अपमान आ सांस्कृतिक प्रतिष्ठा केवल कानूनसँ तुरन्त नहि बदलैत। तेँ समानान्तर दर्शन कानूनी समानता, सामाजिक सुधार, शिक्षा, प्रतिनिधित्व आ आर्थिक अवसरक संयुक्त कार्यक्रम देखैत अछि।

पूर्वपक्ष: जाति केवल सांस्कृतिक पहचान अछि

उत्तरपक्ष: जहाँ पहचान स्वैच्छिक आ समान गरिमायुक्त हो, समस्या कम; मुदा जन्मगत बन्दिश, अपमान, बहिष्कार आ अवसर-वंचना हो तँ “संस्कृति” नैतिक आलोचनासँ मुक्त नहि।

43.11 शुद्धि-अशुद्धिक नैतिक परीक्षा

स्वच्छता, अनुष्ठानिक शुद्धि आ सामाजिक अस्पृश्यता अलग अवधारणा छथि। रोग-निवारणक स्वच्छता अनुभवजन्य कारण माँगैत; अनुष्ठानिक शुद्धि समुदायिक अर्थ; मनुष्यक जन्माधारित अशुद्धता समान गरिमाक प्रत्यक्ष विरोध। एहि तीनूकेँ एक कहला सँ भेदभाव स्वास्थ्य वा धर्मक भाषा मे बचि जाइत अछि।

कोनो पेशा गन्दा परिस्थिति सँ जुड़ल हो सकैत, मुदा कार्यकर्ता गन्दा मनुष्य नहि। सुरक्षित उपकरण, उचित वेतन आ कामक विभाजन चाही; जन्मसँ पेशा बाँधब दोहरा अन्याय अछि।

परम्पराक आन्तरिक पुनर्व्याख्या उपयोगी, मुदा पीड़ितकेँ सुधारक प्रतीक्षा करबाक बाध्यता नहि। कानून, सार्वजनिक सेवा आ सामाजिक शिक्षा एक संग चलय।

43.12 जाति आ स्थान

आवासक अलगाव विद्यालय, जल, सड़क, बाजार आ सामाजिक नेटवर्कक पहुँच प्रभावित करैत अछि। नक्शापर दूरी छोट होइतहुँ सामाजिक सीमा कठोर भऽ सकैत अछि। स्थान पदानुक्रमक भौतिक रूप बनैत अछि।

केवल आय बढ़ला पर अलगाव समाप्त होयत जरूरी नहि। भूमि-अधिकार, किराया-भेदभाव, सार्वजनिक निवेश आ हिंसाक भय जाँचल जाए। गाम आ नगरमे संरचना भिन्न हो सकैत अछि।

स्थानिक अध्ययन नक्शा, जनसाक्ष्य आ सेवा-आँकड़ा जोड़य। निजी घरक गोपनीयता बनौने रखितो सार्वजनिक सुविधामे समान पहुँच सुनिश्चित हो।

43.13 प्रतिदिनक भेदभावक प्रमाण

सूक्ष्म अपमान अलग-अलग देखला पर मामूली लगि सकैत, मुदा लगातार दोहराव शिक्षा, स्वास्थ्य आ आत्मविश्वासपर संचयी प्रभाव दैत अछि। प्रमाण एक घटना मात्र नहि; व्यवहारक नमूना, संस्थाक प्रतिक्रिया आ परिणाम देखय।

प्रत्येक अप्रिय व्यवहार जातिगत कारणसँ भेल—एहन अनुमान सेहो सावधानी माँगैत अछि। तुलनात्मक स्थिति, कथित शब्द, नियमक असमान लागूकरण आ अन्य साक्षी जाँचल जाए। पीड़ितक कथन आरम्भिक प्रमुख प्रमाण अछि, अन्तिम एकमात्र प्रमाण नहि।

शिकायत-प्रणाली प्रमाण नष्ट होयब सँ पहिने सुरक्षित अभिलेखन दे, प्रतिशोध रोके, आ निर्णयक कारण बताबय। मौन शिकायतक अभावक प्रमाण नहि, जँ शिकायत महँगी हो।

43.14 पूर्वपक्ष: आधुनिकतामे जाति स्वतः समाप्त होयत

शहरीकरण, शिक्षा आ बाजार पुरान पेशागत सीमा ढीली करि सकैत अछि; तेँ कहल जाइत अछि जे विशेष सुधारक आवश्यकता नहि, समय अपने समाधान देत।

मुदा विवाह, नेटवर्क, राजनीति आ आवासमे जाति नूतन रूप लऽ सकैत अछि। बाजार स्वयं भेदभाव नकारैत नहि; परिचय-आधारित भर्ती ओकरा दोहरा सकैत अछि। परिवर्तनक दिशा क्षेत्र आ वर्ग अनुसार अलग होयत।

नीति अनुमानपर नहि, परिणामपर आधारित हो। जहाँ बाधा घटल अछि ओहि प्रक्रियासँ सीखल जाए; जहाँ टिकि रहल, लक्षित अधिकार आ प्रतिनिधित्व जारी रहय।

43.6 जातिक परिभाषामे सावधानी

जातिकेँ केवल पेशा, केवल वर्ण, केवल विवाह-समूह वा केवल धार्मिक धारणा कहब अधूरा अछि। स्थानीय समुदाय, अन्तर्विवाह, श्रम-विभाजन, शुद्धि-अशुद्धि, दर्जा, भूमि आ राजनीतिक शक्ति भिन्न प्रसंगमे अलग भूमिका रखैत अछि।

एक क्षेत्रक नमूना सम्पूर्ण उपमहाद्वीपपर आरोपित नहि कएल जाए। तुलनात्मक अध्ययन समान संरचना खोजय, मुदा स्थानीय नाम, इतिहास आ परिवर्तन सुरक्षित राखय। परिभाषाक बहुआयामिता अस्पष्टता नहि, प्रमाणक अनुरूपता अछि।

43.7 अन्तर्विवाह आ पुनरुत्पादन

सामाजिक पदानुक्रम केवल विचारसँ नहि टिकैत; विवाह, उत्तराधिकार, भोजन, आवास आ नेटवर्कक नियम ओकरा पीढ़ी-दर-पीढ़ी पुनरुत्पादित करैत अछि। अन्तर्विवाह सम्पत्ति, सम्बन्ध आ दर्जाकेँ समूह भीतर राखबाक साधन बनि सकैत अछि।

व्यक्तिगत विवाह निर्णयक स्वतंत्रता वास्तविक सामाजिक दण्डसँ सीमित हो सकैत अछि। कानून आवश्यक सुरक्षा दैत, मुदा परिवार, रोजगार आ निवासक दबाव सेहो जाँचल जाए। परिवर्तनक माप औपचारिक अनुमति मात्र नहि।

43.8 ज्ञान आ जातिगत सत्ता

कोन समूह पढ़त, लिखत, व्याख्या करत आ प्रमाणित ज्ञानक रक्षक बनत—ई प्रश्न जातिगत सत्ता सँ जुड़ि सकैत अछि। ज्ञानपर पहुँच सीमित भेला सँ बहिष्कार केवल रोजगार नहि, आत्मवर्णनक अधिकार सेहो छीनैत अछि।

हाशियाक अनुभव महत्त्वपूर्ण प्रमाण अछि, मुदा अनुभव मात्रसँ सभ सामान्य निष्कर्ष सिद्ध नहि। व्यक्तिगत साक्ष्य, संस्थागत आँकड़ा, इतिहास आ तुलनात्मक अध्ययन जोड़ल जाए। ज्ञानात्मक न्याय अनुभवकेँ सुनैत अछि आ जाँचसँ मुक्त नहि करैत।

43.9 सुधार, प्रतिनिधित्व आ सत्ता

ऊपरसँ सुधार कानून बदलि सकैत, मुदा प्रभावित समुदायक संगठन बिना व्यवहार धीरे बदलैत अछि। प्रतिनिधित्व आवाज दैत अछि, तथापि एक व्यक्ति पूरा समूहक अनुभवक एकमात्र प्रवक्ता नहि। भीतरक वर्ग, लिंग आ क्षेत्रीय अन्तर बने रहैत अछि।

उचित सुधार अधिकार, सुरक्षा, शिक्षा, आर्थिक साधन आ सार्वजनिक सम्मान संयुक्त करय। प्रतीकात्मक मान्यता उपयोगी, मुदा संसाधन-वितरणक स्थान नहि लय। परिणामक स्वतंत्र समीक्षा आवश्यक अछि।

43.10 गरिमा आ बन्धुत्व

कानूनी समानता बिना सामाजिक बन्धुत्व कमजोर, कारण प्रतिदिनक अपमान नागरिककेँ समान समुदायसँ बाहर राखैत अछि। बन्धुत्व भावुक एकरूपता नहि; सार्वजनिक संस्थामे परस्पर समान दर्जा स्वीकारब अछि।

गरिमा जन्म, पेशा वा शुद्धिक मान्यतासँ पूर्ववर्ती अछि। जे प्रथा मनुष्यकेँ स्पर्श, भोजन, निवास वा विवाहक आधारपर निम्न दर्जा दैत अछि, ओकर औचित्य परम्परा मात्रसँ नहि बचि सकैत।

अध्याय-निष्कर्ष

जाति-विमर्श समानताक निर्णायक परीक्षा अछि। जे समाज जन्मकेँ दर्जा बनबैत अछि, ओ गरिमा-सिद्धान्तक विरोधमे अछि। समानान्तर दर्शन जन्म-आधारित पदानुक्रमक नैतिक अस्वीकृति करैत अछि।

अध्याय-ग्रन्थसूची

B. R. Ambedkar — Annihilation of Caste; Who Were the Shudras?; The Untouchables.

Jyotirao Phule — Gulamgiri.

Gail Omvedt — Dalits and the Democratic Revolution.

Eleanor Zelliot — From Untouchable to Dalit.

अध्याय 44 – वर्ग आ आर्थिक सत्ता

सम्पत्ति केवल निजी सुविधा नहि; सत्ता सेहो उत्पन्न करैत अछि। जे संसाधन, भूमि, पूँजी, सूचना अथवा तकनीकपर नियन्त्रण रखैत अछि, ओकर सामाजिक निर्णयपर प्रभाव बढ़ैत अछि। आर्थिक दर्शनक प्रश्न केवल धनक मात्रा नहि, बल्कि नियन्त्रण, निर्भरता, सौदेबाजीक शक्ति आ लोकतान्त्रिक समानताक प्रश्न अछि।

44.1 वर्गक दार्शनिक अर्थ

मार्क्सवादी परम्परामे वर्ग उत्पादन-साधनसँ सम्बन्ध द्वारा बुझल जाइत अछि। मालिक आ श्रमिकक सम्बन्ध केवल आय-अन्तर नहि; निर्णय, जोखिम, श्रमक नियन्त्रण आ अधिशेषक स्वामित्वक प्रश्न अछि। आधुनिक अर्थव्यवस्थामे प्रबन्धक, पेशेवर, असंगठित श्रमिक, मंच-आधारित श्रम आ वित्तीय पूँजी एहि संरचनाकेँ अधिक जटिल बनबैत अछि।

44.2 श्रम, मूल्य आ गरिमा

श्रम केवल वस्तु-उत्पादन नहि; मनुष्यक समय आ जीवन अछि। यदि श्रमिकक कामक शर्त असुरक्षित, अपमानजनक वा पूर्णतः असमान सौदेबाजीक स्थितिमे तय हो, तखन “स्वैच्छिक अनुबन्ध”क नैतिक अर्थ कमजोर पड़ि सकैत अछि। आर्थिक स्वतंत्रताक मूल्यांकन वास्तविक विकल्पसँ करबाक चाही।

44.3 सम्पत्ति आ राजनीतिक समानता

अत्यधिक आर्थिक शक्ति राजनीतिक आवाज बढ़ा सकैत अछि—मीडिया, चुनावी वित्त, लॉबिंग, विशेषज्ञता, डेटा आ कानूनी संसाधन द्वारा। यदि धन राजनीतिक प्रभावक लगभग सीधा साधन बनि जाए, तखन “एक व्यक्ति, एक मत”क औपचारिक समानता कमजोर पड़ैत अछि।

44.4 गरीबी केवल कम आय नहि

गरीबी भोजन, स्वास्थ्य, आवास, शिक्षा, गतिशीलता, समय, सुरक्षा आ सामाजिक सम्मानक अभाव बनि सकैत अछि। क्षमता-दृष्टि एहि कारण आय सँ आगाँ वास्तविक जीवन-विकल्प देखैत अछि।

44.5 वर्ग आ अन्य पहचान

वर्ग विश्लेषण आवश्यक अछि, पर्याप्त नहि। जाति, लिंग, भाषा, क्षेत्र आ धर्म आर्थिक अवसरक वितरण प्रभावित करैत अछि। एकहि आयक दू व्यक्ति सामाजिक सुरक्षा, विरासत, नेटवर्क वा भेदभाव कारण अलग वास्तविक स्थिति रखि सकैत छथि।

पूर्वपक्ष: बाजारक परिणाम स्वतः न्यायपूर्ण अछि

उत्तरपक्ष: बाजार उपयोगी समन्वय-प्रणाली भऽ सकैत अछि, मुदा प्रारम्भिक सम्पत्ति, शक्ति, सूचना, एकाधिकार आ बाह्य प्रभाव न्याय प्रश्न उत्पन्न करैत अछि। विनिमय स्वतः न्याय प्रमाण नहि।

44.11 मजदूरी आ जीवन-क्षमता

बाजार-मजदूरी माँग-आपूर्ति बतबैत अछि, नैतिक पर्याप्तता नहि। पूर्ण समय श्रमक बादो भोजन, आवास, स्वास्थ्य आ शिक्षा असम्भव हो तँ अनुबंध औपचारिक स्वैच्छिक होइतहुँ गरिमामूलक नहि।

जीवनोपयोगी मजदूरीक माप परिवार-आकार, क्षेत्रीय लागत आ सार्वजनिक सेवा अनुसार बदलत। एक संख्या सभ स्थानपर लागू नहि। वृद्धि रोजगारपर प्रभाव दैत अछि की नहि से अनुभवजन्य अध्ययन चाही।

वेतन संग समय, सुरक्षा, अवकाश आ सम्मान सेहो कार्यक गुणवत्ता बनबैत अछि। अधिक आय खतरनाक अथवा अपमानजनक स्थिति स्वतः उचित नहि करैत।

44.12 श्रमिकक सामूहिक मोल-भाव

एक श्रमिक बड़ नियोक्ता सामने कमजोर हो सकैत; संगठन शक्ति संतुलित करैत अछि। संघ बनाबय, जानकारी साझा करय आ सामूहिक समझौता करयक अधिकार अनुबंधक वास्तविक स्वैच्छिकता बढ़बैत अछि।

संघ स्वयं उत्तरदायित्वसँ मुक्त नहि। आन्तरिक लोकतन्त्र, वित्तीय पारदर्शिता, असहमतिक अधिकार आ असंगठित श्रमिकक हित आवश्यक। नेतृत्व स्थायी विशेषाधिकार नहि बने।

हड़ताल नियोक्ता आ जनतापर लागत दैत अछि; ओकर औचित्य लक्ष्य, प्रक्रिया, आवश्यक सेवाक सुरक्षा आ उपलब्ध विकल्पसँ जाँचल जाए। सामूहिक दबाव हिंसा नहि, मुदा सीमा-विहीन सेहो नहि।

44.13 ऋण, ब्याज आ निर्भरता

ऋण भविष्यक आय वर्तमान आवश्यकता लेल उपलब्ध करैत अछि, मुदा अस्पष्ट ब्याज, गिरवी आ आपातकालीन मजबूरी दीर्घ निर्भरता बना सकैत अछि। उधार लेनिहारक ‘सहमति’ जानकारी आ विकल्पक अभावमे कमजोर होइत।

सभ ब्याज शोषण नहि; समय, जोखिम आ प्रशासनिक लागत वास्तविक। प्रश्न दरक अनुपात, पारदर्शिता, वसूलीक विधि आ ऋणदाताक शक्ति अछि।

वित्तीय साक्षरता उपयोगी, मुदा संरचनात्मक नियमनक विकल्प नहि। अनुबंध स्थानीय भाषामे स्पष्ट, तुलना योग्य आ अपमानजनक वसूलीसँ मुक्त हो।

44.14 पूर्वपक्ष: वर्ग-विमर्श ईर्ष्याक राजनीति अछि

आपत्ति अछि जे आर्थिक असमानताक आलोचना सफल व्यक्तिक प्रति ईर्ष्या उत्पन्न करैत अछि आ उत्पादनक प्रेरणा घटबैत अछि। केवल अन्तर देखिते अन्याय मानब सचमुच अपर्याप्त।

उत्तर ई जे वर्ग-विमर्श व्यक्तिक धन मात्र नहि, श्रम-शर्त, अवसर, स्वामित्व-सत्ता आ राजनीतिक प्रभाव जाँचैत अछि। प्रश्न कियो अधिक रखैत अछि नहि, ओकर अधिकता दोसरक अधीनता बनबैत अछि की नहि।

उचित आलोचना सृजन, जोखिम आ परिश्रमक योगदान स्वीकारय, संगहि वंशानुगत विशेषाधिकार, एकाधिकार आ बाहरी लागतक लेखा माँगय।

44.6 श्रम आ स्वामित्व

उत्पादनमे श्रम, पूँजी, भूमि, ज्ञान आ संगठन सभ योगदान दैत अछि। प्रश्न ई जे स्वामित्वक अधिकार निर्णय आ लाभपर कतेक नियन्त्रण दे, आ श्रमिकक योगदान कतेक मान्यता पाबय। अनुबंध स्वेच्छिक देखाइतहुँ बेरोजगारी वा निर्भरता विकल्प सीमित करि सकैत अछि।

सभ लाभ शोषण आ सभ असमान वेतन अन्याय—एहन सरल निष्कर्ष पर्याप्त नहि। जोखिम, कौशल, समय, शक्ति आ विकल्पक वास्तविक स्थिति जाँचल जाए। पारदर्शी अनुबंध, सुरक्षित श्रम आ सामूहिक आवाज न्यूनतम शर्त छथि।

44.7 सम्पत्ति आ सामाजिक दायित्व

सम्पत्ति व्यक्तिक सुरक्षा, योजना आ स्वतंत्रता बढ़बैत अछि। मुदा सम्पत्ति कानून, सार्वजनिक व्यवस्था, श्रम आ प्राकृतिक संसाधनक सामाजिक ढाँचामे सम्भव होइत अछि; तेँ अधिकार पूर्ण निरपेक्ष नहि। उपयोग दोसरक मूल अवसर नष्ट करय तखन सीमा उचित हो सकैत अछि।

कर, भूमि-नियम वा उत्तराधिकार नीति मूल्य-विवाद उठबैत अछि। नीति केवल ईर्ष्या वा पवित्र स्वामित्वक नारा पर नहि, सार्वजनिक वस्तु, प्रोत्साहन, अवसर आ प्रभुत्वक प्रमाणपर बनय।

44.8 अदृश्य आ देखभालक श्रम

घर, बच्चा, वृद्ध आ बीमारक देखभाल आर्थिक जीवन सम्भव बनबैत अछि, मुदा प्रायः वेतन वा सामाजिक मान्यता बिना रहैत अछि। बाजारक बाहर होयबाक कारण ई श्रम मूल्यहीन नहि। समय, थकान आ अवसर-हानि वास्तविक लागत छथि।

देखभालकेँ केवल परिवारक निजी कर्तव्य कहला सँ भार असमान रूपसँ स्त्रीपर पड़ि सकैत अछि। सार्वजनिक सेवा, अवकाश, सामाजिक सुरक्षा आ पुरुषक जिम्मेदारी वितरणक प्रश्न आर्थिक न्यायक अंग छथि।

44.9 असुरक्षित श्रम आ डिजिटल मंच

अल्पकालिक अनुबंध आ डिजिटल मंच लचीलापन दे सकैत अछि, मुदा जोखिम श्रमिकपर स्थानान्तरित सेहो करैत अछि। जे प्रणाली दर, पहुँच वा कामक अवसर तय करैत अछि, ओ ‘मध्यस्थ’ कहि जिम्मेदारीसँ पूर्ण मुक्त नहि भऽ सकैत।

एल्गोरिदमक निर्णय, अपील, डेटा आ आयक अस्थिरता जाँचल जाए। तकनीकी सुविधा श्रम-अधिकारक विकल्प नहि। वर्ग-विमर्शक नूतन रूप स्वामित्वसँ संग डेटा आ मंच-सत्ता देखत।

44.10 वर्ग-चेतना आ बहुल हित

समान आर्थिक स्थान साझा हित उत्पन्न करि सकैत अछि, मुदा श्रमिकसभ जाति, लिंग, भाषा आ क्षेत्रमे विभाजित रहैत छथि। संगठन एहि भिन्नताकेँ दबाय तँ शक्तिशाली उपसमूह ‘सामान्य हित’ पर अधिकार कऽ सकैत अछि।

एकता समानता मिटायब नहि; साझा माँग संग विशेष अन्यायक समाधान चाही। वर्ग-चेतना स्वतः उत्पन्न तथ्य नहि, संवाद, अनुभव आ संस्थागत संगठनक उपलब्धि अछि।

अध्याय-निष्कर्ष

आर्थिक सत्ता राजनीतिक आ सामाजिक सत्ता सँ अलग नहि। समानान्तर दर्शन सम्पत्ति-अधिकार स्वीकारैत अछि, मुदा ओकर सामाजिक परिणाम, श्रम-गरिमा आ लोकतान्त्रिक समानतापर प्रभावक निरन्तर परीक्षण माँगैत अछि।

अध्याय-ग्रन्थसूची

Karl Marx — Capital; Economic and Philosophic Manuscripts of 1844.

Amartya Sen — Development as Freedom.

Thomas Piketty — Capital and Ideology.

John Rawls — A Theory of Justice.

अध्याय 45 – स्त्री, लिंग आ सत्ता

दार्शनिक इतिहासमे “मनुष्य” शब्द अनेक बेर व्यवहारमे पुरुषक अनुभवक पर्याय बनि गेल। स्त्रीक देह, श्रम, प्रजनन, सम्पत्ति, शिक्षा आ सार्वजनिक उपस्थितिपर नियन्त्रणकेँ दार्शनिक प्रश्न मानब आवश्यक अछि। स्त्रीवादी दर्शनक एकरूप मत नहि; उदार, समाजवादी, उग्र, उत्तर-औपनिवेशिक, दलित, अन्तरविभागीय आ अन्य अनेक धारासभ भिन्न प्रश्न उठबैत अछि।

45.1 निजी आ सार्वजनिकक सीमा

परम्परागत राजनीतिक दर्शन राज्य आ बाजारपर केन्द्रित रहैत परिवारकेँ “निजी” क्षेत्र मानि कऽ छोड़ि देलक। मुदा परिवारमे सम्पत्ति, देखभाल, हिंसा, विवाह, प्रजनन, शिक्षा आ अवसरक वितरण होइत अछि। तेँ घरक भीतरक सत्ता राजनीतिक दर्शनसँ बाहर नहि।

45.2 देह आ स्वायत्तता

व्यक्ति अपन देह सम्बन्धी निर्णयमे कतेक स्वतंत्र? विवाह, गर्भधारण, स्वास्थ्य, वस्त्र, गतिशीलता, यौनिक सहमति—ई सभ स्वायत्तता आ सामाजिक मानदण्डक संघर्षक क्षेत्र अछि। स्वायत्तता केवल विकल्प घोषित करब नहि; दबाव, निर्भरता, हिंसा आ सामाजिक दण्डक अनुपस्थिति सेहो चाही।

45.3 अवैतनिक देखभालक श्रम

घरक देखभाल, बच्चा पालन, वृद्ध सेवा, भोजन, सफाई—ई श्रम अर्थव्यवस्थाक आधार अछि, मुदा अनेक बेर आर्थिक आँकड़ामे अदृश्य रहैत अछि। जँ एक समूहक समय व्यवस्थित रूपसँ अवैतनिक देखभालमे लगैत अछि, ओकर शिक्षा, रोजगार, विश्राम आ राजनीतिक भागीदारी प्रभावित होइत अछि।

45.4 समान अवसर आ संस्थागत बाधा

कानूनी समानता बादो कार्यस्थल, शिक्षा, उत्तराधिकार, नेतृत्व आ सार्वजनिक सुरक्षा मे बाधा रहि सकैत अछि। “एक समान नियम” तखन पर्याप्त नहि जँ संस्था ऐतिहासिक रूपसँ पुरुष जीवन-पद्धतिक आधारपर बनल हो।

45.5 अन्तरविभागीयता

स्त्री एकरूप सामाजिक वर्ग नहि। जाति, वर्ग, धर्म, भाषा, क्षेत्र, विकलांगता आ अन्य पहचान लिंग-अनुभव बदलैत अछि। तेँ कोनो एक स्त्री-अनुभवकेँ सार्वभौम घोषित करब उचित नहि। समानान्तर दर्शनक बहुदृष्टिगत पद्धति एतय विशेष उपयोगी अछि—अनुभव भिन्न, मुदा गरिमाक कसौटी साझा।

45.6 प्रतिनिधित्व आ ज्ञान

स्त्रीक अनुपस्थितिमे बनल सिद्धान्त किछु अनुभव अदृश्य छोड़ि सकैत अछि। एहि कारण प्रतिनिधित्व केवल राजनीतिक सीटक प्रश्न नहि; ज्ञानक प्रश्न सेहो। ककर अनुभव “सामान्य मनुष्य”क अनुभव मानल गेल, ई दर्शनक आत्मसमीक्षाक विषय अछि।

पूर्वपक्ष: समान अधिकार देल गेल, तेँ लिंग-न्याय प्राप्त

उत्तरपक्ष: समान अधिकार आवश्यक उपलब्धि अछि, मुदा घरेलू श्रम, हिंसा, सामाजिक अपेक्षा, संसाधन, सुरक्षा आ प्रतिनिधित्वक असमानता रहला सँ वास्तविक समानता अधूरी रहि सकैत अछि।

45.12 सार्वजनिक–निजी विभाजनक आलोचना

परम्परागत राजनीति घरकेँ निजी आ राज्य-बाजारकेँ सार्वजनिक मानि सकैत अछि। मुदा घर भीतर श्रम-वितरण, शिक्षा, सम्पत्ति आ हिंसा सार्वजनिक क्षमता बनबैत अछि। निजी कहि कानूनसँ बाहर राखलासँ असमानता सुरक्षित हो सकैत अछि।

एहि आलोचनासँ राज्यक असीम प्रवेश उचित नहि। अन्तरंगता, प्रेम आ निजी निर्णयक क्षेत्र मूल्यवान अछि। हस्तक्षेप स्पष्ट हानि, निर्भरता आ अधिकारक आधारपर न्यूनतम हो।

गोपनीयता पीड़ितक सुरक्षा हो सकैत, अपराधीक ढाल नहि। शिकायतक गोपनीय मार्ग आ निष्पक्ष जाँच एहि द्वैतकेँ संतुलित करैत अछि।

45.13 देहपर आत्मनिर्णय

देहपर निर्णय व्यक्तिक स्वायत्तताक केन्द्र अछि—चिकित्सा, प्रजनन, विवाह आ यौन सम्बन्धमे सहमति आवश्यक। परिवार, समुदाय वा राज्यक हित व्यक्तिक देहकेँ साधन मात्र नहि बना सकैत।

स्वायत्तता जानकारी आ सेवा बिना कागजी रहि सकैत अछि। सुरक्षित स्वास्थ्य-सेवा, गोपनीयता आ आर्थिक पहुँच वास्तविक निर्णय-क्षमता बनबैत अछि।

जहाँ दोसर जीवन वा सार्वजनिक स्वास्थ्य प्रभावित हो, विवाद जटिल होइत अछि। प्रमाण, हानिक अनुपात आ न्यूनतम प्रतिबन्धक उपाय स्पष्ट कएल जाए; नैतिक असहमति अपमानमे नहि बदले।

45.14 भाषा भीतर लिंग

भाषा पेशा, अधिकार आ सामान्य मनुष्यक छवि लिंगगत बना सकैत अछि। जे पद केवल पुरुष रूपमे प्रतिष्ठित, ओ बच्चाक सम्भावना आ सामाजिक अपेक्षापर प्रभाव दैत अछि।

मुदा व्याकरणिक लिंग आ सामाजिक भेदभाव एकहि वस्तु नहि। परिवर्तन भाषिक संरचना, जीवित उपयोग आ वक्ताक सुविधा ध्यानमे राखि हो। जबरन कृत्रिमता जनस्वीकृति रोकि सकैत अछि।

समावेशी भाषा संरचनात्मक सुधारक पूरक अछि। पद बदलल जाए, संगहि भर्ती, सुरक्षा आ नेतृत्वक अवसर सेहो।

45.15 पूर्वपक्ष: समान अधिकार भेटल, आब समस्या समाप्त

कानून समान घोषित भेला बाद कहल जाइत अछि जे शेष अन्तर निजी चुनावक परिणाम। औपचारिक अधिकार ऐतिहासिक उपलब्धि अछि, मुदा उपयोगक लागत, हिंसाक भय, देखभालक भार आ पेशागत जाल एखनहुँ विकल्प बदलि सकैत अछि।

सभ अन्तर भेदभावक प्रमाण नहि। पसंद, देह आ जीवन-योजना भिन्न हो सकैत अछि। प्रश्न ई जे पसंद कोन अपेक्षा, दण्ड आ जानकारी भीतर बनल।

नीति परिणाम जबरन समान नहि करय; अनावश्यक बाधा हटाय, सुरक्षित विकल्प दे, आ अन्तरक कारण नियमित जाँचय।

45.7 जैविक भेद आ सामाजिक अर्थ

देहगत भेद वास्तविक भऽ सकैत अछि, मुदा ओकरासँ सामाजिक भूमिका, बुद्धि, अधिकार वा भाग्य स्वतः नहि निकलैत। समाज चुनैत अछि जे कोन भेद महत्त्वपूर्ण, कोना वर्गीकृत, आ ककरा संसाधन वा दण्डसँ जोड़ल जाए।

जैविक तथ्य नकारब आ जैविक नियतिवाद—दुनू गलत। चिकित्सा वा स्वास्थ्यमे शरीर प्रासंगिक भऽ सकैत; नागरिक अधिकारमे समान गरिमा निर्णायक। प्रसंग स्पष्ट राखब आवश्यक अछि।

45.8 देखभाल, निर्भरता आ नैतिकता

मनुष्य जीवनक अनेक चरणमे दोसरपर निर्भर रहैत अछि। स्वायत्त व्यक्तिक आदर्श जँ देखभालक श्रम अदृश्य करय तँ अधूरा अछि। सम्बन्ध, उत्तरदायित्व आ संवेदनशीलता नैतिक जीवनक केन्द्रीय अंग छथि।

मुदा देखभालक नामपर स्त्रीक आत्मत्याग अनिवार्य करब अन्याय। उचित देखभाल देखभालकर्ता आ प्राप्तकर्ता दुनूक गरिमा, विश्राम, संसाधन आ आवाज सुरक्षित करय। निर्भरता प्रभुत्वक अनुमति नहि।

45.9 सहमति आ शक्ति

सहमति केवल ‘हाँ’ शब्द नहि। जानकारी, दबावक अभाव, निर्णय-क्षमता, वास्तविक विकल्प आ कखनो सहमति वापस लेबाक अधिकार आवश्यक। आर्थिक, पारिवारिक वा संस्थागत निर्भरता औपचारिक सहमतिक अर्थ बदलि सकैत अछि।

प्रत्येक शक्ति-अन्तर सहमति असम्भव नहि बनबैत, मुदा अधिक सुरक्षा माँगैत अछि। नियम कमजोर पक्षक प्रतिशोध-भय घटाबय, गोपनीय शिकायत आ निष्पक्ष जाँच दे। नैतिक सम्बन्ध निरन्तर संवादपर टिकैत अछि।

45.10 ज्ञानात्मक अन्याय

ककरो कथन ओकर लिंग वा सामाजिक पहचान कारण कम विश्वसनीय मानल जाए, तँ साक्ष्यगत अन्याय होइत अछि। दोसर रूप तखन जे समुदायक अनुभव व्यक्त करबाक सार्वजनिक अवधारणा उपलब्ध नहि, फलतः हानि नामहीन रहि जाइत अछि।

समाधान प्रत्येक कथन बिना जाँच मानि लेब नहि। पूर्वाग्रह-जागरूक सुनवाई, विविध प्रतिनिधित्व, सुरक्षित भाषा आ स्वतंत्र प्रमाण जोड़ल जाए। विश्वसनीयताक कसौटी सभपर समान, मुदा ऐतिहासिक अविश्वासक ढाँचा सेहो जाँचल जाए।

45.11 अन्तःसम्बद्ध असमानता

स्त्रीसभ एक समान समूह नहि। जाति, वर्ग, धर्म, भाषा, विकलांगता आ क्षेत्र लिंगगत अनुभव बदलैत अछि। एक समूहक औसत सुधार भीतरक सर्वाधिक वंचित व्यक्तिक स्थिति छिपा सकैत अछि।

नीति विभाजनक सूची मात्र नहि बनाय। देखय जे संस्था अनेक पहचानकेँ संयुक्त रूपसँ कोना प्रभावित करैत अछि। प्रभावित समूहक सहभागिता आ विभाजित आँकड़ा आवश्यक, मुदा निजता आ कलंकक जोखिम सेहो ध्यानमे रहय।

अध्याय-निष्कर्ष

लिंग-न्याय गरिमा, स्वायत्तता, श्रमक मान्यता, सुरक्षा, समान अवसर आ प्रतिनिधित्वक संयुक्त प्रश्न अछि। समानान्तर दर्शन स्त्रीवादी विचारकेँ कोनो परिशिष्ट नहि, सामाजिक दर्शनक केन्द्रीय आत्मसमीक्षा मानैत अछि।

अध्याय-ग्रन्थसूची

Simone de Beauvoir — The Second Sex.

Susan Moller Okin — Justice, Gender, and the Family.

Martha C. Nussbaum — Women and Human Development.

bell hooks — Feminist Theory: From Margin to Center.

Iris Marion Young — Justice and the Politics of Difference.

Stanford Encyclopedia of Philosophy — “Feminist Political Philosophy”; “Liberal Feminism”.

अध्याय 46 – भाषा, क्षेत्र आ अस्मिता

भाषा संप्रेषणक माध्यमसँ बेसी अछि। भाषामे इतिहास, स्मृति, हास्य, प्रेम, लोकज्ञान, धार्मिक अनुभव, श्रमक शब्दावली, पारिवारिक सम्बन्ध आ संसार देखबाक विशिष्ट ढंग बसैत अछि। एहि कारण भाषाक प्रश्न केवल व्याकरणक नहि, गरिमा, पहुँच, प्रतिनिधित्व आ सत्ता-क संरचनाक प्रश्न सेहो अछि।

46.1 भाषा आ पहिचान

व्यक्ति अनेक पहिचान एक संग धारण करैत अछि—भाषिक, क्षेत्रीय, धार्मिक, पेशागत, जातीय, लैंगिक, राष्ट्रीय। भाषिक पहिचान एहि सभमे एक महत्त्वपूर्ण आयाम अछि, मुदा कोनो एक पहिचान सम्पूर्ण व्यक्तिक पर्याय नहि। समानान्तर दर्शन एकल-लेबलक राजनीति सँ सावधान करैत अछि। भाषा अपनत्व दैत अछि, मुदा ओकरा बाड़ बनायब आवश्यक नहि।

46.2 मातृभाषा, ज्ञान आ अवसर

बाल्यकालक भाषा विचारक प्रारम्भिक संसार बनबैत अछि। शिक्षा जँ पूर्णतः अपरिचित भाषामे हो तँ विषय-वस्तुक संग भाषिक बाधा सेहो जुड़ि जाइत अछि। मुदा मातृभाषा-आधारित शिक्षा आ व्यापक बहुभाषिक दक्षता विरोधी लक्ष्य नहि। उचित नीति स्थानीय भाषा मे बौद्धिक आधार मजबूत करैत, संगहि अन्य उपयोगी भाषासँ पहुँच बढ़बैत अछि। प्रश्न “एक भाषा वा दोसर” नहि; प्रश्न अछि न्यायपूर्ण बहुभाषिकता।

46.3 भाषा आ सत्ता

राज्य, विश्वविद्यालय, न्यायालय, बाजार, तकनीक आ प्रकाशन कोन भाषाकेँ प्राथमिकता दैत अछि, ताहिसँ ज्ञानक पहुँच निर्धारित होइत अछि। जँ नागरिकक भाषा सार्वजनिक संस्थामे निरन्तर अनुपस्थित रहय, तँ ओकर अनुभव अदृश्य भऽ सकैत अछि। भाषिक न्याय केवल प्रतीकात्मक सम्मान नहि; अनुवाद, शिक्षा, प्रशासनिक पहुँच, डिजिटल समर्थन आ प्रकाशनक अवसर सेहो अछि।

46.4 क्षेत्रीयता: स्थानीयता बनाम संकीर्णता

क्षेत्रीय अस्मिता स्थानीय इतिहास, पारिस्थितिकी, भाषा आ स्मृतिक संरक्षण करैत अछि। मुदा क्षेत्रीय गौरव दोसर क्षेत्रक अवमूल्यन बनि जाए तँ ओ आत्मसम्मान नहि, प्रभुत्वक नूतन रूप अछि। समानान्तर दर्शनक सिद्धान्त स्पष्ट अछि—अपन पहिचानक सम्मान दोसराक समान गरिमाक संग संगत होबाक चाही।

46.5 मिथिला एक उदाहरण

मिथिलाक भाषा-साहित्य, शास्त्रार्थ, लोकपरम्परा आ सीमापार सांस्कृतिक जीवन देखबैत अछि जे राजनीतिक सीमा आ सांस्कृतिक भूगोल सदैव एक नहि। एहन क्षेत्रीय संसारक अध्ययन राष्ट्रीयता-विरोध नहि; व्यापक इतिहासकेँ अधिक सूक्ष्म बनबैत अछि। मुदा ऐतिहासिक गौरवक प्रत्येक दावा प्रमाणक कसौटी पार करय।

46.6 डिजिटल युग आ भाषिक असमानता

डिजिटल साधन छोट भाषाकेँ प्रकाशन, ध्वनि-संग्रह, शब्दकोश, ई-पत्रिका, शिक्षा आ अभिलेखनक नूतन अवसर दैत अछि। संगहि खोज-इंजन, कृत्रिम बुद्धि आ मानकीकृत डेटा बहुल स्रोतवला भाषाकेँ अधिक लाभ देइत अछि। तेँ डिजिटल भाषिक न्याय लेल यूनिकोड, मुक्त फॉन्ट, कॉर्पस, गुणवत्तापूर्ण अनुवाद आ स्थानीय सामग्री आवश्यक अछि।

पूर्वपक्ष: भाषिक अधिकारसँ विभाजन बढ़त?

उत्तरपक्ष: समान अधिकार विभाजन नहि; अपमान आ जबरन समरूपीकरण विभाजनक कारण बनि सकैत अछि। साझा नागरिकता तखन मजबूत होइत अछि जखन बहुल पहिचान सुरक्षित रहैत अछि।

समानान्तर दर्शनक संवाद

भाषा ज्ञानक माध्यम सेहो अछि, सत्ता सेहो। भाषिक गौरवक उचित रूप अपन भाषामे उच्चस्तरीय ज्ञान-सृजन, अनुवाद, शिक्षा आ सार्वजनिक पहुँच बढ़ेनाइ अछि; दोसर भाषा वा समुदायक अपमान नहि।

46.12 भाषा-परिवर्तन आ प्रामाणिकता

जीवित भाषा उधार, नव पद आ प्रवासनसँ बदलैत अछि। परिवर्तनकेँ प्रत्येक बेर पतन मानलासँ भाषा संग्रहालयक वस्तु बनि जाइत अछि। दोसर दिस अनियंत्रित प्रभुत्व स्थानीय शब्द-संसार घटा सकैत अछि।

प्रामाणिकता शुद्ध मूल खोजब नहि; समुदाय द्वारा अर्थपूर्ण निरन्तरता अछि। नव पदक आवश्यकता, बोधगम्यता आ मैथिली व्याकरणसँ संगति जाँचल जाए। विकल्प उपलब्ध रहय।

शब्दकोश वर्णन आ मार्गदर्शन दुनू करैत अछि, मुदा जीवित प्रयोगपर शासन नहि। साहित्य, विद्यालय आ जनमाध्यमक संवादसँ मानक विकसित हो।

46.13 भाषिक बाजार

किछु भाषा रोजगार, परीक्षा आ प्रतिष्ठाक पूँजी बनैत अछि। परिवार उपयोगी अवसर लेल प्रमुख भाषा चुनैत, फलतः मातृभाषाक अन्तरपीढ़ी संचरण कमजोर हो सकैत अछि। ई केवल भावनात्मक उदासीनता नहि, संरचनात्मक प्रोत्साहनक परिणाम।

मातृभाषा बचायब लेल ओकरा रोजगारक विरोधी बनाओल नहि जाए। द्विभाषिक शिक्षा, प्रकाशन, डिजिटल साधन आ सार्वजनिक सेवामे उपयोग भाषा केँ व्यवहारिक मूल्य दैत अछि।

भाषिक गौरव दोसर भाषा सीखबा रोकय तँ बच्चाक अवसर घटत। लक्ष्य जोड़निहार बहुभाषिकता अछि, अलगाववादी शुद्धता नहि।

46.14 लिपि, पहुँच आ अभिलेख

लिपि सांस्कृतिक स्मृति आ पाठक पहुँच दुनू सँ जुड़ल अछि। ऐतिहासिक लिपिक संरक्षण महत्त्वपूर्ण, मुदा शिक्षा आ डिजिटल उपयोगमे प्रचलित लिपिक सुविधा सेहो वास्तविक। एक विकल्पक सम्मान लेल दोसरकेँ नष्ट करब आवश्यक नहि।

पुरान पाण्डुलिपिक सूचीकरण, उच्च-गुणवत्ता प्रतिलिपि आ पठन-प्रशिक्षण चाही। केवल प्रतीकात्मक उत्सव अभिलेख नहि बचबैत।

लिप्यन्तरणमे ध्वनि आ मूल वर्तनीक हानि स्पष्ट हो। शोध-संस्करण मूल छवि, प्रतिलेख आ सम्पादकीय निर्णय अलग दे, जाहिसँ पाठक जाँचि सकय।

46.15 पूर्वपक्ष: एक भाषा बिना राष्ट्रिय एकता असम्भव

साझा सम्पर्कभाषा प्रशासन आ नागरिक संवाद सहज करैत अछि; तेँ एक भाषा कैँ एकता लेल अनिवार्य मानल जाइत अछि। मुदा एकता समानरूपता नहि। बहुभाषिक समाज साझा संस्था आ अनुवादसँ चलि सकैत अछि।

एक भाषा थोपला पर अल्पभाषी नागरिकक शिक्षा आ न्याय पहुँच घटि सकैत अछि, आ प्रतिरोध बढ़ि सकैत अछि। साझा भाषा सीखबाक अवसर हो, मातृभाषा छोड़बाक शर्त नहि।

एकताक अधिक स्थायी आधार समान अधिकार, पारस्परिक अनुवाद आ राजनीतिक सहभागिता अछि। भाषा पुल बने, दर्जाक सीढ़ी नहि।

46.7 मातृभाषा आ सार्वजनिक क्षमता

मातृभाषा केवल भावनात्मक घर नहि; आरम्भिक शिक्षा, प्रश्न करबाक साहस आ जटिल अनुभव व्यक्त करबाक साधन अछि। बच्चा जँ ज्ञानक भाषा बुझए बिना रटैत अछि, तँ औपचारिक प्रवेश भेटितो बौद्धिक भागीदारी सीमित रहैत अछि।

एकहि भाषा सभ स्तरपर पर्याप्त होयत जरूरी नहि। मातृभाषा, क्षेत्रीय सम्पर्कभाषा आ व्यापक संचारभाषाक बहुभाषिक व्यवस्था क्षमता बढ़ा सकैत अछि। नीति भाषासभकेँ शून्य-योग संघर्ष नहि बनाय।

46.8 मानकीकरणक लाभ आ लागत

मानक वर्तनी आ व्याकरण शिक्षा, प्रकाशन आ प्रशासन सहज करैत अछि। मुदा मानक प्रायः कोनो क्षेत्र वा वर्गक प्रयोगपर आधारित होइत, आ अन्य रूपकेँ ‘अशुद्ध’ घोषित करि सकैत अछि। तकनीकी सुविधा सामाजिक श्रेष्ठताक प्रमाण नहि।

समावेशी मानकीकरण विविध रूप दस्तावेजित करय, औपचारिक प्रसंगक नियम स्पष्ट करय, आ बोली बोलनिहारकेँ अपमानित नहि करय। साहित्यिक सृजन मानकक सीमा विस्तृत करि सकैत अछि।

46.9 अनुवाद आ ज्ञान-अधिकार

कानून, विज्ञान, स्वास्थ्य आ दर्शन केवल प्रमुख भाषामे उपलब्ध हो तखन नागरिकक अधिकार व्यवहारमे असमान भऽ जाइत अछि। अनुवाद सूचना देब मात्र नहि, निर्णयमे भाग लेबाक शर्त अछि। तकनीकी पदक सही रूप आ स्पष्ट व्याख्या दुनू चाही।

शब्दशः अनुवाद कखनो अवधारणा बिगाड़ैत अछि। मूल पद, मैथिली कार्यार्थ, उदाहरण आ सीमा साथ देल जाए। अनुवादक नाम आ संस्करण स्पष्ट रहय, जाहिसँ त्रुटि सुधारल जा सकय।

46.10 क्षेत्रीय अस्मिता आ आन्तरिक बहुलता

क्षेत्रीय अस्मिता केन्द्रक उपेक्षाक विरुद्ध गरिमा दे सकैत अछि, मुदा अपन भीतरक जाति, लिंग वा बोलीगत असमानता छिपा सकैत अछि। ‘हम सभ एक’क नारा बाहरी संघर्षमे उपयोगी, आन्तरिक आलोचनामे बाधक भऽ सकैत अछि।

समावेशी अस्मिता साझा इतिहास स्वीकारैत, मुदा असहमति आ बहु-पहिचानक स्थान राखैत अछि। क्षेत्रक प्रेम दोसर क्षेत्रक अवमानना नहि। सांस्कृतिक अधिकार नागरिक समानतासँ जुड़ल रहय।

46.11 जनगणना, श्रेणी आ सत्ता

राज्य भाषा आ समुदायक गणना करैत समय श्रेणी बनबैत अछि। कोन रूप स्वतंत्र भाषा, कोन ‘अन्य’, आ ककर बहुभाषिकता एक उत्तरमे समेटल—ई निर्णय संसाधन आ मान्यतापर प्रभाव दैत अछि। आँकड़ा तटस्थ दर्पण नहि।

तथापि गणना बिना नीति कठिन। श्रेणी पारदर्शी, आत्मपहिचान-सम्मत आ बहुविकल्पी हो; पद्धति प्रकाशित हो; छोट समुदाय अदृश्य नहि हो। संख्याक संग उपयोग, शिक्षा आ संस्थागत पहुँचक गुणात्मक प्रमाण चाही।

अध्याय-निष्कर्ष

भाषा, क्षेत्र आ अस्मिता लोकतान्त्रिक न्यायक मूल प्रश्न छथि। पहचानक सम्मान आ बहुलताक सम्मान एक-दोसरक शर्त अछि।

अध्याय-ग्रन्थसूची

Benedict Anderson — Imagined Communities.

Will Kymlicka — Multicultural Citizenship.

Charles Taylor — “The Politics of Recognition”.

UNESCO — multilingual education सम्बन्धी चयनित दस्तावेज.

अध्याय 47 – लोकतन्त्र

लोकतन्त्र केवल चुनाव नहि। जँ चुनाव हो, मुदा आलोचक डेरायल रहय; संसद हो, मुदा संस्था निष्प्रभावी; बहुमत हो, मुदा अल्पसंख्यकक अधिकार असुरक्षित; संविधान हो, मुदा सामाजिक सम्बन्ध अपमानपर टिकले रहय—तँ लोकतन्त्र अधूरा अछि।

47.1 जनसत्ता आ सीमित सत्ता

लोकतन्त्रक पहिल अर्थ अछि जे राजकीय सत्ता नागरिकसँ वैधता प्राप्त करैत अछि। मुदा “जनता” स्वयं एकरूप नहि। बहुमत सत्ता प्राप्त कऽ सकैत अछि, पर संविधानक मूल अधिकार एहि सत्ता पर सीमा लगबैत अछि। बहुमत शासन आ अधिकार-सुरक्षा दुनू आवश्यक।

47.2 प्रतिनिधित्व

प्रतिनिधित्व केवल वोट गिनब नहि। प्रश्न अछि—निर्णय-स्थलपर कोन समुदाय उपस्थित? कोन अनुभव लगातार अनुपस्थित? संख्या, भौगोलिक क्षेत्र, स्त्री, वंचित समुदाय, भाषिक समूह—सभक प्रतिनिधित्वक रूप अलग भऽ सकैत अछि। लोकतन्त्रक गुणवत्ता एहि बातसँ सेहो मापल जाए जे सत्ता सामाजिक विविधताकेँ कतेक सुनैत अछि।

47.3 संस्था, नियम आ असहमति

स्वतंत्र न्यायपालिका, विधायिका, स्वतंत्र पत्रकारिता, निर्वाचन प्रक्रिया, विश्वविद्यालय, नागरिक समाज आ सूचना-पहुँच लोकतन्त्रक संरचनात्मक आधार छथि। नेता लोकप्रिय होइतहुँ संस्थासँ ऊपर नहि। व्यक्तिगत सद्भावना संस्थागत नियन्त्रणक विकल्प नहि।

47.4 प्रतिपक्षक वैधता

लोकतन्त्रक एक कठिन सद्गुण अछि विरोधीकेँ शत्रु नहि, वैध प्रतिपक्ष मानब। मतभेदक अर्थ राष्ट्रद्रोह, अधर्म वा नैतिक हीनता मानि लेलासँ सार्वजनिक तर्क समाप्त होइत अछि। समानान्तर दर्शन लोकतन्त्रकेँ निरन्तर शास्त्रार्थक सार्वजनिक व्यवस्था मानैत अछि—दाबी, प्रतिदाबी, प्रमाण, आलोचना आ संशोधन।

47.5 सामाजिक लोकतन्त्र

राजनीतिक समान मताधिकार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, मुदा समाजमे जन्मगत अपमान, आर्थिक पराधीनता वा लैंगिक हिंसा व्यापक रहला पर नागरिक समानता अधूरी रहैत अछि। एहि कारण सामाजिक लोकतन्त्र राजनीतिक लोकतन्त्रक आधार अछि।

47.6 सूचना आ लोकतन्त्र

भ्रामक सूचना, प्रचार, कृत्रिम सामग्री आ एल्गोरिद्मिक ध्रुवीकरण लोकतान्त्रिक निर्णयकेँ प्रभावित करैत अछि। समाधान सेंसरशिप मात्र नहि; स्रोत-जाँच, मीडिया-साक्षरता, पारदर्शिता, स्वतंत्र तथ्य-परीक्षण आ नागरिक विवेक आवश्यक अछि।

पूर्वपक्ष: कुशल शासन लेल मजबूत, कम-नियंत्रित सत्ता बेहतर नहि?

उत्तरपक्ष: तात्कालिक गति दीर्घकालीन वैधता, अधिकार-सुरक्षा आ त्रुटि-संशोधनक स्थान नहि लऽ सकैत अछि। लोकतन्त्र धीमा भऽ सकैत अछि, मुदा ओकर आत्मसुधारक क्षमता संस्थागत आलोचना पर निर्भर अछि।

47.12 चुनाव आ निर्णयक समय

चुनाव समय-समय पर शासनक अनुमति नवीकृत करैत अछि, मुदा बीचक अवधि मे निर्णय निरन्तर होइत अछि। नागरिकक भूमिका पाँच वर्षमे एक मत धरि सीमित हो तखन उत्तरदायित्व कमजोर पड़ैत अछि।

सुनवाई, सूचना-अधिकार, स्थानीय सभा, समिति आ शांतिपूर्ण विरोध निरन्तर लोकतन्त्रक साधन छथि। सभ विषय जनमत-संग्रह योग्य नहि; जटिल निर्णय विशेषज्ञता आ प्रतिनिधिक समय माँगैत अछि।

भागीदारीक अधिकता थकान आ संगठित अल्पसमूहक प्रभुत्व दऽ सकैत अछि। प्रक्रिया विषयानुकूल, सुलभ आ प्रतिनिधि हो।

47.13 विपक्षक नैतिक स्थान

विपक्ष शासनक शत्रु नहि; त्रुटि उजागर, विकल्प प्रस्तुत आ सत्ता-परिवर्तन सम्भव बनबैत अछि। स्थायी विपक्षविहीन लोकतन्त्र चुनाव रहितो प्रभुत्व बनि सकैत अछि।

विपक्षक कर्तव्य केवल बाधा नहि। तथ्यगत आलोचना, सम्भव विकल्प आ संवैधानिक सीमा मानय। राष्ट्रीय हितक नामपर मौन आ विरोधक नामपर हर संस्था नष्ट—दुनू अतिवाद।

सत्ता आ विपक्ष दूनूक वित्त, निर्णय आ आन्तरिक लोकतन्त्र सार्वजनिक समीक्षा योग्य हो।

47.14 गलत सूचना आ लोकतान्त्रिक इच्छा

मत स्वतंत्र तखन कहल जाए जखन नागरिककेँ विश्वसनीय सूचना आ भिन्न विकल्प भेटय। व्यवस्थित झूठ, नकली माध्यम वा स्रोत-छिपाव चुनावक इच्छा विकृत करैत अछि।

राज्य सत्यक एकमात्र निर्णायक बने तँ सेंसरशिपक जोखिम। स्वतंत्र तथ्य-जाँच, माध्यम-पारदर्शिता, स्रोत-चिह्न आ त्वरित प्रत्युत्तर बेहतर साधन भऽ सकैत। स्पष्ट हिंसक छलपर कानून सीमित, कारण-सहित आ अपीलयोग्य हो।

माध्यम-साक्षरता दीर्घकालीन उपाय, मुदा मंचक रचनात्मक जिम्मेदारी सेहो अछि। उपयोगकर्तापर पूरा दोष डालल नहि जाए।

47.15 पूर्वपक्ष: विशेषज्ञ शासन लोकतन्त्रसँ श्रेष्ठ

जटिल नीति वैज्ञानिक आ आर्थिक ज्ञान माँगैत अछि; सामान्य मतदाता सभ विवरण नहि जानैत। तेँ विशेषज्ञकेँ निर्णय देबाक प्रस्ताव आकर्षक लगैत अछि।

विशेषज्ञ साधन-परिणामपर श्रेष्ठ ज्ञान दे सकैत, मुदा लक्ष्य, जोखिम-वितरण आ न्याय मूल्य-दाबी छथि। विशेषज्ञ सेहो हित, संस्था आ अनिश्चिततासँ प्रभावित। नागरिक अनुभव लागूकरणक आवश्यक ज्ञान दैत अछि।

उचित व्यवस्था विशेषज्ञ साक्ष्य, निर्वाचित उत्तरदायित्व आ सार्वजनिक विचार जोड़ैत अछि। ज्ञान लोकतन्त्रकेँ सूचित करय, प्रतिस्थापित नहि।

47.7 प्रतिनिधित्वक अनेक रूप

प्रतिनिधि क्षेत्रक लोकक समान देखाइत छथि, ओकर हित आगे बढ़बैत छथि, वा सार्वजनिक विचार-विमर्शमे उत्तरदायी छथि—प्रतिनिधित्वक ई अलग अर्थ छथि। केवल चुनाव जीतब सभ अर्थ पूरा नहि करैत।

वर्णनात्मक प्रतिनिधित्व ऐतिहासिक बहिष्कार घटा सकैत अछि, मुदा समान पहचान समान नीति सुनिश्चित नहि। उत्तरदायित्व लेल जानकारी, प्रश्न, चुनाव आ संस्थागत समीक्षा आवश्यक।

47.8 बहुमत आ संवैधानिक सीमा

बहुमत निर्णयक व्यावहारिक नियम अछि, सत्य वा नैतिक अचूकताक प्रमाण नहि। मूल अधिकार बहुमतक क्षणिक इच्छासँ सुरक्षित रहैत अछि, कारण अल्पमत सेहो समान नागरिक छथि।

न्यायिक वा संवैधानिक सीमा स्वयं लोकतन्त्र-विरोधी नहि, मुदा अनिर्वाचित संस्थाक उत्तरदायित्व सेहो आवश्यक। अधिकार-सुरक्षा आ जन-भागीदारीक संतुलन पारदर्शी कारणपर टिकत।

47.9 विचारशील लोकतन्त्र

मत देब आवश्यक, मुदा लोकतन्त्रक पूर्णता नहि। निर्णयपूर्व कारण, साक्ष्य आ प्रभावित अनुभव सुनल जाए; लोक अपन प्राथमिकता पुनर्विचार करि सकथि। विचार-विमर्शक लक्ष्य कृत्रिम सर्वसम्मति नहि, असहमतिक स्पष्ट आ सम्मानजनक रूप अछि।

सभक बोलबाक औपचारिक अवसर पर्याप्त नहि जँ समय, भाषा वा सामाजिक भय आवाज रोकैत अछि। सुविधा, अनुवाद, सुरक्षित मंच आ एजेंडा-निर्माणमे सहभागिता चाही।

47.10 दल, धन आ राजनीतिक समानता

राजनीतिक दल हित जोड़ैत आ शासन सम्भव बनबैत अछि, मुदा आन्तरिक अलोकतन्त्र नागरिक विकल्प सीमित करि सकैत अछि। अत्यधिक धन प्रचार, पहुँच आ उम्मीदवार चयनपर असमान प्रभाव दैत अछि।

अभिव्यक्तिक अधिकार बनौने रखितो वित्तीय पारदर्शिता, हित-संघर्ष नियम आ सार्वजनिक सूचना आवश्यक। राजनीतिक समानता सभक प्रभाव बिल्कुल समान करब नहि, खरीद योग्य प्रभुत्व रोकब अछि।

47.11 असहमति आ नागरिक अवज्ञा

जखन सामान्य माध्यम अन्याय सुधारमे विफल हो, तखन सार्वजनिक, अहिंसक आ उत्तरदायी कानून-भंग नागरिक अवज्ञा रूप ले सकैत अछि। ओकर औचित्य मुद्दाक गम्भीरता, साधनक अनुपात आ सार्वजनिक कारणपर निर्भर।

प्रत्येक निजी असहमति नागरिक अवज्ञा नहि। क्रिया दोसरक मूल अधिकार नष्ट नहि करय, संवादक द्वार खुलल रखय, आ परिणामक जिम्मेदारी ग्रहण करय।

अध्याय-निष्कर्ष

लोकतन्त्र मतदान, अधिकार, संस्था, प्रतिनिधित्व, सामाजिक सम्मान आ वैध असहमतिक संयुक्त व्यवस्था अछि। शत्रु बनायब लोकतन्त्रक सहज रोग; प्रतिपक्षकेँ वैध मानब ओकर औषधि।

अध्याय-ग्रन्थसूची

Alexis de Tocqueville — Democracy in America.

John Stuart Mill — Considerations on Representative Government.

B. R. Ambedkar — संविधान सभा सम्बन्धी भाषण आ लेख.

John Rawls — Political Liberalism.

Amartya Sen — The Idea of Justice.

अध्याय 48 – गांधी

गांधीक दर्शनमे सत्य, अहिंसा, सत्याग्रह, स्वराज, आत्मसंयम आ साधन-साध्यक सम्बन्ध प्रमुख अछि। हुनक अध्ययन पूजा वा खण्डनक सरल द्वैतमे नहि, आलोचनात्मक रूपमे होबाक चाही। गांधी Heritage Portal पर *Hind Swaraj*, *Satyagraha in South Africa* आ *Constructive Programme* जकाँ मूल ग्रन्थ संरक्षित छथि; गांधी-चिन्तनकेँ एहि पाठसभक आधारपर पढ़ब अधिक उचित अछि।

48.1 सत्य

गांधी लेल सत्य केवल तथ्यात्मक शुद्धता नहि, नैतिक साधना सेहो अछि। व्यक्ति सत्यक पूर्ण स्वामी नहि; ओ सत्यक खोजी अछि। एहि कारण आत्मसमीक्षा आ प्रयोगक भाषा हुनक लेखनमे महत्त्वपूर्ण बनैत अछि।

समानान्तर दर्शन एतयसँ ज्ञानात्मक विनम्रताक पाठ लैत अछि, मुदा सार्वजनिक तथ्यक प्रश्नमे प्रमाणक सामान्य कसौटी यथावत् राखैत अछि।

48.2 अहिंसा

अहिंसा निष्क्रियता नहि। अन्याय सहैत चुप रहब अहिंसाक आदर्श नहि; उद्देश्य हिंसा बिना अन्यायकेँ चुनौती देब। मुदा अहिंसाक नैतिक उच्चता तखन कठिन प्रश्न उठबैत अछि जखन तात्कालिक जीवन-रक्षा, राज्यीय दमन वा समुदायगत हिंसा उपस्थित हो। तेँ अहिंसा पर ऐतिहासिक परिणाम आ नैतिक सीमा दुनूक चर्चा आवश्यक अछि।

48.3 सत्याग्रह

सत्याग्रह प्रतिपक्षकेँ नष्ट करबाक बजाय ओकर विवेककेँ सम्बोधित करबाक राजनीतिक पद्धति अछि। आत्मबलिदान, अनुशासन, सार्वजनिकता आ साधनक नैतिकता एहि पद्धतिक आधार। हिंसक विजयक विपरीत, सत्याग्रह विरोधीकेँ भविष्यक सहनागरिक मानि चलैत अछि।

48.4 स्वराज

Hind Swaraj मे स्वराज केवल विदेशी शासनक अन्त नहि; आत्मशासन, सभ्यता-समीक्षा आ इच्छाक अनुशासनक प्रश्न सेहो अछि। गांधी आधुनिक औद्योगिक सभ्यताक गति, उपभोग, केन्द्रीकरण आ मशीन-

निर्भर जीवनपर आलोचनात्मक दृष्टि रखैत छथि। मुदा आधुनिक चिकित्सा, तकनीक, औद्योगिकीकरण आ ग्राम-आदर्श सम्बन्धी हुनक किछु निष्कर्ष आज कठोर पुनर्परीक्षण माँगैत अछि।

48.5 साधन आ साध्य

गांधीक महत्त्वपूर्ण आग्रह अछि जे अन्यायी साधन न्यायपूर्ण साध्यकेँ दूषित करैत अछि। राजनीतिक नैतिकतामे ई सिद्धान्त विशेष महत्त्वपूर्ण: सत्यक नामपर झूठ, स्वतंत्रताक नामपर आतंक, समानताक नामपर अपमान—साध्यक भाषा साधनक अन्यायकेँ स्वतः पवित्र नहि करैत।

48.6 जाति आ आलोचना

गांधीक जाति-विषयक विचार समयक संग बदलल, मुदा एहि विषयमे आम्बेडकरक आलोचना बिना अध्ययन अधूरा रहत। अस्पृश्यताक विरोध पर्याप्त नहि जँ जन्मगत जाति-संरचना स्वयं प्रश्नसँ बाहर रहय। समानान्तर दर्शन गांधी आ आम्बेडकरकेँ परस्पर विरोधी प्रतिमासभक रूपमे नहि, कठोर दार्शनिक संवादक रूपमे पढ़ैत अछि।

पूर्वपक्ष: गांधी नैतिक आदर्शवादी छथि, आधुनिक संरचनात्मक अन्याय लेल अपर्याप्त।

उत्तरपक्ष: आलोचना उचित स्थानपर शक्तिशाली अछि, विशेषतः जाति, औद्योगिकीकरण आ संस्थागत प्रश्नमे; मुदा साधन-साध्य, अहिंसक प्रतिरोध, आत्मसंयम आ राजनीतिक नैतिकताक हुनक प्रश्न एखनो महत्त्वपूर्ण।

48.12 सत्याग्रहमे आत्मपीड़ाक सीमा

सत्याग्रही अपन शरीरपर जोखिम लऽ विरोधीक अन्तःकरण जगाबय—ई नैतिक शक्ति रखैत अछि। मुदा आत्मपीड़ा कखनो भावनात्मक दबाव बनि सकैत अछि, विशेषतः जखन अनुयायी नेतृत्वक आदेशसँ जोखिम लैत छथि। स्वैच्छिकता आ जानकारी आवश्यक।

नेता दोसरक बलिदान अपन नैतिक पूँजी बनाबि नहि सकैत। जोखिमक वितरण, कमजोर सहभागीकेँ सुरक्षा, आ अभियान रोकबाक स्पष्ट शर्त हो। आत्मबल वीरता हो, जीवनक अवमूल्यन नहि।

परिणाम न भेटला पर अधिक पीड़ा ही अधिक सत्य—एहन निष्कर्ष अनुचित। साधनक पुनर्मूल्यांकन सत्याग्रहक आत्मसमीक्षाक अंग हो।

48.13 रचनात्मक कार्यक्रम

प्रतिरोध अन्यायपूर्ण संस्था कमजोर करैत, मुदा विकल्प बिना रिक्त स्थान पुरान शक्ति भरि सकैत अछि। शिक्षा, स्वच्छता, स्थानीय उत्पादन, सामुदायिक सहयोग आ अस्पृश्यता-विरोध-जकाँ रचनात्मक काज भविष्यक समाजक क्षमता बनबैत अछि।

स्थानीय आत्मनिर्भरता पूर्ण आर्थिक अलगाव नहि। कोन वस्तु स्थानीय रूपसँ न्यायपूर्ण बनि सकैत, कोन व्यापक सहयोग माँगैत—ई प्रमाणसँ तय हो। रोमानी ग्राम-चित्र श्रम आ जाति-असमानता नहि छिपाबय।

रचनात्मक कार्यक्रमक सफलता भागीदारी, संसाधन, टिकाउपन आ कमजोर समूहक वास्तविक अधिकारसँ मापल जाए; प्रतीकात्मक श्रम पर्याप्त नहि।

48.14 अन्तःकरण आ लोकतान्त्रिक नियम

व्यक्ति कखनो कानूनकेँ गम्भीर नैतिक कारणसँ मानबा सँ इनकार करि सकैत अछि। अन्तःकरणक सम्मान आवश्यक, मुदा हर निजी विश्वास सार्वजनिक नियमसँ छूट नहि दे सकैत। दोसरक अधिकार आ साझा संस्थाक कार्यक्षमता जाँचल जाए।

जहाँ उचित वैकल्पिक व्यवस्था सम्भव, राज्य छूट दे सकैत अछि। जहाँ छूट कमजोरक सेवा रोकैत वा समानता नष्ट करैत, तखन सार्वजनिक कर्तव्य प्रधान भऽ सकैत अछि।

अन्तःकरण सच्चा अछि की नहि राज्य पूर्णतः नहि जानि सकैत; तेँ सामान्य, पारदर्शी कसौटी चाही। लोकप्रिय विश्वासक लेल छूट आ अल्पमतक लेल दण्ड अन्यायपूर्ण।

48.15 पूर्वपक्ष: अहिंसा शक्तिशालीक सामने निष्प्रभावी

आपत्ति अछि जे निर्दयी सत्ता नैतिक अपील नहि सुनैत; अहिंसा पीड़ितकेँ निष्क्रिय रखैत अछि। ऐतिहासिक परिस्थिति भिन्न अछि, तेँ सफलता सम्बन्धी सार्वभौम दावा अनुचित।

अहिंसक संघर्ष केवल अपील नहि—असहयोग, आर्थिक लागत, वैधताक संकट आ व्यापक संगठन उत्पन्न करि सकैत अछि। ओकर शक्ति अनुशासन, संख्या, लक्ष्य आ संस्थागत दरारपर निर्भर।

तथापि जोखिम पीड़ित समुदाय तय करय; बाहरी दर्शक अहिंसाक नैतिक शुद्धता थोपि नहि सकैत। साधन चुनबाक चर्चा परिणाम, गरिमा आ नागरिकक सुरक्षा सँ हो।

48.7 सत्य आ राजनीतिक आचरण

गांधीक सत्य स्थिर दाबी मात्र नहि, जीवनभरि परीक्षणक अनुशासन अछि। अपन समझ सीमित मानि विरोधीकेँ पूर्ण दानव नहि बनायब अहिंसाक ज्ञानमीमांसात्मक आधार बनैत अछि। साधन सत्यक खोजकेँ भ्रष्ट वा सुदृढ़ करि सकैत अछि।

मुदा निजी अन्तःकरण सार्वजनिक प्रमाणक स्थान नहि लय। नेता अपन ‘सत्य’ नामपर दोसरपर त्याग थोपि नहि सकैत। आत्मपरीक्षण संग आलोचना, प्रभावित व्यक्तिक आवाज आ परिणामक समीक्षा आवश्यक।

48.8 अहिंसा: निष्क्रियता नहि

अहिंसा अन्याय सहब नहि; संगठन, असहयोग, बहिष्कार, सत्याग्रह आ आत्मबलक सक्रिय राजनीति अछि। लक्ष्य विरोधीकेँ शारीरिक रूपसँ नष्ट करब नहि, अन्यायपूर्ण सम्बन्ध बदलि सत्यक प्रति खुलापन उत्पन्न करब।

अहिंसक क्रियामे सेहो दबाव अछि, मुदा ओकर सीमा जीवन, गरिमा आ संवादक रक्षा सँ तय होइत। कमजोरक पीड़ा रोमानी बना कऽ बलिदान माँगब अनुचित। सुरक्षा आ प्रभावशीलता ठोस प्रसंगमे जाँचल जाए।

48.9 साधन-साध्य सम्बन्ध

अन्यायपूर्ण साधनसँ न्यायपूर्ण समाज बनेत—एहि धारणापर गांधी प्रश्न करैत छथि। साधन बीज जकाँ भविष्यक संस्था आ चरित्र बनबैत अछि। छल, अपमान आ केंद्रीकृत हिंसा जीतक बादो अपन संरचना छोड़ि सकैत अछि।

तथापि सभ कठिन साधन समान रूपसँ अशुद्ध नहि। कानून, दण्ड वा आर्थिक दबावक औचित्य हानि, अनुपात, प्रक्रिया आ विकल्पसँ जाँचल जाए। साधन-साध्य एकता नैतिक परीक्षण अछि, सरल निषेध नहि।

48.10 ग्राम-स्वराज आ सत्ता-विकेन्द्रण

स्थानीय स्वशासन निर्णयकेँ जीवनक निकट लबैत, सहभागिता आ उत्तरदायित्व बढ़ा सकैत अछि। मुदा गाँव स्वतः समतामूलक नहि; जाति, लिंग आ सम्पत्तिक स्थानीय सत्ता कमजोरकेँ अधिक निकटसँ दबा सकैत अछि।

विकेन्द्रण संग मूल अधिकार, बाहरी अपील, वित्तीय पारदर्शिता आ हाशियाक प्रतिनिधित्व चाही। स्थानीय ज्ञान महत्त्वपूर्ण, मुदा आलोचनासँ मुक्त नहि।

48.11 न्यासिता आ आर्थिक न्याय

न्यासिताक विचार धनवानकेँ सम्पत्तिक निरपेक्ष मालिक नहि, सामाजिक दायित्ववला संरक्षक मानैत अछि। ई नैतिक संयम आ स्वैच्छिक उत्तरदायित्वपर बल दैत अछि। आलोचना ई जे दयालु मालिकपर निर्भर व्यवस्था श्रमिकक अधिकार आ संरचनात्मक पुनर्वितरणक स्थान नहि लऽ सकैत।

समानान्तर दृष्टि नैतिक आत्मसंयमकेँ कानून, कर, श्रम-अधिकार आ लोकतान्त्रिक निर्णयसँ जोड़ैत अछि। सदिच्छा उपयोगी, न्यायिक अधिकारक विकल्प नहि।

अध्याय-निष्कर्ष

गांधीक सर्वोत्तम अध्ययन श्रद्धा आ आलोचनाकेँ एक संग राखैत अछि। महान व्यक्तिक सम्मानक सर्वोत्तम रूप पूजा नहि, आलोचनात्मक अध्ययन अछि।

अध्याय-ग्रन्थसूची

M. K. Gandhi — Hind Swaraj.

M. K. Gandhi — Satyagraha in South Africa.

M. K. Gandhi — Constructive Programme.

M. K. Gandhi — The Story of My Experiments with Truth.

B. R. Ambedkar — Annihilation of Caste.

अध्याय 49 – आम्बेडकर

आम्बेडकरक दर्शनक केन्द्रमे सामाजिक लोकतन्त्र, जाति-विनाश, संवैधानिकता, प्रतिनिधित्व, स्वतंत्रता, समानता आ बन्धुत्व अछि। हुनक लेखन सामाजिक अपमानकेँ केवल नैतिक दुर्गुण नहि, संस्थागत समस्या मानैत अछि।

49.1 जाति: श्रम-विभाजन नहि, श्रमिक-विभाजन

Annihilation of Caste मे आम्बेडकर जातिक आलोचना केवल आर्थिक पिछड़ापनक आधारपर नहि करैत छथि। जाति जन्मगत श्रेणी, अन्तर्विवाह, सामाजिक दूरी आ दर्जाक संरचना अछि। एहि कारण अवसरक औपचारिक समानता पर्याप्त नहि जाबत सामाजिक संस्था जन्मक आधारपर व्यक्तिक जीवन-पथ निर्धारित करैत रहय।

49.2 सामाजिक सुधार आ राजनीतिक सुधार

आम्बेडकरक महत्त्वपूर्ण आग्रह अछि जे राजनीतिक स्वतंत्रता सामाजिक समानताक स्थान नहि लऽ सकैत अछि। राजनीतिक लोकतन्त्र टिकबाक लेल सामाजिक लोकतन्त्र आवश्यक। भारतीय सार्वजनिक जीवनक लेल ई प्रश्न आजो मूल अछि—मताधिकार समान होइतहुँ यदि सामाजिक गरिमा असमान अछि तँ लोकतन्त्र अधूरा।

49.3 स्वतंत्रता, समानता, बन्धुत्व

आम्बेडकर एहि तीनू सिद्धान्तकेँ अलग-अलग वस्तु नहि, परस्पर निर्भर त्रयी मानैत छथि। समानता बिना स्वतंत्रता शक्तिशालीक विशेषाधिकार बनि सकैत अछि; स्वतंत्रता बिना समानता नियन्त्रण; बन्धुत्व बिना दुनूकेँ सामाजिक जीवनमे टिकेनाइ कठिन। हुनक सार्वजनिक वक्तव्य आ लेखन एहि त्रयीकेँ लोकतान्त्रिक जीवनक आधार मानैत अछि। citeturn707669search25turn707669search28

49.4 संवैधानिकता

संविधान केवल विधिक दस्तावेज नहि; सत्ता पर नियम, अधिकारक सुरक्षा आ नागरिक समानताक ढाँचा अछि। आम्बेडकर संवैधानिक पद्धतिक महत्त्व पर बल दैत छथि, संगहि चेतावनी दैत छथि जे राजनीतिक लोकतन्त्र सामाजिक-आर्थिक असमानताक गम्भीर विरोधाभासमे टिकि नहि सकैत।

49.5 प्रतिनिधित्व

जे समूह ऐतिहासिक रूपसँ निर्णय-स्थलसँ बाहर रहल, ओकर प्रतिनिधित्व केवल प्रतीकात्मक उपस्थितिक प्रश्न नहि। प्रतिनिधित्व ज्ञानक प्रश्न सेहो अछि—कोन अनुभव नीति-निर्माणमे पहुँचैत अछि? समानान्तर दर्शन एतयसँ “न्याय तय करबाक मेजपर के बैसल अछि?” प्रश्न ग्रहण करैत अछि।

49.6 धर्म आ नैतिक समुदाय

आम्बेडकर धर्मकेँ केवल निजी विश्वास नहि, सामाजिक नैतिकतासँ जोड़ि पढ़ैत छथि। जीवनक अन्तिम चरणमे बौद्ध धर्मक स्वीकृति सामाजिक गरिमा, नैतिक समुदाय आ स्वतंत्रताक प्रश्नसँ जुड़ल छल। एहि विषयकेँ राजनीतिक रणनीति मात्र मानब अपर्याप्त अछि।

49.7 गांधी–आम्बेडकर संवाद

दुनू अन्याय विरोधी, मुदा सामाजिक संरचना आ परिवर्तनक पद्धति पर गम्भीर मतभेद रखैत छथि। गांधी आत्मपरिवर्तन, नैतिक अपील आ समुदाय-सुधार पर जोर दैत छथि; आम्बेडकर विधिक अधिकार, प्रतिनिधित्व, संरचनात्मक परिवर्तन आ जाति-विनाशक स्पष्ट कार्यक्रम पर। समानान्तर दर्शन दुनूकेँ पढ़ैत अछि, दुनूसँ प्रश्न करैत अछि, आ पीड़ितक गरिमाकेँ अन्तिम नैतिक कसौटी मानैत अछि।

पूर्वपक्ष: संवैधानिक अधिकार सामाजिक व्यवहार स्वतः बदलि नहि सकैत।

उत्तरपक्ष: सही; कानून पर्याप्त नहि। मुदा कानून, प्रतिनिधित्व आ संस्थागत अधिकार बिना सामाजिक नैतिक परिवर्तन कमजोर रहि सकैत अछि। न्याय लेल विधि आ सामाजिक संस्कार दुनू आवश्यक।

49.13 जाति-उन्मूलन आ सुधारक सीमा

किछु सुधार भेदभावक कठोरता घटा सकैत, मुदा जातिगत समूह-सीमा, अन्तर्विवाह आ दर्जा बनल रहला पर मूल संरचना जीवित रहैत अछि। उन्मूलन केवल हृदय-परिवर्तन नहि, सामाजिक पुनर्गठनक प्रश्न अछि।

कानून, शिक्षा, आर्थिक अवसर आ अन्तरसमूह सम्बन्ध संयुक्त हो। प्रतीकात्मक सहभोज उपयोगी, मुदा सम्पत्ति, प्रतिनिधित्व आ विवाहक वास्तविक बाधा नहि बदलय तँ असर सीमित।

परिवर्तनक नेतृत्व पीड़ित समुदाय सँ आए; सदिच्छावला बाहरी सहयोगी अपन प्रभुत्व पुनः स्थापित नहि करथि।

49.14 बौद्ध धर्मक नैतिक पुनर्पाठ

आम्बेडकरक बौद्ध धर्मग्रहण व्यक्तिगत आध्यात्मिक चयन संग सामाजिक समानता आ नूतन समुदायक परियोजना रूपमे पढ़ल जाए। ओकर व्याख्या प्राचीन बौद्ध मतक केवल पुनरावृत्ति नहि, आधुनिक नैतिक-राजनीतिक पुनर्पाठ अछि।

ऐतिहासिक बुद्धक मत, बादक परम्परा आ आधुनिक नवयानक प्रतिपादन अलग स्रोत-स्तर छथि। एककेँ दोसरपर आरोपित नहि करब। पुनर्पाठक वैधता ओकर घोषित आधुनिक उद्देश्य संग जाँचल जाए।

धर्म एतय नियति स्वीकारबाक साधन नहि, गरिमा आ बन्धुत्वक सार्वजनिक अनुशासन बनबाक दावा करैत अछि। दाबी व्यवहारमे समानता उत्पन्न करैत अछि की नहि से समीक्षा योग्य।

49.15 नायकपूजा आ लोकतन्त्र

मुक्ति-आन्दोलन प्रभावशाली नेतृत्व माँगि सकैत, मुदा नेता केँ आलोचनासँ ऊपर राखला पर संस्था कमजोर होइत अछि। विचारक सम्मान हुनक ग्रन्थ पढ़ि तर्क जाँचबामे अछि, उद्धरणकेँ अन्तिम आदेश बनबामे नहि।

नायकपूजा अनुयायीकेँ जिम्मेदारीसँ मुक्त करैत आ उत्तराधिकारी संघर्ष उत्पन्न करैत अछि। संगठन नियम, चुनाव, सामूहिक नेतृत्व आ असहमतिक सुरक्षा बनाबय।

आलोचना विरोधीक हथियार बनि सकैत अछि—एहि भय सँ आलोचना रोकल नहि जाए। स्रोत-सम्मत, प्रसंगयुक्त आ समान कसौटीवला आलोचना परम्पराकेँ जीवित रखैत अछि।

49.16 पूर्वपक्ष: संविधान सामाजिक भावना बदलि नहि सकैत

कानून व्यवहार बाध्य करि सकैत, मनक पूर्वाग्रह नहि; तेँ सामाजिक लोकतन्त्रक लेल संविधान अपर्याप्त कहल जाइत अछि। ई आपत्ति आंशिक सत्य अछि।

मुदा व्यवहारक नियम अवसर, सम्पर्क आ अपेक्षा बदलैत अछि; समय संग मानक भीतर बसि सकैत। कानून पीड़ितकेँ रक्षा आ दाबीकरबाक भाषा दैत अछि। भावना बदलबाक प्रतीक्षा में अधिकार स्थगित नहि कएल जाए।

संवैधानिक सुधार शिक्षा, सार्वजनिक उदाहरण आ आर्थिक परिवर्तन संग हो। केवल दण्ड भय उत्पन्न करि सकैत; केवल उपदेश सत्ता नहि बदलैत।

49.8 सामाजिक लोकतन्त्र

राजनीतिक लोकतन्त्र मतदान आ प्रतिनिधित्व दैत अछि; सामाजिक लोकतन्त्र प्रतिदिनक जीवनमे स्वतंत्रता, समानता आ बन्धुत्व माँगैत अछि। जँ समाज उच्च-नीच सम्बन्धमे संगठित अछि, तँ समान मताधिकारक प्रभाव सीमित रहि सकैत अछि।

तीन मूल्य अलग नहि। स्वतंत्रता बिना समानता विशेषाधिकार, समानता बिना स्वतंत्रता नियन्त्रण, आ बन्धुत्व बिना दुनू अस्थिर। संस्था एहि संतुलनकेँ अधिकार, शिक्षा आ सार्वजनिक व्यवहारमे मूर्त करय।

49.9 संवैधानिक नैतिकता

संविधानक पाठ मात्र पर्याप्त नहि; अधिकारी आ नागरिककेँ प्रक्रिया, असहमति, अल्पमत-अधिकार आ सत्ता-सीमा मानबाक नैतिकता चाही। संवैधानिक नैतिकता लोकप्रिय आवेश ऊपर नियमक सम्मान अछि।

मुदा पाठक नामपर जीवित अन्याय बचाओल नहि जाए। संविधानक मूल्य, अधिकार आ संशोधनक वैध मार्ग भीतर आलोचना सम्भव अछि। व्यक्तिपूजा संस्थागत उत्तरदायित्व कमजोर करैत अछि।

49.10 शिक्षित हो, संगठित हो, संघर्ष करू

शिक्षा जानकारी मात्र नहि, अपमानक संरचना पहचानि कारण देबाक शक्ति अछि। संगठन अलग पीड़ाकेँ सार्वजनिक माँग बनबैत अछि। संघर्ष अधिकार प्राप्ति लेल अनुशासित सामूहिक क्रिया अछि, अन्ध द्वेष नहि।

शिक्षित अभिजन जँ समुदायसँ कटि जाए तँ ज्ञान प्रतिनिधित्व नहि देत। संगठन भीतर लोकतन्त्र, स्त्रीक आवाज आ संसाधनक पारदर्शिता आवश्यक। साधन मुक्तिक मूल्यक अनुरूप हो।

49.11 धर्म, नैतिकता आ परिवर्तन

धर्मक मूल्य जन्माधारित असमानता पवित्र करबामे नहि, मनुष्यक नैतिक समुदाय बनबामे जाँचल जाए। जे धार्मिक व्यवस्था स्वतंत्रता, समानता आ करुणाक विरोध करैत अछि, ओकर आलोचना आवश्यक।

धर्मपरिवर्तन केवल निजी सिद्धान्त बदलब नहि, सामाजिक दर्जा आ नूतन समुदायक चयन भऽ सकैत अछि। तथापि परिवर्तनक अनुभव विविध अछि; ओकर उद्देश्य बाहरी अनुमानसँ नहि, स्रोत आ सहभागी साक्ष्यसँ बुझल जाए।

49.12 प्रतिनिधित्व आ स्वतंत्र आवाज

ऐतिहासिक रूपसँ बहिष्कृत समुदाय लेल प्रतिनिधित्व नीति-निर्माणक ज्ञानात्मक शर्त अछि। दोसर कियो सदिच्छासँ बोलितो अनुभवक पूर्ण स्थान नहि लऽ सकैत। स्वतंत्र संगठन शक्ति-सन्तुलन बदलैत अछि।

एक प्रतिनिधि सम्पूर्ण समुदाय नहि। भीतरक मतभेद आ उत्तरदायित्व बनल रहय। वास्तविक प्रतिनिधित्व चयन, संसाधन, बोलबाक स्वतंत्रता आ समुदाय दिस उत्तरदायित्वक संयुक्त व्यवस्था अछि।

अध्याय-निष्कर्ष

आम्बेडकरक दर्शन लोकतन्त्रकेँ मतपेटीसँ उठाकऽ सामाजिक सम्बन्ध, गरिमा, प्रतिनिधित्व आ बन्धुत्व धरि लऽ जाइत अछि। “जन्म नैतिक योग्यता नहि”—समानान्तर दर्शनक एहि सूत्रक भारतीय आधुनिक दार्शनिक आधार आम्बेडकरक जाति-आलोचनासँ गहराइ प्राप्त करैत अछि।

अध्याय-ग्रन्थसूची

B. R. Ambedkar — Annihilation of Caste.

B. R. Ambedkar — States and Minorities.

B. R. Ambedkar — The Buddha and His Dhamma.

B. R. Ambedkar — Dr. Babasaheb Ambedkar: Writings and Speeches.

Eleanor Zelliot — From Untouchable to Dalit.

षष्ठ खण्ड – धर्म-दर्शन

अध्याय 50 – धर्म की अछि?

धर्मकेँ एक परिभाषामे बाँधब कठिन अछि। विश्वास? अनुष्ठान? नैतिकता? समुदाय? मुक्तिक मार्ग? पवित्र अनुभव? जीवन-पद्धति? प्रत्येक परम्परा एहि तत्त्वसभकेँ अलग अनुपातमे रखैत अछि। तेँ धर्म-दर्शनक पहिल काम “धर्म” शब्दक बहुवचनता स्वीकारब अछि।

50.1 परिभाषाक कठिनाई

पाश्चात्य आधुनिक “religion” शब्दक इतिहास आ भारतीय “धर्म”क अर्थक्षेत्र पूर्णतः समान नहि। धर्म कर्तव्य, नैतिक व्यवस्था, जीवन-पथ, गुण, धार्मिक परम्परा वा सामाजिक नियमक अर्थ लऽ सकैत अछि। बौद्ध धम्म, जैन धर्म, वैदिक धर्म, भक्ति-परम्परा आ आधुनिक संस्थागत धर्मक संरचना एक नहि। अनुवाद एतय दार्शनिक निर्णय अछि।

50.2 विश्वास केन्द्रित परिभाषाक सीमा

किछु धर्ममे ईश्वर-विश्वास केंद्रीय, मुदा बौद्ध वा जैन परम्पराकेँ ईश्वर-विश्वासक कसौटीसँ परिभाषित करब असंगत। तेँ धर्म = ईश्वर-विश्वास पर्याप्त परिभाषा नहि।

50.3 अनुष्ठान आ समुदाय

धर्म सामूहिक अनुष्ठान, पर्व, भोजन, शोक, विवाह, तीर्थ, संगीत, कथा आ संस्थासँ व्यक्त होइत अछि। एतय धर्म केवल सिद्धान्त नहि; सामाजिक अभ्यास अछि। मुदा सामाजिक अभ्यास प्राचीन अछि ताहि कारण स्वतः नैतिक नहि। प्रत्येक प्रथा गरिमा आ न्यायक कसौटी पर जाँचल जा सकैत अछि।

50.4 अनुभव

धार्मिक अनुभव व्यक्ति लेल गम्भीर, रूपान्तरणकारी आ अर्थपूर्ण भऽ सकैत अछि। दर्शन ओकर अनुभवात्मक सत्यताकेँ सम्मान दऽ सकैत अछि, मुदा अनुभवसँ सार्वभौम तत्त्वमीमांसक निष्कर्ष स्वतः नहि निकलैत। अलग परम्पराक अनुभव परस्पर भिन्न दाबी करैत हो तँ अतिरिक्त तर्क आवश्यक।

50.5 धर्म आ नैतिकता

धर्म नैतिक प्रेरणा दऽ सकैत अछि—करुणा, सेवा, सत्य, संयम। मुदा “धर्म कहैत अछि” मात्र सार्वजनिक नैतिक औचित्यक अन्तिम उत्तर नहि, विशेषतः बहुल समाजमे। यदि धार्मिक नियम ककरो समान गरिमा नकारैत अछि तँ आलोचनाक अधिकार रहत।

50.6 धर्म आ पहिचान

धार्मिक पहिचान व्यक्ति आ समुदाय लेल भाषा, स्मृति आ सम्बन्धक स्रोत हो सकैत अछि। मुदा व्यक्ति अपन परम्पराक भीतर असहमत, सुधारवादी, धर्म-परिवर्तित वा अधार्मिक हो सकैत अछि। तेँ धार्मिक समुदायक अधिकार व्यक्तिक अन्तःकरणक स्वतंत्रताकेँ समाप्त नहि करय।

50.7 धर्मक तीन स्तर

समानान्तर दर्शन धर्म-विमर्शमे तीन स्तर अलग करबाक प्रस्ताव करैत अछि: व्यक्तिगत आस्था; सामुदायिक धार्मिक जीवन; राज्यक सार्वजनिक विधि। व्यक्तिगत आस्था व्यापक स्वतंत्रता पाबय, सामुदायिक जीवन समान अधिकारक अधीन रहय, राज्य कोनो एक धार्मिक सत्यकेँ नागरिकताक शर्त नहि बनाबय।

पूर्वपक्ष: धर्म पर तर्क लगायब आस्थाक अपमान अछि।

उत्तरपक्ष: आस्थाक स्वतंत्रता सम्माननीय अछि; मुदा जखन धार्मिक दावा सार्वजनिक बाध्यता, शिक्षा, कानून, सम्पत्ति वा दोसर व्यक्तिक अधिकार प्रभावित करैत अछि, तखन सार्वजनिक कारण आवश्यक। प्रश्न अपमान नहि, सहअस्तित्वक शर्त अछि।

समानान्तर दर्शनक संवाद

धर्म न पूर्णतः निजी, न पूर्णतः राज्यीय। एकर नैतिक शक्ति आ दमनकारी सम्भावना दुनू इतिहासमे देखाइत अछि। विवेकपूर्ण बहुलता धर्मक स्वतंत्रता आ मानव-गरिमा दुनू सुरक्षित करबाक प्रयास अछि।

50.13 धर्म, जादू आ विज्ञानक सीमा

धर्म, जादू आ विज्ञानकेँ एक सरल विकासक्रममे ‘निम्नसँ उच्च’ रखब इतिहासक विविधता घटबैत अछि। एकहि समाजमे अनुष्ठानिक अर्थ, तकनीकी ज्ञान आ कारण सम्बन्धी विश्वास सहअस्तित्वमे रहि सकैत अछि।

अनुभवजन्य दाबी—औषधि रोग घटबैत अछि की नहि—वैज्ञानिक परीक्षण माँगैत। जीवनक शोक-अर्थ वा समुदायिक स्मृति प्रयोगशाला प्रश्न नहि। क्षेत्र अलग करब अपमान नहि, उपयुक्त प्रमाण चुनब अछि।

जादुई कारणक नामपर हानि, ठगी वा उपचार-विलम्ब हो तखन आलोचना आवश्यक। धार्मिक स्वतंत्रता दोसरक जीवनपर प्रमाणविहीन अधिकार नहि।

50.14 मिथक आ सत्यक प्रकार

मिथक समुदायक उत्पत्ति, मूल्य आ विश्व-स्थानक कथा दैत अछि। ओकर अर्थ इतिहासक तिथि-सूची नहि हो सकैत। प्रतीकात्मक सत्य मानवीय अनुभव खोलि सकैत अछि, यद्यपि शाब्दिक घटना प्रमाणित नहि।

मिथककेँ पूर्ण झूठ कहब साहित्यिक-धार्मिक कार्य नहि बुझब; ओकरा इतिहास कहब प्रमाण-वर्ग भ्रम। पाठक स्पष्ट करय जे ओ कथाक सांस्कृतिक अर्थ विवेचित करैत अछि वा घटना-दाबी।

मिथक सत्ता सेहो वैध ठहरा सकैत अछि। ककर उत्पत्ति गौरवशाली, ककर सेवा प्राकृतिक—एहन कथाक नैतिक परीक्षा चाही।

50.15 धर्मक अर्थशास्त्र

मन्दिर, मठ, तीर्थ, दान आ उत्सव संसाधन, श्रम आ प्रतिष्ठा वितरण करैत अछि। धार्मिक संस्था केवल विचारक समूह नहि, आर्थिक अभिकर्ता सेहो हो सकैत अछि।

दान स्वैच्छिक करुणा भऽ सकैत, मुदा सामाजिक दबाव वा अपारदर्शी उपयोग शोषण बनि सकैत। लेखा, संपत्ति-प्रबन्ध आ सेवा-वितरणक सार्वजनिक मानक संस्था अनुसार बनाओल जाए।

आर्थिक विश्लेषण आस्था कैँ लाभ-गणना मे घटबैत नहि। ओ केवल देखबैत अछि जे पवित्र उद्देश्य व्यवहारिक संसाधन-सत्ता सँ जुड़ल अछि।

50.16 पूर्वपक्ष: धर्म निजी मामला मात्र अछि

विश्वास अन्तःकरणक विषय अछि; तेँ धर्मकेँ पूर्ण निजी रखबाक प्रस्ताव संघर्ष घटाबय जकाँ लगैत अछि। मुदा पर्व, संस्था, विवाह, शिक्षा आ सेवा सार्वजनिक प्रभाव रखैत अछि।

राज्य अन्तःकरण नियंत्रित नहि करय, मुदा अधिकार प्रभावित करनिहार आचरणपर समान कानून लागू करय। धार्मिक नागरिक सार्वजनिक बहसमे भाग लेथि; बाध्यकारी कारण साझा भाषा मे सेहो प्रस्तुत हो।

निजी–सार्वजनिक सीमा स्थिर नहि, मुदा अस्पष्टता असीम हस्तक्षेपक अनुमति सेहो नहि। स्पष्ट हानि आ अधिकार कसौटी हो।

50.8 धर्मक परिभाषाक कठिनाई

ईश्वर-विश्वासकेँ धर्मक अनिवार्य लक्षण मानलासँ अनीश्वरवादी वा भिन्न केन्द्रवला परम्परा छुटि जाइत। अनुष्ठान, समुदाय, कथा, नैतिकता, मुक्ति, पवित्रता आ जीवन-रूप—धर्मक विभिन्न आयाम छथि। एकटा लक्षण सभ उदाहरण पकड़ि नहि सकैत।

बहुआयामी परिभाषा अस्पष्ट सूची नहि हो; प्रसंग अनुसार बताओल जाए जे कानून, इतिहास वा दर्शनमे कोन आयाम प्रासंगिक अछि। आत्मपहिचान महत्त्वपूर्ण, मुदा संस्था ककर अधिकार प्रभावित करैत अछि से सार्वजनिक जाँच योग्य।

50.9 पवित्र आ सामान्य

समुदाय किछु स्थान, समय, वस्तु वा कथा कैँ विशेष आदर दैत अछि। पवित्रताक अनुभव अर्थ, अनुशासन आ सामूहिक स्मृति बनबैत अछि। एकरा केवल अज्ञान कहब अनुभवक सामाजिक शक्ति नहि बुझब।

मुदा पवित्र दाबी सार्वजनिक आलोचनासँ पूर्ण मुक्त नहि, विशेषतः जखन प्रवेश, भूमि वा नागरिक अधिकार प्रभावित हो। सम्मानक अर्थ प्रश्न निषिद्ध करब नहि; संवादक भाषा अपमानरहित हो।

50.10 अनुष्ठानक दार्शनिक अर्थ

अनुष्ठान विश्वासक बाहरी अभिनय मात्र नहि। दोहराओल क्रिया स्मृति, देह, समय आ समुदायक सम्बन्ध बनबैत अछि। सहभागी एकहि अनुष्ठानकेँ भिन्न अर्थसँ जीबि सकैत छथि।

प्रथाक अस्तित्व ओकर सत्य-दाबी वा नैतिक औचित्य स्वतः सिद्ध नहि। अनुष्ठान ककरा सम्मिलित, ककरा बहिष्कृत, कोन श्रम माँगैत, आ परिवर्तनक अनुमति दैत की नहि—ई प्रश्न समाज-दर्शनक विषय छथि।

50.11 धर्म आ अर्थक संकट

मृत्यु, दुःख, आकस्मिक हानि आ जीवनक उद्देश्यक प्रश्नमे धर्म कथा, समुदाय आ अभ्यास दैत अछि। एहि अस्तित्वगत कार्यकेँ तथ्यगत प्रमाणसँ पूर्ण मापल नहि जा सकैत।

सान्त्वना दाबीकेँ सत्य सिद्ध नहि करैत, मुदा मानवीय मूल्य शून्य सेहो नहि। दर्शन तथ्य, अस्तित्वगत अर्थ आ नैतिक परिणाम अलग करि फेर सम्बन्धित करत। झूठा आश्वासन आ करुणामय साथ बीच भेद आवश्यक।

50.12 धर्मक भीतर आलोचना

धार्मिक परम्परा केवल बाहरी आलोचनासँ नहि बदलैत; भक्त, संत, दार्शनिक आ सामाजिक आन्दोलन भीतरसँ शास्त्र, संस्था आ आचरणक पुनर्व्याख्या करैत छथि। आन्तरिक भाषा परिवर्तनक वैधता बढ़ा सकैत अछि।

मुदा ‘भीतरक मामला’ कहि पीड़ितक अधिकार रोकल नहि जाए। आन्तरिक सुधार आ सार्वभौम गरिमा-दृष्टि संवाद करय। ककर आवाज परम्पराक प्रतिनिधि मानल जाइत अछि से सेहो सत्ता-प्रश्न अछि।

अध्याय-निष्कर्ष

धर्म एक बहुस्तरीय मानवीय घटना अछि—विश्वास, अभ्यास, समुदाय, अनुभव, नैतिकता आ मुक्तिक कल्पना। कोनो एक परिभाषा सभ परम्पराकेँ पूरा नहि समेटैत। आगाँक अध्याय ईश्वर, आस्था, दुःख, कर्म, बहुलता आ धर्म-राज्य सम्बन्धक विशिष्ट प्रश्न खोलत।

अध्याय-ग्रन्थसूची

William James — The Varieties of Religious Experience.

Émile Durkheim — The Elementary Forms of Religious Life.

John Hick — An Interpretation of Religion.

Wilfred Cantwell Smith — The Meaning and End of Religion.

B. R. Ambedkar — The Buddha and His Dhamma.

अध्याय 51 – ईश्वरक प्रश्न

ईश्वरक प्रश्न धर्म-दर्शनक सबसँ पुरान आ सबसँ जीवित प्रश्नसभमे एक अछि। मुदा “ईश्वर अछि की नहि?” एकटा मात्र प्रश्न नहि। पहिने स्पष्ट करब आवश्यक अछि—ईश्वरसँ की अभिप्राय? सृष्टिकर्ता? सर्वज्ञ आ सर्वशक्तिमान नैतिक सत्ता? जगतक निमित्त कारण? ब्रह्म-जकाँ निरुपाधिक परम वास्तविकता? व्यक्तिगत आराध्य? अथवा धार्मिक अनुभवक प्रतीकात्मक केन्द्र? अलग परम्परा “ईश्वर” शब्दक भिन्न अर्थ ग्रहण करैत अछि; तेँ तर्क सेहो अर्थानुसार बदलैत अछि।

51.1 ईश्वर-धारणाक बहुलता

भारतीय दर्शनमे ईश्वर-विषयक मत एकरूप नहि। न्याय-वैशेषिक परम्पराक उत्तरवर्ती आचार्य, विशेषतः उदयन, ईश्वरक अस्तित्वक पक्षमे अनुमानात्मक तर्क विकसित करैत छथि। सांख्यक शास्त्रीय रूप प्रकृति आ पुरुषक तत्त्वद्वारा जगत-व्याख्या करैत अछि आ सृष्टिकर्ता ईश्वरकेँ अनिवार्य नहि मानैत। पूर्वमीमांसा वेदक प्रामाण्यक रक्षा ईश्वर-लेखकक आवश्यकता बिना करबाक प्रयास करैत अछि। बौद्ध दर्शनक प्रमुख धारासभ सृष्टिकर्ता ईश्वरक आवश्यकता स्वीकार नहि करैत अछि। वेदान्तक भीतर सेहो ब्रह्म, ईश्वर, जगत आ जीवक सम्बन्धपर गम्भीर मतभेद अछि।

एहि विविधतासँ पहिल शिक्षा ई भेटैत अछि जे “भारतीय दर्शन ईश्वरवादी अछि” अथवा “भारतीय दर्शन नास्तिक अछि”—दुनू अतिसरलीकरण अछि। सही पद्धति परम्परा-विशिष्ट प्रश्न पूछब अछि।

51.2 कारणसँ ईश्वर धरि

ईश्वरक पक्षमे एक सामान्य तर्क कारणता पर आधारित अछि: जगत परिवर्तनशील, संयोजित अथवा आश्रित अछि; तेँ ओकर कोनो पर्याप्त कारण होयबाक चाही। न्यायीय परम्परामे जगतकेँ कार्य मानि कऽ बुद्धिमान कर्ताक अनुमानक विभिन्न रूप विकसित भेल। पाश्चात्य दर्शनमे ब्रह्माण्डीय तर्कक कई रूप भेटैत अछि—प्रथम कारण, आवश्यक सत्ता, पर्याप्त कारण आदि।

मुदा आपत्ति तुरन्त उठैत अछि: यदि सभ वस्तुक कारण चाही, तँ ईश्वरक कारण की? उत्तरमे ईश्वरवादी प्रायः कहैत छथि जे तर्क “सभ वस्तुक कारण” नहि, बल्कि “जे उत्पन्न, आश्रित अथवा सम्भाव्य अछि ओकर कारण” पर आधारित अछि। एहि उत्तरसँ समस्या समाप्त नहि होइत; प्रश्न रहैत अछि—जगत स्वयं आवश्यक किएक नहि हो सकैत? कारण-श्रृंखला अनन्त किएक नहि? कारणताक सिद्धान्तकेँ सम्पूर्ण ब्रह्माण्डपर लागू करब उचित अछि की नहि?

समानान्तर दर्शन एहि तर्ककेँ न उपहाससँ हटबैत अछि, न तुरन्त निर्णायक मानैत अछि। तर्कक प्रत्येक कड़ी अलग जाँचल जएबाक चाही।

51.3 व्यवस्था, उद्देश्य आ बुद्धिमत्ता

जगतमे क्रम, गणितीय संरचना, जैविक जटिलता अथवा जीवन-अनुकूल परिस्थिति देखि बुद्धिमान नियोजकक अनुमान कएल जाइत रहल अछि। एहि तर्कक शक्ति एतय अछि जे ओ जगतक बोधगम्यता आ संरचनाकेँ प्रश्न बनबैत अछि। मुदा प्राकृतिक चयन, स्व-संगठन, भौतिक नियम आ विशाल ब्रह्माण्डीय परिमाण जटिलता-विषयक अनेक घटनाक प्राकृतिक व्याख्या दैत अछि।

दार्शनिक प्रश्न तेँ “जटिलता = ईश्वर” जकाँ सरल नहि। प्रश्न अछि—प्राकृतिक व्याख्या उपलब्ध भेला परो अंतिम नियमक अस्तित्व वा बोधगम्यता अतिरिक्त व्याख्या माँगैत अछि की नहि? ईश्वरवादी आ नैसर्गिकवादी एहि बिन्दुपर अलग होइत छथि।

51.4 नैतिक तर्क

किछु विचारक वस्तुगत नैतिक मूल्य वा कर्तव्यकेँ ईश्वरक अस्तित्वसँ जोड़ैत छथि। यदि वास्तवमे किछु कर्म केवल पसन्दक प्रश्न नहि बल्कि वस्तुगत रूपसँ अनुचित अछि, तँ ओकर अंतिम आधार की? ईश्वरवादी उत्तर दऽ सकैत छथि—पूर्ण शुभ दिव्य प्रकृति।

आपत्ति: यदि कोनो कर्म केवल ईश्वर आज्ञा दैत छथि तेँ उचित अछि, तँ नैतिकता मनमाना भऽ सकैत अछि; यदि ईश्वर उचित वस्तुकेँ कारण ओ स्वतन्त्र रूपसँ उचित अछि तेँ आज्ञा दैत छथि, तँ नैतिकताक आधार ईश्वरसँ पृथक बुझाइत अछि। ई प्राचीन द्विविधा धार्मिक नैतिकताक गम्भीर समस्या अछि।

समानान्तर दर्शन एतय मनुष्यक समान गरिमाकेँ सार्वजनिक नैतिक कसौटी मानैत अछि। धार्मिक नैतिकता प्रेरणा दऽ सकैत अछि, मुदा नागरिकक अधिकारक औचित्य केवल सम्प्रदाय-विशिष्ट आज्ञापर निर्भर नहि रहि सकैत अछि।

51.5 धार्मिक अनुभव

प्रार्थना, ध्यान, भक्ति, रहस्यमय एकत्व, पवित्रताक अनुभूति—अनेक व्यक्ति एहि अनुभवकेँ ईश्वरक प्रमाण मानैत छथि। अनुभवकेँ सीधा भ्रम कहि देब अनुचित, कारण अनुभव वास्तविक मानवीय घटना अछि। मुदा अनुभवक व्याख्या विवादित अछि। अलग धर्मक साधक भिन्न परम सत्ता वा सत्यक अनुभूति बतबैत छथि। मनोवैज्ञानिक, सामाजिक आ तन्त्रिका-विज्ञानात्मक व्याख्या सेहो सम्भव अछि।

तेँ अनुभव “व्यक्तिक लेल कारण” आ “सभक लेल सार्वजनिक प्रमाण” बीच भेद माँगैत अछि। जे अनुभव जीवन बदलि दे, से व्यक्ति लेल अत्यन्त शक्तिशाली हो सकैत अछि; मुदा सार्वभौम निष्कर्ष लेल अतिरिक्त तर्क आवश्यक अछि।

51.6 ईश्वरक विरुद्ध तर्क

ईश्वर-विरोधी पक्षक प्रमुख आधारसभमे अशुभक समस्या, दिव्य गुप्तता, धार्मिक असहमति, प्राकृतिक पर्याप्तता आ अवधारणात्मक कठिनाई शामिल अछि। जँ पूर्ण प्रेममय ईश्वर छथि, तँ ईमानदार खोजी किएक गम्भीर अनिश्चिततामे रहैत छथि? जँ ईश्वर सर्वज्ञ छथि, मानव स्वतंत्रता कोना? जँ सर्वशक्तिमान छथि, सर्वशक्तिमत्ताक अर्थ की?

एहि आपत्तिसभक अलग-अलग उत्तर देल गेल अछि; कोनो एक उत्तर सभ परम्परापर लागू नहि। धर्म-दर्शनक जिम्मेवारी एहि विवादकेँ ओकर सबलतम रूपमे प्रस्तुत करब अछि।

पूर्वपक्ष: ईश्वरक प्रश्न विज्ञानसँ समाप्त भऽ गेल

एहि मतक अनुसार प्राकृतिक घटनाक वैज्ञानिक व्याख्या बढ़ला सँ ईश्वरक आवश्यकता समाप्त भऽ जाइत अछि।

उत्तरपक्ष: प्रश्नक स्तर अलग अछि

किछु “रिक्त स्थानक ईश्वर” तर्क विज्ञानक प्रगतिक संग कमजोर पड़ैत अछि। मुदा ईश्वरक दार्शनिक प्रश्न केवल कोन भौतिक प्रक्रिया घटना उत्पन्न करैत अछि, एतबे नहि; अस्तित्व, कारणता, मूल्य, चेतना आ अंतिम व्याख्याक प्रश्न सेहो छुबैत अछि। एहिना, दार्शनिक प्रश्न रहला मात्रसँ ईश्वर सिद्ध सेहो नहि होइत छथि। विज्ञान आ तत्त्वमीमांसा अलग स्तरपर संवाद करैत अछि।

समानान्तर दर्शनक स्थिति

ईश्वरक प्रश्नकेँ न तऽ उपहाससँ समाप्त कएल जा सकैत अछि, न भय सँ। आस्तिक, नास्तिक आ अज्ञेय—तीनू स्थितिक दार्शनिक सम्मान तखन अछि जखन ओ अपन कारण स्पष्ट करय, प्रतिपक्ष सुनय आ अनिश्चितताकेँ ईमानदारीसँ स्वीकार करय।

51.12 ईश्वरक गुणसभक परस्पर संगति

सर्वशक्तिमत्ता, सर्वज्ञता, पूर्ण करुणा, कालातीतता आ व्यक्तिपरक सम्बन्ध—ई गुण अलग-अलग आकर्षक, मुदा संयुक्त रूपमे प्रश्न उठबैत अछि। जँ भविष्य पूर्ण ज्ञात, मानवीय स्वतंत्रता कोना? जँ ईश्वर कालातीत, प्रार्थनाक उत्तर समयमे कोना?

परम्परासभ शक्ति केँ तार्किक सम्भाव्य काज धरि सीमित, ज्ञानकेँ कालातीत बोध वा सम्बन्धकेँ रूपक रूपमे बुझा सकैत अछि। प्रत्येक समाधान मूल अवधारणा बदलैत अछि की स्पष्ट करैत—ई जाँचल जाए।

विरोध देखाबयवला आलोचक गुणक सबल दार्शनिक व्याख्या ग्रहण करय। आस्तिक व्याख्याकार समाधानक लागत स्वीकारय।

51.13 प्रार्थना आ कारण

प्रार्थना निवेदन, कृतज्ञता, ध्यान, सामूहिक स्मृति वा आत्मपरिवर्तन भऽ सकैत अछि। सभ प्रार्थनाक मूल्य बाहरी चमत्कारिक परिणामपर निर्भर नहि।

विशिष्ट रोग वा घटनापर प्रभावक अनुभवजन्य दाबी परीक्षण माँगैत अछि। सफलता याद आ विफलता विसरबाक पक्षपात सम्भव। प्रार्थना उपचारक स्थान नहि लय।

दार्शनिक रूपसँ प्रश्न अछि: अपरिवर्तनशील ईश्वर निवेदनसँ निर्णय बदलैत छथि की प्रार्थना मनुष्यकेँ दैवी इच्छासँ जोड़ैत? भिन्न धर्मशास्त्रीय उत्तर अलग प्रतिज्ञा रखैत अछि।

51.14 नास्तिकताक अनेक रूप

नास्तिकता कखनो ईश्वर-अस्तित्वक नकार, कखनो पर्याप्त प्रमाणक अभाव, कखनो विशिष्ट ईश्वर-अवधारणाक अस्वीकार। सभ नास्तिक समान तत्त्वमीमांसा वा नैतिकता नहि मानैत।

आस्तिकताक आलोचना स्वतः भौतिकवाद सिद्ध नहि करैत। तत्त्वमीमांसात्मक विकल्पक स्वतंत्र तर्क चाही। तहिना धार्मिक संस्थाक दोष ईश्वर-अस्तित्वक सीधा खण्डन नहि, यद्यपि नैतिक विश्वसनीयता प्रभावित करि सकैत।

संवादमे ‘अविश्वासी’ वा ‘अन्धविश्वासी’क लेबल तर्कक स्थान नहि लय। दाबी विशिष्ट कएल जाए।

51.15 पूर्वपक्ष: ईश्वरक प्रश्न निर्णयातीत अछि

कहल जाइत अछि जे ईश्वर अनुभवक पार छथि, अतः समर्थन वा खण्डन दुनू असम्भव; बहस निरर्थक। किछु अवधारणाक लेल ई आपत्ति बलवान, विशेषतः जँ कोनो सम्भावित प्रमाण दाबी बदलि नहि सकैत।

मुदा धार्मिक दाबी जगत, नैतिकता वा अनुभव सम्बन्धी परिणाम रखैत हो तँ आंशिक परीक्षा सम्भव। अवधारणात्मक संगति सेहो अनुभव बिना जाँचल जा सकैत अछि।

अन्तिम निर्णय सीमित रहि सकैत अछि। ‘निर्णायक प्रमाण नहि’ आ ‘सभ मत समान’ एक बात नहि। विश्वासक स्तर कारण अनुसार हो।

51.7 अवधारणा स्पष्ट किए बिना प्रमाण नहि

‘ईश्वर अछि’ दाबी जाँचबाक पहिने ईश्वरक अर्थ स्पष्ट हो: व्यक्तिपरक स्रष्टा, आवश्यक सत्ता, विश्वक आधार, नैतिक विधाता, सर्वव्यापी चेतना, अथवा उपास्य देवता? भिन्न अवधारणापर एकहि तर्क लागू नहि होइत।

कियो कारण-तर्कसँ प्रथम आधार धरि पहुँचि सकैत अछि, मुदा ओहि आधारसँ सर्वज्ञ, करुणामय आ विशिष्ट धार्मिक गुण धरि अतिरिक्त तर्क चाही। निष्कर्षक सीमा मानब प्रमाण-विवेचनक ईमानदारी अछि।

51.8 ब्रह्माण्डीय तर्कक रूप

ब्रह्माण्डीय तर्क परिवर्तन, कारण, सम्भाव्यता वा निर्भर अस्तित्वसँ एहन आधार दिस बढ़ैत अछि जे स्वयं परनिर्भर नहि। सभ रूप एक नहि; ‘सभ वस्तुक कारण अछि’ कहि तुरन्त ‘ईश्वर कारणविहीन’ कहब तर्कक सबल रूप नहि।

मुख्य प्रश्न ई जे निर्भर वस्तुसभक सम्पूर्णता स्वतंत्र व्याख्या माँगैत अछि की नहि, अनन्त श्रृंखला पर्याप्त हो सकैत अछि की नहि, आ आवश्यक सत्ता अवधारणात्मक रूपसँ संगत अछि की नहि। प्रतिपक्षकेँ सरल उपहास नहि, प्रतिज्ञा-दर-प्रतिज्ञा उत्तर चाही।

51.9 व्यवस्था आ सूक्ष्म-सामंजस्य

प्रकृतिक नियमबद्धता आ जीवन-अनुकूल शर्तसँ उद्देश्यपूर्ण व्यवस्था अनुमानित कएल जाइत अछि। आलोचना प्राकृतिक चयन, बहु-ब्रह्माण्डक सम्भावना, चयन-प्रभाव वा अज्ञात भौतिक व्याख्या प्रस्तुत करि सकैत अछि।

एतय विज्ञानक अपूर्णता ईश्वरक सीधा प्रमाण नहि। ‘एखन नहि जानैत छी’सँ कोनो विशिष्ट उत्तर नहि निकलैत। तथापि जगतक व्याख्येयता तत्त्वमीमांसात्मक विस्मयक वैध विषय रहैत अछि, जँ वैज्ञानिक रिक्तिस्थान भरबाक दावा नहि कएल जाए।

51.10 धार्मिक अनुभव

रहस्यात्मक एकता, प्रार्थनाक प्रत्युत्तर, उपस्थिति वा रूपान्तरणक अनुभव विश्वासक शक्तिशाली आधार भऽ सकैत अछि। अनुभव व्यक्तिक जीवन बदलैत अछि, मुदा व्याख्या भाषा, परम्परा आ अपेक्षासँ प्रभावित होइत अछि।

भिन्न धर्मक विरोधी व्याख्या सार्वजनिक निष्कर्ष कठिन बनबैत अछि। अनुभवकेँ झूठ कहि खारिज नहि, न स्वतः सार्वभौम प्रमाण। स्थायित्व, नैतिक फल, मानसिक अवस्था आ वैकल्पिक कारण सावधानीसँ जाँचल जाए।

51.11 ईश्वरक मौन

जँ करुणामय ईश्वर मनुष्यसँ सम्बन्ध चाहैत छथि, तँ ईमानदार खोजकर्ताकेँ पर्याप्त संकेत किएक नहि भेटैत? दैवी छिपावक समस्या अशुभसँ अलग अछि; एतय पीड़ा नहि, सम्बन्धक अस्पष्टता केन्द्रमे अछि।

उत्तर स्वतंत्रता, आध्यात्मिक विकास वा अप्रत्यक्ष उपस्थितिपर बल दऽ सकैत अछि। आलोचना पूछत जे ई उत्तर अनिच्छित अविश्वासक वास्तविकता पर्याप्त बुझबैत अछि की नहि। सीमा स्वीकारब आस्तिक आ नास्तिक दुनू लेल उचित अछि।

अध्याय-निष्कर्ष

ईश्वर-विमर्श एकटा हाँ/नहि मतदान नहि, बल्कि कारणता, नैतिकता, अनुभव, दुःख, स्वतंत्रता आ व्याख्याक बहुस्तरीय दार्शनिक क्षेत्र अछि। समानान्तर दर्शन ईश्वरवादकेँ विशेषाधिकार नहि दैत, न नास्तिकताकेँ स्वतः बुद्धिवादी विजय मानैत अछि। समान प्रमाण-कसौटी, सबल प्रतिपक्ष आ गरिमापूर्ण संवाद एहि अध्यायक मूल पद्धति अछि।

अध्याय-ग्रन्थसूची

उदयनाचार्य — Nyāyakusumāñjali.

गौतम — Nyāya-sūtra.

कुमारिल भट्ट — Ślokavārttika.

David Hume — Dialogues Concerning Natural Religion.

Immanuel Kant — Critique of Pure Reason.

Alvin Plantinga — God, Freedom, and Evil.

J. L. Mackie — The Miracle of Theism.

Stanford Encyclopedia of Philosophy — “Philosophy of Religion”; “Cosmological Argument”; “Divine Hiddenness”.

अध्याय 52 – आस्था आ तर्क

आस्था आ तर्ककेँ अनिवार्य शत्रु मानब धर्म-दर्शनक इतिहासकेँ बहुत संकुचित करैत अछि। किछु धार्मिक परम्परा तर्कद्वारा सिद्धान्त स्पष्ट करैत अछि; किछु रहस्य, भरोसा, साधना वा प्रकाशनपर अधिक बल दैत अछि। समस्या तखन उत्पन्न होइत अछि जखन आस्था अपनाकेँ सभ आलोचनासँ ऊपर मानि लैत अछि अथवा तर्क अपन सीमाकेँ बिसरि मानव अनुभवक प्रत्येक अर्थकेँ निरर्थक घोषित करैत अछि।

52.1 आस्था की?

आस्था केवल “बिना प्रमाण विश्वास” नहि। आस्था विश्वास, भरोसा, निष्ठा, अभ्यास, सामुदायिक सदस्यता, आध्यात्मिक अपेक्षा आ जीवन-दिशाक मिश्रण भऽ सकैत अछि। व्यक्ति “ईश्वर छथि” मानैत अछि—ई प्रस्तावात्मक विश्वास; “हम ईश्वरपर भरोसा करैत छी”—ई सम्बन्धात्मक निष्ठा; “हम एहि जीवन-पद्धतिक पालन करैत छी”—ई व्यावहारिक प्रतिबद्धता। तीनूकेँ एकहि कसौटीसँ जाँचल नहि जा सकैत अछि।

52.2 तर्कक भूमिका

तर्क कमसँ कम चारि कार्य करैत अछि: अवधारणा स्पष्ट करब; विरोधाभास चिन्हब; प्रमाणक भार जाँचब; आ वैकल्पिक व्याख्याक तुलना करब। धार्मिक दाबी जँ कहैत अछि “ई घटना चमत्कार अछि”, तर्क पूछत—घटना की? स्रोत की? प्राकृतिक व्याख्या समाप्त भेल की? कथनक अर्थ की? धार्मिक दाबी जँ नैतिक नियम प्रस्तावित करैत अछि, तर्क ओकर परिणाम आ सार्वभौमिकता जाँचत।

52.3 आस्था तर्कक सीमा देखबैत अछि?

मनुष्यक जीवन केवल सिद्ध कथनसँ नहि चलैत अछि। प्रेम, भरोसा, मित्रता, भविष्यक परियोजना—अनेक निर्णय पूर्ण प्रमाण बिना होइत अछि। एहि तथ्यसँ धार्मिक आस्था स्वतः उचित सिद्ध नहि होइत, मुदा ई देखाइत अछि जे “पूर्ण निश्चितता नहि = अविवेक” सही समीकरण नहि। तर्क सम्भावना, विश्वासयोग्यता आ जोखिमक बीच निर्णय करैत अछि।

52.4 फिदेइज्म आ ओकर कठिनाई

जँ कहल जाए जे धार्मिक आस्था तर्कसँ पूर्णतः स्वतंत्र अछि, तँ ओकर आलोचना असम्भव भऽ जाएत। तखन कोनो परस्पर विरोधी धार्मिक दाबी अपन-अपन क्षेत्रमे समान रूपसँ आलोचनातीत भऽ सकैत अछि। संगहि, कट्टर आदेश अथवा हिंसात्मक विश्वास सेहो “हमर आस्था” कहि आलोचनासँ बचि सकैत अछि।

समानान्तर दर्शन एहि कारण पूर्ण तर्क-विरहित आस्थाकेँ सार्वजनिक औचित्यक पर्याप्त आधार नहि मानैत अछि।

52.5 तर्कवादक अहंकार

दोसरा दिशामे, जँ केवल औपचारिक प्रमाणे सार्थक मानल जाए, तँ कविता, सौन्दर्य, प्रेम, शोक, आध्यात्मिक अभ्यास आ अस्तित्वगत अनुभवक महत्त्व घटि जाएत। दार्शनिक तर्कक काम अनुभव मिटायब नहि, ओकर दाबी स्पष्ट करब अछि।

52.6 निजी कारण आ सार्वजनिक कारण

लोकतान्त्रिक समाजमे व्यक्ति अपन धार्मिक कारणपर जीवन जी सकैत अछि। उपवास, पूजा, प्रार्थना, वस्त्र, आहार—जाबत आनक अधिकार नहि टूटय, निजी धार्मिक कारण पर्याप्त भऽ सकैत अछि। मुदा जखन राज्य सभ नागरिकपर बाध्यकारी नियम लागू करैत अछि, केवल “हमर धर्म कहैत अछि” पर्याप्त नहि। सार्वजनिक कारण एहन हो जे भिन्न आस्था वा अनास्थावला नागरिक सेहो ओकर तर्क बुझि आ जाँचि सकथि।

ई भेद धर्म-विरोध नहि; धार्मिक स्वतंत्रताक रक्षा अछि। कारण राज्य जँ एक धर्मक आन्तरिक कारणकेँ कानूनक अंतिम आधार बनबैत अछि, तँ दोसर धर्म आ अनास्थाक समान नागरिकता कमजोर होइत अछि।

52.7 साक्ष्य आ प्रमाणिक व्यक्ति

धर्म बहुतांश शब्द-साक्ष्यपर आधारित अछि—गुरु, ग्रन्थ, समुदाय, परम्परा। भारतीय प्रमाणमीमांसा शब्दक विश्वसनीयताक प्रश्न उठबैत अछि। वक्ता विश्वसनीय किएक? पाठक इतिहास की? पाठभेद? व्याख्या-परम्परा? प्रतिपक्ष? एहि प्रश्नसभसँ धार्मिक स्रोतक अपमान नहि, बल्कि जिम्मेदार पठन होइत अछि।

52.8 आस्थाक नैतिक परीक्षा

कोनो विश्वास व्यक्ति लेल पवित्र हो सकैत अछि, मुदा ओकर सामाजिक परिणाम जाँचल जएबाक चाही। यदि विश्वास करुणा, आत्मसंयम, सेवा आ अहिंसा बढ़बैत अछि, ई नैतिक रूपसँ प्रशंसनीय परिणाम भऽ सकैत अछि। यदि ओ अपमान, बहिष्कार, हिंसा वा जन्मगत असमानताकेँ पवित्र करैत अछि, तखन धार्मिक प्रतिष्ठा नैतिक आलोचनासँ बचा नहि सकैत अछि।

पूर्वपक्ष: आस्थाकेँ प्रमाण माँगब आस्थाक अर्थ नष्ट करैत अछि

उत्तरपक्ष: सभ आस्था एकहि प्रकारक प्रमाण नहि माँगैत, मुदा सार्वजनिक दाबी उत्तरदायित्व माँगैत अछि। व्यक्तिगत भरोसा आ सार्वजनिक सत्य-दाबी अलग। जतेक व्यापक प्रभाव, ततेक स्पष्ट औचित्यक आवश्यकता।

52.14 प्रमाणक अभाव आ अनुपस्थितिक प्रमाण

कथनक समर्थन नहि भेटब आ कथन गलत सिद्ध होयब अलग अवस्था। मुदा जँ दाबी सत्य हो तखन निश्चित प्रमाण भेटबाक अपेक्षा छल, आ विस्तृत खोजक बाद नहि भेटल, तँ अनुपस्थिति नकारात्मक प्रमाण बनि सकैत अछि।

धार्मिक दाबीमे अपेक्षित प्रमाण स्वयं विवादित। चमत्कार सार्वजनिक होयबाक चाही की निजी, दैवी उपस्थिति स्पष्ट होय की स्वतंत्रता लेल अस्पष्ट—पूर्वधारणा निष्कर्ष बदलैत अछि।

तेँ खोजक क्षेत्र, स्रोत आ अपेक्षा लिखल जाए। ‘कियो सिद्ध नहि कएल’ कहि अपन उलटा दाबी सिद्ध मानल नहि जाए।

52.15 आस्थाक सामुदायिक अनुशासन

आस्था निजी भावना रहितो सामूहिक अभ्याससँ टिकैत अछि—पाठ, प्रार्थना, पर्व, सेवा आ शिक्षा। समुदाय स्मृति आ आत्मसुधार दैत अछि, मुदा अनुरूपताक दबाव सेहो।

विश्वास-समुदाय भीतर प्रश्नक संस्था रहय: पाठक अनेक व्याख्या, नेतृत्वक उत्तरदायित्व आ बाहर जाएबक अधिकार। असहमति केँ नैतिक पतन कहि बहिष्कार करब बौद्धिक भयक संकेत हो सकैत।

समुदायिक गवाही विश्वसनीयता पबैत अछि जँ त्रुटि स्वीकारि सुधारय। हर आलोचना शत्रुता माननिहार संस्था अपन प्रमाण कमजोर करैत अछि।

52.16 आशा आ भविष्य

आस्था कखनो एहन आशा राखैत अछि जे वर्तमान प्रमाणसँ पूर्ण सुनिश्चित नहि, मुदा न्यायपूर्ण क्रिया प्रेरित करैत अछि। आशा निष्क्रिय प्रतीक्षा नहि; सम्भावित भविष्य लेल वर्तमान उत्तरदायित्व हो।

झूठी आशा जोखिम छिपा सकैत अछि। रोग, ऋण वा संकटमे वास्तविक सम्भावना बताओल जाए; सान्त्वना तथ्य बदलि नहि दे।

दार्शनिक कसौटी ई जे आशा व्यक्ति केँ वास्तविकता सामना करबा आ नैतिक क्रियामे समर्थ करैत अछि, अथवा असहाय बनबैत। परिणाम सत्यताक सम्पूर्ण प्रमाण नहि, नैतिक मूल्यक संकेत अछि।

52.17 पूर्वपक्ष: तर्क आस्था नष्ट करैत अछि

किछु लोक मानैत छथि जे प्रश्न करलासँ भरोसा टूटैत; धार्मिक जीवनक मूल्य तर्कातीत समर्पणमे अछि। वस्तुतः प्रेम आ निष्ठाक सभ रूप औपचारिक प्रमाणपर नहि टिकैत।

मुदा तर्कक निषेध सत्ता-दुरुपयोग, आर्थिक छल आ हिंसक आदेश बचा सकैत अछि। विश्वसनीय आस्था प्रश्न सहैत, स्रोत जाँचैत आ नैतिक सीमा मानैत अछि।

तर्क सभ रहस्य समाप्त नहि करैत। ओ केवल ई पूछैत अछि जे हम की दावा करैत छी, किएक, आ एहि दाबीसँ दोसरपर कोन परिणाम पड़ैत अछि।

52.9 आस्था विश्वासक एक रूप मात्र नहि

आस्थामे तथ्य-दाबी, भरोसा, निष्ठा, अभ्यास आ समुदायिक सम्बन्ध संयुक्त भऽ सकैत अछि। ‘हम मानैत छी’ कखनो ऐतिहासिक कथन, कखनो जीवन-प्रतिबद्धता, कखनो आशा व्यक्त करैत अछि। एहि भेद बिना तर्क गलत लक्ष्यपर प्रहार करैत अछि।

प्रतिबद्धता तथ्यगत त्रुटिसँ मुक्त नहि करैत। जँ आस्था चिकित्सा, शिक्षा वा दोसरक अधिकार सम्बन्धी सार्वजनिक निर्णय बनबैत अछि, तँ साझा प्रमाण चाही। निजी अर्थ आ सार्वजनिक बाध्यता अलग क्षेत्र छथि।

52.10 साक्ष्यवादी आपत्ति

साक्ष्यवादी मत कहैत अछि पर्याप्त प्रमाण बिना विश्वास बौद्धिक रूपसँ अनुचित। एकर शक्ति अफवाह, इच्छापूर्ति आ अधिकारजन्य भ्रम रोकबामे अछि। मुदा जीवनक सभ निर्णय पूर्ण प्रमाण धरि रोकल नहि जा सकैत।

विश्वासक नैतिकता दाबीक जोखिम अनुसार बदलत। मामूली निजी आशा आ जीवन-मरणक सार्वजनिक नीति समान प्रमाण नहि माँगैत। हानि, प्रतिवादक उपलब्धता आ निर्णयक अपरिवर्तनीयता बढ़ला पर प्रमाणक भार बढ़त।

52.11 परम्परा आ गवाही

अधिकांश धार्मिक ज्ञान परिवार, गुरु, पाठ आ समुदायिक गवाहीसँ अबैत अछि। गवाही स्वयं अवैध नहि; मानवीय ज्ञानक बड़ भाग एहि पर निर्भर। प्रश्न वक्ताक क्षमता, स्रोतक दूरी, हित आ सुधारक व्यवस्था अछि।

दीर्घ परम्परा कथनक ऐतिहासिक स्थिरता देखबैत अछि, सत्यता स्वतः नहि। स्वतंत्र परम्पराक विरोधी दाबी तुलनात्मक जाँच माँगैत अछि। आदर प्रश्नक अन्त नहि।

52.12 संशयक धार्मिक मूल्य

संशय आस्थाक शत्रु मात्र नहि; अन्धविश्वास, स्वार्थी गुरु आ हिंसक व्याख्यासँ बचा सकैत अछि। प्रश्न परम्पराकेँ अधिक आत्मसचेत बनबैत अछि। अनेक धार्मिक ग्रन्थ स्वयं शोक, मौन आ प्रश्नक स्थान राखैत छथि।

अनन्त संशय प्रतिबद्धता असम्भव करि सकैत। विवेकपूर्ण स्थिति कारण उपलब्ध करय, सीमा स्वीकारय, आ नूतन प्रमाणपर बदलबाक शर्त स्पष्ट रखय। आस्था ईमानदारीसँ संशोध्य भऽ सकैत अछि।

52.13 असहमति आ विनम्रता

समान बुद्धि आ सदिच्छावला लोक धार्मिक प्रश्नपर असहमत होइत छथि। ई तथ्य अपन विश्वास झूठ सिद्ध नहि करैत, मुदा आत्मविश्वासक स्तर पुनर्विचार करबा प्रेरित करैत अछि। भौगोलिक जन्म विश्वासपर प्रभाव दैत अछि से सेहो ध्यानयोग्य।

विनम्रता अपन मत छोड़ब नहि; प्रतिपक्षक नैतिक समानता, बल प्रयोगक निषेध आ कारण सुनबाक तैयारी अछि। सत्य-दाबी बनल रहि सकैत, नागरिक अधिकार साझा रहत।

अध्याय-निष्कर्ष

आस्था तर्कक पूर्ण विकल्प भऽ जाए तँ कट्टरता सम्भव; तर्क मानव अनुभवक प्रत्येक क्षेत्रकेँ समाप्त करबाक दावा करय तँ बुद्धिवादी अहंकार सम्भव। समानान्तर दर्शन व्यक्ति केँ आस्था, आस्था-परिवर्तन आ अनास्थाक स्वतंत्रता दैत अछि, मुदा सार्वजनिक बाध्यताक लेल साझा औचित्य माँगैत अछि।

अध्याय-ग्रन्थसूची

गौतम — Nyāya-sūtra.

कुमारिल भट्ट — Ślokavārttika.

William James — The Will to Believe.

Søren Kierkegaard — Fear and Trembling.

John Rawls — Political Liberalism.

Jürgen Habermas — Between Naturalism and Religion.

Stanford Encyclopedia of Philosophy — “Faith”; “Religion and Political Theory”.

अध्याय 53 – दुःख आ अशुभक समस्या

जँ ईश्वर सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ आ पूर्ण शुभ छथि तँ निरपराध दुःख किएक? ई धर्म-दर्शनक सबसँ कठिन प्रश्नसभमे एक अछि। मुदा अशुभक समस्या केवल बौद्धिक पहेली नहि। रोग, अकाल, हिंसा, बाल-मृत्यु, युद्ध, प्राकृतिक आपदा आ अपमान वास्तविक पीड़ा अछि। एहि कारण दार्शनिक उत्तरक नैतिक शैली सेहो महत्त्वपूर्ण अछि।

53.1 तार्किक आ प्रमाणात्मक समस्या

तार्किक रूप प्रश्न अछि—सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, पूर्ण शुभ ईश्वर आ अशुभक अस्तित्व परस्पर विरोधी छथि की? आधुनिक विमर्शमे अनेक दार्शनिक मानैत छथि जे केवल तार्किक विरोध सिद्ध करब कठिन, कारण सम्भव अछि ईश्वरक किछु नैतिक रूपसँ पर्याप्त कारण हो।

प्रमाणात्मक रूप अधिक सूक्ष्म अछि: जगतमे दुःखक मात्रा, तीव्रता आ वितरण देखैत पूर्ण शुभ ईश्वरक अस्तित्व कम सम्भाव्य बुझाइत अछि की नहि? एतय विशेषतः एहन पीड़ा प्रश्न उठबैत अछि जकर कोनो स्पष्ट नैतिक फल देखाइत नहि।

53.2 स्वतंत्र इच्छा रक्षा

एक प्रमुख उत्तर कहैत अछि जे नैतिक रूपसँ सार्थक स्वतंत्रता सम्भव हो तँ गलत चुनावक सम्भावना सेहो रहत। हत्या, धोखा, युद्ध, उत्पीड़न-जकाँ नैतिक अशुभ स्वतंत्र एजेन्टक दुरुपयोगसँ उत्पन्न भऽ सकैत अछि।

मुदा ई उत्तर प्राकृतिक अशुभ—भूकम्प, रोग, जन्मजात पीड़ा—केँ सीधा नहि बुझबैत। संगहि प्रश्न अछि: सर्वशक्तिमान ईश्वर एहन संसार किएक नहि बना सकैत छलाह जतय स्वतंत्रता रहय मुदा चरम पीड़ाक सीमा कम हो?

53.3 आत्म-विकासक उत्तर

दोसर उत्तर अनुसार कठिनाई साहस, करुणा, धैर्य, नैतिक विकास आ जिम्मेवारी सम्भव करैत अछि। किछु गुण केवल चुनौतीपूर्ण संसारमे विकसित हो सकैत अछि।

एहि तर्कक सीमा स्पष्ट अछि। प्रत्येक दुःख विकास नहि करैत; अनेक दुःख व्यक्ति कैँ तोड़ि दैत अछि। पीड़ित व्यक्तिक सामने “ई तोहर विकास लेल अछि” कहब क्रूर भऽ सकैत अछि। दार्शनिक सम्भावना आ pastoral नैतिकता अलग राखब आवश्यक अछि।

53.4 कर्म-आधारित उत्तरक सावधानी

भारतीय धार्मिक परम्परासभमे कखनो कर्मक सिद्धान्त दुःखक व्याख्या लेल उपयोग होइत अछि। मुदा उपलब्ध जीवनक विशिष्ट पीड़ाकेँ निश्चित पूर्वकर्मक फल घोषित करब सामान्यतः प्रत्यक्ष प्रमाणसँ बाहर अछि। एहि उपयोगसँ पीड़ित-दोषारोपणक खतरा अछि। अध्याय 54 एहि प्रश्नकेँ विस्तार देत।

53.5 बौद्ध प्रश्न: सृष्टिकर्ता बिना दुःख

बौद्ध दर्शन दुःखकेँ सृष्टिकर्ता ईश्वरक नैतिक समस्या रूपमे नहि, अस्तित्वगत तथ्य आ कारण-सम्बन्धक प्रश्न रूपमे ग्रहण करैत अछि। तृष्णा, अविद्या, अनित्यत्व आ प्रतीत्यसमुत्पादक विश्लेषण ई प्रश्न बदलि दैत अछि—“ईश्वर दुःख किएक देलनि?” सँ “दुःख कोन शर्तसँ उत्पन्न आ कोना निरोधित होइत अछि?”

ई तुलना देखबैत अछि जे समस्या-रचना तत्त्वमीमांसा पर निर्भर होइत अछि।

53.6 विरोध, विलाप आ मौन

धार्मिक परम्परासभमे पीड़ाक उत्तर केवल सिद्धान्त नहि; विलाप, प्रार्थना, करुणा, सेवा आ प्रतिरोध सेहो अछि। दर्शन जँ पीड़ितक अनुभवकेँ केवल syllogism बना दे, तँ नैतिक दूरी उत्पन्न होइत अछि। कखनो पीड़ितक सामने मौन, उपस्थिति आ सहायता दार्शनिक व्याख्यासँ अधिक उचित होइत अछि।

53.7 सामाजिक अशुभ

जाति-आधारित अपमान, दासता, स्त्री-विरोध, साम्प्रदायिक हिंसा, आर्थिक शोषण—ई “भाग्य” नहि, मानवीय संस्था आ कर्मद्वारा निर्मित अशुभ छथि। धार्मिक भाषा जँ एहि संरचनाकेँ अपरिवर्तनीय व्यवस्था कहि पवित्र करैत अछि, तखन धर्म-दर्शनक आलोचनात्मक दायित्व आरम्भ होइत अछि।

समानान्तर दर्शनक आग्रह अछि: तत्त्वमीमांसीय उत्तर सामाजिक जिम्मेवारीकेँ कम नहि करय। दुःखक कारण जँ मनुष्य बदलि सकैत अछि, तँ “अंतिम रहस्य”क चर्चा सुधारक विकल्प नहि।

पूर्वपक्ष: दुःख ईश्वरक विरुद्ध निर्णायक प्रमाण अछि

उत्तरपक्ष: दुःख ईश्वरवादक गम्भीरतम चुनौतीसभमे एक अछि, मुदा “निर्णायक” निष्कर्षक लेल ईश्वरक सम्भावित कारण, स्वतंत्रता, प्राकृतिक नियम आ मानव ज्ञानक सीमा सम्बन्धी तर्क जाँचल आवश्यक अछि। उलट रूपेँ, केवल “ईश्वरक योजना अछि” कहि समस्या समाप्त कएल नहि जा सकैत अछि।

53.13 पीड़ाक मात्रा आ वितरण

अशुभक समस्या केवल पीड़ा अछि की नहि एतबे नहि; कतेक, ककरा, कतेक समय आ कतेक अर्थहीन रूपमे—ई सभ प्रासंगिक। अल्प कठिनाई चरित्र बनाबि सकैत, मुदा बालक वा पशुक चरम पीड़ाकेँ समान उत्तरसँ उचित ठहरायब कठिन।

‘बड़ योजना’क अपील सम्भावना बतबैत, योजना प्रमाणित नहि करैत। जे कारण मनुष्यकेँ अज्ञात कहल जाए ओकरा सँ कोनो विशिष्ट घटना औचित्यपूर्ण सिद्ध नहि।

धार्मिक विनम्रता ई स्वीकारि सकैत अछि जे पूर्ण उत्तर उपलब्ध नहि। पीड़ितक सामने सिद्धान्तक विजय सँ अधिक करुणा आ सहायता आवश्यक।

53.14 कर्म-सिद्धान्त आ अशुभ

कर्मक माध्यमसँ वर्तमान पीड़ाकेँ पूर्व क्रियाक फल मानल जाए, तँ विश्वक नैतिक क्रम बचैत जकाँ लगैत अछि। मुदा स्मरणहीन पूर्वजन्मक दण्ड न्यायसंगत कोना, आ सहायता कर्मफलमे हस्तक्षेप किएक नहि—प्रश्न उठैत अछि।

पीड़ितक स्थितिकेँ पात्रता कहब सामाजिक उदासीनता बढ़ा सकैत अछि। अनेक कर्म-परम्परा करुणा आ सहायता पर बल दैत; तेँ लोकप्रिय दोषारोपणकेँ पूरा सिद्धान्तक प्रतिनिधि नहि मानल जाए।

प्रमाणक स्तर स्पष्ट हो। कर्म धार्मिक-तत्त्वमीमांसात्मक व्याख्या अछि; विशिष्ट व्यक्तिक दुःखक कारण घोषित करबाक सार्वजनिक प्रमाण दुर्लभ।

53.15 क्षमा आ स्मृति

अशुभक बाद क्षमा पीड़ितकेँ क्रोधक बोझसँ मुक्त करि सकैत, मुदा क्षमा माँगब ओकर कर्तव्य नहि। सत्य, जिम्मेदारी आ प्रतिकार बिना क्षमा-दबाव अन्याय छिपा सकैत अछि।

भूलि जाएब क्षमा नहि। समुदाय अत्याचार स्मरण करि पुनरावृत्ति रोकि सकैत, संगहि दोषीक मानवता नकारि नहि। स्मृति बदला आ उत्तरदायित्व बीच भेद रखय।

संस्थागत क्षमा सार्वजनिक स्वीकार, दस्तावेज, प्रतिकार आ सुधार माँगैत अछि। शब्द मात्र नैतिक ऋण पूरा नहि करैत।

53.16 पूर्वपक्ष: अशुभ बिना अच्छाइक अर्थ नहि

कहल जाइत अछि जे साहस लेल भय, करुणा लेल पीड़ा आ क्षमा लेल अपराध चाही; अत: अशुभ अच्छाइक सम्भावना बनबैत अछि। किछु मूल्य वास्तवमे कठिन परिस्थितिमे प्रकट होइत।

मुदा एहि सँ प्रत्येक पीड़ा आवश्यक नहि। बहुत अशुभ क्षमता नष्ट करैत अछि, सद्गुणक अवसर नहि देत। साधन रूपमे पीड़ितक उपयोग ओकर गरिमाक समस्या उत्पन्न करैत अछि।

उत्तर अधिकतम एतेक देखबैत अछि जे किछु जोखिमवला संसार मूल्यवान स्वतंत्रता दे सकैत; देखल अशुभक मात्रा आ वितरणक पूर्ण औचित्य एखनहुँ बाकी।

53.8 तार्किक आ प्रमाणीय अशुभ-समस्या

तार्किक रूप पूछैत अछि सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, पूर्ण करुणामय ईश्वर आ अशुभक अस्तित्व परस्पर असंगत छथि की नहि। प्रमाणीय रूप कहैत अछि देखल पीड़ाक मात्रा आ प्रकार एहन ईश्वरक सम्भावना घटबैत अछि। दुनूक प्रमाण-भार अलग अछि।

स्वतंत्र इच्छा तार्किक संगति बचा सकैत, मुदा प्राकृतिक आपदा वा पशु-पीड़ा पूर्ण नहि बुझबैत। चरित्र-विकास किछु कठिनाईक अर्थ दे सकैत, मुदा अत्यधिक पीड़ाकेँ साधन बना देबाक नैतिक समस्या रहैत अछि।

53.9 स्वतंत्र इच्छा-प्रतिरक्षा

नैतिक स्वतंत्रता वास्तविक हो तखन गलत चयन सम्भव। एहन संसार जतय व्यक्ति स्वतंत्र देखाइत, मुदा प्रत्येक गलत क्रिया दैवी रूपसँ रोकल जाए, स्वतंत्रताक अर्थ प्रश्नास्पद भऽ सकैत अछि।

तथापि मनुष्यक स्वतंत्रता असमान शक्ति भीतर काम करैत अछि। पीड़ितक रक्षा लेल हस्तक्षेप करब स्वयं स्वतंत्रताक विरोध नहि। ई प्रतिरक्षा ईश्वरक सम्भावित कारण बतबैत अछि, प्रत्येक विशिष्ट हानिक नैतिक औचित्य नहि।

53.10 प्राकृतिक अशुभ

रोग, भूकम्प, बाढ़ आ आन प्राकृतिक घटना मानवीय दुष्ट इच्छासँ उत्पन्न नहि। नियमित प्राकृतिक नियम जीवन आ ज्ञान सम्भव बनबैत अछि, मुदा ओहि नियमक परिणाम हानिकारक सेहो हो सकैत।

प्राकृतिक घटना नैतिक अशुभ नहि हो सकैत, मुदा ओकर सामाजिक परिणाम अन्यायपूर्ण वितरणसँ बढ़ैत अछि। कमजोर आवास, स्वास्थ्यक अभाव आ चेतावनीक असमान पहुँच आपदाकेँ सामाजिक अशुभमे बदलैत अछि।

53.11 विरोध, शोक आ मौन

पीड़ाक सामने प्रत्येक दार्शनिक व्याख्या तुरन्त देब असंवेदनशील हो सकैत अछि। शोकमे उपस्थित रहब, हानि स्वीकारब आ पीड़ितक आवाज सुनब तर्कक पूर्व नैतिक कर्तव्य भऽ सकैत अछि।

मौन प्रश्न समाप्त नहि करैत। बादमे कारण, जिम्मेदारी आ रोकथाम जाँचल जाए। अर्थ थोपबाक बदला पीड़ितकेँ अपन अर्थ चुनबाक स्थान देल जाए। दर्शन सान्त्वनाक अधिकारवादी भाषा नहि बने।

53.12 अशुभक विरुद्ध संयुक्त क्रिया

ईश्वरक औचित्य पर बहस जरूरी भऽ सकैत, मुदा पीड़ा घटेबाक मानवीय जिम्मेदारी स्थगित नहि। आस्तिक करुणा आ नास्तिक मानवतावाद व्यावहारिक सहायता, न्याय आ रोकथाममे सहकार्य कऽ सकैत छथि।

साझा क्रिया लेल अन्तिम तत्त्वमीमांसात्मक सहमति आवश्यक नहि। हानि, गरिमा आ प्रमाणित उपायपर सार्वजनिक कारण पर्याप्त आधार दऽ सकैत अछि। असहमति सहअस्तित्वक बाधा नहि बनय।

अध्याय-निष्कर्ष

अशुभक समस्या बौद्धिक, अस्तित्वगत आ नैतिक तीनू स्तरपर अछि। समानान्तर दर्शन तैयार सांत्वना नहि दैत; ओ तर्क जाँचैत अछि, पीड़ितक गरिमा केन्द्रमे रखैत अछि आ सामाजिक रूपसँ परिवर्तनीय दुःखक विरुद्ध जिम्मेवारीपर बल दैत अछि।

अध्याय-ग्रन्थसूची

Epicurus सम्बन्धी प्राचीन समस्या-विमर्श.

Augustine — चयनित लेखन.

Gottfried Wilhelm Leibniz — Theodicy.

David Hume — Dialogues Concerning Natural Religion.

J. L. Mackie — “Evil and Omnipotence”.

Alvin Plantinga — God, Freedom, and Evil.

William Rowe — “The Problem of Evil and Some Varieties of Atheism”.

Stanford Encyclopedia of Philosophy — “The Problem of Evil”.

अध्याय 54 – कर्म, पुनर्जन्म आ मोक्ष

कर्म, पुनर्जन्म आ मोक्ष भारतीय दर्शनक अनेक परम्परामे परस्पर सम्बद्ध, मुदा समानार्थी नहि, अवधारणा छथि। हिन्दू, बौद्ध आ जैन परम्परासभ कर्मक स्वरूप, कर्ता, पुनर्जन्मक निरन्तरता आ मुक्तिक अर्थपर गम्भीर रूपसँ भिन्न छथि। तेँ “भारतीय कर्म-सिद्धान्त” कहि एकहि रूप प्रस्तुत करब उचित नहि।

54.1 कर्म: नैतिक कारणता

सामान्य रूपमे कर्मक विचार कहैत अछि जे चेतन कर्मक नैतिक परिणाम होइत अछि। मुदा परम्परा अनुसार ई परिणामक तत्त्वमीमांसीय व्याख्या बदलैत अछि। मीमांसा अपूर्व-जकाँ अवधारणा विकसित करैत अछि; जैन दर्शन कर्मकेँ विशिष्ट सूक्ष्म द्रव्यात्मक सिद्धान्तसँ जोड़ैत अछि; बौद्ध दर्शन चेतना-सम्बद्ध कर्म आ कारण-शृंखलापर बल दैत अछि; वेदान्तक धारासभ कर्म, ज्ञान, भक्ति आ मोक्षक सम्बन्ध अलग प्रकारेँ व्याख्यायित करैत अछि।

54.2 कर्म भाग्यवाद नहि

“जे भेल से पूर्वकर्म, तेँ किछु नहि बदलि सकैत छी”—ई कर्म-सिद्धान्तक अनिवार्य निष्कर्ष नहि। यदि वर्तमान कर्म भविष्य प्रभावित करैत अछि, तँ कर्म-सिद्धान्तमे क्रियाशीलताक स्थान स्वयं निहित अछि। भाग्यवाद वर्तमान प्रयत्नकेँ निरर्थक मानैत अछि; कर्मक अनेक रूप वर्तमान नैतिक कृत्यकेँ महत्त्वपूर्ण मानैत अछि।

54.3 पीड़ित-दोषारोपण

कर्म-विचारक सबसँ खतरनाक सामाजिक विकृतिसभमे एक अछि पीड़ितक वर्तमान स्थिति केँ ओकर अज्ञात पूर्वकर्मक निश्चित दण्ड घोषित करब। गरीब, रोगी, विकलांग, उत्पीड़ित अथवा सामाजिक रूपसँ हाशियाक व्यक्ति सम्बन्धी एहन दावा सामान्यतः सत्यापनातीत अछि आ करुणा कम कऽ सकैत अछि।

समानान्तर दर्शनक नियम स्पष्ट अछि—कोनो तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त वर्तमान पीड़ितक प्रति हमर नैतिक उत्तरदायित्व कम नहि करैत अछि। जँ अन्याय रोकल जा सकैत अछि, तखन ओकरा “कर्म” कहि छोड़ब स्वयं वर्तमान नैतिक कर्म अछि, जकर जिम्मेवारी हमर अछि।

54.4 पुनर्जन्मक दार्शनिक प्रश्न

पुनर्जन्म मानल जाए तँ प्रश्न उठैत अछि—पुनर्जन्म लैत के? स्थायी आत्मा? चेतन-प्रवाह? कर्म-सन्तति? जैन, न्याय-वेदान्त आ बौद्ध उत्तर अलग। बौद्ध अनात्मवाद विशेष चुनौती प्रस्तुत करैत अछि: स्थायी आत्मा बिना नैतिक निरन्तरता कोना? बौद्ध उत्तर कारणात्मक सन्ततिक विभिन्न मॉडल विकसित करैत अछि।

समानान्तर दर्शन एतय “एकहि शब्द = एकहि सिद्धान्त” मानि नहि चलैत अछि।

54.5 स्मृति आ प्रमाण

पुनर्जन्मक पक्षमे कखनो पूर्वजन्म-स्मृति, परम्परा वा आध्यात्मिक अनुभवक साक्ष्य प्रस्तुत होइत अछि। एहन दाबी जाँचैत समय सामान्य प्रमाण-अनुशासन लागू हो: स्रोतक स्वतंत्रता, वैकल्पिक व्याख्या, सूचना-प्रवेश, स्मृति-त्रुटि, पुष्टिकरण-पक्षपात आ पुनरावृत्ति। धार्मिक महत्त्व प्रमाण-परीक्षणक विकल्प नहि।

54.6 मोक्ष की?

मोक्ष सेहो एकरूप नहि। सांख्यमे पुरुषक प्रकृतिसँ विवेकपूर्ण कैवल्य; योगमे चित्त-वृत्ति आ क्लेशक अतिक्रमणसँ कैवल्य; अद्वैतमे आत्म-ब्रह्म अभेदक ज्ञान; विशिष्टाद्वैत आ द्वैतमे ईश्वर-सम्बन्धक अलग मुक्ति-धारणा; बौद्ध परम्परामे निर्वाण; जैन दर्शनमे कर्म-बन्धनसँ मुक्त सिद्ध अवस्था।

एहि भिन्नतासँ स्पष्ट अछि जे “मोक्ष = मृत्यु बाद स्वर्ग” कहब अधिकांश भारतीय दार्शनिक परम्पराक अनुचित सरलीकरण होयत।

54.7 मुक्ति आ सामाजिक न्याय

एकटा गम्भीर आधुनिक प्रश्न अछि—व्यक्तिगत आध्यात्मिक मुक्ति आ सामाजिक मुक्ति बीच सम्बन्ध की? यदि व्यक्ति ध्यानमे शान्त अछि मुदा समाज अन्यायपूर्ण, तखन दर्शनक काम पूर्ण भेल की? उलट रूपेँ, सामाजिक सुधार भेला परो व्यक्तिक भय, लोभ, द्वेष आ अस्तित्वगत दुःख समाप्त होयत की?

समानान्तर दर्शन दुनू स्तरकेँ जोड़ैत अछि। आन्तरिक बन्धन आ बाह्य दमन भिन्न, मुदा परस्पर प्रभावी। व्यक्तिक मुक्ति आ समाजक न्याय एक-दोसरक विरोधी नहि।

पूर्वपक्ष: कर्म नैतिक न्यायक पूर्ण व्याख्या दैत अछि

उत्तरपक्ष: कर्म सिद्धान्त नैतिक कारणता समझबाक गम्भीर रूप हो सकैत अछि, मुदा विशिष्ट दुःखक कारण बिना प्रमाण निश्चित करब अनुचित। प्राकृतिक, सामाजिक, जैविक आ ऐतिहासिक कारणसभक स्वतंत्र अध्ययन आवश्यक अछि।

54.13 कर्म आ नियतिवाद

जँ वर्तमान सभ अवस्था पूर्वकर्मसँ निश्चित, तँ नूतन कर्म आ नैतिक प्रयासक अर्थ की? अधिकांश कर्म-दृष्टि पूर्ण नियतिवाद नहि; पूर्व कारण परिस्थिति बनबैत, वर्तमान क्रिया नूतन दिशा दऽ सकैत अछि।

‘ई त अहाँक कर्म’ कहि अन्याय स्वीकारब कर्मक नैतिक सक्रियता विकृत करैत अछि। दोसरक सहायता सेहो कर्ताक कर्म आ सामाजिक धर्मक प्रश्न हो सकैत अछि।

दार्शनिक विश्लेषण कारण, नैतिक पात्रता आ भविष्यवाणी अलग करय। कारणगत सम्बन्ध स्वतः दण्डक औचित्य नहि।

54.14 मुक्तिक ज्ञानमीमांसा

मुक्ति-ज्ञान साधारण तथ्य-ज्ञानसँ भिन्न कहल जाइत अछि: जानकारी मात्र नहि, आत्मपहिचान वा अनुभवक रूपान्तरण। मुदा रूपान्तरण सत्यताक अचूक प्रमाण नहि; भिन्न परम्पराक साधक विरोधी व्याख्या दे सकैत छथि।

व्यक्तिगत अनुभव, गुरु-गवाही, पाठ आ आचरणक फल संयुक्त जाँचल जाए। सार्वजनिक इतिहासक दाबी लेल अलग प्रमाण चाही।

मुक्तिक अनुभूति अहंकार, हिंसा आ लोभ घटबैत अछि की नहि नैतिक संकेत दे सकैत, यद्यपि तत्त्वमीमांसात्मक निष्कर्ष पूरा सिद्ध नहि।

54.15 जीवनमुक्ति आ व्यवहार

जीवित अवस्थामे मुक्त व्यक्तिक धारणा प्रश्न उठबैत अछि: शरीरक पीड़ा, सामाजिक भूमिका आ नैतिक कर्तव्य जारी रहला पर मुक्ति कोन अर्थमे? उत्तर आसक्तिविहीनता, आत्मज्ञान वा कर्मफलसँ आन्तरिक स्वतंत्रतामे खोजल जाइत।

मुक्त घोषित व्यक्तिक व्यवहार आलोचनासँ ऊपर नहि। शिष्यक श्रद्धा, आर्थिक शक्ति वा यौन अधिकारक दुरुपयोग मुक्तिक दाबी कमजोर करैत अछि।

आध्यात्मिक उपलब्धिक सार्वजनिक प्रमाण सीमित, मुदा हानि जाँच योग्य। संस्था व्यक्तिपूजा नहि, उत्तरदायित्व बनाय।

54.16 पूर्वपक्ष: मोक्ष जीवन-विरोधी अछि

संसारसँ मुक्ति लक्ष्य हो तखन कला, प्रेम, राजनीति आ सुधार गौण लगि सकैत अछि। आलोचक एहि परम्पराकेँ पलायनवादी कहि सकैत अछि।

मुदा बन्धनसँ मुक्ति संसारक नकार हरदम नहि। आसक्ति घटला सँ अधिक करुणामय कर्म सम्भव—एहन अनेक व्याख्या अछि। परम्पराविशेषक पाठ आ व्यवहार देखल जाए।

समानान्तर कसौटी ई जे मुक्तिक आदर्श पीड़ासँ उदासीनता उत्पन्न करैत अछि वा अहंकार घटाकऽ जिम्मेदारी बढ़बैत। फल एकमात्र सत्य-परीक्षा नहि, नैतिक परीक्षा अवश्य।

54.8 कर्म: क्रिया, फल आ नैतिक क्रम

कर्म शब्दक अर्थ परम्परानुसार बदलैत अछि—अनुष्ठानिक क्रिया, नैतिक कार्य, संस्कार वा कारणगत फल। एक सार्वभौम ‘कर्म-सिद्धान्त’ मानि सभ भारतीय दर्शनपर समान रूप थोपब गलत।

फल तुरन्त आ सरल समानुपातमे भेटत—एहन लोकप्रिय धारणा दार्शनिक रूपसँ कमजोर। सामूहिक कारण, आकस्मिकता आ सामाजिक संरचना जीवन प्रभावित करैत अछि। प्रत्येक दुःखकेँ पूर्वकर्म कहब पीड़ित-दोषारोपण बनि सकैत अछि।

54.9 पुनर्जन्मक प्रमाण-प्रश्न

पुनर्जन्म अनेक परम्परामे नैतिक निरन्तरता आ मुक्तिक दीर्घ परिप्रेक्ष्य दैत अछि। मुदा आत्मा, संस्कार वा चेतना कोन रूपमे जन्मान्तर धरि रहैत—एहि पर बौद्ध, जैन, वेदान्त आ अन्य मत भिन्न छथि।

स्मृतिक कथा वा धार्मिक गवाहीक परीक्षण स्रोत, वैकल्पिक व्याख्या आ स्वतंत्र पुष्टिसँ होयत। निर्णायक प्रमाणक सीमा स्पष्ट लिखल जाए। आस्था सम्भव, वैज्ञानिक निष्कर्षक दावा अलग मानक माँगैत।

54.10 आत्मा बिना कर्म-निरन्तरता

बौद्ध दर्शन स्थिर आत्मा नकारितो कारणगत प्रवाह, संस्कार आ कर्मफल बुझबाक प्रयास करैत अछि। एक क्षणक प्रक्रिया अगिला क्षणकेँ शर्त दैत, जकाँ दीपसँ दीप जरैत अछि—न पूर्ण अभिन्न, न पूर्ण असम्बद्ध।

ई रूपक समस्या सुलझल घोषित नहि करैत। नैतिक उत्तरदायित्व लेल ‘कर्मकर्ता’ आ ‘फलभोगी’क सम्बन्ध पर्याप्त कतेक, ई आपत्ति रहैत अछि। मतकेँ ओकर अपन अनात्म-प्रतिज्ञा भीतर जाँचल जाए।

54.11 मोक्षक अनेक अर्थ

मोक्ष कखनो आत्मब्रह्मज्ञान, कखनो ईश्वर-सान्निध्य, कखनो कर्मबन्धसँ मुक्ति, कखनो दुःखनिरोध वा कैवल्य। सभ परम्पराक मुक्तिकेँ ‘एकहि अनुभव’ कहब मतभेद नष्ट करैत अछि।

मुक्ति शरीर छोड़लाक बाद, जीवित अवस्था, ज्ञान, भक्ति वा आचरणसँ सम्बन्धित—एहि प्रश्नपर भिन्न उत्तर अछि। तुलनात्मक अध्ययन समस्या-साम्य देखय, निष्कर्ष-समानता नहि गढ़य।

54.12 व्यक्तिगत मुक्ति आ सामाजिक बन्धन

आन्तरिक आसक्ति घटलासँ व्यक्ति अधिक करुणामय भऽ सकैत, मुदा जाति, गरीबी वा हिंसाक संस्था केवल ध्यानसँ समाप्त नहि। सामाजिक बन्धनक कानून, संसाधन आ संगठनगत कारण अछि।

व्यक्तिगत परिवर्तन आ सामाजिक न्याय परस्पर पूरक हो सकैत अछि। क्रोधक दास नहि होइतहुँ अन्यायक विरोध सम्भव। मुक्ति जँ दोसरक पीड़ासँ उदासीन करय, तँ ओकर नैतिक अर्थ पुनः जाँचल जाए।

अध्याय-निष्कर्ष

कर्म, पुनर्जन्म आ मोक्ष भारतीय दर्शनक विशाल बहसक क्षेत्र छथि। समानान्तर दर्शन कर्मकेँ भाग्यवाद वा पीड़ित-दोषारोपणमे बदलय नहि दैत; पुनर्जन्मक दाबीपर प्रमाणक सामान्य कसौटी लागू करैत अछि; आ मोक्षकेँ संसारसँ पलायन नहि, बन्धनक पहिचान आ मुक्ति-दृष्टिक बहुविध दार्शनिक प्रश्न रूपमे पढ़ैत अछि।

अध्याय-ग्रन्थसूची

भगवद्गीता.

पतञ्जलि — Yoga-sūtra.

ईश्वरकृष्ण — Sāṃkhya-kārikā.

उमास्वाति — Tattvārtha-sūtra.

नागार्जुन — Mūlamadhyamakakārikā.

B. R. Ambedkar — The Buddha and His Dhamma.

Wendy Doniger O’Flaherty, ed. — Karma and Rebirth in Classical Indian Traditions.

Stanford Encyclopedia of Philosophy — “Karma”; “Śaṅkara”; “Buddha”.

अध्याय 55 – धर्मबहुलता

एकहि संसारमे अनेक धार्मिक परम्परा, अनेक ईश्वर-धारणा, अनेक मुक्ति-पथ आ अनेक नास्तिक परम्परा उपस्थित अछि। धर्मबहुलता केवल सामाजिक तथ्य नहि; ई ज्ञानमीमांसीय आ नैतिक प्रश्न सेहो अछि। जँ बुद्धिमान, ईमानदार आ साधनाशील व्यक्ति परस्पर विरोधी धार्मिक निष्कर्षपर पहुँचैत छथि, तँ अपन विश्वासक निश्चितता पर एकर की प्रभाव पड़ैत अछि?

55.1 बहुलताक तथ्य

मानव समाजमे धर्म जन्मस्थान, परिवार, भाषा आ इतिहाससँ गहराईसँ जुड़ल रहैत अछि। ई तथ्य स्वतः कोनो धर्मकेँ असत्य सिद्ध नहि करैत, मुदा आत्मसमीक्षा प्रेरित करैत अछि: यदि हम दोसर संस्कृतिमे जन्मल रहितहुँ तँ सम्भवतः हमर धार्मिक विश्वास भिन्न होइत। एहि सम्भावनाकेँ गंभीरता सँ लेब ज्ञानात्मक विनम्रताक भाग अछि।

55.2 विशिष्टतावाद

एक दृष्टि कहैत अछि—एकहि परम्परा अंतिम सत्यक पूर्ण वा विशिष्ट अधिकारी अछि। ई मत तार्किक रूपसँ सम्भव अछि; बहुलता मात्रसँ सभ मत सत्य नहि भऽ जाइत। मुदा विशिष्टतावादी पर अतिरिक्त प्रश्न उठैत अछि: अपन विशिष्ट दाबीक सार्वजनिक आधार की? आन परम्पराक अनुभव, नैतिक उपलब्धि आ तर्कक व्याख्या कोना?

55.3 समावेशवाद

समावेशवादी दृष्टि अपन परम्पराकेँ अंतिम केन्द्र मानैत, मुदा आन धर्ममे आंशिक सत्य वा मुक्ति सम्भावना स्वीकार करैत अछि। ई विशिष्टतावादसँ अधिक उदार हो सकैत अछि, मुदा आन परम्पराकेँ ओकर अपन आत्मबोधक बदला अपन ढाँचामे समाहित करबाक खतरा रहैत अछि।

55.4 बहुलतावाद

बहुलतावाद कहैत अछि जे भिन्न धार्मिक परम्परा परम वास्तविकताक विविध मानवीय प्रत्युत्तर भऽ सकैत अछि। एकर शक्ति सहिष्णुता आ विनम्रतामे अछि। मुदा कठिनाई अछि—परस्पर विरोधी दाबीसभ कोना एक साथ मान्य? यदि एक परम्परा व्यक्तिगत ईश्वर कहय, दोसर निरात्मवाद, तेसर अद्वैत—की ई केवल अलग भाषा अछि, अथवा वास्तविक मतभेद?

समानान्तर दर्शन बहुलताकेँ “सभ दाबी समान रूपसँ सत्य” नहि मानैत। ओ सहअस्तित्वक नैतिक बहुलता आ सत्य-दाबीक आलोचनात्मक परीक्षा अलग राखैत अछि।

55.5 धार्मिक स्वतंत्रताक तीन अधिकार

समानान्तर दर्शन धर्मबहुलताकेँ तीन अविभाज्य अधिकारपर रखैत अछि: अपन आस्थाक अधिकार; दोसराक भिन्न आस्थाक समान अधिकार; आस्था बदलबाक अथवा कोनो आस्था नहि रखबाक अधिकार। एहि तीनमे सँ कोनो एक हटत तँ धार्मिक स्वतंत्रता अधूरी भऽ जाएत।

धर्म-परिवर्तनक स्वतंत्रता बिना जन्मजात धार्मिक सदस्यता कारागार बनि सकैत अछि। अनास्थाक स्वतंत्रता बिना धार्मिक स्वतंत्रता केवल धर्मसभक बीच विकल्प बनि रहत।

55.6 सहिष्णुता सँ सम्मान धरि

“हम तोरा सहैत छी” न्यूनतम नागरिक स्थिति अछि। लोकतान्त्रिक बहुलता अधिक माँगैत अछि—समान कानूनी दर्जा, सुरक्षा, सार्वजनिक अवसर, उपासना वा अनास्थाक स्वतंत्रता, आ अपमानविहीन नागरिकता। सम्मानक अर्थ सहमति नहि; असहमति राखि कऽ समान अधिकार स्वीकारब अछि।

55.7 धर्मक भीतर बहुलता

कोनो धर्म एकरूप नहि। ग्रन्थ, सम्प्रदाय, क्षेत्र, जाति, लिंग, वर्ग, भाषा, सुधार-आन्दोलन आ लोकपरम्परा धर्मक भीतर अनेक आवाज उत्पन्न करैत अछि। “हिन्दू धर्म कहैत अछि”, “इस्लाम कहैत अछि”, “ईसाई धर्म कहैत अछि”, “बौद्ध धर्म कहैत अछि”—एहन वाक्य अक्सर अत्यधिक व्यापक होइत अछि। स्रोत, सम्प्रदाय, काल आ व्याख्या स्पष्ट करब चाही।

55.8 बहुलता आ आलोचना

बहुलताक सम्मानक अर्थ आलोचना बन्द करब नहि। कोनो धार्मिक व्यवहार मनुष्यक समान गरिमा, शारीरिक सुरक्षा वा मूल अधिकारक उल्लंघन करैत हो तँ ओकर आलोचना उचित अछि। मुदा आलोचना सिद्धान्त वा व्यवहारपर केन्द्रित हो, सम्पूर्ण समुदायकेँ अमानवीय बनाबय पर नहि।

55.9 संवादक शर्त

सार्थक अन्तरधार्मिक संवाद लेल तीन शर्त आवश्यक: अपन मत स्पष्ट; प्रतिपक्षक आत्मवर्णन ईमानदारीसँ सुनब; आ एहन सम्भावना स्वीकारब जे संवादक बाद अपन मत किछु संशोधित हो सकैत अछि। केवल धर्म-प्रचार अथवा औपचारिक सद्भाव-सम्मेलन दार्शनिक संवाद नहि।

पूर्वपक्ष: धार्मिक बहुलता सत्यक प्रश्नकेँ कमजोर करैत अछि

उत्तरपक्ष: बहुलता सत्यकेँ निरर्थक नहि बनबैत; ओ सत्य-दाबीक प्रमाण-भार बढ़बैत अछि। जतेक गम्भीर असहमति, ततेक अधिक स्पष्ट कारण, विनम्रता आ प्रतिपक्ष-परीक्षण आवश्यक।

55.15 धर्मान्तर संवादमे अनुवाद

‘ईश्वर’, ‘धर्म’, ‘मोक्ष’, ‘पाप’, ‘निर्वाण’ वा ‘कृपा’क सरल समतुल्यता भ्रम दे सकैत अछि। संवादक पहिल काम पदक परम्परागत कार्य स्पष्ट करब। समान शब्दक पाछाँ भिन्न प्रश्न आ भिन्न शब्दक पाछाँ साझा समस्या हो सकैत।

अनुवाद सुविधाक लेल हो, अधिग्रहण लेल नहि। प्रतिपक्ष अपन अवधारणा सुधारि सकय; बाहरी व्यक्ति ओकर अन्तिम परिभाषा थोपि नहि दे।

जहाँ समतुल्य नहि, मूल पद राखि व्याख्या देल जाए। ‘अनुवाद असम्भव’ कहि संवाद रोकब सेहो अतिवाद।

55.16 बहुलता आ मिशन

अपन विश्वास साझा करब अभिव्यक्तिक स्वतंत्रता, मुदा शक्ति, धन वा सेवा मार्फत दबाव अनुचित। विपन्न व्यक्ति लेल सहायता धर्म-स्वीकारक शर्त बनला पर सहमति कमजोर होइत अछि।

खुलल संवाद प्रश्न, अस्वीकार आ प्रत्युत्तरक समान अधिकार दैत अछि। राज्य विचारक प्रचार नहि रोकय, बल, छल आ धमकी रोकय।

संख्या-वृद्धि सत्यक प्रमाण नहि; समुदायिक स्थिरता सेहो नहि। दार्शनिक दाबी तर्क आ प्रमाणपर जाँचल जाए।

55.17 मिश्रित धार्मिक पहचान

लोक व्यवहारमे एक परम्पराक सदस्य होइतहुँ दोसर परम्पराक स्थल, कथा वा अभ्याससँ सम्बन्ध रखि सकैत अछि। कठोर जनगणना-श्रेणी एहि मिश्रणकेँ अदृश्य करैत अछि।

मिश्रणकेँ ‘अशुद्ध’ वा आदर्श ‘सामंजस्य’ कहब दुनू जल्दबाजी। सहभागी ककर अर्थ दैत, कखन संघर्ष होइत, आ संस्था कोना प्रतिक्रिया दैत—क्षेत्रीय अध्ययन चाही।

बहुलता केवल मतक सहअस्तित्व नहि, व्यक्तिक भीतरक अनेक सम्बन्ध सेहो। कानून आत्मपहिचान सरल करबाक दबाव नहि दे।

55.18 पूर्वपक्ष: बहुलतावाद सभ मतकेँ कमजोर करैत अछि

कहल जाइत अछि जे दोसर मार्गकेँ वैध मानलासँ अपन सत्य-दाबी खोखला होइत अछि। प्रतिबद्धता लेल विशिष्टता जरूरी।

उत्तर ई जे नागरिक वैधता आ तत्त्वमीमांसात्मक सत्य अलग। व्यक्ति अपन मत सत्य मानितो दोसरक समान अधिकार स्वीकारि सकैत अछि। विनम्रता आत्मसमर्पण नहि।

बहुलतावादक कठिन कार्य मतभेद स्पष्ट राखि हिंसा रोकब अछि। कृत्रिम ‘सभ एक’ वास्तविक संवादकेँ कमजोर करैत, कारण प्रतिपक्ष सुनल नहि जाइत।

55.10 बहुलताक वर्णन आ मूल्यांकन

अनेक धर्मक अस्तित्व एक तथ्य; सभ समान सत्य वा समान नैतिक—ई अलग दाबी। वर्णनात्मक बहुलता सँ दार्शनिक बहुलतावाद स्वत: नहि निकलैत। तर्क, अनुभव आ नैतिक परिणामक परीक्षा आवश्यक रहैत अछि।

तथापि बहुलताक तथ्य आत्मविश्वासक सीमा देखबैत अछि। जन्मस्थान, भाषा आ समुदाय विश्वास गठन करैत अछि। ई प्रभाव सत्य नकारैत नहि, विनम्रता आ तुलनात्मक अध्ययन माँगैत अछि।

55.11 विशिष्टतावादक शक्ति आ जोखिम

विशिष्टतावादी मत अपन परम्पराकेँ पूर्ण सत्य वा मुक्तिक एकमात्र मार्ग मानि सकैत अछि। एकर शक्ति स्पष्ट प्रतिबद्धता; जोखिम दोसरक अनुभवकेँ आरम्भे अमान्य मानब आ नागरिक समानता कमजोर करब।

निजी विशिष्ट विश्वास राखब स्वतंत्रता अछि। सार्वजनिक क्षेत्रमे दोसरक अधिकार समान रहत, आ बाध्यकारी नीति साझा कारण माँगत। सत्य-दाबी हिंसा वा भेदभावक अनुमति नहि।

55.12 समावेशवादक द्वैधता

समावेशवाद दोसर परम्परामे सत्यक अंश स्वीकारैत, मुदा ओकर पूर्ण अर्थ अपन ढाँचा भीतर रखैत अछि। ई कठोर बहिष्कारसँ उदार, तथापि दोसरकेँ ओकर आत्मबोधक बदला बाहरी श्रेणीमे समेटि सकैत अछि।

संवादमे प्रतिपक्षकेँ अपन शब्दमे बोलबाक अधिकार देल जाए। समानता खोजब उपयोगी, मुदा अस्वीकार्य भिन्नता स्पष्ट रखब सेहो सम्मान अछि। समावेश अधिकार-हरण नहि बनय।

55.13 धार्मिक सत्य-दाबीक प्रकार

ऐतिहासिक घटना, तत्त्वमीमांसात्मक सत्ता, नैतिक नियम, अनुष्ठानिक प्रभाव आ अस्तित्वगत अर्थ—सभ धार्मिक दाबी एकहि प्रमाण नहि माँगैत। इतिहास अभिलेख, तत्त्वमीमांसा तर्क, नैतिकता गरिमा आ परिणाम, अनुभव आत्मसाक्ष्य तथा तुलनाक कसौटी लैत अछि।

क्षेत्रभ्रम तखन होइत अछि जखन काव्यात्मक कथन वैज्ञानिक प्रतिवेदन, अथवा निजी अनुभव सार्वजनिक इतिहासक निर्णायक प्रमाण मानल जाए। दाबी पहिने वर्गीकृत करब संवाद सहज बनबैत अछि।

55.14 साझा नागरिकता

धार्मिक मतभेद रहितो नागरिक समानता सम्भव, जँ राज्य धर्म स्वीकारब, बदलय आ नहि मानयक स्वतंत्रता सुरक्षित करय। कर, शिक्षा, न्याय आ सार्वजनिक सेवा सम्प्रदायगत दर्जापर निर्भर नहि हो।

साझा नागरिकता सांस्कृतिक समानरूपता नहि। धार्मिक पोशाक, पर्व आ संस्था लेल उचित स्थान रहि सकैत, जँ दोसरक अधिकार आ समान नियमक सीमा मानल जाए। विवादक समाधान कारण आ प्रक्रिया सँ हो।

अध्याय-निष्कर्ष

धर्मबहुलता समान सत्यक घोषणा नहि, समान गरिमाक राजनीतिक-नैतिक सिद्धान्त आ परस्पर विरोधी सत्य-दाबीक ज्ञानमीमांसीय चुनौती दुनू अछि। समानान्तर दर्शन धार्मिक स्वतंत्रताकेँ आस्था, परिवर्तन आ अनास्थाक त्रयीपर रखैत अछि, आ संवादकेँ आलोचना तथा सम्मान दुनूसँ जोड़ैत अछि।

अध्याय-ग्रन्थसूची

John Hick — An Interpretation of Religion.

Wilfred Cantwell Smith — The Meaning and End of Religion.

John Rawls — Political Liberalism.

Martha C. Nussbaum — Liberty of Conscience.

B. R. Ambedkar — The Buddha and His Dhamma.

Stanford Encyclopedia of Philosophy — “Religious Diversity”; “Religious Toleration”.

अध्याय 56 – धर्म आ राज्य

धर्म आ राज्यक सम्बन्धक प्रश्न केवल “राज्य धार्मिक हो वा धर्मनिरपेक्ष?” एतेक सरल नहि। बहुधर्मी समाजमे मूल समस्या ई अछि जे राज्यक वैधता सभ नागरिकक समान राजनीतिक दर्जापर टिकत की कोनो एक धार्मिक सत्य-दाबीक विशेषाधिकारपर। समानान्तर दर्शन राज्यकेँ धर्मविरोधी बनबाक आदेश नहि दैत अछि; ओ राज्यकेँ धर्मक आध्यात्मिक सत्यक निर्णायक बनबाक अधिकार नहि दैत अछि। राज्यक पहिल कर्तव्य नागरिकक समान स्वतंत्रता, गरिमा आ विधिक सुरक्षा अछि।

56.1 धर्मक सत्य आ राज्यक अधिकार

कोनो धार्मिक समुदाय अपन शास्त्र, परम्परा, गुरु, पैगम्बर, तत्त्वमीमांसा वा अनुभूतिक आधारपर सत्य-दाबी कऽ सकैत अछि। ई धार्मिक जीवनक स्वाभाविक भाग अछि। मुदा राज्यक दण्डशक्ति सभ नागरिकपर लागू होइत अछि। तेँ “हमर धर्म ई कहैत अछि” व्यक्तिगत अथवा सामुदायिक कारण भऽ सकैत अछि, मुदा सभ नागरिकपर बाध्यकारी कानूनक लेल अतिरिक्त सार्वजनिक औचित्य चाही। सार्वजनिक कारणक अर्थ धर्महीन कारण नहि; अर्थ ई जे कारणक मूल्यांकन नागरिक अपन धार्मिक पहचान बदले बिना सेहो कऽ सकथि।

56.2 धर्मनिरपेक्षता: दूरी, समानता आ संरक्षण

धर्मनिरपेक्ष राज्यक अनेक ऐतिहासिक रूप अछि। किछु परम्परामे राज्य आ धार्मिक संस्था बीच कठोर विभाजनपर जोर; किछुमे सिद्धान्तगत समान दूरी; किछुमे धार्मिक स्वतंत्रता रक्षार्थ राज्यक सीमित हस्तक्षेप। समानान्तर दर्शन कोनो एक ऐतिहासिक नमूनाकेँ सार्वभौम नुस्खा नहि मानैत। ओकर कसौटी चारि अछि—कोनो नागरिकक नागरिक-अधिकार धर्मपर निर्भर नहि हो; धर्म बदलबाक वा नहि मानबाक स्वतंत्रता सुरक्षित हो; धर्मक नामपर हिंसा वा नागरिक-अधिकार हननकेँ राज्य वैध नहि मानय; आ राज्य कोनो धर्मक प्रभुत्वक उपकरण नहि बनय।

56.3 समान व्यवहार आ समान परिणाम

धर्मक प्रश्नमे “सभकेँ एके नियम” सदैव समानता नहि दैत। यदि कोनो नियम बहुसंख्यक परम्पराक दिनचर्याक अनुसार बनल हो तँ औपचारिक तटस्थता अल्पसंख्यकपर असमान भार डालि सकैत अछि। तेँ न्यायपूर्ण राज्यकेँ औपचारिक समानता आ वास्तविक प्रभाव दुनू देखय पड़त। मुदा विशेष व्यवस्था स्वयं स्थायी विशेषाधिकार न बनय; ओकर औचित्य गरिमा, स्वतंत्रता आ समान नागरिकता सँ सिद्ध हो।

56.4 धार्मिक संस्था आ आन्तरिक न्याय

राज्य धार्मिक विश्वासक अर्थनिर्णायक नहि, मुदा धार्मिक संस्था भीतर हिंसा, जबरदस्ती, सम्पत्ति-अपराध, बाल-अधिकार हनन, जाति वा लिंग-आधारित नागरिक वंचना जकाँ प्रश्न उठलापर “ई आन्तरिक धार्मिक मामला अछि” कहि पूर्णतः हटि नहि सकैत। धार्मिक स्वायत्तता महत्त्वपूर्ण अछि, मुदा व्यक्ति धार्मिक समुदायक सदस्य होइतहुँ राज्यक नागरिक सेहो अछि। समानान्तर दर्शन समुदाय-अधिकार आ व्यक्तिगत गरिमा बीच संतुलन खोजैत अछि।

56.5 बहुमत आ धार्मिक राष्ट्रवाद

बहुमत धार्मिक पहचान राज्यक सांस्कृतिक जीवनपर प्रभाव रखि सकैत अछि; इतिहास, भाषा, पर्व, प्रतीक सभ समाजक भाग अछि। मुदा बहुमत संख्या आध्यात्मिक सत्य वा राजनीतिक विशेषाधिकारक प्रमाण नहि। जँ नागरिकताक सम्मान धार्मिक अनुरूपतापर निर्भर हो जाए तँ लोकतन्त्र बहुमतवादी प्रभुत्वमे बदलि सकैत अछि।

पूर्वपक्ष: धर्म सार्वजनिक नैतिकताक मुख्य स्रोत अछि; राज्य ओकर बिना मूल्यहीन भऽ जाएत।

उत्तरपक्ष: धार्मिक नैतिक परम्परा सार्वजनिक जीवनकेँ समृद्ध कऽ सकैत अछि, मुदा राज्यक वैधता एक धर्मक प्रामाण्यपर नहि, सभ नागरिकक समान दर्जापर टिकबाक चाही। धार्मिक व्यक्ति सार्वजनिक कारण देबाक सक्षम छथि; धर्मनिरपेक्ष राज्य धर्मविरोधी राज्य नहि।

56.11 धर्म-आधारित निजी कानून

समुदायिक निजी कानून पहचान आ स्वायत्तता बचा सकैत अछि, मुदा विवाह, उत्तराधिकार वा संरक्षकतामे सदस्यक समान अधिकार प्रभावित करि सकैत। राज्यक एकरूपता सेहो बहुमतक मानक थोपि सकैत अछि।

सुधारक कसौटी मूल अधिकार, स्वैच्छिकता, निकास आ प्रभावित सदस्यक आवाज हो। बाहरी हस्तक्षेप राजनीतिक पक्षपातसँ मुक्त आ सभ समुदायपर समान नैतिक मानकवला हो।

वैकल्पिक नागरिक कानून वास्तविक रूपसँ सुलभ हो, केवल कागजपर नहि। कमजोर सदस्यपर परिवारक दबाव जाँचल जाए।

56.12 धार्मिक स्थल आ सार्वजनिक संसाधन

धार्मिक स्थल इतिहास, समुदाय आ पूजा लेल महत्त्वपूर्ण, मुदा भूमि, मार्ग, ध्वनि आ सुरक्षा सार्वजनिक संसाधनसँ जुड़ैत अछि। नियम कोनो एक धर्मक सुविधा अनुसार नहि बनय।

पुरान उपयोग ऐतिहासिक दाबी दे सकैत, असीम विस्तारक अधिकार नहि। स्थानीय निवास, पर्यावरण आ अल्पमतक पूजा समान सुनल जाए।

विवादमे अफवाह रोकि अभिलेख, मानचित्र आ वैधानिक प्रक्रिया अपनाओल जाए। पवित्र भावनाक तीव्रता तथ्यक स्थान नहि लय।

56.13 राज्यक प्रतीकात्मक तटस्थता

राजकीय समारोह, भाषा आ प्रतीक कखनो बहुमत धर्मकेँ राष्ट्रक स्वाभाविक चेहरा बना दैत अछि। अल्पमत कानूनी अधिकार पाबितो प्रतीकात्मक रूपसँ बाहरी महसूस कऽ सकैत अछि।

पूर्ण प्रतीक-विहीन राज्य सम्भव नहि। प्रश्न ई जे प्रतीक नागरिक-साझा मूल्य व्यक्त करैत अछि वा विशिष्ट धार्मिक सदस्यता। बहु-परम्पराक समान अवसर आ गैरधार्मिक नागरिकक स्थान हो।

प्रतीकात्मक समावेशन संसाधन-असमानता छिपाबय नहि। नियुक्ति, सेवा आ सुरक्षा परिणामक मुख्य कसौटी रहत।

56.14 पूर्वपक्ष: राज्य धर्मसँ दूरी रखय, बस

कठोर दूरी पक्षपात घटबैत अछि; राज्य धर्मक सिद्धान्त वा संस्था सँ अलग रहय। मुदा जँ धार्मिक संस्था भीतर स्पष्ट अधिकार-हानि हो, दूरी पीड़ितक परित्याग बनि सकैत अछि।

सिद्धान्तगत दूरी राज्यकेँ विश्वास तय करबा रोकैत, समान कानून लागू करबा नहि। हस्तक्षेप धर्मक सत्यपर नहि, हिंसा, सम्पत्ति, श्रम वा नागरिक अधिकारपर आधारित हो।

समान कसौटी महत्त्वपूर्ण। बहुमतक संस्थापर नरमी आ अल्पमतपर कठोरता धर्मनिरपेक्षता नहि।

56.6 धर्मनिरपेक्षताक अलग नमूना

धर्मनिरपेक्षता सर्वत्र एकहि संस्थागत रूप नहि। कखनो राज्य–धर्म पृथक्करण, कखनो सभ धर्मसँ समान दूरी, कखनो अधिकार-सुरक्षा लेल सिद्धान्तगत हस्तक्षेपपर बल देल जाइत अछि। इतिहास आ सामाजिक संरचना अनुसार नमूना बदलैत अछि।

नामक बदला परिणाम जाँचल जाए: नागरिकक धार्मिक स्वतंत्रता सुरक्षित अछि की नहि, राज्य पक्षपात करैत अछि की नहि, आ संस्था भीतर कमजोर सदस्यक अधिकार बचैत अछि की नहि। औपचारिक दूरी वास्तविक समानता सुनिश्चित नहि करैत।

56.7 धार्मिक स्वतंत्रताक सीमा

विश्वासक आन्तरिक स्वतंत्रता व्यापक अछि; बाहरी आचरण दोसरक अधिकार, स्वास्थ्य वा सार्वजनिक व्यवस्था प्रभावित करि सकैत अछि। सीमा वास्तविक हानि, अनुपातिकता आ न्यूनतम प्रतिबन्धक आधारपर हो। केवल बहुमतक असुविधा हानि नहि।

राज्य धार्मिक सिद्धान्तक सत्य तय नहि करय, मुदा कानून लागू करैत समय प्रथाक सामाजिक प्रभाव जाँचि सकैत अछि। प्रतिबन्ध समान कसौटीपर, पारदर्शी कारणसहित आ अपीलयोग्य हो।

56.8 संस्था भीतर असहमति

धार्मिक संस्थाक स्वायत्तता सामूहिक स्वतंत्रताक अंग अछि। मुदा सदस्य, स्त्री, बालक वा निम्न पदक व्यक्ति अधिकारहीन नहि। ‘आन्तरिक मामला’ कहि हिंसा, सम्पत्ति-दुरुपयोग वा नागरिक भेदभाव छिपाओल नहि जाए।

हस्तक्षेप सावधान हो, कारण बाहरी सत्ता धार्मिक अल्पमतकेँ अनुचित रूपसँ नियंत्रित करि सकैत अछि। स्पष्ट हानि, समान कानून, स्वतंत्र जाँच आ समुदाय भीतरक सुधारक आवाजक सुरक्षा आवश्यक।

56.9 सार्वजनिक कारण

नागरिक अपन धार्मिक प्रेरणासँ नीति समर्थन कऽ सकैत छथि, मुदा बाध्यकारी कानून लेल एहन कारण सेहो देथि जे भिन्न विश्वासवला नागरिक समझि आ जाँचि सकथि। सार्वजनिक कारण धार्मिक भाषा निषिद्ध करब नहि, साझा औचित्य जोड़ब अछि।

सभ विवाद पूर्ण सहमति धरि नहि पहुँचत। प्रक्रिया निष्पक्ष, प्रमाण खुलल आ अधिकार सुरक्षित रहय। बहुमत निर्णय सम्भव, मुदा अल्पमतक गरिमा आ पुनर्विचारक मार्ग बनल रहत।

56.10 प्रतीक, विद्यालय आ नागरिक समानता

विद्यालयमे धार्मिक प्रतीक वा शिक्षा सम्बन्धी विवाद पहचान, बालकक स्वतंत्रता, अभिभावकक अधिकार आ राज्यक तटस्थता जोड़ैत अछि। एक सिद्धान्त सभ प्रसंग समाधान नहि करैत।

शिक्षा तुलनात्मक ज्ञान दे सकैत, धर्मोपदेश अलग विषय। बालककेँ आलोचनात्मक सोच, अपन परम्परा बुझब आ विकल्पक सम्मान सिखाओल जाए। नीति कोनो समुदायकेँ कलंकित नहि करय।

अध्याय-निष्कर्ष

धर्मक रक्षा राज्य करय—धार्मिक स्वतंत्रताक रक्षा द्वारा; कोनो धर्मक प्रभुत्व नहि। समानान्तर दर्शनक सूत्र अछि: व्यक्तिगत आस्था स्वतंत्र, सामुदायिक धर्म सम्मानित, राज्यक विधि समान नागरिक गरिमासँ बन्धल।

अध्याय-ग्रन्थसूची

John Locke — A Letter Concerning Toleration.

John Rawls — Political Liberalism.

B. R. Ambedkar — States and Minorities; चयनित भाषण.

M. K. Gandhi — Hind Swaraj; चयनित लेख.

Rajeev Bhargava — The Promise of India’s Secular Democracy.

Stanford Encyclopedia of Philosophy — “Religion and Political Theory”; “Religious Toleration”.

अध्याय 57 – लोकधर्म आ संस्थागत धर्म

धार्मिक जीवन केवल शास्त्र, मठ, मन्दिर, मस्जिद, गिरजाघर, संघ वा औपचारिक सिद्धान्तमे नहि बसैत। लोकजीवनमे पाबनि, गीत, कथा, व्रत, घरक अनुष्ठान, स्थानीय देवता, नदी, वृक्ष, पूर्वज, ऋतु, रोग-निवारण, कृषि आ जीवन-संक्रमणक संस्कार धार्मिक अर्थ बनबैत अछि। एहि संसारकेँ “अशास्त्रीय” कहि उपेक्षित करब धार्मिक इतिहासक विशाल भागकेँ खो देब होयत। मुदा लोकधर्मकेँ स्वतः उदार, प्रामाणिक वा निर्दोष मानब सेहो गलत।

57.1 लोकधर्मक मिश्रित स्वरूप

एकहि ग्राम वा परिवारक धार्मिक व्यवहारमे अनेक परम्पराक तत्व घुलल रहि सकैत अछि। शास्त्रीय सीमा व्यवहारमे अधिक लचीला हो सकैत अछि। एहि मिश्रणकेँ तुरन्त “सामंजस्य” कहि महिमामण्डित नहि करबाक चाही; कखनो ई ऐतिहासिक सहअस्तित्व, कखनो सामाजिक दबाव, कखनो स्थानीय अनुकूलन, कखनो विस्मृत स्रोतक परिणाम हो सकैत अछि।

57.2 स्त्री, घर आ धार्मिक अर्थ

घरेलू व्रत, गीत, जन्म-विवाहक अनुष्ठान आ देखभाल-आधारित धार्मिक व्यवहार कई बेर आधिकारिक ग्रन्थसँ अलग अर्थ-संसार बनबैत अछि। एहि स्रोतसभसँ स्त्रीक धार्मिक एजेंसी, श्रम आ नैतिक कल्पना बुझल जा सकैत अछि। मुदा जँ लोकाचार स्त्रीक स्वायत्तता सीमित करैत हो तँ केवल “परम्परा” कहि ओकर आलोचना रोकी नहि सकैत।

57.3 संस्था किएक बनैत अछि?

संस्थागत धर्मक केवल नकारात्मक चित्र उचित नहि। संस्था स्मृति सुरक्षित करैत अछि, पाठ संरक्षित करैत अछि, शिक्षा दैत अछि, सामुदायिक सहायता चलबैत अछि, अनुशासन आ उत्तराधिकार बनबैत अछि। बिना संस्थाक अनेक परम्परा नष्ट भऽ सकैत छल। समस्या संस्था मात्र नहि, संस्थाक उत्तरदायित्व अछि। प्रतिष्ठा, धन, पद, लिंग, जाति वा वंश आधारित बंद संरचना धार्मिक अधिकारकेँ सामाजिक सत्ता बना सकैत अछि।

57.4 लोक बनाम शास्त्र: झूठा द्वन्द्व

“लोक = मुक्त” आ “शास्त्र = दमनकारी” जकाँ कथा उतबे गलत अछि जतेक “शास्त्र = सत्य” आ “लोक = अज्ञान”। दुनूमे ज्ञान, सौन्दर्य, करुणा, अनुशासन आ अन्याय—सभ सम्भव। समानान्तर दर्शन दुनू पर एकहि नैतिक कसौटी लागू करैत अछि: गरिमा, स्वायत्तता, अहिंसा, सत्यता, उत्तरदायित्व आ आलोचनाक सम्भावना।

57.5 मिथिला आ लोकधर्मक अध्ययन

मिथिलाक पाबनि, स्त्री-गीत, नदी-संस्कार, ग्रामदेवता, कुलपरम्परा, लोककथा आ गृह-अनुष्ठान धार्मिक अध्ययनक महत्त्वपूर्ण स्रोत भऽ सकैत अछि। मुदा एहि सामग्रीक उपयोग दर्शनमे करैत समय स्पष्ट करबाक चाही जे कोन तथ्य दस्तावेजित, कोन मौखिक स्मृति, कोन वर्तमान प्रथा, आ कोन दार्शनिक व्याख्या। लोकविश्वास स्वयं प्रमाणित तत्त्वमीमांसा नहि।

पूर्वपक्ष: संस्थागत धर्म भ्रष्ट होइत अछि; वास्तविक धर्म लोकमे अछि।

उत्तरपक्ष: लोकधर्म सत्ता-विहीन नहि, आ संस्था केवल भ्रष्टाचार नहि। प्रश्न “लोक वा संस्था?” नहि; प्रश्न अछि—कुन संरचना मनुष्यक गरिमा, अर्थ, स्मृति आ स्वतंत्रताकेँ कोना प्रभावित करैत अछि।

57.11 लोकधर्मक परिवर्तनशील पाठ

लोककथा आ गीत प्रत्येक प्रस्तुति मे थोड़ा बदलि सकैत अछि। ई त्रुटि मात्र नहि; नूतन परिस्थिति, श्रोता आ वक्ताक अनुभव अर्थ बदलैत अछि। ‘मूल’ पाठ खोजब उपयोगी, मुदा जीवित रूपकेँ भ्रष्ट प्रति नहि मानल जाए।

संस्करणक तिथि, स्थान, प्रस्तोता आ प्रसंग दर्ज हो। सम्पादक एक मिश्रित पाठ बनबैत छथि तँ निर्णय स्पष्ट लिखथि।

परिवर्तनक दिशा सत्ता देखबैत अछि: कोन पात्र हटैत, ककर आवाज बढ़ैत, आ शास्त्रीय प्रभाव कोना प्रवेश करैत।

57.12 अनुष्ठान आ पर्यावरण

स्थानीय पर्व नदी, ऋतु, फसल आ पशुसँ सम्बन्धित पर्यावरणीय स्मृति राखि सकैत अछि। मुदा आधुनिक सामग्री, जनसंख्या आ बाजारक कारण पुरान अनुष्ठान नूतन प्रदूषण उत्पन्न करि सकैत।

परम्परा बचायब आ हानि घटायब विरोधी नहि। समुदाय संग वैकल्पिक सामग्री, कचरा-प्रबन्ध आ समयक सुधार खोजल जाए। बाहरी प्रतिबन्ध सम्मानविहीन हो तखन प्रतिरोध बढ़त।

‘प्रकृति-पूजक’ कहि प्रत्येक प्रथाकेँ पर्यावरण-अनुकूल मानब रोमानीकरण अछि। वास्तविक प्रभाव मापल जाए।

57.13 लोकधर्म आ बाजार

तीर्थ, उत्सव आ धार्मिक वस्तुक बाजार स्थानीय आय दे सकैत, मुदा पवित्र अर्थकेँ उपभोग्य प्रदर्शन बना सकैत अछि। कारीगरक श्रम आ लाभ-वितरण प्रायः अदृश्य रहैत।

व्यापार अपने-आप भ्रष्टाचार नहि। पारदर्शी मूल्य, स्थानीय उत्पादकक अधिकार, कचरा-नियन्त्रण आ धार्मिक सेवाक गैर-बाध्यकारी स्वरूप आवश्यक।

पर्यटनक दृष्टि समुदायकेँ ‘परम्परागत’ भूमिका निभेबा दबाव दे सकैत। निवासी अपन संस्कृति बदलयक अधिकार रखैत छथि।

57.14 पूर्वपक्ष: लोकधर्म शास्त्रसँ मुक्त स्वाभाविक धर्म अछि

लोककेँ सहज, स्त्री-मुखी आ सहिष्णु तथा संस्थागत धर्मकेँ कठोर कहब आकर्षक द्वैत अछि। वास्तविकतामे लोकप्रथा सेहो बहिष्कार, भय वा पदानुक्रम रखि सकैत; शास्त्रीय परम्परा भीतर आलोचना सेहो।

कुन प्रथा न्यायपूर्ण से उद्गम नहि, परिणाम आ अधिकारक कसौटी तय करैत। लोक होयबा कारण सत्य नहि, शास्त्रीय होयबा कारण असत्य नहि।

समानान्तर अध्ययन दूनूक परस्पर उधार, संघर्ष आ परिवर्तन देखय। शुद्ध क्षेत्रक कल्पना छोड़ि प्रमाणित सम्बन्ध लिखल जाए।

57.6 लोकदेवता, स्थान आ स्मृति

लोकधर्मक पवित्रता प्रायः नदी, वृक्ष, चौक, कुल, रोग वा ऐतिहासिक स्मृतिसँ जुड़ल होइत अछि। एहन स्थान समुदायक पर्यावरणीय आ सामाजिक सम्बन्धक अभिलेख बनि सकैत अछि।

मुदा प्रत्येक कथाकेँ शाब्दिक इतिहास मानब उचित नहि। अनुष्ठान, लोककथा, भौतिक स्थल आ लिखित स्रोत अलग प्रमाण देत। समानता भेटला पर सावधान निष्कर्ष, भिन्नता भेटला पर संस्करणक इतिहास लिखल जाए।

57.7 स्त्रीक धार्मिक श्रम

घरक व्रत, गीत, भोजन, स्मृति आ अनुष्ठान प्रायः स्त्रीक श्रमसँ टिकैत अछि, मुदा औपचारिक धार्मिक इतिहासमे ई योगदान कम देखाइत। धार्मिक अधिकार आ धार्मिक श्रमक वितरण भिन्न हो सकैत अछि।

एहि श्रमकेँ केवल ‘परम्पराक रक्षक’ कहि महिमामण्डित कएलासँ बोझ आ असहमति छिपि सकैत अछि। सहभागी स्त्रीक अपन अर्थ, थकान, एजेंसी आ परिवर्तनक माँग सुनल जाए।

57.8 उपचार, विश्वास आ स्वास्थ्य

लोकधार्मिक उपचार आशा, समुदायिक साथ आ अर्थ दे सकैत अछि। किछु अभ्यास हानिरहित पूरक हो सकैत, मुदा वैज्ञानिक उपचार रोकला पर जोखिम बढ़ैत अछि। अनुभवगत स्वास्थ्य-दाबी नियंत्रित प्रमाण माँगैत अछि।

स्वास्थ्यकर्मी लोकविश्वासक अपमान नहि करथि, स्पष्ट हानि आ लाभ बतबथि। समुदायिक विश्वास आ चिकित्सकीय सुरक्षा बीच संवाद सम्भव अछि, जँ गलत उपचारक व्यापार आ दबावपर उत्तरदायित्व हो।

57.9 संस्था बनबाक लाभ

संस्था स्मृति, प्रशिक्षण, संसाधन आ नियम स्थिर करैत अछि। बिना संस्था परम्परा एक पीढ़ीसँ दोसर धरि टूटि सकैत। संस्था सामूहिक सेवा आ संकट-सहायता सेहो व्यवस्थित करैत अछि।

स्थिरता संग पद, सम्पत्ति आ अधिकार केन्द्रित होइत अछि। नेतृत्वक चयन, लेखा, स्त्री-भागीदारी आ शिकायतक मार्ग बिना सेवा सत्ता बनि सकैत अछि। संस्थाक आलोचना धर्मक नकार नहि।

57.10 क्षेत्र-अध्ययनक नैतिकता

लोकधर्म अध्ययन करनिहार बाहरी पर्यवेक्षक मात्र नहि; प्रश्न, लेखन आ प्रकाशन समुदायपर प्रभाव दैत अछि। सूचित सहमति, गोपनीयता, नामक अनुमति आ परिणाम साझा करब आवश्यक।

‘अनोखा’ सामग्री खोजबाक लालसा लोककेँ प्रदर्शन बना सकैत अछि। वर्णन सम्मानपूर्ण हो, मुदा हानि वा असमानता छिपाओल नहि जाए। शोधकर्ता अपन स्थान आ सीमा स्पष्ट लिखय।

अध्याय-निष्कर्ष

लोकधर्म धार्मिक अनुभवक जीवित प्रयोगशाला अछि; संस्थागत धर्म स्मृति आ संगठनक संरचना। समानान्तर दर्शन दुनूकेँ सम्मानपूर्वक पढ़ैत अछि, दुनूसँ प्रश्न करैत अछि, आ कोनो रूपकेँ आलोचनासँ मुक्त नहि रखैत अछि।

अध्याय-ग्रन्थसूची

Émile Durkheim — The Elementary Forms of Religious Life.

Clifford Geertz — The Interpretation of Cultures.

Wilfred Cantwell Smith — The Meaning and End of Religion.

Diana L. Eck — India: A Sacred Geography.

लोकधर्म, मौखिक परम्परा आ दक्षिण एशियाई धर्मपर चयनित नृवंशशास्त्रीय अध्ययन.

सप्तम खण्ड – आधुनिक आ समकालीन दर्शन

अध्याय 58 – आधुनिकता

“आधुनिकता” केवल कालसूचक शब्द नहि। विज्ञान, उद्योग, पूँजीवाद, राष्ट्र-राज्य, व्यक्तिवाद, नौकरशाही, लोकतन्त्र, जनशिक्षा, औपनिवेशिकता, बाजार, मुद्रण, नगरीकरण आ नूतन संचार-व्यवस्थासभ एकर अलग-अलग ऐतिहासिक आयाम छथि। आधुनिकताकेँ एकहि स्रोत वा एकहि मूल्यक कथा बनायब कठिन अछि।

58.1 मुक्ति आ नियन्त्रणक द्वैधता

आधुनिक संस्थासभ व्यक्तिक कानूनी दर्जा, शिक्षा, संचार, चिकित्सा, लोकतान्त्रिक भागीदारी आ वैज्ञानिक ज्ञानक अभूतपूर्व विस्तार कएलक। संगहि जनगणना, अभिलेख, सीमा, कारागार, सैन्य नौकरशाही, औद्योगिक अनुशासन, निगरानी आ औपनिवेशिक प्रशासनक नूतन रूप सेहो बनल। तेँ आधुनिकता न शुद्ध मुक्ति, न शुद्ध दमन।

58.2 परम्परा बनाम आधुनिकता

परम्पराकेँ स्थिर अतीत मानब भूल अछि। परम्परा स्वयं बदलैत, पुनर्व्याख्यायित आ आविष्कृत होइत रहैत अछि। आधुनिकता सेहो एकरूप नहि। व्यक्ति वैज्ञानिक अस्पताल उपयोग करैत पारिवारिक अनुष्ठान निभा सकैत अछि; लोकतान्त्रिक अधिकार माँगैत क्षेत्रीय भाषा बचा सकैत अछि। वास्तविक जीवन मिश्रित अछि।

58.3 औपनिवेशिक आधुनिकता

दक्षिण एशियामे आधुनिक प्रशासन, रेलवे, मुद्रण, आधुनिक शिक्षा, नूतन विधि आ विज्ञान औपनिवेशिक प्रभुत्वक संरचनासँ जुड़ल रूपमे आयल। एहि कारण आधुनिक संस्थाक मूल्यांकनमे द्वैधता आवश्यक अछि: कोन ज्ञान सार्वभौम उपयोगी? कोन व्यवस्था साम्राज्यवादी हितसँ बनल? कोन संस्था उपनिवेशोत्तर समाज पुनः अपन अर्थमे ढालि सकैत अछि?

58.4 व्यक्ति, समुदाय आ बाजार

आधुनिकता व्यक्तिक स्वायत्ततासँ बल दैत अछि, मुदा बाजार व्यक्ति के उपभोक्ता आ श्रमिकक रूपमे सीमित सेहो कऽ सकैत अछि। समुदाय दमनकारी हो सकैत अछि, मुदा समुदाय-विघटन अकेलापन आ असुरक्षा उत्पन्न कऽ सकैत अछि। समानान्तर दर्शन स्वतंत्र व्यक्ति आ सहायक समुदाय दुनूक आवश्यकता मानैत अछि।

58.5 मिथिला, क्षेत्र आ आधुनिकता

क्षेत्रीय भाषा, प्रवास, शिक्षा, डिजिटल माध्यम, रोजगार आ राज्यीय नीतिक बीच मिथिलाक आधुनिक अनुभव देखबैत अछि जे आधुनिकता केन्द्रसँ हाशिया धरि एके रूपमे नहि पहुँचैत। भाषिक समुदाय आधुनिक तकनीक उपयोग कऽ परम्परा पुनर्जीवित कऽ सकैत अछि। अतः “स्थानीय = अतीत” आ “वैश्विक = आधुनिक” भेद टिकैत नहि।

पूर्वपक्ष: आधुनिकता परम्परागत बन्धन तोड़ि मनुष्यकेँ मुक्त करैत अछि, तेँ ओकर आलोचना प्रतिक्रियावाद अछि।

उत्तरपक्ष: आधुनिक स्वतंत्रताक उपलब्धि महत्त्वपूर्ण अछि, मुदा आधुनिक संस्थाक सत्ता-संरचना आलोचनासँ मुक्त नहि। समानान्तर दर्शन चुनैत अछि—परम्पराक ज्ञान, बिना परम्पराक अन्याय; आधुनिकताक स्वतंत्रता, बिना आधुनिकताक अमानवीकरण।

58.11 सार्वजनिक क्षेत्रक निर्माण

मुद्रण, सभा, पत्रिका आ आधुनिक संचार निजी व्यक्तिकेँ सार्वजनिक प्रश्नपर तर्क करबाक मंच दैत अछि। मुदा पहुँच शिक्षा, भाषा, सम्पत्ति आ लिंगसँ सीमित हो सकैत; तथाकथित सार्वजनिक मत वास्तवमे संकीर्ण समूहक मत भऽ सकैत अछि।

डिजिटल माध्यम प्रवेश लागत घटबैत, संगहि मंच-स्वामित्व आ ध्यान-व्यापार नूतन द्वारपाल बनबैत अछि। सार्वजनिकता स्वतः मुक्त नहि।

समावेशी क्षेत्र लेल स्थानीय भाषा, सुरक्षित असहमति, स्रोत-पारदर्शिता आ विविध संस्थागत मंच चाही। राज्य आ बाजार दुनूक अत्यधिक नियन्त्रणसँ दूरी रहय।

58.12 व्यक्तिवादक दू रूप

नैतिक व्यक्तिवाद प्रत्येक मनुष्यक समान अधिकार मानैत अछि; स्वार्थपरक व्यक्तिवाद सामाजिक दायित्व नकारि सकैत अछि। दूनूकेँ एक कहला पर अधिकारक आलोचना गलत होइत अछि।

परम्परागत समुदाय व्यक्तिक सहारा दैत, मुदा जन्मगत भूमिका थोपि सकैत अछि। आधुनिक अधिकार निकास देत, मुदा बाजार-एकान्त बढ़ा सकैत अछि।

समानान्तर दृष्टि अधिकारसहित सम्बन्ध चाहैत अछि। व्यक्ति समुदाय चुनि, आलोचना करि आ छोड़ि सकय; समाज देखभालक बोझ न्यायपूर्ण बाँटय।

58.13 परम्पराक आविष्कार आ पुनर्रचना

आधुनिक परिवर्तनक समय समुदाय किछु अभ्यासकेँ प्राचीन अखण्ड परम्परा रूपमे प्रस्तुत करि सकैत, यद्यपि ओकर वर्तमान रूप नव हो। ई हरदम छल नहि; पहचान स्थिर करबाक सामाजिक प्रक्रिया भऽ सकैत अछि।

इतिहासकार उद्गम, परिवर्तन आ चयन जाँचय। ‘आविष्कृत’ कहला सँ प्रथाक वर्तमान अर्थ शून्य नहि, मुदा प्राचीनताक दाबी सीमित होइत अछि।

नूतन परम्परा नैतिक परीक्षा सँ मुक्त नहि। समुदायिक एकता ककर बहिष्कारपर बनल से देखल जाए।

58.14 पूर्वपक्ष: आधुनिकता पश्चिमीकरण मात्र अछि

आधुनिक विज्ञान, राष्ट्र-राज्य, पूँजीवाद आ नौकरशाहीक इतिहास यूरोपीय विस्तारसँ गहराईसँ जुड़ल; तेँ आधुनिकता स्वीकारब सांस्कृतिक अधीनता कहल जाइत अछि।

मुदा संस्था स्थानान्तरित भेला पर स्थानीय संघर्षसँ बदलैत अछि। लोकतन्त्र वा वैज्ञानिक विधि कोनो सभ्यताक निजी सम्पत्ति नहि; ओकर औचित्य सार्वजनिक कारण आ परिणामसँ जाँचल जाए।

उपनिवेशी सत्ता आलोचना संग स्वदेशी पदानुक्रमक आलोचना सेहो हो। बाहरी उद्गम मात्र दोष आ स्थानीय उद्गम मात्र गुण नहि।

58.6 तर्कीकरण आ नौकरशाही

आधुनिक संस्था नियम, गणना आ विशेषज्ञतासँ व्यापक काम सम्भव बनबैत अछि। व्यक्तिगत कृपाक बदला नियमित प्रक्रिया नागरिककेँ सुरक्षा दे सकैत अछि। मुदा नियम साध्यसँ कटि जाए तँ मनुष्य फाइल आ संख्या बनि जाइत अछि।

नौकरशाहीक आलोचना नियमहीनता माँगब नहि। सरल प्रक्रिया, कारण-लेखन, समय-सीमा, स्थानीय भाषा आ अपील व्यवस्था तर्कीकरणकेँ मानवीय बना सकैत अछि। दक्षता गरिमाक विरोधी नहि, जँ लक्ष्य स्पष्ट हो।

58.7 बाजार आ जीवनक क्षेत्र

बाजार विनिमय, विकल्प आ नवोन्मेष बढ़बैत अछि, मुदा सभ वस्तु बाजार योग्य नहि। मत, न्याय, शरीर वा सार्वजनिक पद खरीद योग्य बनला पर समान नागरिकता नष्ट होइत अछि।

कहाँ मूल्य तय करब उपयोगी आ कहाँ नैतिक सीमा चाही—ई प्रसंगगत प्रश्न। स्वास्थ्य, शिक्षा आ जलक पहुँच केवल भुगतान-क्षमतापर छोड़ला सँ मूल क्षमता असमान हो सकैत अछि।

58.8 औपनिवेशिक ज्ञान-वर्गीकरण

औपनिवेशिक शासन जनगणना, मानचित्र, कानून आ भाषिक वर्गीकरणसँ समाजकेँ जानैत आ नियंत्रित करैत छल। ई अभिलेख महत्त्वपूर्ण स्रोत, मुदा शासनक उद्देश्य आ श्रेणी सँ मुक्त नहि।

औपनिवेशिक स्रोत नकारल नहि जाए; स्थानीय अभिलेख, मौखिक स्मृति आ बादक शोधसँ तुलना कएल जाए। ‘आधुनिक’ संस्था केवल बाहरी आरोपण वा शुद्ध प्रगति—दुनू एकरेख कथा अपर्याप्त।

58.9 समय, गति आ विस्थापन

आधुनिक जीवन गति बढ़बैत अछि—यातायात, संचार, उत्पादन। गति अवसर दैत, मुदा पुरान कौशल, सम्बन्ध आ परिवेश तेजी सँ अप्रासंगिक करि सकैत अछि। सभ समूह परिवर्तनक लागत समान नहि वहैत।

प्रगतिक माप समय बचत मात्र नहि। बचल समय ककरा भेटल, श्रमक तीव्रता बढ़ल की नहि, आ देखभाल लेल समय बचल की नहि—ई प्रश्न आवश्यक।

58.10 बहु-आधुनिकता

आधुनिकता एक यूरोपीय नमूना सभ समाजमे प्रतिलिपि होयब नहि। स्थानीय इतिहास, धर्म, भाषा आ राजनीतिक संघर्ष आधुनिक संस्थाकेँ भिन्न रूप दैत अछि। विज्ञान वा लोकतन्त्र ग्रहण करब सांस्कृतिक आत्मसमर्पण आवश्यक नहि।

बहु-आधुनिकता नामपर अधिकार-विरोधी प्रथा बचाओल सेहो नहि जाए। स्थानीय रूपक सम्मान आ सार्वभौम गरिमाक परीक्षा एक संग सम्भव अछि।

अध्याय-निष्कर्ष

आधुनिकता एकटा अपूर्ण परियोजना, संघर्षशील इतिहास आ बहुवचन अनुभव अछि। ओकर आलोचना आधुनिक उपलब्धिक निषेध नहि; ओकर मुक्ति-दाबीक नैतिक परीक्षण अछि।

अध्याय-ग्रन्थसूची

Max Weber — Economy and Society.

Jürgen Habermas — The Philosophical Discourse of Modernity.

Michel Foucault — Discipline and Punish.

Charles Taylor — Sources of the Self.

Dipesh Chakrabarty — Provincializing Europe.

M. K. Gandhi — Hind Swaraj.

अध्याय 59 – विज्ञान आ मनुष्य

विज्ञान मानव इतिहासक सबसँ शक्तिशाली ज्ञान-पद्धतिसभमे एक अछि। आधुनिक चिकित्सा, संचार, कृषि, ऊर्जा, परिवहन, पदार्थ-विज्ञान आ ब्रह्माण्ड-बोध विज्ञानसँ गहराइत बदलल। मुदा वैज्ञानिक ज्ञानक शक्ति स्वतः नैतिक दिशा नहि दैत। “की सम्भव अछि?” आ “की करबाक चाही?” अलग प्रश्न छथि।

59.1 विज्ञानक ज्ञानात्मक शक्ति

विज्ञानक शक्ति केवल तथ्य-संग्रह नहि; सार्वजनिक परीक्षण, मापन, पुनरावृत्ति, गणितीय प्रतिरूप, परिकल्पना-संशोधन आ आलोचनात्मक समुदायमे अछि। एहि कारण समानान्तर दर्शन विज्ञानकेँ “एक मत” मात्र नहि मानैत। प्रकृतिक अनुभवजन्य प्रश्नमे वैज्ञानिक पद्धति विशेष सार्वजनिक अधिकार रखैत अछि। मुदा वैज्ञानिक समुदाय सेहो मानवीय संस्था अछि—त्रुटि, हित-संघर्ष आ पूर्वग्रह सम्भव; तेँ समीक्षा आवश्यक।

59.2 तथ्यसँ मूल्य स्वतः नहि निकलैत

जैविकी बता सकैत अछि जे आनुवंशिक विशेषता कोना संचरित होइत अछि; ई नहि बतबैत जे समाज ककरा अधिक मूल्यवान मानय। तंत्रिका-विज्ञान निर्णय-प्रक्रिया वर्णित कऽ सकैत अछि; ई स्वतः दण्ड-नीतिक न्याय तय नहि करैत। विज्ञान नैतिक निर्णयक तथ्यगत आधार मजबूत करैत अछि, मुदा मूल्यक सम्पूर्ण स्रोत नहि।

59.3 द्वि-उपयोगी ज्ञान

परमाणु-विज्ञान ऊर्जा आ चिकित्सा दुनूमे उपयोगी, संगहि विनाशकारी हथियारमे। जैविकी उपचारक साधन, संगहि भेदभावपूर्ण आनुवंशिक राजनीति लेल दुरुपयोग। कृत्रिम बुद्धि सहायता, शिक्षा आ खोज बढ़ा सकैत अछि, संगहि निगरानी, भ्रम-सृजन आ श्रम-विस्थापनक साधन। तकनीकी क्षमता नैतिक अनुमति नहि।

59.4 विशेषज्ञता आ लोकतन्त्र

जटिल वैज्ञानिक प्रश्नमे विशेषज्ञता आवश्यक अछि, मुदा सार्वजनिक नीति केवल विशेषज्ञकेँ सौंपि देब लोकतान्त्रिक समस्या उत्पन्न करैत। विशेषज्ञ “की सम्भावित?” बता सकैत छथि; नागरिक समाज “कतेक जोखिम स्वीकार्य?”, “लाभ ककरा?”, “हानि ककरा?” जकाँ मूल्य-प्रश्न पूछैत अछि। उचित व्यवस्था विशेषज्ञ ज्ञान आ लोकतान्त्रिक उत्तरदायित्व जोड़ैत अछि।

59.5 वैज्ञानिकतावाद आ विज्ञान-विरोध

वैज्ञानिकतावाद विज्ञानक सफलता देखिकऽ मानि लैत अछि जे सभ सार्थक प्रश्नक उत्तर विज्ञान अकेले देत। विज्ञान-विरोध उलटा रूपमे वैज्ञानिक प्रमाणकेँ केवल सत्ता-कथा मानि खारिज कऽ सकैत अछि। समानान्तर दर्शन दुनूसँ दूरी रखैत अछि: विज्ञानक प्रमाण-अनुशासन स्वीकारू, मुदा ओकर क्षेत्र-सीमा बुझू।

पूर्वपक्ष: नैतिकता व्यक्तिपर निर्भर; विज्ञान मात्र वस्तुनिष्ठ, तेँ नीति विज्ञानकेँ तय करबाक चाही।

उत्तरपक्ष: विज्ञान वस्तुगत तथ्यक अनुशासित ज्ञान दैत अछि, मुदा “ककर हित?”, “कतेक जोखिम?”, “कोन अधिकार?” जकाँ प्रश्न नैतिक-राजनीतिक औचित्य माँगैत अछि।

59.11 पुनरुत्पादनक संकट

एक अध्ययनक परिणाम स्वतंत्र दल द्वारा फेर नहि भेटला पर कारण धोखा ही हो—एहन नहि। छोट नमूना, चयन-पक्षपात, अस्पष्ट विधि वा सांख्यिक आकस्मिकता कारण हो सकैत अछि।

पुनरुत्पादन मूल शोधक अपमान नहि; सामूहिक त्रुटि-सुधारक भाग। नकारात्मक परिणाम प्रकाशित हो, विधि आ डेटा सम्भव सीमा धरि खुलल रहय।

सभ क्षेत्र एकहि प्रकारसँ पुनरुत्पादित नहि। ऐतिहासिक घटना पुनः घटाओल नहि जा सकैत, मुदा स्रोत-पद्धति आ विश्लेषण स्वतंत्र रूपसँ जाँचल जा सकैत अछि।

59.12 मापन आ मानवीय अवधारणा

बुद्धि, गरीबी, स्वास्थ्य वा सुख मापब लेल सूचक चुनल जाइत अछि। सूचक वस्तु स्वयं नहि; कोन पक्ष गिनल आ कोन छुटल से परिणाम बदलैत अछि।

मापन बिना नीति अन्ध हो सकैत, मुदा संख्या मात्र पूर्ण सत्य नहि। अवधारणात्मक परिभाषा, मापनक विश्वसनीयता आ प्रभावित अनुभव जोड़ल जाए।

एक सूचक लक्ष्य बनला पर संस्था ओकरा सुधारि वास्तविक उद्देश्य उपेक्षित करि सकैत अछि। अनेक माप आ स्वतंत्र समीक्षा चाही।

59.13 विज्ञानक वित्तपोषण आ प्रश्न-चयन

कुन रोग, तकनीक वा क्षेत्रपर शोध हो—ई केवल सत्यक अमूर्त क्रम नहि; धन, बाजार, राज्य आ जनदबाव प्रभावित करैत अछि। जे समस्या गरीब समुदायक अछि ओकर आर्थिक आकर्षण कम भऽ सकैत।

वित्तदाता परिणाम आदेश देत तँ विश्वसनीयता नष्ट; मुदा प्रश्न-चयनमे सामाजिक प्राथमिकता वैध। हित-संघर्ष घोषित हो, शोधक स्वतन्त्रता आ परिणाम-प्रकाशन सुरक्षित रहय।

सार्वजनिक धनक उपयोगमे नागरिकक आवाज हो, मुदा लोकप्रियता कठिन मूल अनुसन्धान समाप्त नहि करय। अल्पकालीन उपयोग आ दीर्घकालीन ज्ञान संतुलित हो।

59.14 पूर्वपक्ष: विज्ञान स्वयं नैतिक दिशा देत

यदि मनुष्यक व्यवहार आ सुख वैज्ञानिक रूपसँ बुझल जाए, तँ नैतिकता सेहो तथ्यसँ निकालल जा सकैत—एहन दावा होइत अछि। विज्ञान हानिक परिणाम आ मानवीय आवश्यकता सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण प्रमाण दैत अछि।

मुदा ‘लोक ई चाहैत अछि’सँ ‘ई उचित अछि’ स्वतः नहि। इच्छा गलत सूचना, भय वा प्रभुत्वसँ बनल हो सकैत। मूल्य-संघर्षमे समानता, स्वतंत्रता आ वितरणक तर्क चाही।

नैतिक दर्शन विज्ञानविरोधी नहि; ओ तथ्यक आधारपर लक्ष्यक औचित्य पूछैत अछि। विज्ञान साधन बतबैत, नागरिक समाज मूल्य तय करैत—दुनू संवादरत रहय।

59.6 विज्ञानक संस्थागत नैतिकता

विज्ञान व्यक्तिक प्रतिभा मात्र नहि; प्रयोगशाला, वित्त, पत्रिका, समीक्षा आ सार्वजनिक विश्वासक संस्था अछि। हित-संघर्ष, चयनात्मक प्रकाशन वा डेटा छिपेबा सँ पद्धति कमजोर होइत अछि।

त्रुटि स्वीकारब विज्ञानक कमजोरी नहि। सुधार, पुनर्परीक्षण आ डेटा-पारदर्शिता विश्वसनीयता बढ़बैत अछि। संस्थागत प्रोत्साहन सत्य-खोजक अनुरूप होयत।

59.7 अनुसंधानमे मानव प्रतिभागी

ज्ञानक लाभ लेल व्यक्तिक देह वा डेटा साधन मात्र नहि बनि सकैत। सूचित सहमति, जोखिमक न्यूनता, वापसीक अधिकार आ कमजोर समूहक सुरक्षा आवश्यक।

सहमति पत्र पर्याप्त नहि जँ भाषा अबुझ, उपचारक विकल्प अस्पष्ट वा आर्थिक दबाव प्रबल हो। नैतिक समीक्षा निरन्तर प्रक्रिया हो, एक बेरक अनुमति नहि।

59.8 विज्ञान-संचार

विशेषज्ञ निष्कर्ष जनभाषामे पहुँचबैत समय तकनीकी सीमा गायब भऽ सकैत अछि। सनसनीपूर्ण शीर्षक सम्भाव्यता कैं निश्चित तथ्य बना दैत अछि।

उचित संचार मुख्य निष्कर्ष, पद्धति, नमूना, अनिश्चितता आ व्यावहारिक अर्थ अलग बतबैत अछि। मैथिलीमे विज्ञान-लेखन ज्ञान-अधिकारक अंग अछि; अनुवाद सटीक आ पठनीय दुनू हो।

59.9 नागरिक विज्ञान आ स्थानीय ज्ञान

स्थानीय लोक दीर्घ अनुभवसँ नदी, मौसम, बीज वा रोगक संकेत जानि सकैत छथि। ई ज्ञान अनुसन्धानक प्रश्न आ अवलोकन समृद्ध करैत अछि।

स्थानीयता सत्यक स्वतः प्रमाण नहि। व्यवस्थित अभिलेखन, तुलना आ वैज्ञानिक परीक्षण आवश्यक। विशेषज्ञता आ स्थानीय अनुभव प्रतिस्पर्धी नहि, अलग प्रमाणीय शक्ति रखैत अछि।

59.10 विज्ञान आ मूल्यक संयुक्त निर्णय

विज्ञान बतबैत अछि कोन साधनसँ सम्भावित परिणाम की; समाज तय करैत अछि कोन परिणाम उचित आ जोखिम कतेक स्वीकार्य। मुदा मूल्य निर्णय तथ्य सँ स्वतंत्र मनमानी नहि। गलत तथ्यपर न्यायपूर्ण नीति बनि नहि सकैत।

विशेषज्ञ विकल्प स्पष्ट करथि, नागरिक प्राथमिकता आ वितरणपर विचार करथि। निर्णयक कारण सार्वजनिक हो, असहमति दर्ज हो, आ नूतन प्रमाणपर संशोधन सम्भव रहय।

अध्याय-निष्कर्ष

नैतिक दर्शन विज्ञानक शत्रु नहि; ओकर आवश्यक सहयात्री अछि। समानान्तर दर्शनक सूत्र: प्रमाण-विषयमे विज्ञानसँ कठोरता सीखू, मूल्य-विषयमे गरिमा आ न्यायक प्रश्न नहि छोड़ू।

अध्याय-ग्रन्थसूची

Karl Popper — The Logic of Scientific Discovery.

Thomas S. Kuhn — The Structure of Scientific Revolutions.

Robert K. Merton — The Sociology of Science.

Hans Jonas — The Imperative of Responsibility.

Philip Kitcher — Science, Truth, and Democracy.

अध्याय 60 – भाषा आ सत्ता

भाषा केवल तैयार वास्तविकताक नामकरण नहि; सामाजिक वास्तविकताकेँ वर्गीकृत, दृश्य आ अदृश्य करबाक साधन सेहो अछि। जे नाम दैत अछि, ओ कखनो-कखनो एहि बातपर प्रभाव रखैत अछि जे समाज कोन वस्तु सामान्य, विचलित, अपराध, रोग, अधिकार वा पहचान मानत। मुदा एहि तथ्यसँ ई निष्कर्ष नहि निकलैत अछि जे वास्तविकता केवल भाषासँ बनैत अछि। भाषा आ जगत बीच सम्बन्ध सत्ता, अनुभव आ वस्तुगत प्रतिरोधक जटिल क्षेत्र अछि।

60.1 नामकरण आ राजनीतिक अर्थ

“अपराधी”, “विद्रोही”, “आतंककारी”, “स्वतंत्रता-सैनिक”—एकहि व्यक्तिक लेल अलग सत्ता-सन्दर्भमे अलग शब्द प्रयुक्त भऽ सकैत अछि। शब्द केवल वर्णन नहि; नैतिक भाव आ कानूनी परिणाम सक्रिय कऽ सकैत अछि। समानान्तर दर्शन पूछैत अछि—कथनक तथ्य की? नामकरणक कसौटी की? समान घटना पर समान शब्द लागू होइत अछि की नहि?

60.2 “भाषा” आ “बोली”क सत्ता

भाषिक रूपक वर्गीकरण केवल भाषावैज्ञानिक दूरीसँ निर्धारित नहि होइत। राज्य, शिक्षा, साहित्यिक प्रतिष्ठा, मानकीकरण, लिपि, जनगणना, मीडिया आ राजनीतिक शक्ति सेहो प्रभाव रखैत अछि। कोनो भाषिक रूपकेँ “केवल बोली” कहब तटस्थ वैज्ञानिक कथन भऽ सकैत अछि, मुदा कखनो राजनीतिक अवमूल्यनक साधन सेहो। तेँ भाषावैज्ञानिक प्रमाण आ सामाजिक सत्ता दुनू विश्लेषित हो।

60.3 मानक भाषा आ नागरिक पहुँच

मानक भाषा प्रशासन, शिक्षा आ व्यापक संचार सरल बनबैत अछि। मुदा जँ मानकीकरणक अर्थ स्थानीय भाषिक रूपकेँ अशुद्ध, अशिक्षित वा अयोग्य मानब हो, तँ भाषिक नागरिकता असमान होइत अछि। नागरिक अपन मातृभाषामे सूचना, शिक्षा, न्याय आ सांस्कृतिक सृजन धरि कतेक पहुँच रखैत अछि—ई भाषिक न्यायक प्रश्न अछि।

60.4 मौन सेहो सत्ता अछि

सत्ता केवल गलत शब्द नहि चुनैत; किछु बात कहल नै जाए एहन व्यवस्था सेहो बना सकैत अछि। अभिलेखमे नाम नहि, पाठ्यक्रममे इतिहास नहि, आँकड़ामे भाषा नहि, संस्थामे अनुवाद नहि—ई अनुपस्थिति सार्वजनिक ज्ञानकेँ आकार दैत अछि। समानान्तर दर्शन “की कहल गेल?”क संग “की नहि कहल गेल?” पूछैत अछि।

60.5 फूको, विमर्श आ सीमा

आधुनिक विचारमे विमर्श-सिद्धान्त देखबैत अछि जे ज्ञानक श्रेणी संस्था आ सत्ता-संबंधसँ जुड़ल हो सकैत अछि। मुदा समानान्तर दर्शन एहि अन्तर्दृष्टिकेँ अतिवादी सापेक्षतावादमे नहि बदलैत। यदि सत्ता ज्ञान प्रभावित करैत अछि, ताहिसँ ई नहि निकलैत जे सभ दाबी समान। उलटे, स्रोत, संस्था, वर्गीकरण आ प्रतिपक्ष अधिक कठोरता सँ जाँचबाक आवश्यकता बढ़ैत अछि।

60.6 मैथिली आ भाषिक गरिमा

मैथिली जकाँ क्षेत्रीय भाषाक दार्शनिक उपयोग स्वयं ज्ञान-सत्ताक प्रश्न उठबैत अछि। यदि उच्च शिक्षा वा दर्शन केवल प्रभुत्वशाली भाषामे उपलब्ध हो, तँ ज्ञानक प्रवेश असमान होइत अछि। मातृभाषामे जटिल दर्शन लिखब अनुवादक कार्य मात्र नहि; अवधारणात्मक सृजन आ लोकतान्त्रिक ज्ञान-विस्तार सेहो अछि। मुदा भाषिक गौरव दोसर भाषा वा समुदायक अवमानना नहि बनय।

पूर्वपक्ष: भाषा केवल विचार व्यक्त करैत अछि; सत्ता भाषा बाहर अछि।

उत्तरपक्ष: भौतिक सत्ता, संस्था आ संसाधन भाषा बाहर अस्तित्व रखैत अछि, मुदा भाषा ओकर वैधता, वर्गीकरण आ दृश्यताकेँ आकार दैत अछि। शब्द सब किछु नहि, मुदा शब्द निष्प्रभावी सेहो नहि।

60.12 शब्दकोश आ सामाजिक प्राधिकार

शब्दकोश प्रयोग दर्ज करैत, वर्तनी आ अर्थक मार्गदर्शन दैत अछि। मुदा ककर पाठ संकलित, ककर बोली मानक, आ अपमानजनक अर्थ कोना चिह्नित—सम्पादकीय निर्णय सत्ता रखैत अछि।

शब्दकोश वास्तविक प्रयोग छिपा नहि सकैत, मुदा हानिकारक पदक चेतावनी आ ऐतिहासिक सन्दर्भ दे सकैत अछि। वर्णन आ समर्थन अलग।

मैथिली शब्दकोशमे क्षेत्रीय रूप, उदाहरण, काल-सूचना आ स्रोत बढ़ाओल जाए। जीवित समुदाय सुधारक प्रतिक्रिया दे सकय।

60.13 न्यायालयक भाषा

नागरिक जँ आरोप, गवाही वा निर्णयक भाषा नहि बुझय, तँ औपचारिक सुनवाई वास्तविक न्याय नहि। अनुवादकक गुणवत्ता, तकनीकी पद आ दस्तावेजक उपलब्धता अधिकारक शर्त छथि।

शब्दशः अनुवाद कखनो कानूनी अर्थ बिगाड़ैत; प्रशिक्षित दुभाषिया अर्थ, स्वर आ अनिश्चितता अलग दे। पक्षकारकेँ अनुवाद चुनौती देबाक अवसर हो।

स्थानीय भाषा उपयोग गति घटा सकैत—एहन आपत्ति प्रशासनिक तैयारीक प्रश्न अछि, अधिकार नकारबाक कारण नहि। मानक शब्दावली आ प्रशिक्षण बनाओल जाए।

60.14 हास्य, व्यंग्य आ सत्ता

हास्य शक्तिशालीक आलोचना, भय घटेबा आ असहमति व्यक्त करबाक साधन। मुदा कमजोर समूहक स्थायी रूढ़ि दोहराबि अपमान सामान्य बना सकैत अछि। समान वाक्य वक्ता, लक्ष्य आ प्रसंग अनुसार भिन्न प्रभाव दैत।

आहत भावना मात्र सेंसरशिपक पर्याप्त कारण नहि। प्रत्यक्ष धमकी, लक्षित उत्पीड़न आ पदानुक्रमक पुनरुत्पादन अलग जाँचल जाए।

उत्तर प्रतिबन्ध मात्र नहि; प्रतिहास्य, आलोचना आ मंचक विविधता सेहो। सत्ता स्वयं व्यंग्य सहय, नागरिकक सुरक्षा बनल रहय।

60.15 पूर्वपक्ष: भाषा बदललासँ वास्तविकता नहि बदलत

ई आपत्ति उचित स्मरण अछि जे सम्मानजनक पद गरीबी वा हिंसा समाप्त नहि करैत। शब्द-सुधार सस्ता प्रतीक बनि संरचनात्मक काज टारि सकैत अछि।

मुदा भाषा अपेक्षा, वर्गीकरण आ शिकायतक सम्भावना प्रभावित करैत अछि। अपमानजनक सम्बोधन संस्था भीतर निम्न दर्जा पुनः स्थापित करैत अछि।

समाधान ‘शब्द की संरचना’क झूठा चुनाव नहि। नाम, नियम, संसाधन आ प्रतिनिधित्व एक संग बदलय। प्रभाव मापल जाए।

60.7 नामकरण आ प्रशासन

प्रशासन लोककेँ लाभार्थी, प्रवासी, पिछड़ा, अवैध वा विकलांग-जकाँ श्रेणीमे रखैत अछि। श्रेणी नीति सम्भव बनबैत, मुदा व्यक्तिक जटिलता घटबैत आ कलंक उत्पन्न करि सकैत अछि।

नाम ककर उद्देश्य लेल, कोन प्रमाणपर, आ व्यक्ति अपील करि सकैत अछि की नहि—ई प्रश्न आवश्यक। आत्मसम्मानजनक भाषा संग अधिकारक वास्तविक पहुँच जुड़ल हो।

60.8 मौन करबाक विधि

आवाज केवल प्रत्यक्ष निषेधसँ नहि दबैत। एजेंडा बाहर रखब, तकनीकी भाषा, समय नहि देब, उपहास वा शिकायतक प्रतिशोध मौन बनबैत अछि।

सुनवाईक माप बोलनिहारक संख्या मात्र नहि। ककर प्रश्न निर्णय बदलि सकैत, ककर साक्ष्य दर्ज होइत, आ उत्तर देल जाइत अछि की नहि—ई देखल जाए।

60.9 विमर्श आ वस्तुगत प्रतिरोध

विमर्श वस्तुकेँ वर्गीकृत आ अर्थवान बनबैत अछि; ‘रोग’, ‘अपराध’ वा ‘सामान्यता’क संस्था जीवनपर प्रभाव दैत अछि। मुदा भाषा मनमाना रूपसँ वास्तविकता बनबैत नहि। शरीर, हानि आ परिणाम दाबीकेँ प्रतिरोध करैत अछि।

समानान्तर दृष्टि भाषिक निर्माण आ बाह्य यथार्थ दुनू रखैत अछि। श्रेणी इतिहास जाँचल जाए, संगहि अनुभवजन्य प्रभाव मापल जाए।

60.10 भाषिक शिष्टता आ संरचनात्मक परिवर्तन

सम्मानजनक शब्द अपमान घटा सकैत अछि, मुदा केवल शब्द बदलि संस्था समान नहि भऽ जाइत। नूतन नाम पुरान भेदभाव ढाँकि सकैत अछि।

भाषा आ संसाधन दुनू बदलय। अपमानजनक पद हटाओल जाए, संगहि भर्ती, शिक्षा, सेवा आ न्यायमे असमान परिणाम सुधारल जाए। प्रतीक आ संरचना परस्पर पूरक छथि।

60.11 मैथिलीमे ज्ञान-निर्माण

मैथिलीमे दर्शन लिखब केवल तैयार विचारक अनुवाद नहि। स्थानीय उदाहरण, व्याकरणिक साधन आ जीवित पद नूतन प्रश्न खोलि सकैत अछि। मुदा स्थानीयता नामपर तकनीकी अस्पष्टता स्वीकार्य नहि।

शब्दावली खुलल, परिभाषित आ समीक्षा योग्य हो। संस्कृत, अन्य भारतीय भाषा आ अंग्रेजीसँ संवाद हो, मुदा मैथिली वाक्य-विन्यास स्वाभाविक रहय। ज्ञानक गरिमा भाषिक शुद्धतावाद नहि, विचारक क्षमता बढ़ेबामे अछि।

अध्याय-निष्कर्ष

समानान्तर दर्शन भाषाक प्रत्येक राजनीतिक उपयोगपर संशय नहि करैत, मुदा चारि प्रश्न अवश्य पूछैत अछि—ई शब्द के चुनलक? कोन तथ्यक आधारपर? ककर अनुभव सामान्य मानल गेल? ककर अनुभव ढँकल गेल? भाषिक न्याय सत्यक स्थान नहि लैत; सत्य-अन्वेषणक क्षेत्र व्यापक करैत अछि।

अध्याय-ग्रन्थसूची

Ludwig Wittgenstein — Philosophical Investigations.

Michel Foucault — The Archaeology of Knowledge; Discipline and Punish.

Pierre Bourdieu — Language and Symbolic Power.

Charles Taylor — “The Politics of Recognition”.

Benedict Anderson — Imagined Communities.

Bimal Krishna Matilal — The Word and the World.

अध्याय 61 – इतिहास आ स्मृति

इतिहास केवल जे घटल तकर सूची नहि। इतिहास स्रोत चयन अछि, अभिलेखक प्रश्न अछि, व्याख्या अछि, मौनक अध्ययन अछि। जे घटना घटल, ओकर सभ प्रमाण समान रूपसँ बचि नहि रहैत अछि। राजदरबारक दस्तावेज सुरक्षित रहि सकैत अछि, मुदा खेतिहर मजदूरक अनुभव नहि; पुरुषक वंशावली लिखल जा सकैत अछि, स्त्रीक श्रम मौखिक स्मृतिमे रहि सकैत अछि; विजेताक आदेश अभिलेखागारमे भेटि सकैत अछि, पराजित समुदायक पीड़ा गीत, कथा वा स्थानीय स्मृतिमे। तेँ इतिहासक दार्शनिक प्रश्न अछि—हम अतीतकेँ कोन प्रमाणसँ जानैत छी, कोन आवाज अनुपस्थित अछि, आ अनुपस्थितिक अर्थ कोना निकालब?

61.1 घटना, स्रोत आ इतिहास

घटना आ इतिहास एक वस्तु नहि। घटना अतीतमे घटैत अछि; इतिहास वर्तमानमे उपलब्ध प्रमाणक आधारपर ओकर पुनर्निर्माण अछि। ई पुनर्निर्माण मनमाना नहि हो सकैत, कारण दस्तावेज, तिथि, वस्तुपरक अवशेष, भाषिक साक्ष्य, भूगोल, जनसांख्यिकीय आँकड़ा आ स्वतंत्र स्रोत ओकर सीमा तय करैत अछि। मुदा एकहि प्रमाणसमूहसँ भिन्न प्रश्न पूछल जा सकैत अछि। राजस्व-अभिलेख आर्थिक संरचना देखबैत अछि; ओहि अभिलेखमे स्त्रीक घरेलू श्रम शायद नहि देखायत। सेना-अभिलेख युद्धक संख्या देत, मुदा विस्थापित परिवारक अनुभूति नहि। इतिहासक बहुस्तरता एतय सँ आरम्भ होइत अछि।

61.2 स्मृति: प्रमाण, पहचान आ पुनर्निर्माण

स्मृति इतिहासक शत्रु नहि, मुदा इतिहासक पर्याय सेहो नहि। व्यक्तिगत स्मृति चयनात्मक आ पुनर्निर्माणशील होइत अछि; सामूहिक स्मृति अनुष्ठान, स्मारक, लोककथा, विद्यालय, परिवार आ राजनीतिक भाषण द्वारा आकार पबैत अछि। तेँ “लोक कहैत अछि” अपनेआप इतिहासक अन्तिम प्रमाण नहि। प्रश्न उठत—एहि स्मृतिक आयु कतेक? प्रसारण कोना भेल? भिन्न संस्करण अछि? स्वतंत्र स्रोत की कहैत अछि?

तथापि मौखिक स्मृतिक उपेक्षा सेहो ज्ञानात्मक अन्याय बनि सकैत अछि। जे समुदाय लिखित अभिलेख कम छोड़लक, ओकर इतिहास केवल एहि कारण शून्य नहि। समानान्तर इतिहास-दृष्टि मौखिक इतिहासकेँ स्रोतक एक पृथक प्रकार मानैत अछि—ओकर बल, सीमा आ प्रसारण-प्रक्रिया स्पष्ट कऽ।

61.3 अभिलेखक मौन

अभिलेखागार केवल बचल कागजक ढेर नहि; सत्ता, प्रशासन, सम्पत्ति आ साक्षरता इतिहासमे की सुरक्षित रहत तकर चयन प्रभावित करैत अछि। ककर जन्म नोंदायल? ककर जमीन नोंदायल? ककर अपराध लिखल? ककर श्रम ‘स्वाभाविक कर्तव्य’ मानि अभिलेखबाह्य रहल? ई प्रश्न देखबैत अछि जे अनुपस्थिति स्वयं ऐतिहासिक समस्या भऽ सकैत अछि।

मुदा मौनकेँ प्रमाण बना कऽ इच्छित कथा गढ़ब समानान्तर दर्शन स्वीकार नहि करैत अछि। “एतय अभिलेख नहि, तेँ अवश्य एहन भेल” तर्क त्रुटिपूर्ण अछि। उचित तरीका अछि—मौन चिन्हू, सम्भावित कारण प्रस्तावित करू, वैकल्पिक स्रोत खोजू, आ अनिश्चितता स्पष्ट राखू।

61.4 आधिकारिक इतिहास आ प्रतिहistory

आधिकारिक इतिहासक आलोचना आवश्यक भऽ सकैत अछि, मुदा प्रत्येक प्रतिहistory स्वतः सत्य नहि। राज्यीय ग्रन्थ पक्षपाती भऽ सकैत अछि; विरोधी pamphlet सेहो। राजकीय अभिलेख शक्ति-संरचना

देखबैत अछि; लोकगीत पीड़ा व्यक्त करैत अछि; पुरातत्त्व भौतिक प्रतिरोध दैत अछि; भाषाविज्ञान दीर्घकालिक परिवर्तन देखबैत अछि। मजबूत इतिहास एहि स्रोतसभक पारस्परिक परीक्षणसँ बनैत अछि।

समानान्तर इतिहास-दृष्टि मुख्यधाराकेँ फेंकैत नहि; ओकर बगलमे छूटल प्रमाण रखैत अछि। एहि अर्थमे समानान्तरता प्रतिस्पर्धी कल्पना नहि—विस्तारित प्रमाणक्षेत्र अछि।

61.5 स्मृति आ नैतिकता

किछु स्मृति केवल तथ्यक प्रश्न नहि, न्यायक प्रश्न सेहो होइत अछि। हिंसा, जातिगत अपमान, विस्थापन, युद्ध, दमन, भाषा-दमन—एहन घटनाक स्मरण पीड़ित समुदाय लेल गरिमा आ पहचानसँ जुड़ि सकैत अछि। मुदा नैतिक महत्त्व तथ्य-परीक्षणक स्थान नहि लैत। पीड़ाक सम्मान करैतहुँ तिथि, संख्या, जिम्मेवारी आ कारणक दाबी जाँचल जायत।

61.6 मिथिला आ समानान्तर स्मृति

मिथिलाक इतिहासमे राजकीय स्रोत, पञ्जी, शास्त्रीय ग्रन्थ, साहित्य, मौखिक परम्परा, स्त्रीगीत, नदी-स्मृति, प्रवासक कथा, स्थानीय देवस्थल आ आधुनिक अभिलेख अलग-अलग प्रकारक प्रमाण दैत अछि। एहि सभकेँ एकहि स्तरपर राखब अनुचित; मुदा केवल संस्कृत ग्रन्थ वा राजकीय दस्तावेजकेँ ‘इतिहास’ मानि आन स्रोत हटायब सेहो अधूरापन। समानान्तर पद्धति स्रोतक श्रेणी स्पष्ट कऽ व्यापक इतिहासक निर्माण चाहैत अछि।

पूर्वपक्ष: स्मृति जोड़लासँ इतिहास व्यक्तिनिष्ठ नहि भऽ जाएत?

उत्तरपक्ष: स्मृति जोड़ब इतिहासकेँ मनमाना नहि बनबैत, जँ स्मृतिक स्रोत-स्वरूप, प्रसारण, विरोधी प्रमाण आ अनिश्चितता स्पष्ट राखल जाए। व्यक्तिनिष्ठ अनुभव ऐतिहासिक तथ्यक एक आयाम हो सकैत अछि; एकमात्र आयाम नहि।

61.12 इतिहासमे कारण

घटना बाद घटना क्रमबद्ध करब कारण बतब नहि। कारण लेल प्रत्यक्ष निर्णय, दीर्घ संरचना, अवसर, विचार आ आकस्मिक घटना अलग जाँचल जाए। एक कारण पर्याप्त विरल।

प्रतिविकल्प प्रश्न उपयोगी: जँ ई कारण नहि रहैत तँ परिणाम बदलैत की? इतिहासमे प्रयोग सम्भव नहि, मुदा तुलनात्मक प्रसंग आ समकालीन साक्ष्य सम्भावना जाँचि सकैत।

अनिवार्यता-पश्चदृष्टि सँ बचल जाए। घटना भेलाक बाद ओ अपरिहार्य लगैत अछि; समकालीन विकल्प आ अनिश्चितता पुनर्निर्मित हो।

61.13 जीवनी आ महापुरुष-कथा

जीवनी विचारक निर्णय, सम्बन्ध आ विकास समझबैत अछि, मुदा सम्पूर्ण इतिहास एक व्यक्तिक इच्छा मे घटा नहि सकैत। संस्था, अनुयायी, प्रतिपक्ष आ संसाधन उपलब्धि बनबैत अछि।

प्रशंसात्मक जीवनी दोष छिपा सकैत, शत्रुतापूर्ण जीवनी उपलब्धि। निजी पत्र, प्रकाशित कृति आ बादक स्मृति अलग प्रमाणीय स्तर रखैत अछि।

व्यक्तिक कथित उद्देश्य परिणामक पूर्ण अर्थ तय नहि करैत। विचारक सामाजिक प्रभाव लेखकक आशयसँ बाहर विकसित हो सकैत अछि।

61.14 पारिवारिक अभिलेखक उपयोग

पत्र, वंशावली, भूमि-कागज, डायरी आ फोटो स्थानीय इतिहासक महत्त्वपूर्ण स्रोत। मुदा परिवार प्रतिष्ठा बचेबाक कारण चयन करि सकैत अछि। तिथि, लेखक आ स्वामित्व सत्यापित हो।

निजी सामग्री प्रकाशित करैत गोपनीयता, जीवित व्यक्तिक सहमति आ संवेदनशील जानकारीक हानि जाँचल जाए। इतिहासक हित असीम अधिकार नहि।

डिजिटल प्रतिलिपि मूल संरक्षणक विकल्प नहि। मेटाडेटा, क्रम आ भौतिक विशेषता दस्तावेजित हो।

61.15 पूर्वपक्ष: इतिहास विजेताक कथा मात्र

सत्ता अभिलेख आ पाठ्यक्रम नियंत्रित करैत अछि; तेँ इतिहासकेँ पूर्णतः विजेताक कथा कहल जाइत। ई चेतावनी उपयोगी, मुदा ‘मात्र’ शब्द अनुसन्धानक सम्भावना नष्ट करैत अछि।

विरोधी स्रोत, भौतिक अवशेष, प्रशासनिक असंगति आ लोकस्मृति आधिकारिक कथा केँ चुनौती दऽ सकैत। इतिहासकार स्वयं संस्था भीतर रहितो पद्धतिगत पारदर्शिता बनाबि सकैत।

वस्तुगतता पूर्ण सत्ता-मुक्तता नहि, स्रोत खोलब, आलोचना स्वीकारब आ निष्कर्ष संशोध्य रखब अछि।

61.7 स्रोतक निकटता आ स्वतंत्रता

घटनाक निकट स्रोत मूल्यवान, मुदा निकटता निष्पक्षता नहि। सहभागी अधिक जानि सकैत अछि, संगहि अपन भूमिका बचा सकैत। बादक स्रोत दूरीसँ व्यापक चित्र दे सकैत, मुदा स्मृति आ वर्तमान हितसँ प्रभावित होइत।

स्रोतसभक परस्पर स्वतंत्रता जाँचल जाए। दस पुस्तक जँ एकहि अपुष्ट कथन दोहरबैत अछि तँ दस प्रमाण नहि। उद्धरण-श्रृंखला मूल बिन्दु धरि खोजल जाए।

61.8 अभिलेखक निर्माण

अभिलेख स्वतः बाँचल अतीत नहि; कियो दस्तावेज बनौलक, संस्था चुनलक की सुरक्षित हो, आ बादक सम्पादक वर्गीकृत कएलक। जे लिखि नहि सकल वा जकर कागज नष्ट भेल, ओकर इतिहास कमजोर देखाइत अछि।

अभिलेखक मौन कल्पनासँ भरल नहि जाए। मौनक सम्भावित कारण लिखल जाए, अन्य स्रोत खोजल जाए, आ निष्कर्षक विश्वास-स्तर स्पष्ट हो। अनुपस्थिति प्रश्न खोलैत अछि, मनचाहा उत्तर नहि।

61.9 मौखिक इतिहास आ सामूहिक स्मृति

मौखिक इतिहास घटना संग अनुभूत अर्थ, भय आ समुदायिक पहिचान पकड़ैत अछि। स्मृति क्रम बदलि सकैत, प्रतीक जोड़ि सकैत, मुदा एहि कारण मूल्यहीन नहि।

साक्षात्कारक प्रश्न, स्थान, सम्बन्ध आ रिकॉर्डिंगक शर्त उत्तर प्रभावित करैत अछि। अनेक साक्ष्य, दस्तावेज आ भौतिक प्रमाणसँ तुलना कएल जाए। भिन्नता छिपाओल नहि, विश्लेषित कएल जाए।

61.10 स्मारक आ सार्वजनिक विस्मरण

स्मारक केवल अतीत बतबैत नहि; वर्तमान समाज तय करैत अछि ककरा आदर्श मानल जाए। सार्वजनिक नामकरण विजेता, शासक वा अभिजनकेँ केन्द्रित करि साधारण श्रम अदृश्य करि सकैत अछि।

स्मारक हटायब, संदर्भ जोड़ब वा नूतन स्मारक बनायब—सभ विकल्पक लाभ-हानि अछि। निर्णय इतिहासकार, प्रभावित समुदाय आ नागरिक विचार-विमर्शसँ हो; हिंसक अतीतकेँ महिमामण्डित नहि, दस्तावेजित कएल जाए।

61.11 इतिहासक नैतिक भाषा

इतिहासकार अत्याचारक वर्णन करैत समय पीड़ितक गरिमा राखय, मुदा नैतिक शब्दसँ पूर्ण बचब तटस्थता नहि। ‘हत्या’केँ ‘घटना’ कहब सत्ता-पक्षीय लघुकरण भऽ सकैत अछि।

नैतिक निर्णय स्रोत-सम्मत आ अवधारणात्मक रूपसँ स्पष्ट हो। आजक पद अतीतपर लगबैत समय कालभ्रमक सीमा बताओल जाए। समझब औचित्य देब नहि।

अध्याय-निष्कर्ष

इतिहास अतीतक प्रतिलिपि नहि, प्रमाण-सम्मत पुनर्निर्माण अछि। स्मृति मूल्यवान अछि, मुदा आलोचनासँ मुक्त नहि; अभिलेख शक्तिशाली अछि, मुदा पूर्ण नहि; मौन अर्थपूर्ण भऽ सकैत अछि, मुदा मनमाना कथा भरबाक अनुमति नहि। समानान्तर इतिहास-दृष्टि केन्द्र आ हाशिया दुनूकेँ एकहि प्रमाण-कसौटीपर रखैत अछि।

अध्याय-ग्रन्थसूची

Marc Bloch — The Historian’s Craft.

E. H. Carr — What Is History?

Paul Ricoeur — Memory, History, Forgetting.

Maurice Halbwachs — On Collective Memory.

Ranajit Guha — चयनित Subaltern Studies लेख.

Jan Vansina — Oral Tradition as History.

अध्याय 62 – ज्ञान आ डिजिटल संसार

डिजिटल संसारमे सूचना प्रचुर अछि, ज्ञान स्वतः नहि। एकटा झूठ हजार बेर दोहराओल जाए तँ लोकप्रिय भऽ सकैत अछि, सत्य नहि। एल्गोरिदम ध्यान चुनैत अछि; दृश्य सम्पादन प्रत्यक्ष-जकाँ देखाइत अछि; स्रोतहीन कथन लाखों लोक धरि पहुँचि सकैत अछि; एकहि मूल पोस्टक हजार नकल स्वतंत्र पुष्टि-जकाँ भ्रम उत्पन्न

कऽ सकैत अछि। एहि परिस्थितिमे ज्ञानमीमांसा केवल विश्वविद्यालयक विषय नहि, नागरिक जीवनक आवश्यकता बनि जाइत अछि।

62.1 सूचना, विश्वास आ ज्ञान

सूचना उपलब्ध होयब आ ज्ञान प्राप्त होयब अलग बात अछि। खोज-यन्त्र परिणाम दैत अछि; सत्यक गारंटी नहि। सामाजिक माध्यम लोकप्रियता दैत अछि; विश्वसनीयता नहि। भिडियो प्रत्यक्ष अनुभव-जकाँ प्रभाव उत्पन्न करैत अछि; ओकर निर्माण-इतिहास लुकल रहि सकैत अछि। तेँ डिजिटल ज्ञानक पहिल नियम अछि—सामग्री, स्रोत आ प्रमाणकेँ अलग करू।

62.2 एल्गोरिदम आ ध्यान

एल्गोरिदम केवल निष्पक्ष छँटाई नहि; ओकर लक्ष्य, प्रशिक्षण-डेटा, व्यावसायिक हित आ उपयोगकर्ता-व्यवहार परिणाम प्रभावित करैत अछि। जे सामग्री अधिक engagement लबैत अछि, से सत्यतम हो—एहन कोनो आवश्यक सम्बन्ध नहि। क्रोध, भय, सनसनी आ पहचान-आधारित सामग्री अधिक प्रसारित भऽ सकैत अछि। ज्ञानात्मक समस्या एतय अछि: हम की देखैत छी से स्वतः जगत नहि; चयनित दृश्य अछि।

62.3 स्रोत-समीक्षा डिजिटल युगमे

डिजिटल नागरिक लेल किछु मूल अनुशासन आवश्यक अछि: मूल स्रोत खोजू; प्रकाशित तिथि जाँचू; सम्पूर्ण सन्दर्भ देखू; स्वतंत्र पुष्टि खोजू; उद्धरण मूल रूपमे पढ़ू; छवि वा चलचित्रक स्रोत आ सम्पादन सम्भावना जाँचू;

संख्या लेल पद्धति पूछू; समाचार आ मत अलग करू; अनिश्चितताकेँ भाषा मे व्यक्त करू। ई नियम नूतन अवश्य छथि, मुदा एकर दार्शनिक आत्मा पुरान अछि—दाबी, प्रमाण, स्रोत आ प्रतिपक्षक सम्बन्ध स्पष्ट करू।

62.4 प्रतिध्वनि-कक्ष आ पुष्टि-पक्षपात

डिजिटल मंच उपयोगकर्ताकेँ ओकर पसन्दसँ मिलैत सामग्री अधिक देखाबय, तखन व्यक्ति धीरे-धीरे एहि भ्रममे पड़ि सकैत अछि जे ‘सभ लोक’ ओकरे जकाँ सोचैत अछि। एहि प्रतिध्वनि-कक्षमे विरोधी प्रमाण अपरिचित वा शत्रुतापूर्ण बुझाइत अछि। समानान्तर दर्शनक उपाय अछि—सबल प्रतिपक्ष पढ़ू, स्रोत-विविधता राखू, आ अपन प्रिय दाबीपर सेहो समान संशय लागू करू।

62.5 कृत्रिम छवि, कृत्रिम ध्वनि आ प्रत्यक्षक संकट

डिजिटल तकनीक प्रत्यक्ष-जकाँ सामग्री बनाबय सकैत अछि। एहि कारण “हम वीडियोमे देखलहुँ” पहिले जतेक सरल प्रमाण नहि। मुदा एहि तथ्यसँ सभ वीडियो संदिग्ध मानि देब सेहो उचित नहि। उचित नीति अछि—स्रोत-श्रृंखला, metadata जहाँ उपलब्ध हो, स्वतंत्र दृश्य, विश्वसनीय संस्थागत पुष्टि, प्रसंग आ सम्भावित सम्पादन जाँचू। सर्वसंशय ज्ञानक रक्षा नहि करैत; विवेकपूर्ण संशय करैत अछि।

62.6 डिजिटल अभिलेख आ विस्मरण

डिजिटल माध्यम एक दिस विशाल अभिलेख बनबैत अछि, दोसर दिस link-rot, platform closure, proprietary format आ content deletion कारण स्मृति अस्थिर सेहो बनबैत अछि। सार्वजनिक

ज्ञान लेल दीर्घकालिक अभिलेखन, खुला प्रारूप, metadata, संस्करण-इतिहास आ स्थानीय भाषाक डिजिटलीकरण महत्त्वपूर्ण अछि।

62.7 मैथिली आ डिजिटल ज्ञान-अधिकार

जँ ज्ञान केवल प्रभुत्वशाली भाषामे उपलब्ध अछि, तँ तकनीकी पहुँच होइतहुँ ज्ञानात्मक पहुँच अधूरी रहैत अछि। स्थानीय भाषामे विश्वसनीय शब्दावली, खोजयोग्य पाठ, डिजिटल अभिलेख, खुले स्रोत आ गुणवत्तापूर्ण अनुवाद ज्ञानक लोकतन्त्रीकरणक अंग अछि। मुदा स्थानीय भाषा सामग्री सेहो सत्य-परीक्षणसँ मुक्त नहि। भाषिक न्याय आ प्रमाण-अनुशासन दुनू एक संग चाही।

पूर्वपक्ष: डिजिटल युगमे सत्य असम्भव भऽ गेल अछि।

उत्तरपक्ष: कठिन भेल अछि, असम्भव नहि। जखन जालसाजी बढ़ैत अछि, स्रोत-समीक्षा, स्वतंत्र पुष्टि, अभिलेखन आ संस्थागत पारदर्शिता अधिक महत्त्वपूर्ण होइत अछि। प्रमाणक संकट प्रमाण-विहीनताक औचित्य नहि।

62.13 खोज-क्रम आ ज्ञानक दृश्यता

खोज परिणामक पहिल पृष्ठ लोकक ज्ञानक सीमा बनि सकैत अछि। क्रम लोकप्रियता, भुगतान, वैयक्तिक इतिहास वा मंचक अनुमानसँ बनल हो, सत्यतासँ नहि। जे देखाइत नहि, ओ सार्वजनिक स्मृतिसँ बाहर होइत अछि।

मंच क्रमक मुख्य मानक आ प्रायोजित सामग्री स्पष्ट करय। उपयोगकर्ताकेँ कालक्रम, स्रोत वा अन्य क्रमक विकल्प भेटय।

शोधकर्ता अनेक खोज-पद, भाषा आ डेटाबेस उपयोग करय। पहिल परिणाम स्रोत-समीक्षाक अन्त नहि।

62.14 वायरलता आ प्रमाण

तेजीसँ प्रसारित कथन भावनात्मक संगति, नूतनता वा समूह-पहिचान कारण फैलि सकैत अछि। प्रसारक संख्या सत्यक स्वतंत्र गवाह नहि, कारण सभ एक मूल स्रोत दोहरबैत।

वायरल सामग्रीपर तत्काल प्रतिक्रिया रोकि मूल स्रोत, सम्पूर्ण दृश्य आ तिथि जाँचल जाए। पुरान घटना नूतन बताओल जा सकैत अछि।

सुधार प्रायः झूठ जतेक नहि फैलैत। संस्था मूल पोस्टसँ सुधार जोड़य, पहुँच घटाय वा सन्दर्भ दे; प्रक्रिया पारदर्शी हो।

62.15 डिजिटल पहिचान आ प्रामाणिकता

ऑनलाइन नाम गुमनाम अभिव्यक्ति आ सुरक्षा दे सकैत, संगहि प्रतिरूपण आ दायित्वहीन उत्पीड़न सम्भव करैत अछि। सभ मंचपर वास्तविक नाम अनिवार्य करब कमजोर आवाज जोखिममे डालि सकैत।

प्रामाणिकताक स्तर विषय अनुसार हो। सार्वजनिक अधिकारी वा वित्तीय सेवा अधिक सत्यापन माँगि सकैत; संवेदनशील सहायता-समूह गोपनीयता।

सत्यापन डेटा स्वयं सुरक्षा-जोखिम। न्यूनतम संग्रह, स्पष्ट उपयोग आ हटेबाक अधिकार हो।

62.16 पूर्वपक्ष: डिजिटल माध्यम केवल साधन अछि

कहल जाइत अछि जे दोष उपयोगकर्ताक; मंच तटस्थ पाइप मात्र। मुदा बटन, सूचना-क्रम, पुरस्कार आ विज्ञापन-नमूना व्यवहार आकार दैत अछि। रचना नैतिक रूपसँ प्रासंगिक।

तथापि मंच हर उपयोगक पूर्ण कारण नहि। व्यक्ति, समूह आ समाजक जिम्मेदारी बनल रहैत अछि। बहुस्तरीय कारण अनुसार उत्तरदायित्व बाँटल जाए।

समाधान तकनीक-विरोध नहि। उपयोगकर्ताक नियन्त्रण, स्वतंत्र जाँच, डेटा-पोर्टेबिलिटी आ सार्वजनिक मानक नूतन रचना सम्भव बनबैत अछि।

62.8 सूचना-अधिक्य आ ध्यानक दुर्लभता

डिजिटल संसारमे सूचना दुर्लभ नहि, ध्यान दुर्लभ अछि। मंच जे सामग्री अधिक समय रोकैत अछि ओकरा प्राथमिकता दऽ सकैत, सत्य वा सार्वजनिक महत्त्व जरूरी नहि। भावनात्मक उत्तेजना ज्ञानक स्थान ले सकैत अछि।

व्यक्तिगत अनुशासन उपयोगी, मुदा समस्या केवल उपयोगकर्ताक कमजोरी नहि। रचना, सूचना-क्रम आ व्यापारिक प्रोत्साहन सेहो जिम्मेदार। पारदर्शिता आ विकल्पक नीति चाही।

62.9 स्रोतक उत्पत्ति-पथ

डिजिटल कथन अनेक प्रतिलिपि बाद मूल स्रोतसँ कटि जाइत अछि। स्क्रीनचित्र, छोट वीडियो वा उद्धरणक सन्दर्भ गायब होइत अछि। ‘बहुत जगह देखल’ स्वतंत्र पुष्टिक प्रमाण नहि।

मूल प्रकाशन, लेखक, तिथि, सम्पूर्ण अंश आ संशोधन खोजल जाए। अभिलेखित प्रति उपयोगी, मुदा जाली रूप सम्भव। स्रोतक उत्पत्ति-पथ ज्ञानमीमांसाक नूतन नागरिक कौशल अछि।

62.10 प्रतिध्वनि-कक्ष आ समूह-विश्वास

समान विचारवला लोकक समूह समर्थन दैत, मुदा विरोधी प्रमाण लगातार बाहर रहला पर विश्वास अतिविश्वासी बनि सकैत अछि। समूहक भीतर पुनरावृत्ति स्वतंत्र सहमति जकाँ देखाइत अछि।

समाधान प्रत्येक विरोधी सामग्री बराबर मानब नहि। विश्वसनीय भिन्न स्रोत, सबल प्रतिपक्ष आ निर्णय बदलयवला प्रमाण खोजल जाए। संवादक सुरक्षा संग अपमान आ समन्वित छल रोकल जाए।

62.11 डिजिटल विस्मरणक अधिकार

पुरान गलती अनन्तकाल खोजयोग्य रहला पर दण्ड अनुपातहीन भऽ सकैत अछि। दोसर दिस सार्वजनिक पद, अपराध वा इतिहासक महत्त्वपूर्ण अभिलेख हटलासँ उत्तरदायित्व कमजोर होइत अछि।

विस्मरणक दावा निजता, सार्वजनिक हित, समय, सत्यता आ व्यक्तिक वर्तमान भूमिकासँ जाँचल जाए। हटायब, खोज-क्रम घटायब, सन्दर्भ जोड़ब—अलग उपाय छथि।

62.12 डिजिटल सार्वजनिक ग्रन्थालय

डिजिटल पहुँच छोट भाषाक पुस्तक, पाण्डुलिपि आ पत्रिका बचा सकैत अछि। खोजयोग्यता ज्ञानक लोकतन्त्रीकरण करैत अछि, जँ सामग्री खुलल मानक आ दीर्घकालीन संरक्षणसहित हो।

स्कैन मात्र पर्याप्त नहि। सही मेटाडेटा, पाठ-जाँच, अधिकार, संस्करण आ उद्धरण-पथ चाही। मैथिली सामग्रीक डिजिटलीकरण समुदायक सहभागिता आ विद्वत् समीक्षा सँ हो।

अध्याय-निष्कर्ष

डिजिटल संसार ज्ञानक अवसर आ भ्रमक गति दुनू बढ़बैत अछि। समानान्तर दर्शनक नागरिक सूत्र अछि—लोकप्रियता सत्य नहि; दृश्य प्रत्यक्षक गारंटी नहि; एल्गोरिदम निष्पक्ष नियति नहि; आ स्रोत-समीक्षा बौद्धिक विलास नहि। डिजिटल नागरिककेँ नव्य-न्यायाचार्य नहि बनबाक अछि, मुदा प्रमाण पूछबाक संस्कार अवश्य चाही।

अध्याय-ग्रन्थसूची

Luciano Floridi — The Philosophy of Information.

Cass Sunstein — #Republic.

Miranda Fricker — Epistemic Injustice.

C. Thi Nguyen — चयनित लेख: echo chambers and epistemic environments.

Stanford Encyclopedia of Philosophy — “Social Epistemology”; “Epistemic Bubbles”.

अध्याय 63 – कृत्रिम बुद्धि आ मनुष्यक उत्तरदायित्व

कृत्रिम बुद्धि गणना, भाषा, चित्र, निर्णय-सहायता आ ज्ञान-संगठनक नूतन साधन अछि। मुदा मशीन द्वारा उत्तर उत्पन्न भेला सँ नैतिक उत्तरदायित्व मशीनपर स्वतः नहि चलि जाइत अछि। मूल प्रश्न अछि—ककर डेटा? ककर पूर्वग्रह? ककर लक्ष्य? गलती भेल तँ उत्तरदायी के? मानवीय निर्णयक कोन क्षेत्र पूर्ण स्वचालनक योग्य नहि? समानान्तर दर्शनक सिद्धान्त अछि—तकनीकी क्षमता नैतिक अनुमति नहि।

63.1 साधन, अभिकर्ता आ उत्तरदायित्व

कृत्रिम बुद्धि प्रणाली जटिल निर्णय उत्पन्न कऽ सकैत अछि, मुदा कानूनी, संस्थागत आ नैतिक उत्तरदायित्वक संरचना मनुष्य आ संस्थासभ तय करैत अछि। ‘एल्गोरिदम निर्णय लेलक’ कहि कऽ संस्था अपन जिम्मेवारी समाप्त नहि कऽ सकैत। कोन डेटा चुनल गेल, कोन लक्ष्य निर्धारित भेल, कोन जोखिम स्वीकारल गेल, कोन मानव समीक्षा राखल गेल—ई सभ मानवीय निर्णय अछि।

63.2 डेटा तटस्थ नहि

प्रशिक्षण-डेटा समाजक इतिहाससँ अबैत अछि। जँ इतिहासमे भेदभाव अछि तँ डेटा ओकर छाप लऽ सकैत अछि। मुदा ‘डेटामे पूर्वग्रह अछि’ कहि सभ सांख्यिकीय अन्तरकेँ अन्याय मानब सेहो सरलता अछि। प्रश्न अछि—डेटा प्रतिनिधिक अछि? वर्गीकरण उचित अछि? लक्ष्य-चर नैतिक रूपसँ वैध अछि? त्रुटि ककरा बेसी नुकसान पहुँचबैत अछि? प्रणालीक परिणाम स्वतंत्र परीक्षणमे कतेक टिकैत अछि?

63.3 व्याख्येयता आ अपील

जतय कृत्रिम बुद्धिक निर्णय नौकरी, ऋण, शिक्षा, स्वास्थ्य, न्याय वा सार्वजनिक लाभ प्रभावित करैत अछि, ओतय प्रभावित व्यक्तिकेँ कारण बुझबाक, त्रुटि सुधारबाक आ मानवीय समीक्षा माँगबाक अवसर चाही। ‘मॉडल एहन कहल’ पर्याप्त सार्वजनिक कारण नहि। तकनीकी जटिलता जवाबदेहीक विकल्प नहि।

63.4 स्वचालनक सीमा

किछु कार्य नियमित गणना, वर्गीकरण वा खोजक लेल उपयुक्त हो सकैत अछि। मुदा जे निर्णय गरिमा, सहमति, दण्ड, जीवन-मृत्यु, जटिल सामाजिक सन्दर्भ अथवा नैतिक विवेक माँगैत अछि, ओतय पूर्ण स्वचालन विशेष सावधानी माँगैत अछि। दक्षता एक मूल्य अछि; न्याय, करुणा, पारदर्शिता आ अपील सेहो मूल्य छथि।

63.5 कृत्रिम बुद्धि आ ज्ञान

भाषिक प्रणाली प्रभावशाली उत्तर देत, मुदा प्रभावशाली भाषा सत्यताक प्रमाण नहि। ओ स्रोत गढ़ि सकैत अछि, प्रसंग गड्डमड्ड कऽ सकैत अछि, अनिश्चित तथ्यकेँ निश्चित स्वरमे कहि सकैत अछि। तेँ AI-उत्पन्न

सामग्रीकेँ स्रोत नहि, सहायक प्रस्ताव मानि स्वतंत्र प्रमाणसँ जाँचबाक आवश्यकता अछि—विशेषतः इतिहास, कानून, चिकित्सा, विज्ञान आ सार्वजनिक नीति मे।

63.6 सृजनशीलता आ लेखकीय उत्तरदायित्व

कृत्रिम बुद्धि लेखन, चित्र, संगीत आ अनुवादमे सहयोग देत। मुदा लेखकीय उत्तरदायित्व समाप्त नहि। कृति प्रकाशित करयवला व्यक्ति वा संस्था तथ्य, उद्धरण, अधिकार, सहमति आ परिणाम लेल जिम्मेदार रहत। साधन बदलैत अछि; उत्तरदायित्वक प्रश्न रहैत अछि।

63.7 भाषा, असमानता आ AI

प्रमुख भाषासभक विशाल डिजिटल सामग्री मॉडलकेँ अधिक समर्थ बना सकैत अछि, जखन मैथिली-जकाँ भाषासभ कम संसाधन कारण कमजोर प्रतिनिधित्व पबैत अछि। ई केवल तकनीकी समस्या नहि; भाषिक न्यायक प्रश्न अछि। स्थानीय कॉर्पस निर्माण, खुला लाइसेंस, गुणवत्तापूर्ण सम्पादन, विविध लिपि समर्थन आ समुदाय-भागीदारी आवश्यक अछि। मुदा डेटा-संग्रहमे गोपनीयता आ सहमति सेहो महत्त्वपूर्ण।

63.8 मनुष्यक गरिमा

एहि ग्रन्थक कसौटी स्पष्ट अछि—मनुष्यक गरिमा, गोपनीयता, स्वायत्तता आ उत्तरदायित्व तकनीकी दक्षतासँ ऊपरक कसौटी रहत। एहन प्रणाली जे अत्यन्त प्रभावी हो मुदा व्यक्तिकेँ केवल आँकड़ा-बिन्दुमे घटा दे, ओकर नैतिक समीक्षा आवश्यक अछि।

पूर्वपक्ष: यदि AI मनुष्यसँ बेहतर निर्णय लैत अछि तँ मानव समीक्षा अनावश्यक किएक नहि?

उत्तरपक्ष: ‘बेहतर’ कोन मापदण्डपर? औसत शुद्धता महत्त्वपूर्ण अछि, मुदा अधिकार, अपील, दुर्लभ परिस्थिति, मूल्य-संघर्ष आ जिम्मेवारी अलग प्रश्न छथि। उच्च प्रदर्शन नैतिक वैधताक पूर्ण प्रमाण नहि।

63.14 स्वचालित वर्गीकरण आ अपील

प्रणाली व्यक्ति केँ जोखिम, योग्यता वा प्राथमिकताक श्रेणीमे रखैत अछि। श्रेणी सम्भाव्यता होइतहुँ अधिकारी ओकरा निश्चित सत्य मानि सकैत। गलत वर्गीकरण सेवा, ऋण वा स्वतंत्रतापर गम्भीर प्रभाव दैत अछि।

प्रभावित व्यक्ति जानथि जे स्वचालित साधन उपयोग भेल, मुख्य कारण की, डेटा सुधार कोना, आ मानव अपील कतय। व्यापारिक गोपनीयता मूल न्यायिक कारण छिपेबाक पूर्ण आधार नहि।

अपीलक सफलता मापल जाए। केवल ईमेल-पता हो, मुदा निर्णय बदलयक अधिकार नहि, तँ प्रक्रिया प्रतीकात्मक।

63.15 मानवीय रूप देबाक भ्रम

प्रवाही भाषा वा चेहरा देखिकऽ उपयोगकर्ता प्रणालीमे समझ, इच्छा आ करुणा मानि सकैत अछि। व्यवहार मानवीय-जकाँ होयब आ सचेत अनुभव होयब अलग दाबी। वर्तमान प्रदर्शनसँ अन्तःचेतना स्वतः सिद्ध नहि।

मानवीकरण भावनात्मक निर्भरता, निजी जानकारी साझा करब आ गलत विश्वास बढ़ा सकैत अछि। प्रणाली अपन सीमा, गैर-मानवीय स्वरूप आ जोखिम स्पष्ट करय।

दार्शनिक रूपसँ मशीन-चेतनाक सम्भावना खुलल प्रश्न रहि सकैत, मुदा नीति वर्तमान प्रमाण आ वास्तविक क्षमता पर बने, कल्पना पर नहि।

63.16 दक्षता आ अपमान

स्वचालन प्रतीक्षा घटा सकैत, मुदा शोक, स्वास्थ्य वा न्यायजकाँ प्रसंगमे मानवीय सुनवाईक अभाव अपमानजनक हो सकैत अछि। सेवा केवल परिणाम नहि, व्यवहार सेहो।

सभ काममे मानव अनिवार्य रखब महँगा आ धीमा। उच्च प्रभाव, असामान्य स्थिति आ विवादक मामिलामे सहज मानव मार्ग हो; सामान्य कार्य स्वचालित भऽ सकैत।

दक्षताक गणनामे त्रुटि सुधार, बहिष्कृत उपयोगकर्ता आ भरोसाक लागत जोड़ल जाए। समय बचत एकमात्र मूल्य नहि।

63.17 पूर्वपक्ष: अधिक सक्षम प्रणाली स्वयं उत्तरदायी होयत

जँ प्रणाली योजना, भाषा आ अनुकूलन करैत अछि, तँ ओकरा अभिकर्ता मानि दोष देबाक विचार उठैत अछि। मुदा उत्तरदायित्व दण्ड-बोध, कारण बुझब, नियम मानब आ प्रतिकारक क्षमता माँगैत अछि।

कानूनी व्यक्तित्व तकनीकी नीति हो सकैत, नैतिक चेतना सिद्ध नहि। निर्माता, लागूकर्ता, मालिक आ निर्णयकर्ताक जिम्मेदारी मशीनक नामपर गायब नहि हो।

भविष्यक क्षमता बदलला पर प्रश्न पुनः जाँचल जाए। एखन संस्थागत उत्तरदायित्व स्पष्ट करब अधिक सुरक्षित।

63.9 निर्णय-सहायता आ निर्णय-अधिकार

कृत्रिम बुद्धि विकल्प छाँटि, नमूना देखाबि वा पूर्वानुमान दे सकैत अछि। मुदा सिफारिश ककर लक्ष्य, कोन डेटा आ कोन त्रुटि-मूल्यपर बनल से मानवीय निर्णयकर्ता बुझथि। साधनक गति उत्तरदायित्व स्थानान्तरित नहि करैत।

उच्च जोखिम क्षेत्रमे अन्तिम निर्णय अर्थपूर्ण मानवीय समीक्षा माँगैत अछि—केवल मुहर नहि। समीक्षकक समय, अधिकार आ प्रणाली बदलबाक क्षमता हो।

63.10 पक्षपातक अनेक स्रोत

पक्षपात डेटा भीतरक पुरान भेदभाव, नमूना-अभाव, लक्ष्य-चयन, लेबल, मापन वा लागू करबाक प्रसंगसँ उत्पन्न भऽ सकैत अछि। केवल ‘डेटा साफ’ कहब पर्याप्त नहि।

समूह-अनुसार त्रुटि, प्रभावित अनुभव आ निर्णयक परिणाम जाँचल जाए। पूर्ण समानता कखनो अलग मापमे परस्पर टकरा सकैत; नैतिक प्राथमिकता सार्वजनिक रूपसँ तय हो।

63.11 व्याख्येयता आ कारण

मॉडल कोन विशेषता कारण परिणाम देलक से बतब आवश्यक, विशेषतः ऋण, रोजगार वा स्वास्थ्य जकाँ क्षेत्रमे। सामान्य तकनीकी विवरण प्रभावित व्यक्तिक अपील लेल पर्याप्त नहि।

व्याख्या निर्णय-विशिष्ट, बुझब योग्य आ प्रतिवादयोग्य हो। पूर्वानुमानक सहसम्बन्धकेँ कारण मानि नीति बनब जोखिमपूर्ण। व्याख्येयता सत्यताक गारंटी नहि, उत्तरदायित्वक शर्त अछि।

63.12 श्रम, सृजन आ श्रेय

कृत्रिम बुद्धि प्रणालीक पाछाँ डेटा-संग्रह, लेबलिंग, लेखन, चित्र आ संगणकीय श्रम अछि। ‘स्वचालित’ शब्द एहि मानवीय योगदानकेँ अदृश्य करि सकैत अछि।

सृजनात्मक उपयोगमे स्रोत-अधिकार, सहमति, श्रेय आ आजीविकाक प्रश्न उठैत अछि। नूतन रचना आ अनुचित अनुकरणक सीमा विधि, तकनीक आ नैतिक संवादसँ स्पष्ट हो; केवल बाजारक शक्ति निर्णय नहि करय।

63.13 मैथिली आ प्रतिनिधित्व

कम डिजिटल सामग्रीवला भाषामे प्रणालीक त्रुटि अधिक भऽ सकैत, आ मानक रूप बाहरक बोली अदृश्य हो सकैत अछि। गलत अनुवाद प्रशासन वा स्वास्थ्यमे वास्तविक हानि दऽ सकैत अछि।

समुदाय-सम्मत डेटा, भाषाविद् समीक्षा, बोली-विविधता आ सार्वजनिक परीक्षण आवश्यक। भाषा-संग्रहक सहमति आ लाभ-वितरण स्पष्ट हो। डिजिटल उपस्थितिक नामपर सांस्कृतिक सामग्री मुक्त संसाधन नहि।

अध्याय-निष्कर्ष

कृत्रिम बुद्धि न देवता अछि, न शैतान; ई शक्तिशाली मानवीय तकनीकी व्यवस्था अछि। ओकर नैतिक मूल्य उपयोग, लक्ष्य, डेटा, नियंत्रण, पारदर्शिता आ सामाजिक परिणामपर निर्भर अछि। समानान्तर दर्शनक सूत्र—तकनीकी क्षमता नैतिक अनुमति नहि—AI युगमे विशेष अर्थ पबैत अछि।

अध्याय-ग्रन्थसूची

Luciano Floridi et al. — चयनित AI ethics लेख.

Shannon Vallor — Technology and the Virtues.

Virginia Eubanks — Automating Inequality.

Cathy O’Neil — Weapons of Math Destruction.

UNESCO — Recommendation on the Ethics of Artificial Intelligence.

अध्याय 64 – पर्यावरण आ भावी पीढ़ी

परम्परागत नैतिकता मुख्यतः वर्तमान मनुष्यसभक सम्बन्धपर केन्द्रित रहल। मुदा पर्यावरणीय संकट प्रश्न बदलि दैत अछि। अजन्मा पीढ़ीक प्रति हमर दायित्व अछि? प्रजाति केवल मानव उपयोगक साधन अछि?

नदीक मूल्य केवल बाजार-मूल्य? जे निर्णय आज लैत छी ओकर परिणाम सैकड़ों वर्ष बादक जीवन प्रभावित करैत अछि—तखन नैतिक समुदायक सीमा वर्तमान नागरिक धरि किएक रहत?

64.1 कालातीत नैतिक उत्तरदायित्व

भावी पीढ़ी एखन मतदान नहि कऽ सकैत अछि, अनुबन्ध नहि कऽ सकैत अछि, विरोध प्रदर्शन नहि कऽ सकैत अछि। तथापि वर्तमान निर्णय ओकर जल, वायु, भूमि, जलवायु आ जैवविविधता प्रभावित करैत अछि। शक्ति जँ एकतरफा अछि तँ उत्तरदायित्वक प्रश्न अधिक तीक्ष्ण होइत अछि। समानान्तर दर्शन कहैत अछि—जे व्यक्ति उपस्थित नहि, ओकर गरिमा शून्य नहि।

64.2 प्रकृतिक मूल्य

पर्यावरणकेँ केवल संसाधन मानलासँ नदी = पानी, जंगल = लकड़ी, भूमि = बाजार-मूल्य भऽ जाइत अछि। मुदा प्रकृति पारिस्थितिक तन्त्र, जीवित समुदाय, सांस्कृतिक स्मृति आ भविष्यक आधार सेहो अछि। एतय दू अतिवाद टारबाक चाही: प्रकृतिमे मनुष्यक प्रत्येक हस्तक्षेप अनैतिक—ई असम्भव; आ मनुष्यक उपयोगे प्रकृतिक एकमात्र मूल्य—ई संकुचित।

64.3 अहिंसा, पारस्परिकता आ आधुनिक विज्ञान

जैन अहिंसा, बौद्ध परस्पर-निर्भरता, भारतीय लोक-प्रकृति परम्परा आ आधुनिक पर्यावरण-विज्ञानक बीच संवाद सम्भव अछि, मुदा झूठी समानता नहि। प्राचीन ग्रन्थ आधुनिक जलवायु-विज्ञान ‘पहिने सँ’ जानैत छल—

एहन दावा अनुचित। फलदायी तुलना नैतिक संवेदनशीलता, जीवनक पारस्परिकता आ संयमक प्रश्नपर हो सकैत अछि; अनुभवजन्य जलवायु-दाबी आधुनिक विज्ञानक प्रमाणपर निर्भर रहत।

64.4 पर्यावरणीय न्याय

प्रदूषण आ जलवायु-जोखिम समान रूपसँ वितरित नहि होइत अछि। गरीब, आदिवासी, नदी-निर्भर, तटीय, कृषक आ श्रमिक समुदाय अधिक जोखिम झेलि सकैत छथि, जखन संसाधन-उपभोगक लाभ अन्यत्र केन्द्रित हो। तेँ पर्यावरणीय नैतिकता केवल ‘प्रकृति प्रेम’ नहि; वितरण, प्रतिनिधित्व, विस्थापन, स्वास्थ्य आ आजीविकाक न्याय सेहो अछि।

64.5 मिथिला: नदी, बाढ़ आ जीवन

मिथिलाक भूगोल नदी, बाढ़, जल-जमाव, कृषि, प्रवास आ सीमापार जल-प्रणालीसँ गहिर सम्बन्ध रखैत अछि। बाढ़केँ केवल ‘आपदा’ वा केवल ‘प्राकृतिक चक्र’ कहब पर्याप्त नहि। तटबन्ध, बसावट, भूमि-उपयोग, अवसादन, प्रशासन, जलनिकासी आ स्थानीय अनुभव सभक संयुक्त अध्ययन आवश्यक अछि। समानान्तर दर्शन एतय स्थानीय ज्ञानकेँ सुनैत अछि, मुदा वैज्ञानिक जलविज्ञानक विकल्प नहि बनबैत।

64.6 सावधानी सिद्धान्त

जतय सम्भावित हानि विशाल वा अपरिवर्तनीय हो, पूर्ण निश्चितताक प्रतीक्षा स्वयं जोखिमपूर्ण भऽ सकैत अछि। मुदा सावधानी सिद्धान्त ‘कोनो जोखिम नहि’क असम्भव माँग सेहो नहि। नीति मे जोखिमक आकार, सम्भाव्यता, विकल्प, लागत, लाभ आ असमान वितरणक तुलनात्मक परीक्षण आवश्यक अछि।

64.7 विकासक अर्थ

GDP, सड़क, बिजली, उद्योग—विकासक महत्त्वपूर्ण संकेत हो सकैत अछि, मुदा पूर्ण परिभाषा नहि। जँ आर्थिक वृद्धि दीर्घकालिक जल-विनाश, स्वास्थ्य-हानि वा विस्थापनक मूल्य लुकबैत अछि, तँ विकासक लेखा अधूरा। समानान्तर दर्शन विकासकेँ गरिमा, आजीविका, पारिस्थितिक स्थायित्व आ भावी विकल्पसँ जोड़ैत अछि।

पूर्वपक्ष: भावी पीढ़ीक अधिकार कोना, जखन ओ एखन अस्तित्वमे नहि?

उत्तरपक्ष: अधिकारक दार्शनिक भाषा विवादित हो सकैत अछि, मुदा कमसँ कम एतेक स्पष्ट अछि जे वर्तमान पीढ़ी एहन अपरिवर्तनीय क्षति करबाक असीम अनुमति नहि रखैत जे भविष्यक मनुष्यक मूल जीवन-शर्त नष्ट करय। शक्ति भविष्यपर अछि, तेँ जिम्मेवारी सेहो अछि।

64.13 जलवायु-जोखिम आ स्थानीय निर्णय

दीर्घकालीन जलवायु प्रवृत्ति व्यापक नमूना सँ बुझल जाइत, मुदा गामक एक बाढ़ वा एक वर्षक मौसमसँ सीधा निष्कर्ष नहि। स्थानीय योजना व्यापक विज्ञान आ स्थानीय भूगोल दुनू जोड़य।

पूर्वानुमान सम्भाव्यता रूपमे आए; प्रशासन निश्चित तिथि-जकाँ प्रस्तुत नहि करय। जोखिम मानचित्र भूमि-मूल्य आ विस्थापनपर प्रभाव दैत, तेँ पद्धति सार्वजनिक हो।

अनिश्चितता तैयारी टारबाक कारण नहि। सुरक्षित भवन, चेतावनी आ निकास अनेक सम्भावित भविष्य मे उपयोगी उपाय हो सकैत।

64.14 विस्थापन आ स्थानक गरिमा

परियोजना वा पर्यावरणीय जोखिम कारण पुनर्वास केवल घरक मूल्य देब नहि। आजीविका, पड़ोस, पूजा-स्थल, भाषा आ स्मृति स्थानसँ जुड़ल अछि। नकद मुआवजा सभ सम्बन्ध पुनर्निर्मित नहि करैत।

प्रभावित लोक निर्णयपूर्व जानकारी, विकल्प आ मोल-भावक सामूहिक शक्ति पाबथि। कमजोर स्वामित्व-कागजवला निवासी अदृश्य नहि हो।

जहाँ स्थानान्तरण अपरिहार्य, सेवा पहिले तैयार, आजीविका संक्रमण सुरक्षित, आ दीर्घकालीन परिणाम जाँचल जाए। सहमति एक बेरक हस्ताक्षर नहि।

64.15 सामान्य संसाधनक शासन

तालाब, वन वा चरागाह न पूर्ण निजी, न खुलल लूट होय। समुदाय नियम, निगरानी आ दण्ड बनाबि साझा संसाधन टिकाबि सकैत अछि। मुदा ‘समुदाय’ भीतर शक्ति-असमानता ध्यानमे रहय।

बाहरी राज्य नियम स्थानीय ज्ञान बिना विफल, आ स्थानीय प्रभुत्व कमजोर उपयोगकर्ताकेँ बाहर करि सकैत। बहुस्तरीय शासन, स्पष्ट सीमा आ अपील चाही।

संसाधनक वहन-क्षमता अनुभवजन्य जाँच माँगैत। परम्परागत नियम उपयोगी प्रमाण, अचूकता नहि।

64.16 पूर्वपक्ष: गरीब समाज पर्यावरण वहन नहि कऽ सकैत

विकास लेल ऊर्जा, सड़क आ उद्योग चाही; पर्यावरणीय मानक गरीबक प्रगति रोकैत—एहन आपत्ति उठैत अछि। ऐतिहासिक उत्सर्जन आ संसाधन-उपयोगक असमानता एहि तर्ककेँ बल दैत अछि।

मुदा प्रदूषणक हानि स्वयं गरीबपर अधिक पड़ैत अछि। स्वच्छ तकनीकक लागत वैश्विक आ राष्ट्रिय न्याय अनुसार बाँटल जाए; विकासक नामपर कमजोर क्षेत्र बलिदान नहि।

न्यायपूर्ण संक्रमण समान परिणाम नहि, भिन्न जिम्मेदारी आ क्षमता अनुसार योगदान माँगैत अछि। स्थानीय रोजगार आ स्वास्थ्य दुनू लक्ष्य हो।

64.8 जोखिम आ सावधानी

पर्यावरणीय निर्णयमे पूर्ण निश्चितता दुर्लभ। सम्भावित हानि गंभीर, व्यापक वा अपरिवर्तनीय हो तखन प्रमाणक अभाव निष्क्रियताक स्वतः कारण नहि। सावधानी सिद्धान्त जोखिमक भार पुनर्वितरित करैत अछि।

मुदा हर सम्भावना पर सम्पूर्ण रोक नवोन्मेष असम्भव करि सकैत। सम्भाव्यता, हानिक परिमाण, विकल्प, निगरानी आ उलटबाक क्षमता अनुसार अनुपातिक सावधानी हो।

64.9 पर्यावरणीय लागतक वितरण

प्रदूषण वा बाढ़क जोखिम प्रायः गरीब, निम्न भूभाग वा कम राजनीतिक आवाजवला समुदायपर अधिक पड़ैत अछि, जखनकि लाभ अन्यत्र जाए। औसत लाभ एहि वितरणकेँ छिपा सकैत अछि।

परियोजना मूल्यांकनमे ककर भूमि, स्वास्थ्य, आजीविका आ संस्कृति प्रभावित से देखल जाए। मुआवजा सहमति आ अपरिवर्तनीय हानिक पूर्ण विकल्प नहि।

64.10 नदीक सम्बन्धात्मक मूल्य

नदी जलक मात्रा मात्र नहि; कृषि, माछ, गाद, तीर्थ, भाषा, स्मृति आ सीमा बनबैत अछि। एक उद्देश्य लेल नियन्त्रण दोसर सम्बन्ध नष्ट करि सकैत अछि।

नदीक रोमानी पूजासँ बाढ़, कटाव वा रोगक तथ्य नकारल नहि जाए। अभियांत्रिकी, पारिस्थितिकी आ स्थानीय अनुभव संयुक्त योजना बनाबय। मिथिलाक नदी-जीवन बहुकारणीय अध्ययन माँगैत अछि।

64.11 मानवेतर जीवक नैतिक दर्जा

पीड़ा अनुभव करबाक क्षमता पशुक हितक कारण दैत अछि। प्रजाति भिन्न होयब मनमाना क्रूरता उचित नहि करैत। पारिस्थितिकी तंत्रक मूल्य व्यक्तिगत जीवक पीड़ासँ अलग प्रश्न हो सकैत अछि।

भोजन, अनुसंधान आ संरक्षणमे आवश्यकता, विकल्प आ हानि घटेबाक कसौटी लागू हो। मनुष्यक हित शून्य नहि, मुदा एकमात्र नैतिक मूल्य सेहो नहि।

64.12 न्यायपूर्ण संक्रमण

प्रदूषणकारी उद्योग घटेब आवश्यक हो सकैत, मुदा श्रमिक आ स्थानीय अर्थव्यवस्था अचानक बेरोजगार भऽ सकैत अछि। पर्यावरणीय नीति लागत कमजोरपर डालि न्यायपूर्ण नहि बनत।

प्रशिक्षण, आय-सुरक्षा, स्थानीय निवेश आ निर्णयमे भागीदारी चाही। संक्रमणक गति वैज्ञानिक जोखिम आ सामाजिक क्षमता दुनू ध्यानमे रखय।

अध्याय-निष्कर्ष

पर्यावरणीय नैतिकता मनुष्यकेँ प्रकृतिसँ अलग राजा मानबाक दृष्टि पर प्रश्न उठबैत अछि। भावी पीढ़ी, गैर-मानवीय जीवन, स्थानीय समुदाय, वैज्ञानिक प्रमाण आ विकासक आवश्यकता—सभकेँ एकहि विवेकपूर्ण संरचनामे राखब आवश्यक अछि। समानान्तर दर्शनक पर्यावरणीय सूत्र अछि—आजक सुविधा भविष्यक अस्तित्वक मूल्यपर नहि।

अध्याय-ग्रन्थसूची

Aldo Leopold — A Sand County Almanac.

Hans Jonas — The Imperative of Responsibility.

Peter Singer — चयनित environmental ethics लेख.

Amartya Sen — Development as Freedom.

IPCC — Assessment Reports (वैज्ञानिक पृष्ठभूमि हेतु).

अष्टम खण्ड – गजेन्द्र ठाकुरक समानान्तर दर्शन

अध्याय 65 – बहुप्रमाणीय विवेकवाद

एहि ग्रन्थमे प्रस्तावित समानान्तर दर्शनक पहिल मूल सिद्धान्त अछि—बहुप्रमाणीय विवेकवाद। एकर अर्थ ई नहि जे सभ प्रमाण समान अछि वा सभ विश्वास सत्य हो सकैत अछि। एकर अर्थ अछि—सत्य अछि, ज्ञान सम्भव अछि, मुदा ज्ञान एकमात्र प्रकारक प्रमाणपर निर्भर नहि। प्रत्यक्ष, अनुमान, विश्वसनीय कथन, दस्तावेज, ऐतिहासिक स्रोत, वैज्ञानिक परीक्षण, आत्मानुभव, सांख्यिकीय आँकड़ा, संस्थागत अभिलेख—सभक अपन-अपन उचित क्षेत्र अछि। प्रमाणक बहुलता स्वीकारू, प्रमाणक अराजकता नहि।

65.1 ‘बहुप्रमाणीय’ किएक?

मानवीय प्रश्न एकरूप नहि। औषधिक प्रभाव जानबाक तरीका व्यक्तिगत धार्मिक अनुभूतिसँ अलग; प्राचीन राजवंशक तिथि जानबाक तरीका प्रयोगशाला-परीक्षणसँ अलग; व्यक्तिगत पीड़ाक अनुभव जानबाक तरीका जनगणना-सारणीसँ अलग। जे प्रमाण एक क्षेत्रमे उचित, दोसरमे अपर्याप्त भऽ सकैत अछि। बहुप्रमाणीयता एहि क्षेत्रभेदकेँ स्वीकारैत अछि।

65.2 ‘विवेकवाद’ किएक?

प्रमाण अनेक छथि, मुदा निर्णयक कसौटी चाही। विवेकवादक अर्थ अछि—दाबी स्पष्ट हो, प्रमाण दाबीसँ सम्बद्ध हो, विरोधी प्रमाण सुना जाए, स्रोतक विश्वसनीयता जाँचल जाए, निष्कर्ष प्रमाणक बलानुसार सीमित हो, आ नव प्रमाण आएलापर संशोधन सम्भव हो। ई अचूकतावाद नहि, अनुशासित त्रुटिसंशोध्यवाद अछि।

65.3 प्रमाणक क्षेत्र

प्रत्यक्ष तत्काल अनुभवक मजबूत स्रोत अछि, मुदा भ्रम सम्भव। अनुमान ज्ञातसँ अज्ञात धरि पहुँचैत अछि, मुदा व्याप्ति वा कारण-संरचना चाही। शब्द वा testimony विशाल सामाजिक ज्ञानक आधार अछि, मुदा वक्ता, संस्था आ स्रोतक विश्वसनीयता जाँचल जाए। दस्तावेज इतिहासक साक्ष्य अछि, मुदा निर्माण-उद्देश्य आ मौन देखल जाए। वैज्ञानिक परीक्षण प्रकृतिक अनुभवजन्य प्रश्नमे सर्वोत्तम सार्वजनिक पद्धतिसभमे एक अछि, मुदा नैतिक मूल्य स्वयं प्रयोगशालासँ नहि निकलैत। आत्मानुभव निजी जीवनक अर्थपूर्ण प्रमाण भऽ सकैत अछि, मुदा सार्वभौम सार्वजनिक दाबीक स्वतः पर्याप्त आधार नहि।

65.4 निजी कारण आ सार्वजनिक कारण

व्यक्तिगत धार्मिक अनुभूति व्यक्ति लेल विश्वासक गहिर आधार भऽ सकैत अछि। मुदा आन नागरिकपर कानून थोपबाक लेल ‘हम अनुभव कएलहुँ’ पर्याप्त सार्वजनिक कारण नहि। एहि प्रकार निजी प्रमाणक अपमान नहि होइत; ओकर क्षेत्र स्पष्ट होइत अछि। समान सिद्धान्त अन्य क्षेत्रमे सेहो लागू: व्यक्तिगत सफलता आर्थिक नीति सिद्ध नहि करैत; एक रोगीक अनुभव औषधिक सार्वभौमिक प्रभाव सिद्ध नहि करैत; एक अभिलेख पूरा इतिहास सिद्ध नहि करैत।

65.5 प्रमाणक श्रेणीकरण नहि, संदर्भीकरण

बहुप्रमाणीय विवेकवाद स्थायी सीढ़ी नहि बनबैत जे ‘विज्ञान सदा ऊपर, लोकस्मृति सदा नीचे’ वा उलटा। प्रश्न दाबीक प्रकृति अछि। मौसमक तापमान लेल उपकरणीय आँकड़ा लोकगीतसँ अधिक उचित; समुदाय ककरा पवित्र मानैत अछि तकर अध्ययन लेल लोकगीत महत्त्वपूर्ण; प्राचीन घटना लेल समकालीन शिलालेख बादक किंवदन्तीसँ अधिक प्रत्यक्ष ऐतिहासिक स्रोत भऽ सकैत अछि। प्रमाणक मूल्य संदर्भ-सापेक्ष, सत्य मनमाना नहि।

65.6 भारतीय प्रमाणमीमांसा संग संवाद

न्याय, मीमांसा, बौद्ध आ अन्य भारतीय परम्परासभ प्रमाणक संख्या, स्वरूप आ प्रामाण्यपर दीर्घ बहस करैत छथि। बहुप्रमाणीय विवेकवाद एहि परम्परासभसँ प्रेरणा लैत अछि—विशेषतः ज्ञान-स्रोतकेँ विश्लेषणक विषय बनाबय सँ—मुदा स्वयं कोनो एक शास्त्रीय विद्यालयक पुनरावृत्ति नहि। आधुनिक विज्ञान, इतिहासलेखन, सामाजिक ज्ञान आ डिजिटल स्रोत-समीक्षाकेँ सेहो एहि रूपरेखामे स्थान देल गेल अछि।

65.7 पाश्चात्य ज्ञानमीमांसा संग संवाद

अनुभववाद अनुभवक महत्त्व, बुद्धिवाद तर्कक संरचना, व्यवहारवाद जाँचक परिणाम, सामाजिक ज्ञानमीमांसा testimony आ संस्थाक भूमिका, तथा आधुनिक fallibilism संशोधनशीलताक महत्त्व देखबैत अछि। समानान्तर दर्शन एहि अन्तर्दृष्टिसभकेँ एक बन्द मिश्रण नहि बनबैत; समस्या अनुसार संवाद करैत अछि।

65.8 प्रमाण-अराजकता किएक अस्वीकार्य

जँ प्रत्येक व्यक्ति कहय—‘हमर प्रमाण हमर लेल’, आ कोनो साझा कसौटी नहि, तँ सार्वजनिक ज्ञान विघटित भऽ जाएत। चिकित्सक परीक्षण आ अफवाह, अभिलेख आ कल्पना, विशेषज्ञ आँकड़ा आ मनगढ़न्त संख्या समान स्तरपर नहि। बहुलता समानता नहि। प्रमाणक प्रकार अनेक, मुदा दाबी-प्रमाण सम्बन्ध सार्वजनिक आलोचनाक योग्य रहत।

65.9 चारि-स्तरीय निष्कर्ष-भाषा

बहुप्रमाणीय विवेकवाद निष्कर्षकेँ चारि स्तरमे व्यक्त करबाक प्रस्ताव करैत अछि: मजबूत रूपसँ समर्थित; सम्भावित; विवादित; अज्ञात। एहि भाषा सँ झूठी निश्चितता आ झूठी समानता दुनू घटैत अछि। जहाँ प्रमाण मजबूत, ओतय साहसपूर्वक कहू; जहाँ सीमित, ओतय सीमा स्पष्ट करू; जहाँ स्रोत विरोधी, विवाद स्वीकारू; जहाँ प्रमाण नहि, अज्ञात कहू।

65.10 सत्ता आ प्रमाण

सत्ता प्रमाणक उपलब्धता प्रभावित करैत अछि—ककर अभिलेख सुरक्षित, ककर भाषा प्रकाशित, ककर अनुभव ‘डेटा’ बनैत अछि। तेँ बहुप्रमाणीय विवेकवाद स्रोत-विस्तारक पक्षमे अछि। मुदा सत्ता-विमर्श सत्यक विकल्प नहि। उपेक्षित स्रोतकेँ स्थान देल जाए, तकरा आलोचनासँ मुक्त नहि कएल जाए।

65.11 नैतिक सीमा

ज्ञानक पद्धति केवल बौद्धिक नहि, नैतिक सेहो अछि। जानि-बुझि कऽ कमजोर स्रोतकेँ मजबूत बतायब, विरोधी प्रमाण छिपायब, अनिश्चितताकेँ निश्चित बतायब—ई ज्ञानात्मक बेईमानी अछि। समानान्तर दर्शन सत्य-अन्वेषणकेँ गरिमा आ जिम्मेवारीसँ जोड़ैत अछि।

पूर्वपक्ष: बहुप्रमाणीयता अन्ततः सापेक्षतावाद नहि बनत?

उत्तरपक्ष: नहि, कारण प्रमाणक प्रकार अनेक मानल गेल अछि, सत्यक मापदण्ड समाप्त नहि। प्रत्येक दाबीकेँ उचित क्षेत्रक प्रमाण, तर्कसंगति, प्रतिपक्ष आ संशोधन सहन करय पड़त। सूत्र अछि—‘प्रमाणक बहुलता स्वीकारू, प्रमाणक अराजकता नहि।’

65.17 झूठा संतुलन

दू विरोधी मत अछि कहि दुनूकेँ समान समय देब निष्पक्षता लगि सकैत, मुदा प्रमाण अत्यन्त असमान हो तखन झूठा संतुलन उत्पन्न होइत। अल्पमत मतक अस्तित्व ओकर वैज्ञानिक वजन नहि।

तथापि बहुमत मत आलोचनासँ मुक्त नहि। प्रस्तुति सहमतिक विस्तार, प्रमाणक प्रकार आ वास्तविक अनिश्चितता बताबय।

माध्यम ‘दूनू पक्ष’क बदला दाबीक प्रमाणीय वजन देखय। नैतिक विवादमे मूल्यभेद स्पष्ट करय; तथ्यगत प्रश्नमे स्रोत।

65.18 प्रमाण-संकलनक क्रम

पहिने मनपसन्द निष्कर्ष चुनि समर्थन खोजब पुष्टि-पक्षपात अछि। अनुसन्धान प्रश्न, समावेशन-कसौटी आ निष्कर्ष बदलयवला प्रमाण पहिनेसँ लिखि सकैत अछि।

इतिहास वा दर्शनमे पूर्ण पूर्व-पंजीकरण सम्भव नहि, मुदा स्रोत-चयन पारदर्शी हो। विरोधी ग्रन्थ आ असंगत उदाहरण जानि-बूझि शामिल कएल जाए।

निष्कर्ष लिखलाक बाद स्रोत जोड़ब citation मात्र, grounding नहि। तर्कक प्रत्येक तथ्यगत चरण स्रोतसँ मेल खाय।

65.19 आप्तक आधुनिक रूप

विश्वसनीय वक्ता केवल ईमानदार व्यक्ति नहि; विषयक क्षमता, प्रत्यक्ष पहुँच, सही संप्रेषण आ हित-संघर्षक अभाव चाही। आधुनिक संस्था सामूहिक आप्त जकाँ काम करि सकैत अछि जँ समीक्षा आ सुधार हो।

प्रतिष्ठा उपयोगी संकेत, सत्यक प्रमाण नहि। संस्था पुरान सफलता कारण विश्वसनीय, मुदा विशिष्ट दाबी एखनहुँ जाँच योग्य।

अनाम विशेषज्ञक अपील कमजोर। नाम गोपनीय रहय तखन विधि, डेटा आ स्वतंत्र समीक्षा अधिक स्पष्ट हो।

65.20 पूर्वपक्ष: बहुप्रमाणीयता सापेक्षतावाद अछि

अनेक प्रमाण मानलासँ लोक अपन मनपसन्द स्रोत चुनत—एहन भय उचित। जँ क्षेत्र-सीमा नहि, अनुभव विज्ञानक स्थान आ शास्त्र इतिहासक स्थान लऽ सकैत।

उत्तर ई जे बहुप्रमाणीयता समान वजन नहि। दाबी अनुसार प्राथमिक प्रमाण तय, सहायक प्रमाण जोड़ल, दोष जाँचल आ विरोधक नियम स्पष्ट।

एकाधिकारविरोधी होयब कसौटीविरोधी नहि। उलटे अनेक स्वतंत्र मार्गक संगति वस्तुगतता मजबूत करैत अछि।

65.12 प्रमाणक क्षेत्र-सीमा

प्रत्यक्ष वर्तमान दृश्य गुण बतबैत, अनुमान अदृश्य सम्बन्ध, शब्द दूरस्थ ज्ञान, स्मृति अतीत अनुभव। कोनो प्रमाण सभ प्रश्नक एकाधिकार नहि। क्षेत्रक भेद श्रेणीक्रम नहि।

जहाँ अनेक प्रमाण लागू हो, ओतय संगति, स्वतंत्रता आ स्रोत-दोष जाँचल जाए। विरोध भेला पर जल्दी औसत नहि; प्रत्येक प्रमाण की वास्तवमे एकहि दाबीपर बोलैत अछि से देखल जाए।

65.13 विश्वासक स्तर

निष्कर्षकेँ सत्य/झूठक दू घरमे मात्र नहि राखल जाए। प्रमाणित, अत्यन्त सम्भावित, सम्भावित, विवादित आ अज्ञात-जकाँ स्तर निर्णयक ईमानदारी बढ़बैत अछि।

स्तर शब्द मात्र नहि; ककर प्रमाणसँ बदलत से लिखल जाए। नूतन स्रोत भेटला पर वर्ग बदलि सकैत अछि। अनिश्चितता प्रतिष्ठा-हानि नहि।

65.14 विशेषज्ञ असहमति

विशेषज्ञसभ असहमत होथि तँ साधारण नागरिक सभ मत समान मानि नहि सकैत। योग्यता, प्रासंगिक क्षेत्र, प्रमाणक गुणवत्ता, सहमतिक विस्तार आ हित-संघर्ष जाँचल जाए।

अल्पमत मत केवल अल्पमत कारण गलत नहि, मुदा स्थापित निष्कर्ष बदलयवला सबल प्रमाण देबाक भार अधिक हो सकैत अछि। संस्था आलोचना लेल खुलल रहय।

65.15 अनुभवक प्रमाणीय दर्जा

व्यक्तिगत अनुभव पीड़ा, अपमान वा अर्थक प्रत्यक्ष स्रोत अछि। बाहरी पर्यवेक्षक ओकरा पूर्ण प्रतिस्थापित नहि कऽ सकैत। मुदा अनुभवक कारण सम्बन्धी व्याख्या त्रुटिपूर्ण भऽ सकैत अछि।

‘हम अनुभव कएल’ आ ‘एकर कारण ई अछि’ अलग दाबी। पहिलकेँ सम्मानपूर्वक सुनल जाए, दोसरकेँ वैकल्पिक कारण आ व्यापक प्रमाणसँ जाँचल जाए।

65.16 प्रमाण आ निर्णय

समान प्रमाणपर लोक जोखिम-मूल्य अलग होयबा कारण भिन्न नीति चुनि सकैत अछि। प्रमाण निर्णयक परिणाम बतबैत, मूल्य प्राथमिकता तय करैत अछि।

ई भेद तथ्यकेँ राजनीति सँ अलग टापू नहि बनबैत। प्रमाण-चयनमे मूल्य प्रवेश करि सकैत, मुदा खुलल पद्धति सुधार सम्भव बनबैत अछि। सार्वजनिक निर्णय तथ्य, मूल्य आ वितरण अलग स्पष्ट करय।

अध्याय-निष्कर्ष

बहुप्रमाणीय विवेकवाद समानान्तर दर्शनक ज्ञानमीमांसात्मक आधार अछि। ई एक तरफ एकमात्र प्रमाण-पद्धतिक साम्राज्यवाद अस्वीकारैत अछि, दोसर तरफ ‘सभ बराबर’क अराजकता। सत्यक खोज क्षेत्रानुकूल प्रमाण, साझा आलोचना, स्रोत-समीक्षा, ज्ञानात्मक विनम्रता आ संशोधनशीलतासँ होयत।

अध्याय-ग्रन्थसूची

गौतम — Nyāya-sūtra.

गङ्गेश उपाध्याय — Tattvacintāmaṇi.

Bimal Krishna Matilal — Perception; Logic, Language and Reality.

Stephen H. Phillips — Epistemology in Classical India.

David Hume — An Enquiry Concerning Human Understanding.

John Dewey — Logic: The Theory of Inquiry.

Miranda Fricker — Epistemic Injustice.

अध्याय 66 – सहअस्तित्वात्मक यथार्थवाद

दोसर सिद्धान्त अछि—सहअस्तित्वात्मक यथार्थवाद। एकर आरम्भ दू अतिवादक अस्वीकृतिसँ होइत अछि। पहिल, जगत केवल हमर चेतना वा भाषाक निर्माण अछि; दोसर, वास्तविकता केवल अलग-अलग वस्तुसभक निष्प्राण ढेर अछि, सम्बन्धक कोनो मूल महत्त्व नहि। समानान्तर दर्शन कहैत अछि—जगत हमर इच्छासँ स्वतंत्र प्रतिरोध रखैत अछि, मुदा हम ओकरा सदैव सम्बन्ध, शरीर, भाषा, इतिहास आ सामाजिक स्थिति मार्फत अनुभव करैत छी।

66.1 वस्तुगत प्रतिरोध

आगि हमर मतपर निर्भर नहि जे ओ जरेत की नहि; रोग, बाढ़, गुरुत्व, भूख, शरीरक क्षति, वस्तुक भार—ई सभ वास्तविकता हमर पसन्दसँ बाहर प्रतिरोध करैत अछि। एहि कारण सहअस्तित्वात्मक यथार्थवाद सापेक्षतावाद नहि। “हमरा एना लगैत अछि” आ “वास्तवमे एना अछि” बीच भेद बनल रहैत अछि। प्रमाण, परीक्षण आ सुधारक आवश्यकता एतहि सँ निकलैत अछि।

66.2 सम्बन्ध वास्तविक अछि

मुदा वस्तुकेँ केवल एकाकी पदार्थ मानब अधूरा अछि। मनुष्य पुत्र, माता, नागरिक, श्रमिक, भाषिक व्यक्ति, मित्र, पड़ोसी, जैविक जीव आ ऐतिहासिक उत्तराधिकारी—अनेक सम्बन्धमे एकहि समय अस्तित्व रखैत

अछि। समाज केवल व्यक्तिसभक जोड़ नहि; संस्था, नियम, भाषा, स्मृति आ सत्ता सम्बन्धक संरचना बनबैत अछि। नदी केवल जलराशि नहि; पारिस्थितिकी, कृषि, भूगोल, स्मृति आ आजीविकाक सम्बन्ध सेहो अछि।

66.3 व्यक्ति आ समाज

सहअस्तित्वात्मक यथार्थवाद व्यक्तिक स्वतंत्र गरिमा स्वीकारैत अछि, मुदा ओकरा समाजसँ बाहर कल्पित आत्मनिर्भर परमाणु नहि मानैत। व्यक्ति भाषा, पालन-पोषण, शिक्षा, संसाधन आ संस्थाक मार्फत विकसित होइत अछि। तैओ समाज व्यक्ति पर पूर्ण अधिकार नहि रखैत। सम्बन्ध व्यक्ति बनबैत अछि; व्यक्ति सेहो सम्बन्ध बदलि सकैत अछि। एहि द्विपक्षीयतामे स्वतंत्रता आ उत्तरदायित्व दुनू स्थान पबैत अछि।

66.4 अनुभव आ वस्तु

एकहि वास्तविकता अलग सामाजिक स्थानसँ अलग रूपमे अनुभव हो सकैत अछि। बाढ़ अधिकारी लेल आपदा-आँकड़ा, किसान लेल फसलक विनाश, बच्चा लेल स्कूल टूटबाक अनुभव, आ प्रवासी परिवार लेल विस्थापन भऽ सकैत अछि। ई अनेक अनुभव वास्तविकताकेँ मनमाना नहि बनबैत; बल्कि ओकर बहुस्तरीयता देखबैत अछि। वस्तुगत घटना एक, ओकर मानवीय सम्बन्ध अनेक।

66.5 भारतीय आ पाश्चात्य संवाद

न्याय-वैशेषिकक वस्तुवादी प्रवृत्ति, बौद्ध प्रतीत्यसमुत्पादक सम्बन्ध-संवेदनशीलता, जैन अनेकान्तक बहुपक्षीयता, अरस्तूक सामाजिक मनुष्य, हेगेलक मान्यता-विमर्श आ समकालीन सम्बन्धात्मक दर्शन—सभसँ

संरचनात्मक संवाद सम्भव अछि। मुदा एहि ग्रन्थक सिद्धान्त कोनो एक परम्पराक पुनरावृत्ति नहि; ई एहि प्रश्नक स्वतन्त्र उत्तर अछि जे वस्तुगतता आ सम्बन्धात्मक अनुभवकेँ एक संग कोना राखल जाए।

66.6 पूर्वपक्ष: सम्बन्ध मानलासँ वस्तुगत सत्य कमजोर होयत

आपत्ति ई जे जँ प्रत्येक ज्ञान सामाजिक सम्बन्धमे बनैत अछि, तखन सत्य सत्ता वा दृष्टिकोणक खेल बनि जाएत।

उत्तरपक्ष: ज्ञान सम्बन्धित, वस्तु प्रतिरोधी

ज्ञाता सम्बन्धित अछि; सत्य केवल सम्बन्धक इच्छा नहि। हमर वर्णन भाषा आ दृष्टिकोणसँ प्रभावित भऽ सकैत अछि, मुदा जगत गलत वर्णनकेँ विफल करैत अछि। चिकित्सा, इंजीनियरी, कृषि आ इतिहास—सभमे वास्तविक प्रतिरोध भ्रमक सीमा निर्धारित करैत अछि। तेँ सम्बन्धात्मकता ज्ञानक स्थिति बतबैत अछि, सत्यक मनमानापन नहि।

66.12 कारणक सम्बन्धात्मक जाल

घटना प्राय: एक कारणसँ नहि, अनेक शर्तक जालसँ होइत। बाढ़मे वर्षा, नदी-पथ, बाँध, बसावट आ चेतावनी संयुक्त। ‘मुख्य कारण’ प्रश्न उद्देश्य अनुसार बदलि सकैत—वैज्ञानिक व्याख्या, कानूनी दोष वा रोकथाम।

बहुकारणीयता जिम्मेदारी धुँधला नहि करय। जे अभिकर्ता ज्ञात जोखिम नियंत्रित करि सकैत छल ओकर भूमिका अलग चिन्हित हो।

सम्बन्ध देखब अनन्त सूची नहि। आवश्यक, पर्याप्त, योगदानकारी आ पृष्ठभूमि शर्त अलग कएल जाए।

66.13 देह–परिवेशक सम्बन्ध

क्षमता शरीर भीतरक गुण मात्र नहि। व्हीलचेयर उपयोगकर्ताक गतिशीलता सड़क, भवन आ परिवहनसँ संयुक्त बनैत अछि। परिवेश बदलला पर ‘अक्षमता’क सामाजिक परिणाम बदलि सकैत।

एहि दृष्टिसँ देहक वास्तविकता नकारल नहि। चिकित्सा आ सुलभ परिवेश अलग, पूरक उपाय। व्यक्ति कैं सुधारक एकमात्र वस्तु मानब अन्याय।

नीति प्रभावित व्यक्तिक अनुभव, तकनीकी मानक आ संसाधन जोड़य। सार्वभौम रचना अधिक लोकक क्षमता बढ़बैत अछि।

66.14 सम्बन्ध टूटबाक नैतिकता

सभ सम्बन्ध बचायब आवश्यक नहि। हिंसक परिवार, शोषक काम वा दमनकारी समुदाय छोड़ब गरिमाक रक्षा भऽ सकैत। सहअस्तित्व निकासक अधिकार बिना बन्धन बनि जाइत।

निकासक निर्णय दोसरपर वास्तविक दायित्व छोड़ि सकैत—बालक, ऋण वा साझा संसाधन। जिम्मेदारी स्पष्ट कऽ सुरक्षित पृथक्करण हो।

समाज निकासक लागत घटाबय: आश्रय, कानून, आय आ नूतन सम्बन्ध। केवल ‘छोड़ि दिअ’ सलाह निर्भरता नहि बुझैत।

66.15 पूर्वपक्ष: सम्बन्धपर बल व्यक्तिक अधिकार कमजोर करैत

समुदायिक सम्बन्धक महत्त्व कहला पर व्यक्ति परिवार वा परम्पराक अधीन होयत—ई भय ऐतिहासिक रूपसँ उचित। सामूहिक हितक नामपर असहमति दबाओल गेल अछि।

सहअस्तित्वात्मक यथार्थवाद अधिकारकैं सम्बन्ध-विरोधी नहि, न्यायपूर्ण सम्बन्धक शर्त मानैत अछि। सहमति, आवाज, निकास आ समान दर्जा बिना सम्बन्ध वैध नहि।

व्यक्ति सेहो दूसरक देखभाल आ सार्वजनिक साधनपर निर्भर; अधिकार संग दायित्व हो। दायित्व पारस्परिक आ अनुपातिक, जन्मगत अधीनता नहि।

66.7 वस्तु आ सम्बन्धक सह-वास्तविकता

वस्तु केवल सम्बन्धक गाँठ नहि, कारण ओकर गुण आ प्रतिरोध सम्बन्ध बदललासँ तुरन्त समाप्त नहि होइत। मुदा वस्तु पूर्ण पृथक सार सेहो नहि; पहचान इतिहास, उपयोग आ अन्य वस्तुसँ सम्बन्धमे खुलैत अछि।

सहअस्तित्वात्मक यथार्थवाद दूनू अतिवाद रोकैत अछि। नदी भौतिक प्रवाह अछि आ समुदायिक जीवनक सम्बन्ध सेहो। सामाजिक अर्थ जलक गुण नकारैत नहि; भौतिक वर्णन सांस्कृतिक अर्थ समाप्त नहि करैत।

66.8 निर्भरता आ स्वायत्तता

मानवीय स्वायत्तता निर्भरता-विहीनता नहि। भाषा, देखभाल आ संस्था क्षमता बनबैत अछि। प्रश्न ई जे निर्भर सम्बन्ध व्यक्तिक आवाज बढ़बैत अछि की मनमाना नियन्त्रण।

सहायता देनिहारक शक्ति नियम, सम्मान आ अपीलसँ सीमित हो। प्राप्तकर्ता कृतज्ञताक ऋणमे अधिकार नहि गमाय। सम्बन्धात्मक स्वतंत्रता सहयोग भीतर प्रभुत्व-विरोधी सुरक्षा अछि।

66.9 दृष्टिकोण आ वस्तुगत प्रतिरोध

ज्ञान सदैव कोनो स्थानसँ अबैत अछि। किसान, अभियन्ता आ नदीक किनारक निवासी एकहि बाढ़क अलग पक्ष देखैत छथि। ककरो दृष्टि पूर्ण नहि, मुदा सभ समान रूपसँ प्रासंगिक सेहो नहि।

वस्तुगतता दृष्टिहीनता नहि, दृष्टिसभक आलोचनात्मक संयोजन अछि। मापन, अनुभव, इतिहास आ प्रतिवाद जोड़ल जाए। जे निष्कर्ष अनेक स्वतंत्र दृष्टि सहैत अछि ओकर विश्वसनीयता बढ़ैत अछि।

66.10 संस्था सम्बन्धक स्थिर रूप

कानून, बाजार, परिवार आ विश्वविद्यालय दोहराओल सम्बन्धकेँ स्थिर करैत अछि। संस्था व्यक्तिसँ अधिक टिकैत, मुदा व्यक्तिक क्रिया बिना अस्तित्व नहि रखैत।

एहि कारण परिवर्तन केवल मन बदललासँ नहि, नियम आ संसाधन बदललासँ सेहो होयत। मुदा संस्था केँ दानव-जकाँ स्वतंत्र अभिकर्ता मानि व्यक्तिगत जिम्मेदारी मिटाओल नहि जाए। स्तर अलग रखल जाए।

66.11 संघर्ष आ सहअस्तित्व

सहअस्तित्वक अर्थ संघर्षक अभाव नहि। संसाधन, मूल्य आ पहचानक वास्तविक मतभेद रहत। प्रश्न ई जे संघर्ष हिंसा आ अपमान बिना कोना संस्थागत हो।

निष्पक्ष प्रक्रिया, अधिकारक सीमा, अस्थायी समझौता आ पुनर्विचारक मार्ग चाही। कृत्रिम सामंजस्य कमजोरक मौनपर टिकि सकैत अछि; खुलल असहमति अधिक स्थायी शान्तिक आधार बनि सकैत अछि।

अध्याय-निष्कर्ष

सहअस्तित्वात्मक यथार्थवादक सूत्र अछि—वास्तविकता हमर इच्छासँ स्वतंत्र अछि, मुदा ओकर मानवीय अनुभव सम्बन्धक जालमे घटैत अछि। व्यक्ति वास्तविक, समाज वास्तविक; शरीर वास्तविक, अर्थ वास्तविक; वस्तु वास्तविक, सम्बन्ध सेहो वास्तविक। ई सिद्धान्त कठोर व्यक्तिवाद आ कठोर सामूहिकतावाद दुनूक विकल्प प्रस्तुत करैत अछि।

अध्याय-ग्रन्थसूची

गौतम — Nyāya-sūtra.

कणाद — Vaiśeṣika-sūtra.

नागार्जुन — Mūlamadhyamakakārikā.

उमास्वाति — Tattvārthasūtra.

Aristotle — Politics.

Charles Taylor — Sources of the Self.

Alasdair MacIntyre — After Virtue.

Amartya Sen — The Idea of Justice.

अध्याय 67 – गरिमा-आधारित नैतिकता

समानान्तर दर्शनक नैतिक केन्द्र गरिमा अछि। गरिमाक अर्थ ई जे प्रत्येक मनुष्यक मूल नैतिक मूल्य जन्म, जाति, लिंग, धन, भाषा, धर्म, क्षमता, पद, उपयोगिता वा बहुमतक स्वीकृतिसँ पहिने अछि। मनुष्यकेँ केवल साधन, संख्या, श्रमशक्ति, मतदाता, उपभोक्ता वा समुदायिक प्रतिष्ठाक वाहक बनाकऽ नहि देखल जा सकैत अछि।

67.1 गरिमा आ मूल्य

गरिमा समान मानवीय दर्जाक दावा अछि। ई दावा ई नहि कहैत अछि जे सभ व्यक्तिक गुण, आवश्यकता, उपलब्धि वा जिम्मेवारी समान अछि। ई कहैत अछि जे ककरो मूल मानवीय दर्जा कम नहि। अपराधी सेहो विधिसम्मत प्रक्रिया पाबय; गरीब सेहो सम्मान; अल्पसंख्यक सेहो समान नागरिकता; असहमत व्यक्ति सेहो अपमानरहित व्यवहार।

67.2 जन्म नैतिक योग्यता नहि

जाति, वंश, लिंग वा परिवारक आधारपर नैतिक उच्चता मानब एहि सिद्धान्तसँ असंगत अछि। जन्म संयोग अछि, उपलब्धि नहि। जन्माधारित विशेषाधिकार तखन सार्वजनिक औचित्य माँगत जखन ओकरा राज्य, शिक्षा, सम्पत्ति, प्रतिनिधित्व वा सामाजिक अवसरमे रूपान्तरित कएल जाए।

67.3 स्वायत्तता, पीड़ा आ न्याय

गरिमा-आधारित नैतिकता चारि मुख्य कसौटी प्रस्तावित करैत अछि: कोनो कर्म अनावश्यक पीड़ा बढ़बैत अछि की? ककरो स्वायत्ततासँ अनुचित रूपसँ नष्ट करैत अछि की? ककरो समान मानव-दर्जासँ नकारैत अछि की? लाभ आ भार न्यायपूर्ण रूपसँ बाँटल अछि की? एहि चारि प्रश्नसँ नीति, पारिवारिक व्यवहार, चिकित्सा, तकनीक, दण्ड आ सामाजिक प्रथा जाँचल जा सकैत अछि।

67.4 स्वायत्तता अकेले पर्याप्त नहि

व्यक्ति “स्वतंत्र निर्णय” तखन अर्थपूर्ण रूपसँ करैत अछि जखन ओकरा जानकारी, विकल्प, न्यूनतम संसाधन आ दबावसँ रक्षा उपलब्ध हो। भूख, जातिगत भय, आर्थिक निर्भरता वा घरेलू हिंसाक बीच कएल “चयन”सँ पूर्ण स्वतंत्रता मानब गलत हो सकैत अछि। गरिमा तेँ औपचारिक स्वीकृतिक संग वास्तविक परिस्थितिक परीक्षण माँगैत अछि।

67.5 करुणा आ अधिकार

केवल अधिकारक भाषा कखनो सम्बन्धक नैतिकता कम करैत अछि; केवल करुणा कखनो पितृसत्तात्मक संरक्षण बनि सकैत अछि। समानान्तर दर्शन अधिकारक समानता आ करुणाक मानवीयता जोड़ैत अछि। करुणा व्यक्ति पर नियन्त्रणक अनुमति नहि; अधिकार संवेदनहीनता नहि।

67.6 कान्ट, बौद्ध-जैन परम्परा आ आम्बेडकरसँ संवाद

कान्टक मनुष्यकेँ साधन मात्र नहि मानबाक सिद्धान्त, बौद्ध करुणा, जैन अहिंसा आ आम्बेडकरक समानता–स्वतंत्रता–बन्धुत्वक आग्रह एहि ढाँचासँ संवाद करैत अछि। मुदा गरिमा-आधारित नैतिकता एहि ग्रन्थमे अपन स्वतन्त्र संरचना रखैत अछि: समान दर्जा, स्वायत्तता, पीड़ा-न्यूनता आ न्यायपूर्ण भार-वितरण।

67.7 पूर्वपक्ष: गरिमा बहुत अमूर्त शब्द अछि

आपत्ति ई जे “गरिमा” सभ पक्ष अपन सुविधानुसार उपयोग कऽ सकैत अछि।

उत्तरपक्ष: गरिमाकेँ परीक्षणीय नैतिक प्रश्नमे बदलू

गरिमा केवल भावुक शब्द नहि रहय, तेँ एहि अध्यायमे ओकर परिचालन चारि कसौटीसँ कएल गेल अछि—पीड़ा, स्वायत्तता, समान दर्जा, न्यायपूर्ण वितरण। जँ कोनो प्रथा एहि चारिमे निरन्तर विफल होइत अछि, ओकर नैतिक औचित्य गंभीर रूपसँ कमजोर अछि।

67.13 गरिमा आ मृत्यु

गंभीर रोगमे गरिमा जीवनक जैविक अवधि मात्र नहि, पीड़ा-नियन्त्रण, जानकारी, सम्बन्ध आ व्यक्तिक मूल्यसँ जुड़ैत अछि। उपचारक प्रत्येक सम्भावना अपनाओल ही सम्मान—एहन जरूरी नहि।

जीवन समाप्त करबाक निर्णय अत्यन्त जटिल; क्षमता, दबाव, उपचारक विकल्प आ कानूनक सुरक्षा चाही। आर्थिक बोझ कारण कमजोर व्यक्ति स्वयंकेँ भार मानि निर्णय नहि लय।

अन्तिम देखभालमे सत्य कहब करुणाविहीन नहि; भाषा, समय आ आशाक यथार्थ रूप महत्त्वपूर्ण। परिवार आ रोगीक इच्छा टकराला पर रोगीक अधिकार केन्द्रमे रहय।

67.14 दण्ड आ गरिमा

दोष सिद्ध भेला पर स्वतंत्रता सीमित हो सकैत, मुदा यातना, अपमानजनक स्थिति वा मूल उपचार-वंचना उचित नहि। दण्ड कृत्यपर, मनुष्यत्वपर नहि।

कारागारक स्थिति न्यायिक दण्डक अघोषित विस्तार नहि बनय। निगरानी, शिकायत आ पुनर्वास आवश्यक।

पीड़ितक गरिमा सेहो केन्द्रमे। अपराधीक अधिकारक चर्चा पीड़ितक आवाज मिटाबय नहि; प्रतिकार, सुरक्षा आ सत्य-स्वीकृति संयुक्त हो।

67.15 गरिमाक संस्थागत परीक्षण

नीति गरिमा मानैत अछि की नहि से चारि प्रश्न पूछल जा सकैत: व्यक्ति केँ सुना गेल? कारण बुझाओल गेल? अपील सम्भव? न्यूनतम जीवन-शर्त सुरक्षित?

सम्मानजनक भाषा रहितो निर्णय मनमाना हो सकैत; अच्छा परिणाम रहितो अपमानजनक प्रक्रिया हानि दैत। प्रक्रिया आ परिणाम दुनू जाँचल जाए।

गरिमा-मूल्यांकनमे प्रभावित व्यक्तिक साक्ष्य आवश्यक, मुदा तुलनात्मक आँकड़ा सेहो। एक चमकदार उदाहरण संस्थागत नमूना छिपा सकैत अछि।

67.16 पूर्वपक्ष: गरिमा धार्मिक अवधारणा मात्र

किछु परम्परा गरिमाकेँ ईश्वर-प्रदत्त मानैत; तेँ धर्मनिरपेक्ष समाजमे आधार कमजोर कहल जाइत अछि। मुदा समान दर्जा, पीड़ा, स्वायत्तता आ पारस्परिक मान्यतासँ सार्वजनिक तर्क विकसित भऽ सकैत।

धार्मिक आधार विश्वासीक लेल अतिरिक्त गहराई दे सकैत, राज्यक साझा औचित्य एक स्रोतपर निर्भर नहि हो।

बहु-आधार गरिमाकेँ कमजोर नहि, व्यापक समर्थन दैत अछि—जँ व्यावहारिक अधिकारपर सहमति हो। अन्तिम तत्त्वमीमांसात्मक मतभेद सहअस्तित्वमे रहि सकैत।

67.8 गरिमाक अविभाज्य न्यूनतम

गरिमा उपलब्धि, उपयोगिता वा सामाजिक सम्मानसँ पूर्ण निर्भर हो तँ कमजोर व्यक्ति अधिकार गमा देत। गरिमाक न्यूनतम प्रत्येक मनुष्यक समान नैतिक दर्जा अछि।

एहि न्यूनतमक अर्थ सभ व्यवहार समान नहि। जिम्मेदारी अनुसार आलोचना आ दण्ड सम्भव, मुदा अपमान, यातना वा मनुष्यत्व-नकार उचित नहि। दोषी व्यक्ति सेहो अधिकारविहीन वस्तु नहि।

67.9 स्वायत्तता आ सहायता

निर्णय-क्षमता अस्थायी वा आंशिक भऽ सकैत अछि। सहायता देबाक अर्थ व्यक्ति दिससँ निर्णय छीनब नहि; बुझब योग्य सूचना, समय आ विश्वसनीय सहायक देब हो।

जहाँ प्रतिनिधिक निर्णय आवश्यक, ओ व्यक्तिक ज्ञात इच्छा, हित आ न्यूनतम प्रतिबन्ध अनुसार हो। सुविधा लेल स्थायी अयोग्यता घोषित करब गरिमाविरोधी।

67.10 अपमान आ मान्यता

भौतिक हानि बिना सेहो सार्वजनिक अपमान व्यक्तिक समान दर्जा घायल करैत अछि। नाम, बैठबाक स्थान, स्पर्श वा भाषिक सम्बोधन सत्ता व्यक्त करि सकैत अछि।

कानून सभ अपमान रोकि नहि सकैत, मुदा संस्थागत भेदभाव रोकि सकैत अछि। शिक्षा आ सार्वजनिक संस्कृति समान सम्बोधन बनाबय। आलोचना विचारपर हो, जन्मगत पहिचानक मनुष्यत्वपर नहि।

67.11 गरिमा आ भौतिक शर्त

भूख, असुरक्षित आवास वा उपचारक अभाव व्यक्तिक विकल्प आ सामाजिक दर्जा नष्ट करैत अछि। गरिमा केवल सम्मानजनक शब्द नहि; न्यूनतम भौतिक क्षमता माँगैत अछि।

कतेक न्यूनतम आ कोन माध्यम—ई सार्वजनिक विवादक विषय। नीति दया नहि, अधिकार रूपमे सेवा दे; प्रक्रिया अपमानरहित आ सुलभ हो।

67.12 गरिमाक संघर्षशील दाबी

दू पक्ष अपन गरिमा दाबी करि सकैत अछि। धार्मिक आलोचनासँ ककरो भावना घायल, मुदा आलोचक अभिव्यक्तिक स्वतंत्रता माँगय। समाधान ‘गरिमा’ शब्द दोहराओलासँ नहि।

प्रत्यक्ष हानि, अधिकार, शक्ति, विकल्प आ उपाय जाँचल जाए। गरिमा आलोचनासँ मुक्ति नहि; व्यक्ति कैं साधन मात्र, निम्न मनुष्य वा मौन वस्तु न बनायबक सीमा अछि।

अध्याय-निष्कर्ष

समानान्तर दर्शन कहैत अछि—हम अपन गरिमाक दावा तखन सुसंगत रूपसँ कऽ सकैत छी जखन दोसराक समान गरिमा मानैत छी। नैतिकता अपन सम्मानक रक्षा मात्र नहि, परस्पर सम्मानक नियम अछि।

अध्याय-ग्रन्थसूची

Immanuel Kant — Groundwork of the Metaphysics of Morals.

John Stuart Mill — On Liberty.

B. R. Ambedkar — Annihilation of Caste; Writings and Speeches.

Martha C. Nussbaum — Creating Capabilities.

Amartya Sen — Development as Freedom.

अध्याय 68 – बहुकेन्द्रिक लोकतन्त्र

लोकतन्त्रकेँ केवल चुनाव, संसद वा राजधानीक संस्थासँ समाप्त नहि कएल जा सकैत अछि। समानान्तर दर्शनक राजनीतिक सिद्धान्त अछि—बहुकेन्द्रिक लोकतन्त्र। एकर अर्थ सत्ता, ज्ञान, संसाधन आ निर्णयक सम्भव विकेन्द्रण, मुदा मूल अधिकारक समान संवैधानिक रक्षा।

68.1 सत्ता आ दूरी

जे निर्णय लोकजीवनकेँ प्रत्यक्ष प्रभावित करैत अछि, ओकरा यथासम्भव प्रभावित लोकक निकट आनब उत्तरदायित्व बढ़ा सकैत अछि। ग्राम, नगर, क्षेत्र, राज्य, संघ—भिन्न प्रश्न भिन्न स्तरपर समाधान माँगैत अछि। प्रत्येक समस्या दूरस्थ केन्द्रक एकहि समाधान नहि माँगैत।

68.2 विकेन्द्रण स्वतः न्याय नहि

स्थानीय सत्ता सेहो जाति, लिंग, धन वा बहुसंख्यक प्रभुत्वक साधन बनि सकैत अछि। तेँ बहुकेन्द्रिक लोकतन्त्रक दोसर आधा अनिवार्य अछि—मूल अधिकार, समान नागरिकता, न्यायिक सुरक्षा आ अपीलक उच्चतर संरचना। स्थानीय स्वायत्तता मानवाधिकारसँ ऊपर नहि।

68.3 बहुमत आ वैधता

बहुमत निर्णयक एक पद्धति अछि, सत्यक प्रमाण नहि। लोकतन्त्रमे विपक्ष, स्वतंत्र प्रेस, न्यायपालिका, संघ-स्वतंत्रता, सूचना-पहुँच आ शांतिपूर्ण असहमति बहुमतक सीमा निर्धारित करैत अछि। चुनाव जितब राज्यक सभ संस्था पर अनियंत्रित स्वामित्व नहि दैत।

68.4 ज्ञानक बहुकेन्द्रिकता

राजनीतिक विकेन्द्रण मात्र पर्याप्त नहि। विश्वविद्यालय, भाषा, प्रकाशन, मीडिया, अभिलेखागार आ सांस्कृतिक संस्था जँ एकहि केन्द्रमे सीमित हो, तखन ज्ञान-सत्ता असमान रहैत अछि। बहुकेन्द्रिक लोकतन्त्र क्षेत्रीय भाषा, स्थानीय विशेषज्ञता आ विविध संस्थागत केन्द्रक विकासकेँ लोकतान्त्रिक मूल्य मानैत अछि।

68.5 आर्थिक सत्ता

अत्यधिक निजी आर्थिक संकेन्द्रण सेहो लोकतन्त्र प्रभावित कऽ सकैत अछि। जे संस्था सार्वजनिक बहस, रोजगार, सूचना वा संसाधनपर असामान्य नियन्त्रण रखैत अछि, ओकर उत्तरदायित्वक प्रश्न राज्य-जकाँ महत्त्वपूर्ण हो सकैत अछि। बहुकेन्द्रिकता सत्ता केवल सरकारी रूपमे नहि देखैत।

68.6 संघवाद, स्थानीय शासन आ अधिकार

संघीय व्यवस्था बहुकेन्द्रिकताक एक रूप हो सकैत अछि, मुदा सिद्धान्त ओकरा सँ व्यापक अछि। मूल प्रश्न अछि—कोन निर्णय कोन स्तरपर सर्वाधिक ज्ञान, उत्तरदायित्व, सहभागिता आ अधिकार-सुरक्षा संग लेल जा सकैत अछि? एहि प्रश्नक उत्तर विषयानुसार बदलि सकैत अछि।

68.7 पूर्वपक्ष: मजबूत केन्द्र बिना व्यवस्था टूटत

आपत्ति ई जे अधिक केन्द्र निर्णय-अक्षमता, असमानता आ विखण्डन बढ़ा सकैत अछि।

उत्तरपक्ष: बहुकेन्द्रिकता विखण्डन नहि, स्तरित उत्तरदायित्व अछि

राष्ट्रीय रक्षा, मुद्रा, व्यापक अधिकार-सुरक्षा, अन्तरराज्यीय समन्वय जकाँ विषय केन्द्र माँगि सकैत अछि; स्थानीय जल, विद्यालय, संस्कृति वा नगर-योजना स्थानीय भूमिका माँगि सकैत अछि। सिद्धान्त केन्द्र-विरोध नहि; अनावश्यक संकेन्द्रण-विरोध अछि।

68.13 महानगर आ क्षेत्रक सम्बन्ध

महानगर रोजगार, विश्वविद्यालय आ पूँजी केन्द्रित करैत; आसपासक क्षेत्र श्रम, जल आ खाद्य देत। प्रशासनिक सीमा वास्तविक निर्भरता नहि पकड़ैत। केन्द्रक विकासक लागत बाहरी क्षेत्र वहन करि सकैत अछि।

बहुकेन्द्रिक योजना परिवहन, आवास, पर्यावरण आ राजस्वक साझा संस्था माँगैत अछि। मुदा क्षेत्रीय समन्वय स्थानीय निकाय कैं नाममात्र नहि बनाए।

प्रतिनिधित्व जनसंख्या संग प्रभावित संसाधनक आवाज सेहो देखय। निर्णयक डेटा स्थानीय भाषा मे उपलब्ध हो।

68.14 डेटा-केंद्र आ निगरानी

केंद्रीकृत डेटा सेवा जोड़ि धोखा घटा सकैत, मुदा एक त्रुटि अनेक अधिकार रोकि सकैत अछि। व्यापक निगरानी राजनीतिक दुरुपयोगक शक्ति बनि सकैत।

उद्देश्य-सीमा, न्यूनतम डेटा, स्थानीय सुधार आ स्वतंत्र निरीक्षण आवश्यक। नागरिक जानथि ककरा पहुँच अछि आ गलत अभिलेख कोना सुधरत।

विकेन्द्रित प्रति निजता स्वतः नहि बचबैत; स्थानीय दुरुपयोग सम्भव। तकनीकी रचना संग कानून आ उत्तरदायित्व चाही।

68.15 प्रयोग आ नीति-विविधता

अलग स्थानीय इकाई नूतन नीति परीक्षण कऽ सकैत अछि। सफल अनुभव साझा हो, असफलतासँ सीखल जाए। एकर लाभ विशाल एकरूप प्रयोगक जोखिम घटेबा मे अछि।

मुदा नागरिक मूल अधिकार प्रयोगक वस्तु नहि। परीक्षण सूचित, समयबद्ध आ मापनीय हो; कमजोर क्षेत्रपर जोखिम मात्र नहि डाला जाए।

तुलना लेल सामान्य सूचक चाही, संगहि स्थानीय लक्ष्यक स्थान। नकल प्रसंग देखिकऽ हो।

68.16 पूर्वपक्ष: बहुकेन्द्र निर्णय बहुत धीमा

अनेक स्तर सहमति माँगिते विलम्ब, दोहराव आ जिम्मेदारीक भ्रम उत्पन्न हो सकैत। संकट वा बुनियादी ढाँचा मे स्पष्ट केन्द्र चाही।

उत्तर पूर्ण विखण्डन नहि, भूमिका-विभाजन। कोन स्तर मानक बनायत, कोन लागू, कोन अपील—पहिनेसँ स्पष्ट हो। साझा डिजिटल सूचना समन्वय बढ़ा सकैत अछि।

गति एकमात्र मूल्य नहि। त्वरित गलत निर्णयक लागत अधिक हो सकैत। निर्णयक समय जोखिम अनुसार तय हो।

68.8 सहायकता सिद्धान्त

जे निर्णय स्थानीय स्तर प्रभावी रूपसँ भऽ सकैत, ओकरा अनावश्यक रूपसँ दूर केन्द्र नहि लय। मुदा स्थानीय क्षमता वा अधिकार-सुरक्षा विफल हो तखन उच्च स्तर सहायता दे। ई सहायकता केवल विकेन्द्रण नहि, स्तरानुकूल जिम्मेदारी अछि।

क्षमता, बाहरी प्रभाव आ समान अधिकार तीन कसौटी छथि। नदी, महामारी वा अन्तरक्षेत्रीय बाजार स्थानीय सीमा पार करैत; समन्वय चाही। विद्यालयक दैनिक प्रबन्ध स्थानीय सहभागितासँ सुधरि सकैत अछि।

68.9 वित्तीय विकेन्द्रण

कार्य स्थानीय संस्थाकेँ देल जाए मुदा धन आ कर्मचारी केन्द्र राखल जाए, तँ विकेन्द्रण कागजी रहैत अछि। आय, हस्तान्तरण आ खर्चक स्पष्ट अधिकार चाही।

स्थानीय कर-क्षमता असमान हो सकैत, तेँ समानीकरणक व्यवस्था आवश्यक। धनक उपयोग खुलल लेखा, सामाजिक समीक्षा आ भ्रष्टाचार-विरोधी प्रक्रिया भीतर हो।

68.10 स्थानीय अल्पमतक सुरक्षा

स्थानीय बहुमत राष्ट्रिय बहुमतसँ अलग होइतहुँ अपन अल्पमतपर प्रभुत्व कऽ सकैत अछि। विकेन्द्रण मूल अधिकारक सीमा भीतर हो।

बाहरी अपील, स्वतंत्र न्याय, आरक्षित प्रतिनिधित्व आ गोपनीय शिकायत स्थानीय लोकतन्त्रक विरोधी नहि। ओ स्थानीय सत्ता केँ वैध बनबैत अछि।

68.11 ज्ञानक ऊपर-नीच प्रवाह

स्थानीय ज्ञान समस्या पहचानैत, विशेषज्ञ ज्ञान व्यापक तुलना आ तकनीकी उपाय दैत अछि। एकदिश आदेश दूनूक क्षमता घटबैत अछि।

नीति प्रयोग, प्रतिपुष्टि आ संशोधनक चक्र बनाय। स्थानीय साक्ष्य दर्ज हो, विशेषज्ञ कारण सरल भाषामे आए, आ निर्णयक असहमति प्रकाशित हो।

68.12 बहुकेन्द्रिक संकट-प्रबन्ध

संकटमे स्पष्ट समन्वय आवश्यक, मुदा एक केन्द्रक विफलता सम्पूर्ण व्यवस्था रोकि सकैत अछि। बहुकेन्द्र स्थानीय अनुकूलन आ वैकल्पिक क्षमता दैत अछि।

दोहोराव संसाधन-बर्बादी सेहो भऽ सकैत। भूमिका, सूचना-साझेदारी आ अन्तिम जवाबदेही पहिनेसँ स्पष्ट हो। संकट स्थायी केंद्रीकरणक बहाना नहि बनय।

अध्याय-निष्कर्ष

बहुकेन्द्रिक लोकतन्त्रक सूत्र अछि—सत्ता जतय आवश्यक, ओतय; जतेक आवश्यक, ततेक; आ प्रत्येक स्तरपर अधिकार, पारदर्शिता आ उत्तरदायित्व। लोकतन्त्र केवल शासनक रूप नहि, सत्ता-वितरणक नैतिक अनुशासन अछि।

अध्याय-ग्रन्थसूची

Alexis de Tocqueville — Democracy in America.

John Stuart Mill — Considerations on Representative Government.

B. R. Ambedkar — Constituent Assembly Speeches; Writings and Speeches.

Elinor Ostrom — Governing the Commons.

Amartya Sen — The Idea of Justice.

अध्याय 69 – धर्मक विवेकपूर्ण बहुलता

समानान्तर धर्म-दर्शन नास्तिकताकेँ नैतिक शून्यता नहि मानैत अछि, आ आस्थाकेँ अन्धविश्वासक पर्याय सेहो नहि। विवेकपूर्ण बहुलताक अर्थ अछि—भिन्न धार्मिक आ गैर-धार्मिक जीवन-दृष्टि समान नागरिक गरिमा संग सहअस्तित्व करथि, मुदा सार्वजनिक बाध्यता लेल साझा औचित्यक कसौटी लागू हो।

69.1 तीन स्वतंत्रता

धार्मिक स्वतंत्रताक कमसँ कम तीन अंग अछि: अपन आस्था मानबाक अधिकार; आस्था बदलबाक अधिकार; कोनो आस्था नहि मानबाक अधिकार। एहि तीनमे सँ एक हटला पर धार्मिक स्वतंत्रता अधूरी रहत।

69.2 तीन क्षेत्र

विवेकपूर्ण बहुलता धार्मिक जीवनकेँ तीन क्षेत्रमे देखैत अछि। पहिल, निजी अन्तःकरण—एतय स्वतंत्रता अधिकतम। दोसर, स्वैच्छिक धार्मिक समुदाय—एतय स्वतंत्रता संग सदस्यक अधिकार आ बाहर निकलबाक अवसर आवश्यक। तेसर, राज्यक कानून—एतय समान नागरिकता सर्वोपरि।

69.3 सार्वजनिक कारण

व्यक्ति कहि सकैत अछि—“हमर धर्म एहि कर्मकेँ निषिद्ध मानैत अछि”, आ अपन जीवन तदनुसार चला सकैत अछि। मुदा सभ नागरिकपर दण्डात्मक कानून थोपबाक लेल एतबे पर्याप्त नहि। सार्वजनिक कानूनक कारण एहन हो जे भिन्न आस्था वा अनास्था रखयवला नागरिक सेहो ओकर तर्क बुझि आ जाँचि सकथि।

69.4 धर्मक सामाजिक योगदान

धर्म अर्थ, समुदाय, करुणा, सेवा, अनुशासन, कला, स्मृति आ आशा दे सकैत अछि। विवेकपूर्ण बहुलता एहि योगदानकेँ नकारैत नहि। मुदा धार्मिक संस्था सेहो सत्ता, सम्पत्ति, लिंग, जाति वा अनुशासनक अन्याय उत्पन्न कऽ सकैत अछि। सम्मान आलोचनासँ मुक्ति नहि।

69.5 धर्मनिरपेक्षता

राज्यक तटस्थता धर्मविरोध नहि। तटस्थताक अर्थ सभ धर्म आ अनास्थाक समान नागरिक स्वतंत्रता, बिना कोनो एक आध्यात्मिक सत्यकेँ राजकीय विशेषाधिकार। राज्य धर्मक रक्षा करय—अर्थात् स्वतंत्रता आ सुरक्षा; कोनो धर्मक प्रभुत्व नहि।

69.6 संवाद आ सत्य-दाबी

बहुलता कहैत नहि जे सभ धार्मिक दाबी समान रूपसँ सत्य। परस्पर विरोधी तत्त्वमीमांसीय दाबी एकहि अर्थमे सभ सत्य नहि भऽ सकैत। बहुलताक राजनीतिक अर्थ सत्य-दाबी छोड़ब नहि; असहमति बीच हिंसा, दमन वा असमान नागरिकता अस्वीकारब अछि।

69.7 पूर्वपक्ष: बहुलता सत्यक प्रश्न टारैत अछि

उत्तरपक्ष: सत्य-विमर्श आ नागरिक अधिकार अलग स्तर अछि

हम धार्मिक सत्यपर असहमत रहि सकैत छी, तर्क करि सकैत छी, अपन विश्वास बदलि सकैत छी। मुदा नागरिक अधिकारक आधार कोन धर्म सत्य अछि एहि निर्णयपर निर्भर नहि रहय। एहि विभाजनसँ सत्य-विमर्श जीवित रहैत अछि आ राजनीतिक दमन सीमित होइत अछि।

69.13 धर्मक आलोचनाक अधिकार

धार्मिक विचार, ग्रन्थ आ संस्था सार्वजनिक आलोचना योग्य। श्रद्धा आलोचना रोकबाक अधिकार नहि दैत। मुदा व्यक्तिक अपमान, सामूहिक दोषारोपण आ हिंसक धमकी विचार-आलोचना नहि।

भेद विषय, भाषा, लक्ष्य आ शक्ति अनुसार जाँचल जाए। तीक्ष्ण व्यंग्य अपमानजनक लगि सकैत, तथापि कानूनक सीमा प्रत्यक्ष हानि पर हो।

धार्मिक समुदाय उत्तर लेख, बहस आ शांतिपूर्ण विरोध करि सकैत। असहमतिक उत्तर हिंसा नहि। राज्य समान सुरक्षा दे।

69.14 अन्तर्धार्मिक विवाह

विवाह व्यक्तिक जीवन-निर्णय, परिवारिक सम्बन्ध आ धार्मिक समुदायक निरन्तरता सँ जुड़ैत अछि। वयस्कक स्वतंत्र सहमति केन्द्रमे रहय। समुदायिक अप्रसन्नता कानूनी निषेधक पर्याप्त कारण नहि।

दबाव, छल वा हिंसा आरोपक निष्पक्ष जाँच हो; केवल भिन्न धर्म कारण संदेह नहि। जोड़ीक सुरक्षा आ गोपनीयता आवश्यक।

बालकक पालन, अनुष्ठान आ उत्तराधिकार संवादसँ तय हो। राज्य एक धर्मक नियम थोपि नहि, समान नागरिक कानूनक सुरक्षा दे।

69.15 समान सम्मान आ सत्यक असमानता

लोक समान सम्मानक अधिकारी, मतसभ समान सत्यक नहि। ई भेद बहुलताक केन्द्र अछि। गलत मत रखनिहार व्यक्ति नागरिक दर्जा नहि गमबैत।

मतक मूल्यांकन प्रमाण, संगति आ नैतिक परिणामसँ हो। व्यक्तिक सुरक्षा अचल, विचारक आलोचना खुलल।

संवादमे ‘अहाँ गलत छी’ कहब सम्भव, ‘तेँ अहाँक अधिकार कम’ नहि। सत्य-खोज आ लोकतान्त्रिक समानता एतय संयुक्त होइत अछि।

69.16 पूर्वपक्ष: सार्वजनिक कारण स्वयं बहुमतक भाषा

साझा कारण कहला पर प्रमुख धर्म वा धर्मनिरपेक्ष अभिजन अपन भाषा ‘सार्वजनिक’ घोषित करि सकैत अछि। अल्पमतक अवधारणा अनुवादमे क्षीण होइत अछि।

तेँ सार्वजनिक कारण एक स्थिर शब्दकोश नहि, परस्पर अनुवादक प्रक्रिया। धार्मिक कारण प्रस्तुत हो, संगहि अधिकार आ साझा अनुभवक सम्बन्ध स्पष्ट हो।

कुन कारण स्वीकार्य से सत्ता एकतरफा तय नहि करय। खुलल बहस, न्यायिक कसौटी आ समान बोलबाक अवसर सार्वजनिकता बनबैत अछि।

69.8 विवेकपूर्ण बहुलताक आधार

स्वतंत्र समाजमे ईमानदार लोक अन्तिम धार्मिक प्रश्नपर असहमत रहत, कारण प्रमाण, अनुभव आ व्याख्या जटिल छथि। बहुलता केवल अज्ञानक अस्थायी दोष नहि हो सकैत।

एहि तथ्यसँ सत्यक प्रश्न समाप्त नहि। प्रत्येक परम्परा कारण दे, आत्मालोचना करय, मुदा राज्य समान नागरिकता बनौने रखय। बल सहमति उत्पन्न नहि करैत।

69.9 धर्म बदलबाक स्वतंत्रता

धर्म स्वीकारबाक स्वतंत्रता तखन पूर्ण जखन धर्म बदलय वा छोड़यक स्वतंत्रता सेहो हो। परिवार वा समुदायिक बहिष्कार औपचारिक अधिकारकेँ निष्प्रभावी करि सकैत अछि।

बल, छल आ अनुचित प्रलोभन रोकल जाए, मुदा स्वैच्छिक परिवर्तनकेँ मात्र अप्रियता कारण अपराध नहि बनाओल जाए। व्यक्तिक इच्छा स्वतंत्र आ सूचित अछि की नहि से निष्पक्ष प्रक्रिया जाँचय।

69.10 नास्तिक आ संशयवादीक समानता

धर्मबहुलतामे केवल अनेक धर्म नहि, धर्म नहि माननिहार नागरिक सेहो शामिल। नैतिकता धार्मिक पहिचानक अनिवार्य परिणाम नहि; आस्तिक आ नास्तिक दुनू न्यायी वा अन्यायी भऽ सकैत छथि।

सार्वजनिक पद, शपथ, शिक्षा वा सेवा कोनो विश्वासक परीक्षा नहि बने। धार्मिक भाषा लेल स्थान रहय, संगहि गैरधार्मिक सार्वजनिक कारणक समान सम्मान।

69.11 संवादमे रूपान्तरण

संवादक लक्ष्य केवल अपन मत प्रचार नहि। प्रतिपक्षक प्रश्नसँ अपन व्याख्या बदलि सकय—एहन वास्तविक खुलापन चाही। समझब सहमत होयब नहि।

शक्ति-असमानता संवाद बिगाड़ैत अछि। सुरक्षित स्थान, समान समय, अनुवाद आ स्पष्ट विषय आवश्यक। पीड़ितकेँ अपन मानवता सिद्ध करबाक भार नहि देल जाए।

69.12 साझा नैतिक कार्य

धर्मसभ सिद्धान्तमे असहमत रहितो भूख, हिंसा, शिक्षा वा पर्यावरणपर सहकार्य कऽ सकैत छथि। साझा कार्य विश्वास निर्माण करैत अछि।

सहकार्यक नामपर मतभेद छिपाओल नहि जाए, न सेवा धर्म-स्वीकारक शर्त बनय। लाभार्थीक गरिमा आ स्वतंत्रता प्राथमिक हो।

अध्याय-निष्कर्ष

धर्मक विवेकपूर्ण बहुलता तीन सूत्र जोड़ैत अछि—अन्तःकरणक स्वतंत्रता, सार्वजनिक कारण, आ समान नागरिकता। ई धर्मकेँ निजी कोठरीमे बन्द नहि करैत; ओकर सामाजिक जीवन स्वीकारैत अछि, मुदा राजकीय प्रभुत्वक सीमा स्पष्ट करैत अछि।

अध्याय-ग्रन्थसूची

John Locke — A Letter Concerning Toleration.

John Rawls — Political Liberalism.

Mahatma Gandhi — Hind Swaraj; चयनित धर्म-विषयक लेख.

B. R. Ambedkar — The Buddha and His Dhamma.

अध्याय 70 – समानान्तर इतिहास-दृष्टि

इतिहास विजेताक दस्तावेज मात्र नहि। मुदा “हाशियाक कथा” मात्र कहि देबासँ कोनो कथा सत्य सेहो नहि भऽ जाइत अछि। समानान्तर इतिहास-दृष्टिक उद्देश्य मुख्य कथाकेँ उलटि एकटा नव मिथक बनायब नहि; स्रोतक्षेत्र विस्तृत करब, मौन चिन्हब, आ सभ दाबीपर समान आलोचनात्मक कसौटी लागू करब अछि।

70.1 अभिलेखक असमानता

राज्य, दरबार, संस्था आ शिक्षित वर्ग लिखित अभिलेख अधिक छोड़ैत अछि। गरीब, स्त्री, श्रमिक, ग्रामीण समुदाय, क्षेत्रीय भाषा आ मौखिक परम्पराक अनुभव कम लिखित रहि सकैत अछि। एहि असमानता कारण उपलब्ध स्रोत स्वयं सामाजिक शक्ति प्रतिबिम्बित करैत अछि।

70.2 मौन सेहो प्रश्न अछि

कोनो समूह अभिलेखमे कम किएक अछि? दस्तावेज नष्ट भेल? लिखबाक साधन नहि छल? संस्था ओकर अनुभव महत्त्वपूर्ण नहि मानलक? समानान्तर इतिहास मौनकेँ तथ्य न मानि प्रश्न मानैत अछि। मौनक कारण खोजल जाए, रिक्त स्थान कल्पनासँ नहि भरल जाए।

70.3 स्रोत-विस्तार

राजकीय अभिलेखक संग निजी पत्र, स्थानीय दस्तावेज, मौखिक इतिहास, गीत, पञ्जी, पुरातात्त्विक वस्तु, नक्शा, समाचारपत्र, न्यायालयी अभिलेख, आर्थिक आँकड़ा, स्त्रीक घरेलू लेखन, क्षेत्रीय भाषा साहित्य—सभ उपयोगी हो सकैत अछि। मुदा प्रत्येक स्रोतक प्रकृति, तिथि, उद्देश्य, प्रसारण आ सीमा स्पष्ट कएल जाए।

70.4 केन्द्र आ हाशिया पर समान कसौटी

आधिकारिक स्रोत सत्ता-प्रभावित भऽ सकैत अछि; लोकस्मृति सेहो रूपान्तरित हो सकैत अछि। राजकीय दस्तावेज स्वतः सत्य नहि; मौखिक कथा स्वतः सत्य नहि। समानान्तर इतिहासक नैतिकता अछि—अपन प्रिय कथाक लेल नरम प्रमाण-कसौटी नहि।

70.5 बहुकारणीय इतिहास

इतिहासकेँ केवल राजा, केवल वर्ग, केवल धर्म, केवल जाति, केवल भाषा वा केवल अर्थव्यवस्था सँ समझब अधूरा हो सकैत अछि। अनेक स्तरक कारण परस्पर क्रिया करैत अछि। समानान्तर इतिहास-दृष्टि एकरेखीय नियतिवादक स्थानपर प्रमाणानुसार बहुकारणीय व्याख्या स्वीकारैत अछि।

70.6 मिथिला आ क्षेत्रीय इतिहास

क्षेत्रीय इतिहासक उद्देश्य राष्ट्रीय इतिहाससँ अलग मिथकीय गौरव बनायब नहि। मिथिलाक स्थानीय स्रोत, भाषा, पञ्जी, साहित्य, न्याय-परम्परा, लोकस्मृति आ सीमा-पार नेपाल–भारत सन्दर्भ व्यापक इतिहासकेँ समृद्ध करि सकैत अछि। मुदा प्रत्येक दाबी तिथि, स्रोत आ तुलनात्मक प्रमाण माँगत। क्षेत्रीय आत्मसम्मान इतिहासलेखनक प्रेरणा भऽ सकैत अछि; प्रमाणक विकल्प नहि।

70.7 अनिश्चितताक भाषा

इतिहासकारक ईमानदारी निष्कर्षक स्तर स्पष्ट करबमे अछि। मजबूत प्रमाण हो तँ स्पष्ट कहू; आंशिक हो तँ सम्भावना; स्रोत-विरोध हो तँ विवादित; प्रमाण नहि हो तँ अज्ञात। उपलब्ध प्रमाणसँ बाहर निष्कर्षकेँ “तथ्य” नहि, “सम्भावना” कहू।

70.8 पूर्वपक्ष: समानान्तर इतिहास वस्तुनिष्ठता नष्ट करत

उत्तरपक्ष: समानान्तरता प्रमाणक्षेत्र विस्तृत करैत अछि

जँ नूतन स्रोत जोड़लासँ पुरान निष्कर्ष बदलैत अछि, ई वस्तुनिष्ठताक पराजय नहि; ओकर सुधार अछि। वस्तुनिष्ठता एकटा “दृष्टिहीन” स्थान नहि, बल्कि विविध स्रोत, स्पष्ट पद्धति, आलोचनात्मक परीक्षण आ संशोधनक उपलब्धता अछि।

70.14 अवधिक चयन आ इतिहासक अर्थ

इतिहास कखन सँ कखन धरि बाँटल जाए से निष्कर्ष प्रभावित करैत अछि। राजवंशक परिवर्तन, आर्थिक रूपान्तरण वा भाषिक आन्दोलनक अवधि अलग हो सकैत। सुविधाजनक शताब्दी वास्तविक प्रक्रिया काटि सकैत अछि।

अवधि-निर्धारणक कारण स्पष्ट हो। सीमा पार निरन्तरता आ टूटन दुनू देखल जाए। स्थानीय समय राष्ट्रीय काल-विभाजनसँ मेल नहि खा सकैत।

एकहि घटनाक अनेक वैध कालक्रम सम्भव, मुदा मनमाना नहि। स्रोत आ विश्लेषणक उद्देश्य आधार देत।

70.15 मिथिलाक बौद्धिक भूगोल

बौद्धिक इतिहास केवल जन्मस्थानक सूची नहि। शिक्षा-केंद्र, गुरु-शिष्य सम्बन्ध, पाण्डुलिपि-संचरण, राजाश्रय, बहस आ प्रवासन ज्ञानक भूगोल बनबैत अछि।

ककरा ‘मिथिलाक दार्शनिक’ कहल जाए—जन्म, कार्य, परम्परा वा प्रभाव? कसौटी कृतिविशेष अनुसार स्पष्ट हो; गौरव बढ़ेबाक लेल सीमा मनमाना नहि।

मिथिला बाहरी संवादसँ बनल अछि। विचारक आवागमन क्षेत्रीय विशिष्टता नष्ट नहि, ओकर ऐतिहासिक रूप समझबैत अछि।

70.16 डिजिटल इतिहासक अवसर आ संकट

डिजिटल प्रतिलिपि दूरस्थ स्रोत जोड़ैत, खोज सहज करैत आ नूतन तुलना सम्भव बनबैत अछि। मुदा गलत पाठ-पहिचान, अधूरा मेटाडेटा आ प्रतिलिपिक पुनरावृत्ति झूठी निश्चितता दे सकैत अछि।

डिजिटल छवि मूल वस्तुक कागज, स्याही, क्रम आ हाशिया पूर्ण नहि पकड़ैत। महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष लेल मूल वा उच्च-गुणवत्ता प्रमाण जाँचल जाए।

डेटाबेसक चयन स्वयं अभिलेख-राजनीति। कोन संग्रह डिजिटीकृत, कोन खोजयोग्य, आ ककर अधिकार—ई इतिहासलेखनक नूतन प्रश्न।

70.17 पूर्वपक्ष: क्षेत्रीय इतिहास संकीर्ण अस्मिता बनबैत अछि

क्षेत्रीय गौरव चयनात्मक कथा, बाहरीक अवमानना आ मिथकीय प्राचीनता उत्पन्न करि सकैत अछि। ई खतरा वास्तविक।

मुदा केवल राष्ट्रीय केन्द्रक इतिहास सेहो संकीर्ण, कारण क्षेत्रीय योगदान आ हानि अदृश्य करैत अछि। समाधान क्षेत्रीय अध्ययन छोड़ब नहि, समान स्रोत-कसौटी आ अन्तरक्षेत्रीय सम्बन्ध जोड़ब।

समानान्तर इतिहासक गौरव सत्य-सम्मत उपलब्धिमे हो, कल्पित श्रेष्ठतामे नहि। सीमा, ऋण, संघर्ष आ बहुलता स्वीकारब परिपक्व अस्मिता अछि।

70.9 स्रोतक असमान संरक्षण

राजा, न्यायालय आ सम्पत्तिधारी समूह लिखित अभिलेख अधिक छोड़ैत; श्रमिक, स्त्री आ मौखिक समुदाय कम। बचल दस्तावेजक मात्रा ऐतिहासिक महत्त्वक निष्पक्ष माप नहि।

इतिहासकार संरक्षणक संरचना लिखय। कम स्रोतवला समूहपर दाबी अधिक सावधान हो, मुदा मौन कारण अध्ययन रोकल नहि जाए। भौतिक संस्कृति, गीत आ स्थानीय अभिलेख जोड़ल जाए।

70.10 प्रतिहistoryक प्रमाण-दायित्व

आधिकारिक इतिहासक आलोचना जरूरी, मुदा वैकल्पिक कथा केवल विरोधी होयबा कारण सत्य नहि। हाशियाक दाबी सेहो स्रोत, संगति आ प्रतिवादक कसौटी सहत।

समान कसौटीक अर्थ समान स्रोत-मात्रा नहि। उपलब्धताक असमानता ध्यानमे राखि प्रमाणक प्रकार बदलि सकैत, ईमानदारी नहि। अनिश्चितता स्पष्ट लिखल जाए।

70.11 पैमाना बदलि देखब

राष्ट्रक इतिहासमे जे घटना छोट, गाम वा परिवारक इतिहासमे निर्णायक भऽ सकैत। पैमाना बदलला सँ कारण आ अभिकर्ता बदलि देखाइत छथि।

सूक्ष्म इतिहास व्यापक संरचना नकारैत नहि; विशिष्ट जीवनमे संरचना कोना काम करैत से देखबैत अछि। स्थानीय उदाहरणसँ सार्वभौम निष्कर्ष निकालैत समय तुलना चाही।

70.12 कालक्रम आ स्मृतिक समय

अभिलेख तिथि क्रम दैत, स्मृति महत्त्व अनुसार समय सजबैत अछि। समुदाय किछु घटना बारम्बार वर्तमानमे आनैत, किछु विसरैत अछि। दुनू समय-बोध अलग प्रश्नक उत्तर दैत अछि।

इतिहास कालक्रम सत्यापित करय, स्मृति घटना किएक जीवित अछि से बुझय। स्मृतिक तीव्रता तिथि वा विवरणक शुद्धताक प्रमाण नहि, सामाजिक अर्थक प्रमाण हो सकैत अछि।

70.13 समानान्तर आख्यानक विन्यास

समानान्तर इतिहास एक मुख्य कथा संग सजावटी ‘हाशिया’ पेटी नहि। केन्द्रक निर्णय आ स्थानीय परिणाम एकहि कारण-श्रृंखलामे जोड़ल जाए। अलग आवाज उद्धरण मात्र नहि, विश्लेषणक संरचना बदलय।

अन्तिम आख्यान बहुकारणीय, स्रोत-स्तर स्पष्ट आ आत्मसमीक्षी हो। जे तथ्य असंगत अछि ओकरा छिपाओल नहि जाए। इतिहासक न्याय मनचाहा गौरव नहि, प्रमाणसहित जटिलता स्वीकारब अछि।

अध्याय-निष्कर्ष

समानान्तर इतिहास-दृष्टिक सूत्र अछि—केन्द्र पढ़ू, हाशिया पढ़ू, मौन पढ़ू; मुदा सभ पर समान प्रमाण-कसौटी लागू करू। समानान्तरता कल्पना करबाक छूट नहि; अनदेखल प्रमाण खोजबाक जिम्मेवारी अछि।

अध्याय-ग्रन्थसूची

E. H. Carr — What Is History?

Marc Bloch — The Historian’s Craft.

E. P. Thompson — The Making of the English Working Class.

Ranajit Guha — Elementary Aspects of Peasant Insurgency in Colonial India.

Carlo Ginzburg — The Cheese and the Worms.

Romila Thapar — The Past Before Us.

अध्याय 71 – समानान्तर दर्शनक सूत्र

एहि ग्रन्थक दीर्घ विमर्शकेँ तीस सूत्रमे समेटब एकटा संक्षेप नहि, बल्कि दार्शनिक अनुशासनक निचोड़ अछि। सूत्रक उद्देश्य जटिल विचारकेँ नारा बनायब नहि, बल्कि एहन स्मरणीय कसौटी देब अछि जकर सहायतासँ पाठक नूतन प्रश्न, विवाद, संस्था, परम्परा आ अनुभवकेँ जाँचि सकथि। प्रत्येक सूत्र स्वतंत्र वाक्य अछि, मुदा सभ मिलि समानान्तर दर्शनक एकटा परस्पर-संबद्ध संरचना बनबैत अछि।

71.1 सत्य, ज्ञान आ प्रमाण

1. सत्य बहुदृष्टिगत भऽ सकैत अछि, मनमाना नहि।

एहि सूत्रक पहिल भाग मानैत अछि जे जटिल वास्तविकताकेँ अलग सामाजिक, ऐतिहासिक, भाषिक वा अनुभवगत स्थानसँ भिन्न रूपमे देखल जा सकैत अछि। दोसर भाग स्पष्ट करैत अछि जे दृष्टिकोणक बहुलता

सत्यक मनमाना निजीकरण नहि। विरोधाभास, प्रमाण, वस्तुगत प्रतिरोध आ सार्वजनिक परीक्षण एखनो आवश्यक अछि।

2. ज्ञान सम्भव अछि, मुदा संशोध्य अछि।

मानवीय ज्ञान न सर्वज्ञ अछि, न निरर्थक। प्रमाण मजबूत हो तँ निष्कर्ष स्वीकारल जा सकैत अछि; नव प्रमाण आए तँ संशोधन सेहो। अचूकताक अभाव ज्ञानक असम्भवता सिद्ध नहि करैत अछि। एहि कारण विनम्रता आ बौद्धिक साहस परस्पर विरोधी नहि।

3. प्रमाणक प्रकार अनेक अछि; प्रत्येकक उचित क्षेत्र अछि।

प्रत्यक्ष, अनुमान, विश्वसनीय भाषिक कथन, दस्तावेज, वैज्ञानिक परीक्षण, सांख्यिकीय विश्लेषण, ऐतिहासिक स्रोत, मौखिक स्मृति आ आत्मानुभव—सभ एकहि प्रकारक प्रमाण नहि। प्रमाणक मूल्य प्रश्नक प्रकृतिसँ तय होइत अछि। व्यक्तिगत अनुभूति व्यक्तिगत अर्थक आधार भऽ सकैत अछि, मुदा सार्वजनिक कानूनक स्वतः पर्याप्त आधार नहि।

4. प्रतिपक्षकेँ कमजोर बना कऽ हराएब तर्क नहि।

सबल प्रतिपक्षक सिद्धान्त समानान्तर दर्शनक मूल वाद-अनुशासन अछि। विरोधी मतकेँ ओहिना प्रस्तुत करू जेना ओकर समर्थक स्वयं मानि सकय। ओकर बाद आलोचना करू। जीतक लेल गलत रूप बनायब जल्प वा वितण्डा भऽ सकैत अछि, सत्य-अन्वेषण नहि।

71.2 परम्परा, नवीनता आ बौद्धिक अधिकार

5. परम्परा प्रमाण अछि जे कोनो विचार पुरान अछि; ई प्रमाण नहि जे विचार उचित अछि।

दीर्घकालीन परम्परा अनुभव, स्मृति आ सामाजिक निरन्तरता दे सकैत अछि। मुदा आयु नैतिक वैधता नहि। जातिगत अपमान, लिंग-असमानता वा हिंसा पुरान भेला मात्रसँ उचित नहि भऽ जाइत अछि। परम्पराकेँ सम्मान संग प्रश्नक सम्मुख राखब ओकर विनाश नहि, ओकर नैतिक परीक्षण अछि।

6. नवीनता प्रमाण अछि जे विचार नव अछि; ई प्रमाण नहि जे विचार श्रेष्ठ अछि।

आधुनिकता, विज्ञान, तकनीक वा नूतन राजनीतिक भाषा केवल नवीन होयबाक कारण श्रेष्ठ नहि। नूतन व्यवस्था सेहो शोषण, निगरानी, पर्यावरणीय विनाश वा असमानता उत्पन्न कऽ सकैत अछि। प्रगतिक कसौटी नवीनता नहि; गरिमा, स्वतंत्रता, न्याय, सत्यता आ जीवनपर प्रभाव अछि।

71.3 गरिमा, समानता आ सामाजिक न्याय

7. जन्म नैतिक योग्यता नहि।

जाति, कुल, वंश, लिंग, धर्म, भाषा, क्षेत्र वा परिवारक प्रतिष्ठा व्यक्ति के नैतिक रूपसँ ऊँच वा नीच नहि बनबैत अछि। जन्म परिस्थितिक तथ्य अछि, नैतिक श्रेय नहि। एहि सूत्रसँ वंशानुगत विशेषाधिकार आ सामाजिक हीनताक दूनू दाबी चुनौती पबैत अछि।

8. मनुष्यक गरिमा सामाजिक प्रतिष्ठासँ पूर्ववर्ती अछि।

व्यक्तिक मूल्य पद, धन, शिक्षा, जाति, धर्म वा राज्यद्वारा देल उपाधिसँ उत्पन्न नहि। सामाजिक मान्यता गरिमाकेँ पुष्ट अथवा आहत कऽ सकैत अछि, मुदा मूल मानव-मूल्य ओकरा पूर्वे मानल जाएत। एहि कारण अपमान, अमानवीकरण आ साधन-मात्र बनायब नैतिक रूपसँ दोषपूर्ण अछि।

9. स्वतंत्रता बिना समानता शक्तिशालीक विशेषाधिकार बनि सकैत अछि।

केवल औपचारिक स्वतंत्रता पर्याप्त नहि जँ संसाधन, शिक्षा, सुरक्षा, सामाजिक सम्मान आ अवसर एतेक असमान हो जे स्वतंत्रताक उपयोग केवल किछु लोक कऽ सकथि। एतय समानता स्वतंत्रताक शत्रु नहि; ओकर वास्तविक सामाजिक शर्त बनि सकैत अछि।

10. समानता बिना स्वतंत्रता नियन्त्रण बनि सकैत अछि।

सभकेँ एक समान बनायबाक नामपर व्यक्तिक विवेक, चयन, विचार, आस्था, जीवन-पद्धति आ अभिव्यक्तिक स्वतंत्रता समाप्त कएल जाए तँ समानता दमनकारी हो सकैत अछि। समानता समान मानव-दर्जा अछि, यान्त्रिक एकरूपता नहि।

11. बन्धुत्व बिना स्वतंत्रता आ समानता सामाजिक जीवनमे टिकब कठिन अछि।

संविधानिक अधिकार आवश्यक छथि, मुदा समाज केवल कानूनी नियमसँ नहि चलैत अछि। परस्पर सम्मान, साझा नागरिकता, सहयोग आ दोसरक दुःख प्रति नैतिक संवेदनशीलता बिना स्वतंत्रता प्रतिस्पर्धी अलगाव आ समानता बाध्यकारी नियम बनि सकैत अछि। बन्धुत्व एतय भावुक नारा नहि, लोकतान्त्रिक सामाजिकता अछि।

71.4 धर्म, राज्य आ नागरिक स्वतंत्रता

12. धर्मक स्वतंत्रता धर्म बदलबाक आ धर्म नहि मानबाक स्वतंत्रता सेहो अछि।

जँ धर्म अपन चुनावक विषय अछि तँ प्रवेश, परिवर्तन आ निर्गमन—तीनू स्वतंत्र होयबाक चाही। धार्मिक स्वतंत्रता केवल अपन परम्पराकेँ बचेबाक अधिकार नहि, विवेकक अधिकार अछि।

13. राज्य नागरिकक मालिक नहि।

राज्य सार्वजनिक व्यवस्था, अधिकार-सुरक्षा, न्याय आ साझा संस्थासभक साधन अछि। नागरिक राज्यक सम्पत्ति नहि। राज्यक शक्ति वैधता, कानून, जवाबदेही आ अधिकारक सीमा भीतर रहत। राष्ट्र वा राज्यक नामपर व्यक्तिक गरिमाकेँ शून्य नहि कएल जा सकैत अछि।

14. बहुमत सत्यक प्रमाण नहि।

बहुमत निर्णयक लोकतान्त्रिक विधि भऽ सकैत अछि, मुदा तथ्य वा नैतिक सत्यक स्वतः प्रमाण नहि। इतिहासमे बहुमत गलत विश्वास, भेदभाव आ अन्याय स्वीकार कएने अछि। लोकतन्त्र मतदानक संग अधिकार, तर्क, संविधान आ प्रतिपक्षक स्थान माँगैत अछि।

15. अल्पमत होयब सेहो स्वतः सत्यक प्रमाण नहि।

हाशियापर होयब विशेष अनुभव आ उपेक्षित ज्ञानक पहुँच दऽ सकैत अछि, मुदा अचूकता नहि। समान प्रमाण-कसौटी सभ पर लागू होयत। एहि सूत्रसँ समानान्तर दर्शन उलटल कट्टरतासँ बचैत अछि—मुख्यधारा स्वतः सही नहि, हाशिया स्वतः सही नहि।

71.5 विज्ञान, तकनीक, भाषा आ इतिहास

16. विज्ञान प्रकृतिक प्रश्नमे सर्वोत्तम सार्वजनिक ज्ञान-पद्धतिसभमे एक अछि; नैतिक मूल्यक एकमात्र स्रोत नहि।

वैज्ञानिक परीक्षण, पुनरुत्पादन, मापन आ आलोचनात्मक समीक्षा प्रकृतिक जगत बुझबाक अत्यन्त विश्वसनीय सार्वजनिक साधनसभमे अछि। मुदा “की सम्भव अछि?” सँ “की उचित अछि?” स्वतः नहि निकलैत। नैतिकता, न्याय, अधिकार आ मानवीय उद्देश्यक प्रश्न अलग तर्क माँगैत अछि।

17. तकनीकी क्षमता नैतिक अनुमति नहि।

किछु करब सम्भव अछि, एहि कारण ओकरा करब उचित नहि ठहरैत। कृत्रिम बुद्धि, जैव-प्रौद्योगिकी, निगरानी, हथियार वा डेटा-विश्लेषण—सभ क्षेत्रमे क्षमता संग उद्देश्य, सहमति, हानि, न्याय, गोपनीयता आ उत्तरदायित्वक प्रश्न आवश्यक अछि।

18. भाषा ज्ञानक माध्यम सेहो अछि, सत्ता सेहो।

शब्द वास्तविकताकेँ केवल वर्णित नहि करैत, वर्गीकृत सेहो करैत अछि। कोन भाषा प्रशासन, शिक्षा, न्यायालय, विज्ञान वा प्रकाशनमे वैध मानल जाए—ई ज्ञान-पहुँच आ सामाजिक प्रतिष्ठा प्रभावित करैत अछि। भाषाक आलोचना सत्यकेँ भाषामे बन्द करब नहि; भाषिक मध्यस्थता आ सत्ताक प्रभाव पहचानब अछि।

19. जे इतिहास केवल केन्द्र देखैत अछि, ओ अधूरा अछि।

राजा, राजधानी, अभिलेखागार, संस्थागत ग्रन्थ आ विजेताक दस्तावेज महत्त्वपूर्ण छथि, मुदा इतिहासक सम्पूर्णता नहि। श्रमिक, स्त्री, ग्रामीण समुदाय, अल्पभाषी समूह, सीमावर्ती क्षेत्र आ मौखिक स्मृति सेहो ऐतिहासिक संसारक भाग छथि।

20. जे इतिहास केवल हाशिया देखैत अछि, ओहो अधूरा भऽ सकैत अछि।

केन्द्रक अभिलेखकेँ केवल सत्ता कहि फेंकब आ हाशियाक प्रत्येक स्मृतिकेँ स्वतः सत्य मानब दोसर प्रकारक पक्षपात अछि। सत्ता-समीक्षा स्रोत-समीक्षाक विस्तार अछि, विकल्प नहि।

21. समानान्तर इतिहास केन्द्र आ हाशिया दुनूकेँ एकहि प्रमाण-कसौटीपर रखैत अछि।

दस्तावेज, मौखिक स्मृति, भौतिक अवशेष, वंशावली, साहित्य, प्रशासनिक रेकॉर्ड आ लोककथा—सभक प्रकृति अलग, मुदा सभसँ प्रश्न पूछल जाएत: के बनौलक? कखन? कोन उद्देश्य? पाठ वा स्मृति कोना प्रसारित भेल? स्वतंत्र पुष्टि अछि? मौन की कहैत अछि?

22. स्थानीय ज्ञान सम्मानयोग्य अछि; आलोचनासँ मुक्त नहि।

किसानक मौसम-अनुभव, स्त्रीक घरेलू ज्ञान, पारम्परिक उपचार, स्थानीय पारिस्थितिक समझ, मौखिक इतिहास—ई सभ महत्त्वपूर्ण ज्ञान-स्रोत भऽ सकैत अछि। मुदा स्थानीय भेला मात्रसँ अचूक नहि। सम्मानक अर्थ परीक्षण रोकब नहि।

23. शास्त्र सम्मानयोग्य अछि; प्रश्नसँ मुक्त नहि।

शास्त्र दीर्घ बौद्धिक परम्परा, अवधारणा, तर्क आ अनुभवक भण्डार हो सकैत अछि। मुदा ग्रन्थीय प्रतिष्ठा स्वयं सत्यक अन्तिम प्रमाण नहि। पाठ, अर्थ, इतिहास, आन्तरिक मतभेद आ नैतिक परिणाम पर प्रश्न सम्भव रहत।

24. आस्था सम्मानयोग्य अछि; सार्वजनिक बाध्यताक स्वतः पर्याप्त कारण नहि।

व्यक्तिगत वा सामुदायिक आस्था जीवनक गहन अर्थ दे सकैत अछि। राज्य जखन सभ नागरिकपर बाध्यकारी नियम बनबैत अछि, तखन ओकर औचित्य एहन सार्वजनिक कारणसँ समर्थित हो जे अलग आस्था वा अनास्थावला नागरिको बुझि आ चुनौती दऽ सकथि।

71.6 संशय, करुणा आ आत्मसमीक्षा

25. संशय उपयोगी अछि; अनन्त संशय बौद्धिक निष्क्रियता बनि सकैत अछि।

संशय प्रमाणक परीक्षा खोलैत अछि, मुदा जँ कोनो प्रमाण कखनो पर्याप्त मानले नहि जाए तँ निर्णय, ज्ञान आ उत्तरदायित्व असम्भव भऽ जाएत। उचित संशयक कारण, सीमा आ खण्डनक शर्त होयबाक चाही।

26. करुणा बिना तर्क निर्दय बनि सकैत अछि।

तर्क नीति, व्यवस्था वा सिद्धान्तकेँ सुव्यवस्थित बना सकैत अछि; मुदा जँ वास्तविक पीड़ा अदृश्य भऽ जाए तँ बौद्धिक संगति अमानवीय परिणाम ढाँकि सकैत अछि। करुणा तर्कक विकल्प नहि, नैतिक दिशा-सूचक अछि।

27. तर्क बिना करुणा भ्रमित भऽ सकैत अछि।

सद्भावना मात्र सही निर्णयक गारंटी नहि। भावनात्मक प्रतिक्रिया गलत तथ्य, पक्षपात वा अप्रभावी उपायपर आधारित भऽ सकैत अछि। करुणाकेँ तथ्य, कारण, परिणाम आ न्यायसँ संवाद करय पड़त।

28. व्यक्तिक मुक्ति आ समाजक न्याय एक-दोसरक विरोधी नहि।

व्यक्तिगत आत्मनिर्णय, मानसिक स्वतंत्रता वा आध्यात्मिक खोज सामाजिक अन्यायसँ अलग द्वीप नहि। संगहि सामाजिक न्यायक नामपर व्यक्तिक विवेक मिटायल नहि जा सकैत अछि। समानान्तर दर्शन व्यक्ति आ समाजक द्वैतकेँ सम्बन्धात्मक रूपमे देखैत अछि।

29. दर्शनक अन्तिम परीक्षा जीवनमे होइत अछि।

दार्शनिक सिद्धान्त केवल ग्रन्थक भीतर सुन्दर भेला सँ पर्याप्त नहि। ओकर परिणाम मनुष्यक व्यवहार, संस्था, न्याय, ज्ञान, सत्ता, पीड़ा, सहअस्तित्व आ भविष्यक प्रश्नमे जाँचल जाएत। जीवन दर्शनक सरल प्रयोगशाला नहि, मुदा ओकर नैतिक परीक्षा अवश्य अछि।

30. कोनो दर्शन स्वयं अन्तिम दर्शन नहि।

ई सूत्र शेष उनतीस सूत्रक संरक्षक अछि। जँ समानान्तर दर्शन स्वयंकेँ आलोचनासँ मुक्त घोषित करि देत तँ अपन मूल पद्धतिक विरोध करत। नव प्रमाण, सबल आपत्ति, नूतन अनुभव वा बेहतर तर्क सामने आए तँ सिद्धान्त संशोधित होयबाक चाही। आत्मसमीक्षा कमजोरी नहि, जीवित दर्शनक शर्त अछि।

71.7 सूत्रसभक परस्पर संरचना

तीस सूत्र छह अलग-अलग घोषणापत्र नहि। पहिल चारि ज्ञानात्मक अनुशासन बनबैत अछि। पाँचम-छठम परम्परा आ आधुनिकताक समान आलोचना करैत अछि। सातमसँ एगारहम धरि नैतिक-सामाजिक आधार अछि। बारहमसँ पन्द्रहम राजनीतिक आ धार्मिक नागरिकताक सीमा तय करैत अछि। सोलहमसँ चौबीसम विज्ञान, तकनीक, भाषा, इतिहास, स्थानीय ज्ञान, शास्त्र आ आस्थाक क्षेत्र-सीमा स्पष्ट करैत अछि। अन्तिम छह सूत्र संशय, करुणा, व्यक्ति-समाज सम्बन्ध, जीवनगत परीक्षा आ आत्मसमीक्षाकेँ जोड़ैत अछि।

एहि संरचनामे बहुप्रमाणीय विवेकवाद ज्ञानक पद्धति दैत अछि; सहअस्तित्वात्मक यथार्थवाद वास्तविकताक आधार; गरिमा-आधारित नैतिकता मूल्यक आधार; बहुकेन्द्रिक लोकतन्त्र राजनीतिक संगठनक दिशा; धर्मक विवेकपूर्ण बहुलता विवेक-स्वतंत्रताक ढाँचा; समानान्तर इतिहास-दृष्टि स्मृति आ इतिहासक पद्धति; आ आत्मसमीक्षा सभकेँ खुला रखैत अछि।

पूर्वपक्ष: तीस सूत्र कहीं कठोर सिद्धान्त-संहिता तऽ नहि बनि जाएत?

आपत्ति उचित अछि। सूत्र स्मरणीय होइत अछि, एहि कारण ओकर कठोर नारा बनि जेबाक खतरा रहैत अछि। जँ प्रत्येक जटिल प्रश्नपर बिना संदर्भ केवल सूत्र दोहराओल जाए तँ ओ दर्शनक स्थानपर सूत्रवाद बनि जाएत।

उत्तरपक्ष: सूत्र निर्णय नहि, प्रश्न-कसौटी छथि

एहि सूत्रसभक उपयोग तैयार उत्तर देबाक लेल नहि, प्रश्नक दिशा तय करबाक लेल अछि। “तकनीकी क्षमता नैतिक अनुमति नहि” कहला बादो विशिष्ट तकनीक उचित अछि की नहि—ई अलग प्रमाण, जोखिम, लाभ आ अधिकारक विश्लेषण माँगत। “जन्म नैतिक योग्यता नहि” स्पष्ट नैतिक सीमा दैत अछि, मुदा सामाजिक नीतिक उचित रूप पर अतिरिक्त तर्क आवश्यक अछि। तेँ सूत्र द्वार खोलैत अछि, चर्चा बन्द नहि करैत।

अध्याय-निष्कर्ष

समानान्तर दर्शनक सूत्रसभ सत्य, प्रमाण, गरिमा, स्वतंत्रता, समानता, धर्म, राज्य, विज्ञान, भाषा, इतिहास, करुणा आ आत्मसमीक्षाकेँ एकहि आलोचनात्मक अनुशासनमे जोड़ैत अछि। एकर केन्द्रीय भाव ई अछि जे कोनो स्रोत, संस्था, परम्परा, बहुमत, हाशिया, तकनीक वा स्वयं दर्शन सत्य आ नैतिकताक निजी स्वामी नहि। प्रमाण पूछू, सीमा पहचानू, प्रतिपक्ष सुनू, गरिमा बचाउ, आ अपन निष्कर्ष संशोधन लेल खुला राखू।

अध्याय-ग्रन्थसूची

गौतम — Nyāya-sūtra.

गङ्गेश उपाध्याय — Tattvacintāmaṇi.

B. R. Ambedkar — Annihilation of Caste; Dr. Babasaheb Ambedkar: Writings and Speeches.

John Rawls — A Theory of Justice; Political Liberalism.

John Dewey — Logic: The Theory of Inquiry.

Amartya Sen — The Idea of Justice; Development as Freedom.

Miranda Fricker — Epistemic Injustice.

अध्याय 72 – उपसंहार: समानान्तर रहबाक अर्थ

समानान्तर रहबाक अर्थ मुख्यधाराक विरोध मात्र नहि। “समानान्तर” एहि ग्रन्थमे स्थानक नामसँ अधिक पद्धतिक नाम अछि। ई ओहि बौद्धिक स्थिति के कहल गेल अछि जतय स्थापित ज्ञानकेँ सम्मानपूर्वक जाँचल जाइत अछि, उपेक्षित स्रोतकेँ खोजल जाइत अछि, दुनू पर समान आलोचनात्मक कसौटी लागू होइत अछि, आ निष्कर्ष स्वयं संशोधन लेल खुला रहैत अछि।

72.1 प्रश्नसँ आरम्भ, प्रश्नपर समाप्ति नहि

एहि ग्रन्थक पहिल अध्याय दर्शनकेँ उत्तरक संग्रह नहि, कारण माँगबाक आत्मसचेत क्रिया मानैत छल। अन्तिम अध्यायमे सेहो ई बात बदलैत नहि। अन्तर एतेक अछि जे आब प्रश्नक विस्तृत भूगोल देखल जा चुकल अछि—ज्ञान, वास्तविकता, भारतीय दर्शन, मिथिला, पाश्चात्य दर्शन, समाज, राज्य, धर्म, आधुनिकता, डिजिटल संसार, कृत्रिम बुद्धि, पर्यावरण आ इतिहास।

एहि यात्रा सँ एकटा निष्कर्ष निकलैत अछि: प्रश्न केवल संशय नहि; उत्तरदायित्व सेहो अछि। जँ हम सत्ता पर प्रश्न करैत छी तँ अपन पक्षक सत्ता पर सेहो करब। जँ परम्पराक प्रमाण माँगैत छी तँ आधुनिकताक दाबी पर

सेहो। जँ आधिकारिक इतिहासमे मौन खोजैत छी तँ हाशियाक कथामे तथ्य-परीक्षण सेहो। समानान्तरता सममित आलोचनाक अनुशासन अछि।

72.2 मिथिला: केन्द्र नहि, पद्धतिगत आधार

एहि ग्रन्थमे मिथिला के विश्व-दर्शनक नव “एकमात्र केन्द्र” बनायब उद्देश्य नहि रहल। एहन दाबी समानान्तर दर्शनक बहुकेन्द्रिक भावक विरुद्ध होयत। मिथिला एतय पद्धतिगत स्मृति अछि—विदेहक उपनिषदिक प्रश्न, न्याय-मीमांसा-नव्यन्यायक तर्क-अनुशासन, शब्द आ प्रमाणक सूक्ष्मता, शास्त्रार्थक परम्परा, लोकजीवनक अनुभव आ आधुनिक सामाजिक प्रश्नसभक संग एकटा संवादक्षेत्र।

मिथिलाक योगदान गौरवक विषय भऽ सकैत अछि, मुदा गौरव प्रमाणक विकल्प नहि। एहि कारण ऐतिहासिक दाबीमे अनिश्चितताकेँ अनिश्चितता रूपे स्वीकारब, परम्परागत कथाकेँ ऐतिहासिक तथ्य रूपे नहि लिखब, आ आधुनिक अवधारणाकेँ अतीतपर जबरन नहि थोपब—ई ग्रन्थक पद्धतिक हिस्सा रहल अछि।

72.3 भारतीय दर्शनक बहुवचन

भारतीय दर्शनक अध्ययन देखबैत अछि जे “भारतीय विचार” एकमत परम्परा नहि। सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, वेदान्त, बौद्ध, जैन, लोकायत—ज्ञान, आत्मा, ईश्वर, पदार्थ, भाषा, कर्म, मोक्ष आ प्रमाण पर गम्भीर असहमति रखैत छथि। एहि असहमतिमे भारतीय दर्शनक कमजोरी नहि, बौद्धिक जीवन अछि।

उपनिषद प्रश्न सिखबैत अछि; न्याय प्रमाणक अनुशासन; मीमांसा भाषा आ विधिक सूक्ष्मता; बौद्ध दर्शन दुःख, अनित्यता आ आत्म-कल्पनाक आलोचना; जैन दर्शन दृष्टिकोणक अनुशासन; लोकायत संशयक चुनौती। समानान्तर दर्शन एहि सभकेँ एकटा कृत्रिम “भारतीय मत”मे गलाबैत नहि।

72.4 पाश्चात्य दर्शन: संवाद, अनुकरण नहि

यूनानी प्रश्न, मध्ययुगीन तर्क, आधुनिक बुद्धिवाद- अनुभववाद, कान्टक आलोचना, हेगेलक इतिहास-दृष्टि, मार्क्सक संरचना-विश्लेषण, अस्तित्ववादक व्यक्तिगत जिम्मेवारी, विश्लेषणात्मक दर्शनक स्पष्टता, व्यवहारवादक अन्वेषण आ विज्ञान-दर्शनक पद्धति—ई सभ समानान्तर विमर्शमे स्वतंत्र आवाज छथि।

तुलनाक उद्देश्य ई सिद्ध करब नहि जे कोनो भारतीय दार्शनिक “पहिने सँ” आधुनिक पाश्चात्य सिद्धान्त कहि देने छलाह, अथवा पश्चिमक सभ विचार भारतीय स्रोतक पुनरावृत्ति अछि। एहन विजयवादी तुलना दुनू परम्पराक ऐतिहासिक विशिष्टता नष्ट करैत अछि। सार्थक तुलना समस्या, तर्क आ आपत्तिक स्तरपर होइत अछि।

72.5 समाजक प्रश्न दर्शनक बाहरी विषय नहि

जाति, वर्ग, लिंग, भाषा, क्षेत्र, राज्य, स्वतंत्रता, समानता, न्याय आ लोकतन्त्र—ई सभ केवल समाजशास्त्रक विषय नहि। एहि प्रश्नसभक भीतर मनुष्यक मूल्य, अधिकार, वैधता, उत्तरदायित्व, पहचान आ संस्थागत औचित्यक मूल दार्शनिक प्रश्न अछि।

गांधी साधन-साध्य सम्बन्ध, अहिंसा आ स्वराजक नैतिक प्रश्न उठबैत छथि। आम्बेडकर जाति, गरिमा, प्रतिनिधित्व, संवैधानिकता तथा स्वतंत्रता-समानता-बन्धुत्वक अविभाज्य सम्बन्ध सामने आनैत छथि। समानान्तर दर्शन एहि दुनूक मतभेदकेँ मिटबैत नहि; सबल रूपमे राखि नैतिक परीक्षण करैत अछि।

72.6 धर्म: सम्मान आ आलोचना दुनू

धर्म-दर्शनक खण्ड ई स्वीकारैत अछि जे आस्था मनुष्यक अर्थ, समुदाय, आशा, अनुशासन आ आत्मबोधक गहन स्रोत भऽ सकैत अछि। संगहि ई सेहो मानैत अछि जे धार्मिक दाबी आलोचनासँ मुक्त नहि। ईश्वरक प्रश्न, अशुभक समस्या, कर्म, पुनर्जन्म, मोक्ष, धर्मबहुलता आ धर्म-राज्य सम्बन्ध—सभमे प्रमाण आ औचित्यक अलग स्तर अछि।

विवेकपूर्ण बहुलताक निष्कर्ष अछि: व्यक्ति अपन धर्म मानि सकय, बदलि सकय, नहि मानि सकय; समुदाय अपन परम्परा चलाबय, मुदा सदस्यक गरिमा आ अधिकार नष्ट नहि करय; राज्य कोनो एक धर्मक आध्यात्मिक सत्यक निर्णायक नहि बनय, बल्कि समान नागरिक स्वतंत्रता संरक्षित करय।

72.7 आधुनिकता, विज्ञान आ तकनीकक द्वैधता

आधुनिकता स्वतंत्रता, विज्ञान, संचार, लोकतन्त्र आ अधिकारक नूतन सम्भावना खोललक; संगहि औपनिवेशिकता, नौकरशाही, बाजार-संकेन्द्रण, औद्योगिक अमानवीकरण आ निगरानीक नूतन रूप सेहो उत्पन्न कएलक। तेँ परम्परा बनाम आधुनिकता सरल नैतिक द्वैत नहि।

विज्ञानक महान शक्ति ओकर सार्वजनिक परीक्षणीयता, संशोधनशीलता आ प्रमाण-अनुशासनमे अछि। मुदा विज्ञान नैतिक उद्देश्य स्वतः तय नहि करैत। कृत्रिम बुद्धि आ अन्य नूतन तकनीक एहि भेदकेँ तीक्ष्ण करैत अछि: मशीन निर्णय-सहायता दे सकैत अछि, मुदा उत्तरदायित्वक प्रश्न मनुष्य, संस्था, डिजाइन, डेटा आ शासनसँ जुड़ल रहैत अछि। तकनीकी क्षमता नैतिक अनुमति नहि।

72.8 पर्यावरण आ समयक विस्तृत नैतिकता

पर्यावरणीय प्रश्न नैतिक समुदायकेँ वर्तमान मनुष्यसँ आगाँ बढ़बैत अछि। भावी पीढ़ी, नदी, जंगल, प्रजाति, पारिस्थितिकी तन्त्र आ दीर्घकालीन जोखिम—ई सभ निर्णयमे प्रवेश करैत अछि। सहअस्तित्वात्मक यथार्थवाद एतय विशेष महत्त्व पबैत अछि, कारण मनुष्य स्वतंत्र परमाणु नहि; जैविक, सामाजिक, ऐतिहासिक आ पारिस्थितिक सम्बन्धक जालमे स्थित अछि।

72.9 समानान्तर दर्शनक स्वतंत्र पहचान

एहि ग्रन्थमे प्रस्तावित समानान्तर दर्शनक स्वतंत्र पहचान किछु मूल प्रतिपादनमे देखल जा सकैत अछि। बहुप्रमाणीय विवेकवाद कहैत अछि—उचित प्रमाण अनेक, मनमाना प्रमाण नहि। सहअस्तित्वात्मक यथार्थवाद कहैत अछि—जगत मनसँ स्वतंत्र प्रतिरोध रखैत अछि, मुदा अनुभव सम्बन्धात्मक अछि। गरिमा-आधारित नैतिकता प्रत्येक व्यक्तिक समान मूल मूल्यकेँ केन्द्र बनबैत अछि। बहुकेन्द्रिक लोकतन्त्र सत्ता, ज्ञान आ संस्कृतिक अतिसंकेन्द्रणक प्रतिरोध करैत अछि। धर्मक विवेकपूर्ण बहुलता आस्था आ अनास्थाक समान विवेक-स्वतंत्रता चाहैत अछि। समानान्तर इतिहास-दृष्टि केन्द्र आ उपेक्षित स्रोत दुनूकेँ आलोचनात्मक प्रमाण-कसौटीपर रखैत अछि।

एहि सभक संग एकटा अनिवार्य सिद्धान्त अछि—आत्मसमीक्षा। आत्मसमीक्षा बिना बहुप्रमाणीयता अराजकता, यथार्थवाद कठोरता, गरिमा भावुकता, लोकतन्त्र संस्थागत आत्मसन्तोष, धर्मबहुलता उदासीन सापेक्षतावाद, आ समानान्तर इतिहास नूतन पक्षपात बनि सकैत अछि।

72.10 मुख्यधारा आ हाशियाक पार

कखनो मुख्यधारा सत्यक निकट होइत अछि। कखनो हाशिया। कखनो दुनू अधूरा। दार्शनिकक निष्ठा कोनो “धारा”सँ पहिने सत्य, न्याय आ मानवीय गरिमाक प्रति होयबाक चाही।

एहि कारण समानान्तर दर्शन मुख्यधाराक स्थायी विपक्ष नहि। जँ स्थापित सिद्धान्त प्रमाणसँ सबल अछि तँ ओकरा स्वीकारब। जँ उपेक्षित स्रोत नूतन तथ्य खोलैत अछि तँ ओकरा जोड़ब। जँ दुनूमे त्रुटि अछि तँ तेसर मार्ग खोजब। समानान्तरता पहचानक स्थिर शिविर नहि; आलोचनात्मक गतिक अवस्था अछि।

72.11 दर्शनक जीवनगत आचरण

एहि ग्रन्थक अन्तिम प्रतिज्ञा कोनो बन्द सिद्धान्त-सूची नहि, एकटा बौद्धिक आचरण अछि—

प्रश्न करब।

प्रमाण खोजब।

दूसर पक्ष सुनब।

अपन भूल सुधारब।

सत्तासँ कारण माँगब।

पीड़ितक स्वर सुनब।

आ सत्यकेँ कोनो एक केन्द्रक निजी सम्पत्ति नहि मानब।

एहि आचरणमे तर्क आ करुणा दुनू चाही। केवल करुणा भ्रमित भऽ सकैत अछि; केवल तर्क निर्दय। केवल परम्परा जड़; केवल नवीनता अहंकारी। केवल व्यक्ति अलगाव; केवल समाज दमन। केवल केन्द्र अधूरा; केवल हाशिया सेहो। समानान्तर दर्शन एहि द्वैतसभक बीच औसत नहि खोजैत, बल्कि प्रत्येक पक्षक उचित सत्य आ सीमा स्पष्ट करबाक प्रयास करैत अछि।

पूर्वपक्ष: की एहन खुलल दर्शन निर्णयहीन नहि भऽ जाएत?

आत्मसमीक्षा आ बहुलता देखैत आपत्ति उठि सकैत अछि जे समानान्तर दर्शन प्रत्येक प्रश्न खुला छोड़ि दैत अछि। जँ सभ संशोध्य अछि तँ दृढ़ नैतिक निर्णय कोना?

उत्तरपक्ष: खुलापन आ नैतिक सीमा साथ-साथ सम्भव

संशोध्यता प्रत्येक बात अनिश्चित करब नहि। किछु नैतिक सीमासभ पर्याप्त स्पष्ट भऽ सकैत अछि—जन्म नैतिक योग्यता नहि; व्यक्ति साधन मात्र नहि; अनावश्यक पीड़ा उचित नहि; राज्य नागरिकक मालिक नहि;

धार्मिक स्वतंत्रता अनास्थाक स्वतंत्रता सेहो; बहुमत सत्यक प्रमाण नहि; तकनीकी क्षमता नैतिक अनुमति नहि। एहि सीमासभक अनुप्रयोग विवादित भऽ सकैत अछि, मुदा ई विवाद नैतिक दिशाहीनता नहि।

अन्तिम निष्कर्ष

समानान्तर दर्शन समाप्त नहि होइत अछि। जँ ई ग्रन्थ अपन अन्तिम पृष्ठपर स्वयंकेँ पूर्ण घोषित करि दैत तँ अपन अंतिम सूत्रक उल्लंघन करत। दर्शनक भविष्य बन्द व्यवस्थामे नहि, बेहतर प्रश्न, नूतन प्रमाण, अधिक समावेशी संवाद आ अधिक न्यायपूर्ण जीवनमे अछि।

एहि अर्थमे समानान्तर रहब हाशियापर रहब नहि; सत्यक खोजमे कोनो एक केन्द्रक दास नहि रहब अछि। प्रश्नक स्वतंत्रता, प्रमाणक अनुशासन, गरिमाक नैतिकता, सत्ताक आलोचना, बहुलताक विवेक आ आत्मसमीक्षाक साहस—एहि सभक संयुक्त अभ्यासे समानान्तर दर्शनक जीवित रूप अछि।

अध्याय-ग्रन्थसूची

Bimal Krishna Matilal — Logic, Language and Reality; The Character of Logic in India.

Jonardon Ganeri — Philosophy in Classical India; The Lost Age of Reason.

Amartya Sen — The Idea of Justice.

B. R. Ambedkar — Annihilation of Caste; Dr. Babasaheb Ambedkar: Writings and Speeches.

John Dewey — Experience and Nature; Logic: The Theory of Inquiry.

John Rawls — A Theory of Justice; Political Liberalism.

Miranda Fricker — Epistemic Injustice.

पारिभाषिक शब्दावली

अस्तित्वमीमांसा — की-की वस्तु वास्तविक रूपसँ अस्तित्वमान अछि, तकर दार्शनिक अध्ययन।

तत्त्वमीमांसा — वास्तविकताक मूल स्वरूपक अध्ययन।

ज्ञानमीमांसा — ज्ञान, प्रमाण, विश्वास, सत्य आ औचित्यक अध्ययन।

प्रमाण — यथार्थ ज्ञान उत्पन्न करबाक मान्य साधन अथवा प्रक्रिया।

प्रत्यक्ष — प्रत्यक्ष अनुभूति अथवा इन्द्रिय-सम्बद्ध ज्ञान।

अनुमान — ज्ञात आधारसँ अन्य तथ्यक ज्ञान।

शब्द-प्रमाण — विश्वसनीय भाषिक कथनसँ प्राप्त ज्ञान।

उपमान — समानताक आधारपर ज्ञान।

व्याप्ति — अनुमानमे हेतु आ साध्यक नियमित सम्बन्ध।

नैतिकता — उचित-अनुचित कर्म आ चरित्रक अध्ययन।

राजनीतिक दर्शन — सत्ता, राज्य, अधिकार, न्याय आ स्वतंत्रताक अध्ययन।

धर्म-दर्शन — आस्था, ईश्वर, धर्म, धार्मिक अनुभव आ तर्कक अध्ययन।

बहुप्रमाणीय विवेकवाद — विभिन्न उचित प्रमाणक माध्यमसँ आलोचनात्मक ज्ञान प्राप्त करबाक समानान्तर सिद्धान्त।

सहअस्तित्वात्मक यथार्थवाद — मनुष्यमनसँ स्वतंत्र वास्तविकता स्वीकारैत हुए सम्बन्धात्मक अनुभवक बहुलताकेँ मान्यता देनिहार सिद्धान्त।

गरिमा-आधारित नैतिकता — प्रत्येक व्यक्तिक समान मूल मानव-मूल्यकेँ नैतिक निर्णयक केन्द्र माननिहार सिद्धान्त।

बहुकेन्द्रिक लोकतन्त्र — सत्ता आ निर्णयकेँ विभिन्न वैध सामाजिक-राजनीतिक स्तरपर बाँटि कऽ राखनिहार लोकतान्त्रिक दृष्टि।

समानान्तर इतिहास-दृष्टि — स्थापित स्रोतसभक संग उपेक्षित स्रोत आ स्वरसभकेँ समान आलोचनात्मक कसौटीपर रखि इतिहासक पुनर्पाठ करबाक पद्धति।

धर्मक विवेकपूर्ण बहुलता — आस्था, अनास्था आ धर्म-परिवर्तनक समान स्वतंत्रता स्वीकारैत, सार्वजनिक बाध्यता लेल साझा कारण आ समान नागरिकताक कसौटी रखनिहार सिद्धान्त।

आत्मसमीक्षा — अपन दाबी, प्रमाण, चयन, मौन आ निष्कर्षकेँ सेहो ओहि आलोचनात्मक कसौटीपर रखबाक अनुशासन जे दोसर विचारपर लागू कएल जाए।

चयनित मूल ग्रन्थसूची

भारतीय दर्शन

ऋग्वेद।

बृहदारण्यक उपनिषद।

छान्दोग्य उपनिषद।

गौतम — न्यायसूत्र।

कणाद — वैशेषिकसूत्र।

ईश्वरकृष्ण — सांख्यकारिका।

पतञ्जलि — योगसूत्र।

जैमिनि — मीमांसासूत्र।

बादरायण — ब्रह्मसूत्र।

कुमारिल भट्ट — श्लोकवार्तिक।

उदयनाचार्य — न्यायकुसुमाञ्जलि; आत्मतत्त्वविवेक।

वाचस्पति मिश्र — न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका; तत्त्वबिन्दु।

गङ्गेश उपाध्याय — तत्त्वचिन्तामणि।

नागार्जुन — मूलमध्यमककारिका; विग्रहव्यावर्तनी।

दिङ्नाग — प्रमाणसमुच्चय।

धर्मकीर्ति — प्रमाणवार्तिक।

उमास्वाति — तत्त्वार्थसूत्र।

पाश्चात्य दर्शन

Plato — Republic।

Aristotle — Nicomachean Ethics; Politics; Metaphysics।

René Descartes — Meditations on First Philosophy।

Baruch Spinoza — Ethics।

G. W. Leibniz — Monadology।

John Locke — An Essay Concerning Human Understanding; Two Treatises of Government।

George Berkeley — A Treatise Concerning the Principles of Human Knowledge।

David Hume — A Treatise of Human Nature; An Enquiry Concerning Human Understanding।

Immanuel Kant — Critique of Pure Reason; Groundwork of the Metaphysics of Morals।

G. W. F. Hegel — Phenomenology of Spirit।

Karl Marx — Capital; Marx and Engels — The German Ideology।

Søren Kierkegaard — Fear and Trembling।

Friedrich Nietzsche — On the Genealogy of Morality।

Edmund Husserl — Ideas।

Martin Heidegger — Being and Time।

Jean-Paul Sartre — Being and Nothingness।

Ludwig Wittgenstein — Tractatus Logico-Philosophicus; Philosophical Investigations।

John Dewey — Experience and Nature।

John Rawls — A Theory of Justice।

भारतीय आधुनिक सामाजिक-राजनीतिक चिन्तन

मोहनदास करमचन्द गांधी — हिन्द स्वराज; सत्याग्रह इन साउथ अफ्रीका; Constructive Programme: Its Meaning and Place।

भीमराव रामजी आम्बेडकर — Annihilation of Caste; States and Minorities; The Buddha and His Dhamma; Dr. Babasaheb Ambedkar: Writings and Speeches।

चयनित अध्ययन-ग्रन्थ

Surendranath Dasgupta — A History of Indian Philosophy।

M. Hiriyanna — Outlines of Indian Philosophy।

S. Radhakrishnan — Indian Philosophy।

Bimal Krishna Matilal — Perception; Logic, Language and Reality; The Character of Logic in India।

Jonardon Ganeri — Philosophy in Classical India; The Lost Age of Reason।

Stephen H. Phillips — Classical Indian Metaphysics; गङ्गेश आ भारतीय ज्ञानमीमांसा सम्बन्धी अध्ययन।

Karl H. Potter — Encyclopedia of Indian Philosophies शृंखला।

Dinesh Chandra Bhattacharya — History of Navya-Nyāya in Mithilā।

Ganganatha Jha — न्याय, मीमांसा आ भारतीय दर्शनक अनेक मूल ग्रन्थक अनुवाद आ अध्ययन।

अन्तिम प्रतिपादन

गजेन्द्र ठाकुरक समानान्तर दर्शन कोनो “पूर्व आ पश्चिमक मिश्रण” नहि।

एकर स्वतन्त्र पहचान छह मूल सिद्धान्तमे अछि—

बहुप्रमाणीय विवेकवाद — सत्य लेल उचित प्रमाणक बहुलता।

सहअस्तित्वात्मक यथार्थवाद — वस्तुगत जगत आ सम्बन्धात्मक अनुभव दुनूक स्वीकृति।

गरिमा-आधारित नैतिकता — प्रत्येक मनुष्यक समान मूल मूल्य।

बहुकेन्द्रिक लोकतन्त्र — सत्ता, ज्ञान आ संस्कृतिक अतिसंकेन्द्रणक प्रतिरोध।

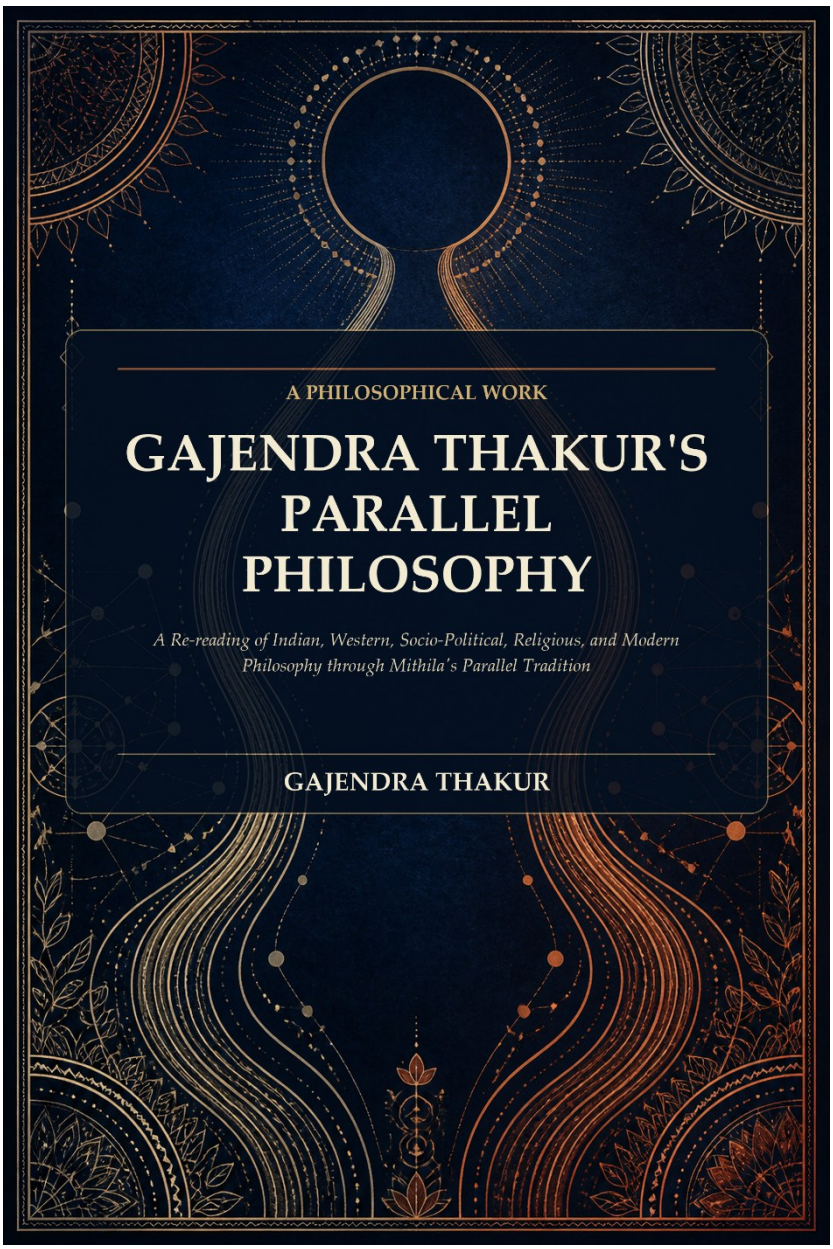
धर्मक विवेकपूर्ण बहुलता — आस्था, अनास्था आ धर्म-परिवर्तनक समान विवेक-स्वतंत्रता; सार्वजनिक बाध्यता लेल साझा औचित्य।

समानान्तर इतिहास-दृष्टि — केन्द्र आ उपेक्षित दुनू स्रोतकेँ समान आलोचनात्मक प्रमाण-कसौटीपर राखब।

एहि छह मूल सिद्धान्तक संग सातम, अनिवार्य नियामक सिद्धान्त जुड़ैत अछि—आत्मसमीक्षा।

किएक तँ जे दर्शन अपनहि आलोचना स्वीकार नहि करय, ओ दर्शनसँ सिद्धान्तवाद दिस बढ़ि जाइत अछि। समानान्तर दर्शनक भविष्य एहि कारणें ओकर बन्द व्यवस्थामे नहि, ओकर खुलल प्रश्नमे अछि।


समानान्तर दर्शन
गजेन्द्र ठाकुरक ई कृति मिथिलाक अपन
दार्शनिक परम्पराकेँ केन्द्रमे राखि
भारतीय, पाश्चात्य आ आधुनिक
चिन्तनकेँ एकटा नव – “समानान्तर” –
दृष्टिसँ पढ़ैत अछि। न्याय, वेदान्त
आ पाश्चात्य ज्ञानमीमांसाक बीच
संवाद स्थापित करैत, ई बहुप्रमाणीय
विवेकवाद, गरिमा-आधारित नैतिकता आ
आत्मसमीक्षाकेँ अपन आधार बनबैत अछि।
बहुप्रमाणीय विवेकवाद · सहअस्तित्वात्मक यथार्थवाद · गरिमा-आधारित नैतिकता
बहुकेन्द्रिक लोकतन्त्र · धर्मक विवेकपूर्ण बहुलता · समानान्तर इतिहास-दृष्टि
अधिक सामग्री आ पूर्ण अंकसभ लेल स्क्यान करू
www.videha.co.in
videha-ejournal
.github.io/videha
विदेह – प्रथम मैथिली पाक्षिक ई-पत्रिका
ISSN 2229-547X



Gajendra Thakur's Parallel Philosophy

A Re-reading of Indian, Western, Socio-Political, Religious, and Modern Philosophy through Mithila's Parallel Tradition

Gajendra Thakur

Editor, Videha — The First Fortnightly Maithili E-Journal

ISSN 2229-547X

Preface

Philosophy does not begin with answers but with questions. When man asks what the world is, what truth is, how knowledge is possible, whether there is a God to judge, what is the relation between religion and morality, to what extent are the rights of the state, where is the freedom of the individual, how can society be just, then philosophy is born.

However, the history of philosophy itself has not been unbiased. Ideas that could reach the heart of universities, monarchies, religious institutions, linguistic hegemony or publishing houses were often said to be mainstream philosophies; ideas that remained outside the confines of folk life, regional languages and oral traditions, defeated communities, frontier geographies or institutional centres were often left on the margins of history.

This is where the basic premise of the text begins.

Parallel philosophy is not a taboo to the mainstream. It is a method of bringing questions that have been suppressed, displaced or deliberately left out of the mainstream back into the focus of philosophical discussion.

For this reason, parallel philosophies are neither exclusively Indian, nor exclusively Western, nor exclusively spiritual, nor exclusively materialistic, nor exclusively traditionalist, nor exclusively modernist. Its basic premise is the demand for

Where there is a claim to the truth, ask for proof.

Where there is evidence, ask about its extent.

Where there is power, ask for its legitimacy.

Where there are traditions, ask about their history.

Where there is rebellion, ask for its moral basis.

And where there is a man, never forget his dignity.

The text does not contain any decorative regional chapters on the philosophy of Mithila. Mithila is the systematic center of this text. From the question tradition of Videha 's Upanishads to the language of Nyaya, Mīmāṃsā, Navya-Nyaya, Artha, Lokadharma and modern social struggles, there appears to be a long intellectual tradition: first understand the question properly, give evidence, answer objections, and then draw conclusions.

Ganges Upadhyaya was the pre-eminent judge of Mithila in the fourteenth century, and his Tattvacintamani proved to be a highly influential text in the history of Indian empiricism and logic. The principal aim of the book is to apply this intellectual discipline to questions of current society, politics, religion, history and science.

Contents

Part I — Foundations of Philosophy
1. What Is Philosophy?
2. Questions, Doubt, and Pramāṇa
3. Truth and Perspective
4. The Limits of Knowledge
5. The Method of Parallel Philosophy
Part II — Indian Philosophy
6. Vedic Thought and Upanishadic Questions
7. Sāṃkhya
8. Yoga
9. Nyāya
10. Vaiśeṣika
11. Pūrvamīmāṃsā
12. Vedānta
13. Buddhist Philosophy
14. Jain Philosophy
15. Lokāyata and Materialist Questions
16. Language, Word, and Meaning
Part III — Mithila's Parallel Philosophical Tradition
17. Videha: A Geography of Questioning
18. Yājñavalkya, Gārgī, and Maitreyī
19. Nyāya–Vaiśeṣika and Mithila's Logical Tradition
20. Udayanācārya
21. Vācaspati Miśra
22. Gaṅgeśa Upādhyāya
23. Navya-Nyāya: The Subtle Discipline of Language
24. Folk Tradition, Śāstra, and Parallel Mithila
Part IV — Western Philosophy
25. Greek Questions
26. Socrates, Plato, and Aristotle
27. Medieval Philosophy
28. Descartes, Spinoza, and Leibniz
29. Locke, Berkeley, and Hume
30. Kant
31. Hegel and Dialectic

32. Marx
33. Kierkegaard and Nietzsche
34. Phenomenology and Existentialism
35. Analytic Philosophy
36. Pragmatism
37. Philosophy of Science
Part V — Social and Political Philosophy
38. The Individual and Society
39. The Justification of the State
40. Freedom
41. Equality
42. Justice
43. Caste and Social Hierarchy
44. Class and Economic Power
45. Women, Gender, and Power
46. Language, Region, and Identity
47. Democracy
48. Gandhi
49. Ambedkar
Part VI — Philosophy of Religion
50. What Is Religion?
51. The Question of God
52. Faith and Reason
53. The Problem of Suffering and Evil
54. Karma, Rebirth, and Mokṣa
55. Religious Plurality
56. Religion and the State
57. Folk Religion and Institutional Religion
Part VII — Modern and Contemporary Philosophy
58. Modernity
59. Science and the Human Being
60. Language and Power
61. History and Memory
62. Knowledge and the Digital World
63. Artificial Intelligence and Human Responsibility
64. The Environment and Future Generations
Part VIII — Gajendra Thakur's Parallel Philosophy
65. Multi-Pramāṇa Rationalism

66. Coexistential Realism
67. Dignity-Based Ethics
68. Polycentric Democracy
69. The Rational Plurality of Religion
70. A Parallel View of History
71. The Aphorisms of Parallel Philosophy
72. Epilogue

Part I — Foundations of Philosophy

Chapter 1 — What Is Philosophy?

The greatest narrowing of philosophy would be to regard it merely as a history of the views of great philosophers. Philosophy is fundamentally the self-aware intellectual activity through which human beings ask for the reasons behind their beliefs, experiences, values, practices, and institutions. Philosophy brings into question what ordinary life treats as self-evident. “This is true”—why? “This is right”—by what standard? “This is our tradition”—how does mere traditionality establish its rightness? “The majority supports this”—is a majority evidence of truth, or only a number? Because it asks such questions, philosophy is not a luxury outside life but life’s self-examination.

1.1 Philosophy: From Wonder to Discernment

Human beings accept many things without questioning them. The sun rises, the river flows, birth occurs, death comes, society makes rules, the family teaches values, religion gives meaning to the world, and science explains events. Yet a moment comes when the familiar becomes strange. Confronting death, a person asks: what are the limits of individual existence? Confronting injustice: why does what is differ from what ought to be? Experiencing illusion: is what appears actually true? The energy of philosophy is born from this wonder, dissatisfaction, and self-doubt.

Wonder alone is not enough. A child, too, is amazed; a poet may transform wonder into metaphor, and a scientist into a testable question. A philosopher connects wonder with concepts, reasoning, evidence, and counterargument. Thus philosophy moves first through wonder, then questioning, analysis, the testing of evidence, and finally self-critique.

1.2 Philosophy is a test of opinion not opinion

In the history of philosophy, there have been many schools of thought: Advaita, Dvaita, Samkhya, Nyaya, Buddhist Madhyamaka, Jain Anekantas, Materialism, Idealism, Empiricism, Intellectualism, Existentialism, and Pragmatism. But the number of opinions is not the definition of philosophy. An opinion does not become philosophical simply because its proponents present it in a serious tone. Philosophy begins when opinion clarifies its premises, admits contradictory questions, sees the consequences of conclusions, and is open to possible errors.

This is why there is a significant difference between what we believe and why we believe. The first statement is self-explanatory; the second opens the door to philosophical discussion. Parallel philosophies keep this door open to all traditions equally. The sources of scripture, science, folk beliefs, and modern theories are not immune to criticism solely on the basis of their reputation.

1.3 The main areas of philosophy

The classification of the branches of philosophy has varied with time and tradition; however, some core areas may be identified to facilitate study.

Metaphysics asks what kind of reality is reality at its core. Matter, mind, soul, God, time, reason, free will, possibility and the nature of existence. Modern metaphysics is not limited to first causes; questions of mind-body relationships, social objects, personality, and time-life also fall into its domain.

Epistemology asks what science is. When does belief become knowledge? True belief can also be true by chance.What then does knowledge require besides truth? The Source of the Knowledge Direct memory, inference, language, and how to check the credibility of authentic persons or institutions. Where is the limit of knowledge?

Logic asks on what basis a conclusion can be drawn. When is an argument valid? Confusing Reasons and Words - Inconsistent Conclusions and Imperfect Reasons and How to Recognize Contradictions Both the discourse of Indian jurisprudence and Western formal logic are distinct historical forms of this overarching purpose.

Analytics raises the question of what value is. Moral philosophy asks what is the criterion of right and wrong actions. Aesthetics asks what is the nature of the experience of beauty, art and taste. Political philosophy asks questions of justice, rights, the state, liberty, equality, and legitimate authority. Philosophy of religion examines religious experience and

religious pluralism through the claims to liberation from God. Science philosophy asks about the nature of scientific explanation, causation, theory, and evidence. The term linguistics raises questions of meaning, context, and sentence truth.

This division is useful, but not final. Whether man is free is a question of metaphysics. how moral responsibility, if not freedom, is a moral question. why should the state impose punishment on the individual. why political questions. how freedom manifests itself in experience. a phenomenological question. Life does not go according to a schedule, so the branches of philosophy constantly enter into one-dosara.

1.4 Philosophy and the sciences

It is unreasonable to consider philosophy and science to be at odds with each other. The modern specialized sciences have developed as separate disciplines from the broader historical world of philosophy, but the range of questions still touches on each other. Science asks how particular events occur, which hypotheses hold up under test, and which models predict them. Philosophy may ask what a scientific explanation is. The Reason Why Whether the observation is completely independent of the theory Whether scientific realism is justified or instrumentalism. Whether moral values emerge automatically from the success of science

This difference does not mean that philosophy can replace experimentation. The question of measuring blood pressure will not be settled by philosophical argument. But how this health resource is

distributed fairly will not be solved by blood pressure data alone. Facts and values are interrelated, but not synonymous. Parallel philosophy accepts the evidence-discipline of science while examining scientific findings in social, ethical, and conceptual contexts.

1.5 Philosophy and religion

The boundaries of philosophy and religion in Indian intellectual history were not as straightforward as the modern-day university divide. The questions of moksha, dukkha, atman, karma, Ishvara, emptiness, nirvana, Veda-Pratyutva and ahimsa were at once philosophical, theological, ethical and vital. However, this proximity does not mean that religious belief will automatically replace philosophical evidence. Philosophy may regard religious experience as an important domain of human experience, but may also question its universal claim.

The philosophy of salvation asks: What is the meaning of salvation, if religion says so? By what evidence is the knowledge of the way What is the relationship with alternative religious claims? As a result of the moral The purpose of these inquiries is to clarify the relationship between claims and justification rather than to discredit the belief.

1.6 Plural of the term Indian philosophy

Darshan is not the name for a uniform set of principles in Indian tradition. There are also serious disagreements within Nyaya, Vaisheshika, Samkhya, Yoga, Mīmāṃsā, and Vedanta, which accept the Veda-satya, while Buddhist, Jain, and Lokayata traditions question other

grounds. The number of sources of knowledge, the existence of the soul, the nature of the external world, the necessity of God, the authenticity of words, and the nature of liberation are all subject to dispute: every fundamental question is met with controversy. This pluralism should not be confused with Indian thought but with the living nature of philosophy.

The preface to the Nyaya Sutras lists topics such as proofs, theorems, doubts, motives, examples, theories, arguments, judgments, and arguments. This list makes it clear that philosophy is not just about conclusions; it is also about how to ask questions, examine evidence, debate, and identify fallacious arguments.

1.7 Philosophy and life.

One objection may be raised if the final answer to the questions of philosophy is not given, what is the use of philosophy? This objection has the tendency to measure use only by immediate results. Philosophy is not medicine that immediately brings down the temperature; but it is not possible without a philosophical conception of the justice of medicine-distribution, the consent of the patient, the judgment of life and death, and the ethical use of medical resources.

In daily life, one sees darshan continuously, even if one does not know it by name. Human rights, duties, and values are behind decisions such as the appropriateness of punishing children, the care of aging parents, autonomy in marriage, caste-based treatment, political allegiance, religious tolerance, and environmental responsibility. Unexamined

philosophy is also philosophy; the difference is that it does not see its own basis.

Mithila 1.8: The Context of the Question Tradition

Mithila in this text is not merely a geographical introduction but a methodological reminiscence. The Upanishadic dialogues of Videha, the Nyaya-Mīmāṃsā and the Shastrartha-traditions of the Navya-Nyaya, and the meticulous examination of words and evidence are examples of an intellectual culture in which both respect for questions and rigor in definition were important. It is not the purpose of Parallel Philosophy to turn this tradition of Mithila into a glorious song. Gaurav also asks for a proof. The basic aim is to see how local intellectual traditions can contribute independently to a parallel dialogue of worldviews.

1.9 The Initial Promises of the Parallel Philosophy

Parallel philosophy is not a negation of mainstream philosophy. This mainstream misogyny would be just the opposite of bigotry. The parallel view reads the established idea in its strongest form, looks for neglected sources, applies the same standard of proof to both, and ultimately leaves its conclusions open to revision.

The text 's core promise can be summed up in four sentences: If truth is claimed, ask for proof. if proof, ask for its limits. if existence, ask for legitimacy. and if human, do not forget its dignity. Both intellectual and moral forms of philosophy are present in this promise.

Pūrvapakṣa (Prima Facie View): Philosophy is only the history of ideas

According to this view, reading philosophy means knowing what Plato, Kant, Shankar, Nagarjuna, Ganges, Marx, etc. said. History is of course essential. it is inappropriate to cut the words of thought from its period texts and controversies. But history alone is not enough. If we stop at what our philosopher said, we are doing the work of a historian. Philosophy begins when we ask why logic persists today. What was the premise behind it? As a result of the opposing argument What does that have to do with my experience or knowledge?

Uttarapakṣa (Response): A Critical Dialogue with History

Parallel philosophy does not discard history; it communicates the present on the basis of history. Don 't force the thinker of the past into the current vocabulary but examine the present relevance of their question. Philosophy thus becomes the junction of history and living reason.

Chapter Conclusion

Philosophy is the method responsible for giving answers, not a collection of answers. Its scope extends to reality, knowledge, reason, value, existence, language, religion, science, and life. The peculiarity of philosophy lies not in its ultimate solution of every question, but in the fact that it clarifies the question, asks for reasons, sees the limits of concepts, listens to the opposition, and leaves its conclusions open to

correction. Parallel philosophy is a Mithila-centered, polytheistic, and evidence-rich extension of this general philosophical tendency.

Chapter Bibliography

Aristotle is the author of The Metaphysics.
Gautama wrote that the Nyāya-sūtra.
Vatsyayana is Nyaya-bhāṣya.
Bimal Krishna Matilal — Logic, Language and Reality.
Jonardon Ganeri — Philosophy in Classical India.
Stanford Encyclopedia of Philosophy — “Analysis”; “Metaphysics”; “Epistemology”.
Internet Encyclopedia of Philosophy — “Nyāya”.

Chapter 2 — Questions, Doubt, and Pramāṇa

Doubt is not the enemy of knowledge. disciplined doubt is the keeper of knowledge. But unfounded and equal degrees of infinite doubt about everything is not the ideal of knowledge. If we completely distrust direct perception, memory, linguistic reasoning, and our own reasoning and all shared experiences at the same time, not only philosophy but general behavior will be impossible. The basic question, therefore, is whether or not to suspect. The question is what is the reasonable cause of the suspicion, what are its limitations, and how should the test be administered in case of suspicion.

2.1 Questions and Differences of Opinion

The question is not necessarily a doubt. Where the Ganges comes from may be a question of information. Whether these sources are reliable is a matter of some doubt. How to tell if a belief is true is a philosophical question. These three levels need to be kept separate. Sometimes the information is not available. sometimes the information is contradictory. sometimes the basic criteria are unclear. Philosophy is particularly active on the third plane, but does not neglect the facts of the first two planes.

In the judicial tradition, suspense is an important stage of investigation. While testing in the presence of doubt has been deemed necessary, judicial tradition does not regard universal suspicion as the initial norm. Common sense processes are said to work until an opposing cause arises.

In this view, belief is not superstition but rather initial belief that can be tested again if challenged.

2.2 Proof: The Source of the Knowledge

In Indian epistemology, pramāṇa is not just evidence for a debate; it is the reliable means or process of producing true knowledge in the broadest sense. Justice accepts four proofs: the direct, the inferential, and the verbal. Other Indian philosophies accept additional evidence or reduce some of these four. This difference of opinion illustrates an important point: philosophical disputes arise not only over what is true but also over what constitutes a reasonable means of knowing the truth.

Directness is related to our senses and direct experience. The eyes see fire, the skin feels heat, and the ears hear sound. But the direct objectivity is not exact. Distance, light, disease, delusions, and limitations of attention affect the experience. So we see that there may be important evidence, but not conclusive evidence in every situation.

The inference jumps from known clues to unknown conclusions. Smoke predicts fire, symptoms predict disease, and archaeological remains predict past social structures. The test of the known-unknown relationship among the species is essential. Incorrect generalizations, assuming coincidence to be the cause, incomplete data, and bias can all distort the estimate.

The simile relates the unknown to the known based on similarity. Comparisons play a large role in everyday life. But equality is not infinite. two things can be the same in one respect and different in another. False analogies are especially misleading in political, religious, and historical contexts.

Words or statements of fact form the basis of a large part of human knowledge. We do not see all the countries ourselves, we do not repeat all the scientific experiments, we do not read all the historical records. The dependence on teachers, doctors, experts, texts, records, news, and narratives of families and institutions is inevitable. The question is not whether the other person will be believed; the question is when the speaker or source is believed. It is a matter of knowledge. It is a matter of honesty. There is a conflict of interest The statement is supported by independent sources. The organization maintains a process of improvement.

2.3 Indian controversy over the number of proofs

The peculiarity of Indian philosophy is that the number and nature of testimonies themselves became the subject of extensive debate. Justice believes there are four pieces of evidence. Several schools of Mīmāṃsā and Vedanta discuss additional evidence for artha-patti and anupallabdhi-aja. The major strands of Buddhist empiricism center on perception and inference. Reconstruction of the traditions associated

with Charvaka emphasizes the primacy of Pratyaksha, although caution is required due to a lack of original sources.

Parallel to this debate is the implication that evidence is not a closed list but rather an analysis of knowledge processes. In modern science, fields such as instrument-based observation, statistical inference, peer review and reproduction, documentation in history, records and material remains, oral history, evidence in court, expert opinion and documentation develop their own appropriate evidence-disciplines.

2.4 True Faith and Knowledge

A belief can be true only if it is coincidental. A person may predict that it will rain tomorrow without any reason, and that the rain will happen by chance. Truthfulness does not simply make this belief knowledge. In Western modern epistemology, knowledge has long been analyzed as a set of truthful beliefs with justification.The twentieth-century Gettier-problem showed that even the three conditions of true belief and justification are not sufficient in some situations. The importance of this debate lies in the fact that knowledge must have a reasonable epistemic or epistemic success with truth.

Indian phenomenology also has a strong emphasis on the origin of knowledge. Proof is thought of as the means to realizing and proving the truth. Traditions interpret this relationship differently, but the question remains the same: did the same conclusion hold true for the same reasons or was it merely coincidental?

2.5 The Three Forms of Doubt

First, the practical question: are these drugs really effective in this disease?

Another is methodological skepticism: deliberately asking questions to test the basis of one 's beliefs. Descartes 's method of skepticism is a famous example of this form, although his aim was to find a definitive basis rather than permanent skepticism.

Third, philosophical doubt: whether we can know the external world, other minds, the past, the present, or anything else; such doubt can be a powerful means of understanding the structure of knowledge but not a direct instruction in general behavior.

Parallel philosophy does not confuse the three forms. Practical questions can be answered by experiments or documents.Consensus answers require conceptual reasoning.

2.6 Unfounded doubts and credible criticism

In contemporary public life, we simply ask questions: sentences sometimes used to spread unsubstantiated allegations. Asking questions itself is not a virtue if the form of the question is such that no one will accept the answer. A reasonable suspicion can be considered to have at least four conditions: there must be a clear subject of suspicion, there must be reason to suspect, the condition for probable rebuttal must be clear, and the same criterion must apply in its own right.

It is heresy, not philosophy, if one merely strongly suspects contrary sources and accepts without trial one 's favourite source. The proof-discipline of parallel philosophy is symmetric: the criterion is the criterion over the others and over itself.

2.7 Institutions and areas of expertise and knowledge

In modern societies, knowledge is neither personal nor institutional. Hospitals, universities, courts, archives, scientific journals, and statistical institutions are all complex knowledge-generating systems. Individuals cannot perform the experiments themselves; therefore, institutional credibility is required. But the institution is not without flaws. Power, finance, reputation, political pressure, editorial bias, and groupthink can all affect knowledge.

Parallel philosophy, therefore, avoids both dogmatism and antithesis. The expert said this was not enough, but it was also unfair to equate expertise with general assumptions. The appropriate question is in what area of expertise. The evidence is in the public domain. It is possible that the review The extent of the disagreement There is a conflict of interest What is the uncertainty of the conclusion?

2.8 Evidence in the digital age

The digital medium blurs the boundaries of direct words and inferences. The movie looks real-time, but can be edited or simulated. Thousands of people share the same thing, but not thousands of independent sources.

It 's possible that everyone is repeating the same original entry. Search results can be a sign of popularity, not authenticity.

This situation calls for a new civic discipline of proof-checking: find the original source. check the date. look at the entire reference. find independent confirmation. check the image or movie-source. separate the statement and explanation. keep the uncertainty clear. This modern device can be considered a new form of the rite of passage of trial when judicial doubts arise.

2.9 Prejudice: How All Evidence Will Finally Be Proven

There is a serious objection: if every proof needs another proof to be reliable, and another needs a third, an infinite chain will arise. If the evidence proves itself, there will be a cycle. If you believe something without proof, it is false. This is an ancient problem in epistemology.

Uttarapakṣa (Response): The Beginning of Error Checking

Parallel philosophy does not seek absolute, external, or omniscient evidence. Common-sense procedures can be given preliminary authority unless there is reasonable resistance; when opposed, mutual testing, independent evidence, and practical success are used to modify the belief through rationalization and source testing. This is not infallibility, but error correctionism.

Chapter Conclusion

The enemy of knowledge is not doubt.Both unfounded belief and unfounded suspicion are obstacles to knowledge. The type of evidence varies by region, but a common rule in all areas is to be clear about the source, process, opposition, and amendment. The parallel philosophy of juridical evidence-sensitivity and the Indian epistemological debate combine the justifications of modern epistemology and the source-verification of the digital age in a single comprehensive approach.

Chapter Bibliography

Gautama wrote that the Nyāya-sūtra.

Vatsyayana is Nyaya-bhāṣya.

Gangesh Upadhye as Tattvacintāmaṇi.

Bimal Krishna Matilal — Perception; Logic, Language and Reality.

Stephen H. Phillips — Epistemology in Classical India.

René Descartes — Meditations on First Philosophy.

David Hume — An Enquiry Concerning Human Understanding.

Stanford Encyclopedia of Philosophy — "Epistemology"; "Skepticism"; "Epistemology in Classical Indian Philosophy".

Internet Encyclopedia of Philosophy — "Nyāya".

They are true in their own right; their sentences seem attractive to express tolerance, but philosophically call for caution. If two people say the same thing at the same time, in the same sense, the opposite is true: the lamp is burning and the lamp is not burning; both statements cannot be true in the same sense. But this hard fact does not even lead to the conclusion that every reality ends up in only one description. A river can be a watercourse, a source of irrigation, a cultural memory, a religious site, a state resource, and an ecosystem. The relationship between truth and perspective is between these two extremes: arbitrary relativism and monotonic rigidity.

The Question of Truth 3.1

The question of truth arises on at least three levels. First, the truth of the statement: water boils at such a temperature under certain conditions on the seabed. Second, the truth or adequacy of the explanation: the main reason for this same historical movement was economic. Third, the value-determination principle: this policy is just. However, the evidence and style of argument differ between these levels. Statements can be tested with empirical data. historical interpretation by comparing multiple sources and reasons. moral decision theory. consequences. authority. and experience.

The problem occurs when the criterion of one level is forcibly applied to another. Moral justice cannot be proved by opinion-surveys alone; historical facts cannot be changed by current moral choices alone.

Conformity 3.2: Statements and Objects

A dominant notion of truth is that truth statements correspond to reality. There is a mango tree in the left courtyard, which is true if there is actually a mango tree in the courtyard. This intuitive notion is extremely useful in everyday life, science, and court and history. Whether or not the event that the document states actually occurred is a question of consistency.

But the term analogy itself raises philosophical questions. How complex scientific theories, mathematical objects, moral statements, or social institutions interact with reality This difficulty has led to the development of other theories of truth, but the core insight of conformism is that realism holds resistance independent of our will and is important for parallel philosophy.

3.3 Consistency: The Interrelationship of the Beliefs

In the consistency-based view, the validity of a statement is related to its broad belief system. A new historical claim will demand particularly strong evidence if the established date conflicts with documented geographical facts and independent sources. Knowledge is a mutually supporting structure rather than a single stack of sentences.

But association alone is not a sufficient test of truth. A completely fictional story may be internally consistent. Parallel philosophy, therefore, regards association as a necessary intellectual quality, but not a substitute for external evidence.

Behavior and Truth 3.4.

The pragmatist tradition shows the importance of the results of thought, the process of inquiry, and long-term exploration in truth-telling. In the Indian Nyaya tradition, there are also examples where right knowledge is associated with successful tendencies: Right knowledge helps a person in purposeful successful actions. Failure to act if you run into rough water and smell it in the distance is a sign of confusion.

But to say that what is useful is true is an oversimplification. Lies can sometimes have short-term benefits; truth can be tricky. Behaviour is a dimension of the test of truth, not a complete substitute for definition.

3.5 Indian epistemology and the sense of reality

Nyaya traditions reflect on the concept of right and wrong. Gangesh relates the perception of reality to the perception of qualities in objects as they really are. For example, in the illusion of seeing silver in ink, an object must appear, but the imputed quality does not fit the actual object. In this analysis, the question of truth is not only about sentences but also about feelings and relationships between things.

Satya-Vimarshana is not uniform in the Indian tradition. Different schools of Buddhist tradition distinguish between the analysis of general practical truths and the analysis of the Absolute. Jain Anekantavada emphasizes the multiplicity of things. It would be historically inaccurate to make these principles the modern slogan of all truth equals truth. Anekāntavāda calls for a discipline of sattva and naya, while the dvīsatya-vimarsa of Madhyamaka has specific philosophical aims.

3.6 The validity of the approach

Why is the point of view important? The reason is not the clairvoyant formless eye. A person speaks a language, is born into a history, holds a social position, or receives training. Different people see different sides of the same event. Farmers can observe changes in river water levels with the same precision as a remote official. officials may have field data that is beyond a farmer 's experience. Both perspectives can be partial, and together they can convey a broad range of knowledge.

But social space is not an infallible proof of truth by itself. Suffering can give special access to experience, not infallibility. Being an expert can give technical knowledge, not moral fairness. Parallel philosophy regards viewpoints as sources of evidence, not automatic seals of truth.

3.7 The Limits of Relativity

If these are said to be true only of individuals, then the question arises whether these statements are true for themselves or for the speaker alone. If only for the speaker, the other person may reject them; if only

for everyone, at least one of the negatives is true. This traditional subjective difficulty shows the limits of the hyperbolic form of relativism.

Parallel philosophy therefore accepts the polytheism of truth and not arbitrariness. Objects can be multifaceted, statements can be context-specific, language affects classification, but evidence, paradoxes, object resistance, and public scrutiny are still important.

3.8 Authority and the Truth

Power in history selects records, creates curricula, standardizes language, institutionalizes some memories and marginalizes others. For this reason, official language and factual information are not synonymous. However, this criticism does not necessarily lead to the opposite conclusion. Authority-review is an extension of source-review and not a replacement.

A parallel history-view asks: Who created the document? For what purpose? What is missing? What do the opposite sources say? How Old Is Oral Memory and How It Is Transmitted It is consistent with the physical evidence. These questions may expose the silence created by the establishment, but even new stories must pass the test of proof.

3.9 Facts and Meaning and Value

There are three types of disputes possible over the same event. Whether the event took place or not is a matter of fact. There is a dispute over the interpretation of what the event means. Whether or not the incident was

justified is a matter of value. In public debates, these three are often at loggerheads. For example, the fact that a law has been passed. They result in poorer communities making more empirical-explanatory claims for which data are needed. This is an unjustifiable and unethical conclusion that requires justification.

Parallel philosophy asks for proper proof at each level and gives clues when the level changes. This transparency makes the debate seem more honest.

3.10 Dissent and the Truth

Even someone who is smart, honest, and informed can disagree. Dissent is not automatically evidence that something is not true; it can be an indication that the evidence is complex, the value is different, the concept is unclear, or the available information is incomplete. The appropriate response should not be to declare the opponent a fool, but to recognize the place of disagreement. On the other hand, the source On the basis of the argument On the other hand, the price On the Basis of Priority

In this way, the ideogram becomes a tool for analysis rather than just a buzzword. Each person comes with certain preconceived notions. the job of a philosopher is not to let them be invisible.

Pūrvapakṣa (Prima Facie View): To say that truth is multifaceted would not lead to relativism.

The objection is a valid one. If these statements are taken to mean the same thing as the hypothetical statement, then the truth is decomposable.

Uttarapakṣa (Response): Vision Multipleity Criteria Shared

Parallel philosophy says that there can be many perspectives, but each claim must endure sound reason, internal consistency, and the resistance of available evidence, opposition, and experience. Separate statements can be complementary; the question of a decision between diametrically opposed statements cannot be avoided.

Chapter Conclusion

Truth is neither a mere personal choice nor the complete capture of every complex reality in a single sentence. In truth-telling, objects, statements, attitudes, evidence, language, entities, uses and interpretations all play a role. Parallelism is the theory that truth can be multifaceted but not arbitrary. The first part of this theory avoids egocentric monotonicity, the second part refutes relativism.

Chapter Bibliography

Gangesh Upadhye as Tattvacintāmaṇi.
Nagarjuna as Mūlamadhyamakārikā.
Umasvati is the mother of Tattvārthasūtra.
William James — Pragmatism.
Charles S. Peirce is the author of selected philosophical articles.
Bimal Krishna Matilal — Perception.
Stanford Encyclopedia of Philosophy — "Truth"; "The Theory of Two Truths in India".

Chapter 4 — The Limits of Knowledge

We all know that the person who says this is not knowledge speaks the language of arrogance. Human knowledge is limited, cognitive is limited, memory is flawed, attention is selective, language is incomplete, concepts are historical, institutions may be biased, and everyone 's experience is limited. However, this limitation does not imply that knowledge is impossible. The basic tenet of Parallel Philosophy is that knowledge is possible, but not impossible.

4.1 Limitations Human defeat is not

Accepting the limits of knowledge is sometimes seen as intellectual weakness. In fact, we do not know: this is an extremely strong epistemic statement under the right circumstances. If doctors do not declare a definite disease without tests, if historians write books on obscure sources, if scientists give error-limits, then it is ignorance, not disciplined knowledge.

Infallibility and knowledge are different things. A vast body of everyday and scientific knowledge would be said to be impossible if the condition for knowledge were that there was no possibility of error. In practice, we rely on sufficient evidence, reliable procedures and the ability to make amends.

The Limits of the Senses 4.2

Direct knowledge is the basic source; however, the senses are confused under special circumstances. Distant objects may appear small, sticks in the water may seem crooked, and ropes in dim light may be able to extinguish snakes. This fact does not make them outright lies. We also use other direct, tactile, and close observation tools and comparisons to identify the opposite illusion.

Science develops imaging techniques for telescopes, microscopes, sensors, and spectrometers to overcome sensory limitations. But instruments also ask for theory, calibration and interpretation. The question is how the machine works, what are the limitations, and how many errors are there.

Memory and the Past 4.3.

Personal memory Photographs - not a static record of the present. Humans forget and reconstruct events, and later information can affect recollection. Autobiography, oral history, and eye-witness testimony are therefore valuable tests.

But it is also wrong to treat memory as meaningless if it is flawed. Historians build a more reliable picture by combining multiple memories, documents, dates, physical evidence, and independent sources. Parallel philosophy here emphasizes the mutual testing of sources rather than a single source versus zero sources.

4.4 Limitations of language and concepts

I use language to describe what I am feeling. Language forms categories, such as color names, kinship names, social terms, disease categories, and political identities. Categorization is useful. it is hard to think of a class without But class is not the whole of reality.

The meaning of the words religion, nation, nation, modernity, justice, consciousness, etc. change according to history and tradition. Treating words in one language as if they were direct equivalents in another creates confusion. In this text, while translating Sanskrit, Maithili, Hindi and English philosophical verses, the meaning must be kept clear. Similar words do not prove the similarity of ideas.

4.5 Knowledge and Fate: The Challenge of Gettier

If knowledge is said to be true belief + reason alone, then there are instances where the person 's belief seems true and right, but the truth is accidental. The Gettier Critique of the twentieth century sharply contrasted this difficulty. It does not matter that Western epistemology is stuck in a riddle; what matters is that the success of knowledge requires not only inner conviction but also faith and a proper relation to the world.

The process-centric approach of Indian phenomenology offers a rich opportunity to engage with this question. The idea that the production of true knowledge is linked to reliable causation opens up a comparative

dialogue between modern reliabilism and juridical proof-analysis; however, it would be unfair to declare both traditions identical.

4.6 Limit of Arrival

I look to the past for many examples and make expectations for the future. Since the sun rises every day, the drug has repeatedly shown efficacy in controlled trials and is therefore likely to be effective under similar conditions. Hume 's famous question is, " Why is the future a reliable guide? " If the answer is because it happened in the past, then I prove that theory by the same principle.

In practice, science does not abandon discovery; it manages risk through statistics, probability and controlled trials, recursion, causal models, and error-assessment. The teaching of parallel philosophy: uncertainty is not the antithesis of knowledge. the measure of uncertainty can be part of knowledge itself.

4.7 Other Minds and Personal Experience

I feel my pain firsthand and know it from other people 's pain signals, words, and behaviors. This difference raises a philosophical problem for other minds. But social life does not stop for this reason. The shared biologicality of language, face, behavior, body, and continuity of evidence provide a substantial practical basis for understanding another person 's experience.

From a moral point of view, special care is required here. It 's unfair to deny the pain by saying we don 't know your pain directly. At the same time, it is not appropriate to make every self-description a universal principle without context. Listen to experience, understand context, and add independent evidence where necessary.

4.8 Social Space and the Limits of Knowledge

Someone 's social status gives them exclusive access to certain experiences and keeps them away from certain experiences. Knowledge of rural women 's daily water crises may be more nuanced than city policy experts; policy experts may have field-wide data that is beyond the experience of a single individual. Knowledge democracy is not about equalising all expertise but bringing different knowledge-spaces into dialogue.

Parallel philosophy includes the neglected swaras for this reason. This is not only a moral representation but also a cognitive requirement. Missing the experience of the group that suffers the effects of the decision can lead to missing important aspects of the facts.

4.9 Institutions and structured ignorance

Ignorance is not merely the absence of information; sometimes institutions are built in such a way that some questions go unasked. The state should keep only tax-collection data but not the social cost of displacement. companies should measure profits but not the impact of unpaid care. history should preserve only state records and not the oral

memory of working women unless what is measured may be beyond public knowledge.

The answer to this kind of structured ignorance is not imagination but source-diffusion. New questions, new records, oral histories, field-studies, vernacular sources, and physical evidence all expand the field of knowledge.

4.10 It is unknown and yet to be known.

These three words need to be kept separate. What we do not know is personal ignorance. What is not known from the available evidence today is the mass or current range. Not theoretically known are the rigorous philosophical claims of agnosticism. From the first two states, the third conclusion does not follow automatically.

Many things in history were unknown at one time or another and became known later. Also, some questions may arise where the evidence is essentially limited to minute details of ancient events whose records have been lost. The sincerity of the scholar lies in making this boundary clear, not in filling in the blanks with fiction.

4.11 Cognitive politeness

Humility is not underestimating your own knowledge. If the evidence is strong, it takes courage to make a clear conclusion. Modesty is the awareness that our conclusions are based on evidence, that we can research new information, and that our vision may be limited.

Parallel philosophy proposes four levels of language: the evidential / strongly supported, the probabilistic, and the indisputable. The explicit use of these levels can reduce false certainties in history, philosophy, and social analysis.

4.12 Premise: If knowledge is heuristic, then what is truth?

Objection: The knowledge of today may change tomorrow, so why should it be called knowledge today?

Answer: Correction is not a synonym for falsification. Maps can be improved, but old maps are not completely useless. Scientific theories are more accurate, and history is detailed from new sources. The claim to knowledge is based on the best reasons available, not on an omniscient view of the future.

Chapter Conclusion

Human knowledge is limited, but by recognizing limitations, knowledge becomes more reliable. Sense, memory, language, inference, institution, social space, and historical sources all carry both power and limitation. Parallel philosophy neither claims omniscience nor accepts dogmas. Their formula is possible to understand, but it is not possible to research; it combines philosophical humility and public responsibility.

Chapter Bibliography

David Hume — An Enquiry Concerning Human Understanding.
Edmund Gettier — "Is Justified True Belief Knowledge?"
Bimal Krishna Matilal — Perception.
Stephen H. Phillips — Epistemology in Classical India.

Timothy Williamson — Knowledge and Its Limits.

Stanford Encyclopedia of Philosophy — “Epistemology”; “Skepticism”; “A Priori Justification and Knowledge”.

Chapter 5 — The Method of Parallel Philosophy

Parallelism is not another name for opposition. Parallel roads may exist alongside a main road; sometimes main roads are useful, sometimes blocked, and sometimes they are constructed so that many settlements are inaccessible. Parallel philosophy is not a project to break the mainstream; it is a method to broaden the horizons of knowledge. It aims to add missed sources, rigorously test established arguments, communicate conventions, and not leave its conclusions free from criticism.

The need for a 5.1 system

Parallel philosophy: If only there were emotional declarations, our tradition would be great and not this philosophy. The independent philosophical method requires clear rules: how to choose a source How the opposition is presented The way in which the translation How do historical claims and original representations differ? Mithila: How to Measure Similarities and Differences Between Indian and Western Traditions. Whether the standard of proof changes when adding a social marginal note remains the same.

In this chapter, the methodology of parallel philosophy is being systematized. The entire text that follows will use this method.

5.2 First rule: Define the subject clearly

Half of the confusion in philosophical disputes arises from the ambiguity of words. The words religion, spirit, freedom, equality, modernity, nation, knowledge, each has a meaning. The meaning of the question should be clear before starting the argument.

If the definition is too narrow, exclude important examples. if it is too broad, eliminate distinctions. Therefore, the parallel method starts with a working definition, clarifies its limits, and allows the definition to be modified as the chapter progresses. The variety of forms of conceptual analysis in analytic philosophy and the use of deductive-accurate definitions in neologisms provide distinct examples of this discipline.

5.3 Second Law: Separate the Levels of Sources

The primary sources are original texts, letters, inscriptions, speeches, epigraphs, and contemporary documents.

Secondary sources include edited versions, translations, treatises, and scholarly articles.

A third source is encyclopedias, textbooks, and general summaries.

Folk-sourced oral memories, songs, stories, local records, family registers, and community traditions.

Parallel philosophy does not automatically regard folk-sources as inferior but explains their nature. Oral memory is not evidence of royal decree. nor are royal decrees an unbiased self-description. Each source

has a different question: Who made it? When is the What is the purpose of What is the mode of transmission? Differences in the text The independent confirmation of the The Silence of the

5.4 Third Law: Present the Former as Strong

It is an intellectual fraud to deliberately weaken and defeat the opposition. This is why the eastward-northward structure is important in the Indian scriptural tradition. Parallel Philosophy adopts the theory of the possible opposites: Supporters of opposing views will be able to say if they read my description that my argument is well-founded here.

The modern benefits of this rule are significant. In political and religious debates, it is easy to present the opposition as extreme and ridiculous. The discipline of philosophy resists this tendency. Criticism is valuable when it answers to real arguments.

5.5 Fourth Law: The Difference Between Argumentation and Criticism

The Nyaya tradition distinguishes between truth-seeking arguments and victory-centric arguments. True judgement of the parties ' motives in a lawsuit. victory in a lawsuit. only rebuttal of the defendant without establishing his positive opinion in the dispute. These distinctions are of immense relevance in modern public life.

In television debates, social media debates, and party debates, the question is never of truth or performance. Parallel philosophy considers arguments to be normative: clear claims, admissible evidence, defined

terms, counterarguments, and the possibility of admitting error. Recognising nuances and differences is also part of the method as not every debate is meant to produce knowledge.

5.6 Fifth Rule: The Uniform Test of Evidence

There is a soft spot for one 's favourite tradition and a hard spot for the opposite. If one wants a critical edition to date Western philosophers, one also needs sources to date medieval philosophers. If one doubts the claims of royal history, one must also examine folklore properly.

Similarity does not mean all sources are the same; it means that the weight of evidence is determined by the nature of the claim and not by emotional closeness. Extraordinary claims call for a more explicit source. If there is an uncertain source, the language of the conclusion should also be uncertain.

5.7 Sixth Law: History and philosophy are separate but interconnected

The historical question is when the text was written; the philosophical question is whether the argument is valid; and the two are different. A false date does not automatically make the correct argument false. a true date does not make the wrong argument true. But historical context is important for understanding the meaning of logic.

Parallel philosophy first reconstructs the historical situation as source-wise as possible, followed by philosophical evaluation. This order reduces the anachronism of forcing present concepts onto the past.

5.8 Seventh Law: Treat Translation as a Philosophical Problem

Writing “pramāṇa = evidence” is not always sufficient; pramāṇa has the technical sense of a means that produces knowledge. Likewise, “dharma = religion” is incomplete in many contexts: dharma may mean duty, order, virtue, teaching, religious tradition, and more. Treating “ātman,” “self,” “person,” and “subject” as synonyms can create serious confusion.

The parallel method therefore clarifies the original term 's meaning and translation limits on the first use of the technical term. Comparative philosophy looks at word-uniformity, problem-uniformity, logic-structure, and historical differences.

5.9 The Eighth Law: The Three Levels of Comparison

First, the thematic comparison: Both traditions discuss knowledge. This is the weakest of the similarities.

Second, the problem-structural comparison: scope in justice and arrival in Hume touches upon the question of the propriety of general relations to known instances of justice; but the historical language and solution are different. This is a more fruitful comparison.

Third: Logic - Dialogue: Can the logic of one tradition answer the objections of another? This is where real comparative philosophy comes in.

Parallel philosophy wants to reach the third level, but without false equivalences. Gangesh had already stated modern analytic philosophy, and triumphalist statements like these harm philosophical studies. May the historic Independence be honoured.

5.10 The Ninth Law: The Study of Both the Center and the Marginal

Core texts are available because institutions keep them safe. Knowledge of hashish can reside in oral traditions, regional languages, female songs, labor practices, local documents, or erased memory. Parallel philosophy makes a point of this absence.

However, the hysteria itself is not uniform. A community may be aggrieved in one context or dominant in another. The relationships between caste, class, gender, language, region, and religion are complex. So centre-right analysis is a test of power structures, not static moral labels.

5.11 The Tenth Law: The Interrogation of Experience and Theory

Philosophical theories can become hollow abstractions if they are entirely stripped of everyday experience. empirical theory alone without scattered details. In modern moral philosophy, the method of reflective equilibrium theory proceeds by cross-referencing specific judgments, general principles, and background knowledge. Parallel philosophy takes these broad insights as its own: theory can change both by examining examples; theory can examine examples; and new evidence can change.

But consistency is not all it takes. If the entire belief system is prejudiced, the balance within may be unfair. Therefore, external sources and opposing viewpoints, historical experience and the voices of affected communities are necessary.

5.12 Analysis and genealogical and phenomenological descriptions

No single philosophical method is sufficient for all questions. Conceptual analysis makes the words and reasoning clear. Genealogy asks how people 's values or ranks have been historically formed. Phenomenological description looks at how the experience is expressed. The science and social research gives the empirical facts. Textual criticism examines the form and content of texts.

Parallel philosophy accepts methodological pluralism, but not the method itself. The method should be chosen according to the nature of the question and the reason for the choice should be clear.

5.13 Distinction of original rendering and sources

In this work, several strands of parallel philosophy are independent philosophical propositions of the author such as multidimensional rationalism, coexistential realism, dignity-based ethics, and multicentric democracy. This claim cannot be pinned down to ancient texts. Ancient or modern sources may provide arguments or counterarguments to the motivation; the original synthesis is clearly the current formulation.

This distinction is essential to one of intellectual honesty. Since ancient philosophers actually stated our modern theories, claims like these erase historical complexity. Parallel philosophy communicates with tradition and does not make tradition its mouthpiece.

5.14 The Twelve Steps of the Method

The program of parallel philosophical studies can be put as follows:

1. Let me get the question out of the way.

2. Let 's define the key technical terms.

3. Identify the primary and secondary sources that are reliable.

4. Let 's set the historical context aside.

5. Present the original idea in its strongest form.

6. Present the principal 's objections and counterarguments.

7. Identify the type and extent of the evidence.

8. Choose from comparable Indian, Mithila, Western, or social traditions.

9. Explain the differences in terms of similarities.

10. Check for a connection to a current life or knowledge question.

11. Give independent parallel conclusions, with clear distinctions from the sources ' opinions.

12. Write down the limitations of the conclusion, the uncertainty, and the openness to future objections.

The purpose of these twelve steps is to ensure intellectual accountability rather than to mechanically mold each chapter.

5.15 The ethics of the method

Philosophy is not only logical correctness but also the morality of interpretation. Dead writers cannot give their answers, minority narratives can be easily distorted, and translations can shift the balance of power. Therefore, criticism should be fair, with citations and references, uncertainty should be clear, and the representation of overlooked tones should be careful.

Particularly in socio-political philosophy, suffering is not just an example. Discussions of caste, gender, poverty, violence, religious oppression and displacement are linked to real human experiences. Philosophical distance is necessary, not inhuman detachment.

5.16 Self-examination: Parallel Philosophy on the Criterion of Self

If parallel philosophies ask for evidence from the mainstream, ask for your own claims too. If they support pluralism, they will accept the critic 's voice. If they are reviewing authority, they will also check the authority of their authorship choice and silence. Without this introspection, parallel philosophies risk becoming the new mainstream.

This re-establishes the five basic postulates of the causal method: understand the established ideas in a strong way. look at their history.

find the missing voices. bring opposing views into direct dialogue. keep your conclusions open to revision.

Pūrvapakṣa (Prima Facie View): So many methods would kill the creativity of philosophy.

It can be said that philosophy will become only dry research by the rule of sources, definitions, proofs, precedents, translations, and historical cautions.

Uttarapakṣa (Response): Discipline is not the enemy of creativity

In music, the grammar of the raga makes possible the creation of uninterrupted or inverted nuances. Philosophical discipline prevents fiction from being presented as fact. Independent narration is more powerful when the reader knows where history ends and the author 's new argument begins.

Chapter Conclusion

The methodology of parallel philosophy is neither merely comparative philosophy, nor merely regional history, nor merely social criticism. It is the combined discipline of source-review, conceptual clarity and evidentialism, strong antecedents and polymorphism, history-truth comparison, centre-piece analysis and introspection. The aim of this method is not to create new dogmas but to create a philosophical field where Mithila and Indian, Western, social, political, and religious traditions can communicate with equal critical dignity.

Chapter Bibliography

Gautama wrote that the Nyāya-sūtra.

Vatsyayana is Nyaya-bhāṣya.

Gangesh Upadhye as Tattvacintāmaṇi.

Bimal Krishna Matilal — Logic, Language and Reality.

Jonardon Ganeri — Philosophy in Classical India.

John Rawls — A Theory of Justice.

Stanford Encyclopedia of Philosophy — "Analysis"; "Argument and Argumentation"; "Reflective Equilibrium".

Internet Encyclopedia of Philosophy — "Nyāya".

Part II — Indian Philosophy

Chapter 6 — Vedic Thought and Upanishadic Questions

It is not appropriate to read the earliest background of Indian philosophy as the history of a ready-made theory. In Vedic literature, Brahmanas, Aranyakas, and Upanishads, the rituals, deities, world-creation, speech, death, the soul, karma, knowledge, and liberation communicate with and sometimes oppose each other in multiple voices. From this plural world arises the question of later systematic philosophies.

6.1 The Rigvedic Question: Not a Definitive Story of Creation

The Rigveda contains many ideas about the origin of the universe. The famous Nasadiya Sukta questions the existence and non-existence, darkness, desire, and the origin of creation, and finally expresses extraordinary doubt as to the extent of knowledge; it also leaves open the question of whether the ultimate mystery of creation is known by the supreme observer himself.

The significance of this sukta is not that it gave a scientific theory of modern cosmology; the importance is that within the religious poetry itself there are questions about the limits of knowledge and the cause of creation. Parallel philosophy regards this skeptical tone as an important early form of Indian intellectual tradition.

6.2 The Ritual Sacrifice and the World Order

In the Vedic world, there is an important concept of seasonal order, regularity and the true cosmic order. Yajna evolved not merely as a

private religious act but as a ritual associated with social and cosmic order. Man participates in the cosmic order through the recitation of mantras, the order of utensils, charity, and the purity of time; this religious-formal imagination is highly developed in Brahmanical literature.

But it is wrong to make the later Upanishadic school of thought as simple as the text that begins the Darsanas rather than the Yajnas. The Upanishads reinterpret the sacrificial rite of passage several times as a connection between the knowledge within and the meditation or symbolism of the soul. Denial, transformation, and continuity go hand in hand.

6.3 Introverted questions from an external ritual

A major trend in Aranyaka and Upanishadic literature is to link external rituals with the structure of the body, soul, mind, speech, memory, and consciousness. The sacrificial altar can symbolize the universe or the body. the power of mantras opens up questions of speech and knowledge. the soul becomes a subject of discussion among the gods.

This is not a simple conflict of spirituality versus ritualistic practices. The relationship between karma and knowledge is complicated in many texts. In some places, jnana gives a deeper meaning to karma; in others, atmajnana is declared superior by external means.

6.4 The Upanishads are not one book: a family of dialogues

The name Upanishad is indicative of a group of texts composed over a period of time, in a range of styles and intellectual settings. The Brihadaranyaka and Chandogya are considered among the earliest major Upanishads, as they contain distinct swaras and philosophical emphases such as Katha, Ishvara, Prashna, and Mundaka. Reading this literature as a single systematic philosophy destroys the real differences.

Somewhere the soul is in deep connection with Brahman, somewhere the question of the motion after death, somewhere the primacy of life, somewhere the difference between knowledge and action, somewhere the insistence on the ineffable ultimate reality. Parallel philosophy regards the plurality of the Upanishads as philosophical resources rather than historical problems.

6.5 Ātman: The essence of our existence

Questions concerning ātman repeatedly arise at the heart of Upanishadic thought. Is the human being the body? Breath? The senses? Mind? Memory? Desire? Knowledge? Or is there a deeper self behind these changing states?

Yajnavalkya 's dialogues in the Brihadaranyaka Upanishad do not consider the soul to be an entity that can be captured by ordinary objects. This negative language suggests that it is difficult to fully integrate the soul / supreme reality into the familiar list of qualities. In this approach,

knowledge is not only a positive definition but also the removal of misidentifications.

6.6 Brahman: From the Mantra to the Ultimate Basis

The meaning of the word Brahmanandam evolves in Vedic history. In the context of the Upanishads, this world assumes the philosophical meaning of knowledge and the ultimate basis of existence, in the sense of mantras, sacred words, or ritual powers. However, not all Upanishads define Brahman in the same way.

The Chandogya teachings emphasize the fundamental unity of existence and the deep-rooted kinship of the jiva, exploring the ultimate reality of Brihadaranyaka in both positive and negative terms. The later Vedanta school interprets these statements differently, but the facts show that the Upanishadic text itself is not a finished form of later Advaita or Vishishtadvaita or Dvaita.

6.7 Uddalaka and Śvētaketu: Matter, Life, and Self-Realization

The Uddalaka-Śvētaketu Samvada of the Chandogya Upanishad is educationally significant. The guru does not merely declare the conclusion; he tries to explain the general premise behind the visual variety through examples such as clay, metals, seeds, and salts. The question of how to know more than one is a problem of knowledge organization.

This dialogue should not be taken as a prelude to modern chemistry or physics. Its aims are metaphysical and ontological. But examples and generalizations and the use of direct experience certainly show the ancient method of philosophical teaching.

6.8 Yajnavalkya and Maitreyi: Wealth, Love and Immortality

The Yajnavalkya-Maitreyi dialogue in the Brihadaranyaka Upanishad raises a profound question: can wealth grant immortality to man? The answer is in the negative. The dialogue also analyzes the structure of love as soul-specific: the beloved object is not in itself, the relationship with the soul as the beloved is presented with this logic.

This passage should not be taken as a simplistic form of modern psychological egocentricism. The background to the question is immortality, self-knowledge, and the ultimate value of existence. However, this dialogue opens up ethical-psychological questions about what humans want.

6.9 Gargi: Limits to questions and fearlessness

At Brihadaranyaka 's Janaka Sabha, Gargi Vachaknavi continually questions Yajnavalkya on the ultimate basis of the world, as if he himself were a coward. The questions take the causal chain to an even deeper level.

The historical significance of this dialogue lies not only in the symbolic mention of a female philosopher. He raises the fundamental questions of

Brahmavidya in public discourse. However, not all of the gender equality of ancient societies can be proved from a single example. Parallel philosophy distinguishes between representative examples and broader social structures.

6.10 Nachiketa: The Question of Death

In the Katha Upanishad, Nachiketa asks Yama, the god of death, about the state of humans after death, leaving a tantalizing proposition of wealth, longevity, and happiness. The story takes the form of philosophical choices between love and longing, permanent and transient, and self-realization and subjectivity.

The relationship between the body, senses, mind, intellect and soul in the ratha rupaka is represented by a disciplinary model. Comparisons with the structure of later Samkhya-yoga are possible, but to call the Katha Upanishad a fully developed Samkhya text would be anachronistic.

6.11 The Kenopanishad: The Irony of Knowledge

The Kenopanishad asks about whose motivations he thinks. Who is the speaker of the speech? The key behind the sight of the eye Uttara describes the supreme element as being difficult to grasp like a simple object. He who thinks he knows perfectly may not. He who knows the limits of his knowledge is nearer.

This self-contradiction is not a glorification of ignorance. The question is how the knower becomes the object of knowledge itself. Is it possible to

completely objectify consciousness as an external thing? This question has survived into modern philosophy of mind.

6.12 The Evolved Notions of Karma and Rebirth

The Upanishadic literature shows the development of karma from an external ritualistic meaning to a broader theory of moral-life consequences. The relationship between karma, jnana, and desire and the afterlife takes many forms. Not all texts contain the same universally accepted sutras.

Later Indian philosophies systematized the karma-theory on separate metaphysical grounds: Buddhist animism and Jainism, the just soul and Vedantic atmabrahma relationship. Therefore, the Indian theory of karma would eliminate many of the different theories we have written about in the text.

6.13 Knowledge and Liberation

An important change in the Upanishads is that knowledge assumes a decisive importance in the path to liberation. Remember not to memorize facts here. a transformative realization of the true basis of your existence. However, the relationship between knowledge, meditation, restraint, karma, and lifestyle changes according to the text.

The purpose of philosophy here is clearly existential. The question is not merely whether the statement is true; it is also how knowing the truth changes the meaning of life and death.

6.14 The Upanishads and the Logic

The Upanishads are not modern formal philosophical texts, but the early structure of logic is evident in their dialogues: questions and examples, refutations and counter-arguments, examination of experience, and public scholarly assemblies. The assemblies of Janaka particularly show the public contestation and testing of knowledge.

It is not without historical merit to ascribe the later jurisprudence directly to these dialogues; however, the long background of quizzing and reasoning is evident in the Indian intellectual tradition.

6.15 References to Mithila / Videha

The dialogue between the Videha king Janaka and Yajnavalkya in the Brihadaranyaka Upanishad is of particular importance to this text 's broader Mithila-centric project. However, the geography of ancient India, modern political boundaries, and current Maithili identity are not to be equated without a historical intermediate stage.

In this chapter, the Videha appears only as a source-specific historical reference; further independent sections will consider more carefully the historical connection between the Videha, Mithila, and the Shastartha tradition.

6.16 Purvapaksha: Are the Upanishads only spiritual poems?

Objection: The Upanishads are difficult to accept as rigorous philosophy because of their allegorical and mystical language. Clear definitions and formal arguments are missing in many places.

Uttarapakṣa (Response): Forms of philosophy are not just formulaic arguments. The Upanishads systematically question the limits of existence, knowledge, the self, death, reason, value, and language; they develop arguments through dialogue and example. However, it is also wrong to make every poetic sentence a complete metaphysical theory. Philosophical reconstruction must respect the literary nature of the sources.

6.17 The text of the Parallel Philosophy

Parallel to the Vedic-Upanishadic world, philosophy accepts four basic teachings. First, doubts and questions are also possible within a religious tradition. Secondly, the meaning of external rituals may be reinterpreted by internal experience. Third, multiple answers can coexist in the same tradition. Fourth, acknowledging the limits of knowledge and not abandoning it leads to deeper questions.

Chapter Conclusion

Vedic and Upanishadic thought is the great laboratory of questions rather than the linear starting-point of Indian philosophy. Many swaras on creation, seasons, sacrifices, soul, Brahman, karma, death, knowledge, and liberation prepare the Samasya-samsara for later discourses. Parallel philosophies make these materials neither uniform metaphysical truths nor precursors to modern science. they center on the plurality of sources, historical development, and logical questionability.

Chapter Bibliography

<unk>gveda <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk>
<unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk>
<unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk>
<unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk>
<unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk>
<unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk>
<unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk>

<unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk>

Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad.

Chāndogya Upaniṣad.

Kaṭha Upaniṣad.

Kena Upaniṣad.

Patrick Olivelle — The Early Upaniṣads; Upaniṣads.

Stephanie W. Jamison and Joel P. Brereton — The Rigveda: The Earliest Religious Poetry of India.

Stanford Encyclopedia of Philosophy — "Ancient Conceptions of Analysis"; "Personhood in Classical Indian Philosophy".

Chapter 7 — Sāṃkhya

Samkhya is one of the most influential metaphysical systems in Indian philosophy. Its fundamental problem is how to understand the relationship between conscious experience and the changing world. Samkhya answers this question through two primordial elements: Purusha, the pure consciousness; and Prakriti, the transforming primordial nature. Salvation is possible when men know themselves to be different from the vices of nature.

7.1 Statistical methods and methods of calculation

The term enumeration is often linked to counting or listing of elements. Tradition regards Kapila as the first acharya, but no undisputed original text of his exists. The principal available basis for classical Samkhya is the Samkhya Karika of Ishvara Krishna. Its prehistory is traced to the diverse schools of thought in the Mahabharata, the Upanishads, and other ancient literature; however, it is not appropriate to ascribe the later systematic system to all earlier references.

This historical caution is necessary because the names of these texts may indicate different forms of thought-structures at different times.

The Beginning of the Year 7.2

The Sankhyakarika philosophy links curiosity with the threefold experience of suffering: spiritual / personal, extra-physical, and the traditional classification of suffering as arising from divine or indirect

causes. Simple measures can alleviate suffering temporarily.The goal of Samkhya is to find permanent liberation by understanding the epistemic cause of primordial bondage.

In this sense, Samkhya metaphysics is not just a map of the universe. The answer to the question of what the world is made of ultimately serves the question of how liberation from suffering occurs.

7.3 Nature: The Basic Variable Basis

Prakriti is the unmanifest, eternal and threefold essence. He is not conscious but is thought to be the cause of all mental and physical development in the world. The characteristic of Samkhya is that intellect, ego, and attitude are also developments of nature. the psyche itself is not pure consciousness.

On this point, Samkhya differs from modern generational dualism. This is not a simple division of human resources into those on one side and those on the other. The mind, the intellect, the ego, the senses, the subtle elements and the gross elements are all in the realm of nature. Purusha is only pure consciousness.

The Three Qualities 7.4

Sattva, Rajas, and Tamas are the three gunas of nature. It is wrong to think of virtue as a class of ordinary moral goods. Sattva is defined as lightness, clarity, lightness and balance, vigor and effort, desire and restlessness, inertia and obstruction, heaviness and ignorance. Each

natural state is thought to be the result of a different ratio of these properties.

Sankhya 's distinctive philosophical boldness lies in his attempt to understand mental character, experience, and material transformation within a single theory of qualities. Modern psychology or physics, however, requires independent evidence to support these properties as measurable scientific variables. Classical concepts and modern scientific models are objects of a different order.

The Twenty-Five Elements 7.5

Classical Samkhya presents a structure of twenty-five elements. From Prakriti is described the development of Mahat or intelligence; from Buddhi, ego; from Aham, mind, sense organs, karmendriyas, and tanmatras; and from them, the development of the gross Mahabhuta. Purusha as the twenty-fifth element is entirely different from Prakriti.

This evolution is not a modern biological evolution. It is the metaphysical consequence of which basic principles give rise to different kinds of reality. This distinction should be clear when using the modern term evolution.

7.6 The intellect, the ego, and the mind

The introspection of the Samkhya is very subtle. The intellect is the centre of decision-making and rational capacity. the ego is the centre of the formation of emotions. the mind is the centre of coordination of sense-

information and of will-formation. They appear to be conscious, but according to Samkhya, are essentially microcosmic manifestations of the unconscious nature. It is released from the anus due to male proximity.

This analysis raises the difficult question of how knowledge is experienced when the intellect itself is unconscious. Samkhya would reply that the mental structure reflected the consciousness of a male; rival traditions objected to this relationship as ambiguous.

7.7 The Male: The Pure Consciousness

Man is not the body, nor the mind, nor the intellect, nor the ego. He is the Nirvaya, the passive, and immanent seer. Happiness and sorrow occur in the intellect of nature, but due to ignorance, a man considers himself as one with that state. Liberation is the end of this false identity.

Samkhya is believed by many people. If there were only one universal Purusha, then the problems of one 's birth, death, knowledge, ignorance, and happiness and sorrow would be applicable to all individuals simultaneously. The diversity of personal experience is used in many men 's arguments.

7.8 The question of the plurality of men

Many men try to explain the differences in individual consciousnesses by assumptions, but difficulties also arise. If all men are but pure consciousness without qualities, how is one man different from another?

The mark of difference is in the natural body-mind and not in the man himself.

These are serious internal philosophical problems of Samkhya. Tradition attempts to prove multiplicity by distinguishing individual karma-bodies and experiences; however, opponents may ask how to find the numerical difference of elements without properties.

7.9 Philanthropy

Positive causality posits that causation is probabilistic or implicitly pre-existing in its cause, and new entities do not arise from absolute nothingness. The milk curdles and the seed tree. the cause must have efficacy.

Statisticians offer several arguments in favor of this view: that reality does not arise from non-existence; that not every cause produces actions; that particular causes have the potential for specific actions; and that actions are related to the nature of causes. Actual transformation of the cause according to consequentialism.

The primitivism of the Nyaya-Vaisheshikas presents a counterpoint to this view. This debate illustrates the deep plurality of the subject of causality in Indian philosophy.

7.10 The male-nature relationship

In the famous metaphor of Samkhya, both the blind and the lame cooperate with each other; one can walk but cannot see; the other can

see but cannot move. Prakriti is active but unconscious.Purusha is conscious but inactive. The combination of the two makes possible a world of experience.

The metaphor is useful, but does not end the question. How do two completely different, eternal elements really connect? If men do nothing, why does nature evolve for its own sake? While Samkhya acknowledges the tendency of men in nature to work for pleasure and pleasure, this teleological framework has been the subject of criticism.

The Question of God 7.11

Classical statisticians would not make the Creator God an essential element of the system. For this reason, Sankhya is often called an atheist. However, the modern meaning of the term atheistic should be used with caution. The question is primarily whether a creator cause other than nature and man is philosophically necessary for world-explanation.

It would be anachronistic to attribute the socio-historical meaning of Western modern atheism directly to Samkhya.

7.12 Knowledge and Liberation

The means to liberation is the decisive discernment of conscience, man, and nature. In ignorance, we are miserable; we are doers, and like happy children, identity is born. In the conscience, it is understood that the changing mental-physical state is distinct from the pure seer of nature, Purusha.

Kaivalya does not mean the destruction of nature. The illusion of identity is shattered when nature ceases to have a purpose for the specific male. As a form, the dancer leaves the stage after finishing the dance for the audience to retire once nature has shown its form.

7.13 Samkhya and Yoga

The metaphysical framework of Yoga Samkhya broadly shares the principles of Purusha, Prakriti, Gunas, mental structure, and Vivekas and Kaivalyas. However, yoga practice develops systematic methods of meditation, self-discipline, and mindfulness. For this reason, both are often referred to as Sankhya-Yoga, but not as one philosophy altogether.

Samkhya primarily provides the framework for rational philosophy; yoga adds extensive tools of psycho-discipline.

7.14 Modern Consciousness - Dialogue with Philosophy

Samkhya distinguishes between consciousness and mental states in a way that provides an interesting comparison for modern philosophy of mind. Thoughts, memories, desires, and egos are mental processes that cannot be explained by pure consciousness, claims can open a dialogue with modern questions of phenomenological consciousness and self-model subjectivity.

But to call the number man the consciousness module or quantum entity of modern neuroscience would be unfounded. Parallel philosophy compares and does not create pseudoscientific confirmation.

7.15 Preface: The Passive Consciousness How the Experientialistic?

Objection: If men are wholly inactive, idle, and without virtue, how can experience be related to them? Change in experience is memory and order. it all happens in nature 's intelligence. Then why do men need to be considered free?

Uttarapakṣa (Response): Samkhya states that the inborn nature is not self-manifested; conscious witness is necessary to explain the presence of experience. The intellect transforms the content of experience: man is the condition of his light. But this answer does not completely eliminate the problem of relativity; herein lies both the philosophical strength and the difficulty of Samkhya.

7.16 The text of the Parallel Philosophy

Parallel to Samkhya, philosophy takes three major methodological approaches. First, separate out the experimenter and the experience content. Secondly, analyze the complex world in a hierarchical causal structure. Third, while accepting the strong insight of a philosophical system, the difficult question of man-nature relations and polyandry should not be confused with teleology.

Chapter Conclusion

Samkhya presents a well-organized answer to consciousness, causality and suffering in Indian philosophy through the duality of Prakriti and Purusha, the threefold principle, the twenty-five elements, righteousness and liberation of conscience. It is not a modern science but a serious philosophical opposition on the relationship between consciousness and the world. Parallelism honors their historical independence, makes useful comparisons, and leaves difficult objections open.

Chapter Bibliography

Ishvara Krsna said that Sāṅkhya-kārikā.

Vachaspati Mishra, Tattvakaumudī.

Gerald James Larson — Classical Sāṃkhya: An Interpretation of Its History and Meaning.

Gerald James Larson and Ram Shankar Bhattacharya (eds.) — Sāṃkhya: A Dualist Tradition in Indian Philosophy.

Internet Encyclopedia of Philosophy — "Hindu Philosophy", Sāṅkhya section.

Stanford Encyclopedia of Philosophy — "Naturalism in Classical Indian Philosophy"; "Personhood in Classical Indian Philosophy".

Chapter 8 — Yoga

Yoga is often presented in the modern world as a form of posture, physical flexibility, or wellness practice. This usage is not without significance, but the philosophical scope of Patanjali 's yoga philosophy is quite broad. Yoga embodies a systematic approach to the mind, to the causes of suffering, to moral discipline, to meditation, to knowledge, to action, to samadhi and to Kaivalya. The fundamental question is whether the individual can be established as an independent conscious witness by observing and identifying with his own mental flow.

8.1 The Yoga Sutras: Text and Tradition

The Yoga Sutras are the eponymous treatise of Patanjali, arranged in four parts: Samadhi, Sadhana, Vibhuti, and Kaivalya. Scholars differ on the authorship and editing history of the text; therefore, undue reliance on definite dates is not justified. The Vyasabhashya is one of the earliest available comprehensive interpretations of the Yoga Sutras and occupies a central place in the understanding of later yoga traditions.

Yoga did not start with Patanjali. The prehistory of meditation, asceticism, and yoga-like practices is found in the Mahabharata, the Upanishads, and numerous Śramaṇa-traditions. Patanjali 's importance lies in systematising these diverse practices into a philosophical-methodical framework.

8.2 Meaning of the term antipsychotic drugs

The famous sutra of Yoga Sutras defines yoga as the cessation of mental activities. It would be wrong to think of prohibition as simply forcing people to destroy ideas. Yoga aims to bring mental processes to a disciplined state where consciousness is not confused with its subjective transformations.

The mind is a part of nature.Purusha is the pure conscious witness. When the instinct of the mind is in turmoil, it is as if the man has assumed the colour of that instinct. This illusion of identity is broken through discernment and samadhi. The liberation theory of yoga is closely related to this Samkhya-based metaphysics.

8.3 The Five Professions

The Yoga Sutras discuss the five habits of choice, sleep, and memory. This classification does not mean that all professions are equally bad. Attitudes can be complex or rigid, meaning they promote attachment or help towards liberation.

These subtleties must be saved from the popular interpretation of modern mind emptying. Yoga does not regard knowledge and memory and perception as mere enemies; the question is whether mental activity is driven by ignorance, attachment and suffering, or by reason.

8.4 Proofreading of the sum

Yoga accepts three Pramanas, namely Pradakshina, Anumana, and Agama or Pramanik Vachanas. At this point yoga is closer to Samkhya

than to Nyaya which accepts the four Pramanas. Yoga philosophy does not aim at theoretical knowledge alone; however, sadhana cannot be based on false knowledge.

This fact is important: the tradition of meditation itself considers the validity of knowledge. Just because we have experienced it does not automatically make every spiritual claim a public truth. Personal experience, conjecture and empirical tradition all have their limits.

8.5 Practice and detachment

Abhyasa and Vairagya were said to be the two principal means of stabilising the mind. Practice is continuous and long-term discipline or loss of desire for the object of detachment. There is a profound psychological insight into this duality: willpower alone is not enough; repetition is required to change habits, and the structure of the addiction must also change for the consequences of repetition to be permanent.

However, the term modern psychology should not be directly applied to yoga. Similarity can be a useful comparison, not a historical identification.

8.6 Tribulation: The Mental Structure of Suffering

Avidya is considered as one of the five kleshas, along with asmita, raga, dushtam, and abhivesha. Avidya is the basic illusion. Asmita is the identity of the seer and the means of seeing. Raga is the attraction to

pleasurable experiences. Nudity is the repulsion to painful experiences. Abhinaya is the fear of clinging to life or the fear of death.

In this analysis, ethics and psychology are not separate. Affliction is not merely a feeling; it causes actions, choices, habits, and again, suffering. Yoga relates human suffering not only to external events but also to the internal structure of experience.

8.7 The Eightfold Yoga

Patanjali 's Ashtanga Yoga is a combination of Asanas, Pranayama, Pratyahara, Dhyana, Dhyana, and Samadhi. The Asana is only the third limb in the sequence. The role of asanas in the history of modern yoga has been extremely broad, but within classical yoga philosophy their purpose is to provide meditative stability to the body.

Yama is violence, truth, non-violence, celibacy and non-violence, and social-political restraint. Niyama is the personal discipline of cleanliness, contentment, austerity, self-discipline and godliness. Without this foundation, the higher states of meditation would have to reverse the classical structure of yoga 's entire meaning.

8.8 Non-Violence and Ethics

Ahimsa is the first yama of yoga. Truth is also important, but truth-telling in yoga ethics is not entirely devoid of nonviolence. Moral discipline is not just about following societal norms; it is also a means to reduce

mental distress, break attachments, and create a life worthy of meditation.

Parallel philosophy adds a question here: Is individual non-violence enough or should structural violence even be tested? If caste, hunger, gender discrimination or environmental destruction produce institutionalised suffering, individual peace alone is no substitute for social morality.

8.9 From withdrawal to samadhi

Pratyahara is the disciplined withdrawal from the subject of the senses. dharana is the fixation of the mind on a point. dhyana is the continuation of that flow. samadhi is the deepening of meditation where the relationship between the subject and consciousness is transformed. The Yoga Sutras discuss different types of samadhi and the known-unknown state.

Independent experimental evidence is needed to declare these states to be brain-systems typical of modern neuroscience. Philosophical texts describe the structure of experience.Scientific identification is a subject of separate research.

The Power of God 8.10

Yoga accepts the particular concept of Ishvara while remaining close to Samkhya. Patanjali 's Ishvara is a special Purusha, unrelated to Karmas and Vipakas. This concept is not the same as every other religious belief

in a creator god. Ishvarapranidhana may be an important method of practice, but the Yoga Sutras also discuss several paths.

Therefore, to regard yoga either as a copy of the complete atheistic Samkhya or as a direct form of modern bhakti-dharma is both a simplification.

8.11 Siddhi and Vibhuti

The Vibhutipada of the Yoga Sutras discusses extraordinary abilities that arise from meditation-restraint. For modern texts, this section calls for special care. Traditional texts themselves do not consider many siddhis to be final liberation; they may become a source of attachment for the practitioner.

Parallel philosophy separates the historical claims from the modern claims. The treatise describes the siddhis as having proven their ability on modern experimental criteria, a separate claim requiring independent proof.

8.12 Kaivalya

The ultimate goal of yoga is the rational separation of the Kaivalya from the individual nature. This is not only a social freedom of the self but a metaphysical freedom. The qualitative flow of the mind returns to its cause and the man is understood to be in his pure seer-form.

This goal is not to be confused with Buddhist nirvana or Advaita Brahmajnana or Jain Kevala Jnana. The metaphysical basis for the term

" Indian liberation traditions, " even if translated as liberation, is different.

8.13 Yoga and modern mental health

Some modern forms of meditation, breathing exercises, and physical yoga are subjects of health-related research. However, every philosophical claim of classical yoga is substantiated by modern medicine and cannot be concluded. On the contrary, the question of modern medical benefits should be answered by controlled studies and not by scientific eminence alone.

Parallel philosophy holds both to respect for tradition and to modern standards of proof.

8.14 Preface: Is Yoga an Escapism?

Objection: If the solution to suffering is a change of mind, then the structure of unjust society will be left untouched. Attention alone will not make the problems of the hungry, oppressed, or displaced persons go away.

Uttarapakṣa (Response): Classical yoga presents a primarily individualistic discipline of liberation; it should not be confused with modern social justice theory. But self-discipline, nonviolence, control of greed, and meditation can become forces for moral action. Parallel philosophy here links the internal discipline of yoga with social

justice, institutional responsibility, and the analysis of material circumstances without making one a substitute for the other.

8.15 The text of the Parallel Philosophy

Four lessons can be drawn from yoga: do not take mental processes for granted; practice is incomplete without thoughtful transformation; moral discipline is linked to cognitive discipline; and self-control does not replace social responsibility. There need not be an artificial opposition between individual liberty and public justice.

Chapter Conclusion

Yoga is a much broader philosophy than physical exercise. The mind, vritti, pramana, klesha, abhyasa, vairagya, ashtanga, sadhana, samadhi, Ishvarapranidhana, and Kaivalya together form a complex psycho-philosophical system. Parallel philosophy acknowledges yoga 's power of self-discipline and experience-examination, while at the same time preventing personal tranquility from becoming a cover for social injustice.

Chapter Bibliography

According to Patanjali, the Yoga-sūtra.
Vyasa, the author of Yoga-bhāṣya.p.
Edwin F. Bryant — The Yoga Sūtras of Patañjali.
Gerald James Larson and Ram Shankar Bhattacharya (eds.) — Yoga: India’s Philosophy of Meditation.
Internet Encyclopedia of Philosophy — “The Yoga Sutras of Patanjali”.
Stanford Encyclopedia of Philosophy — “The Concept of Emotion in Classical Indian Philosophy”.

Chapter 9 — Nyāya

Nyaya philosophy is a highly developed tradition of logic, proof, argumentation, and realism in Indian intellectual history. Justice does not mean mere formal argument; it is the name of the whole discipline of proper inquiry, evidentiary judgment, and reasoned argument. The introduction to the Nyaya Sutras alludes to this broader project of discussing knowledge-sources, objects of knowledge, objects of doubt, examples, theories, arguments, judgments, arguments, debates, and debates.

9.1 The Nyaya Sutras and the Parampara

The Nyaya Sutras are attributed to Gautama or Akshapada Gautama, but the date of composition is disputed among scholars. Vatsyayana 's Nyaya Bhashya became the main explanatory foundation of the early Nyaya tradition. The Udyotakas, Vachaspati Mishra, Udayana, Gangesha, and later Navya-Nyayikas developed this tradition in different phases.

Its history shows that it is not a stable system of justice. The early Nyaya presents a comprehensive metaphysics with evidence and arguments; the medieval Nyaya is more subtle in its dialogue with Buddhist, Mīmāṃsā, and Vedantic counterparts; the Neo-Nyaya with Ganges 's Tattvacintamani gives new rigor to analytic language and empiricism.

9.2 Sixteen Substances: The Agenda of the Philosophy

It would be a mistake to consider the sixteen topics of the Nyaya Sutras as mere mnemonic lists. This shows the sequence of the investigations. Knowledge by evidence.Theorems that are objects of knowledge.Doubt The need for investigation.Purpose the motivation of research.Samajjhana common examples of rules.Principles accepted foundations.Components structure of reasoning.Reason supporting ideas.Decision evidence-accepted conclusions.Advocacy truth-oriented dialogue.Julp victory-oriented debate.Vidanda mere opposition-refutation.Head-on confusion-causing-meaning-distortion.Jatis unjustified counterargument.Restraint is the basis of defeat in a dispute.

Epistemology, logic, and communication are not mutually exclusive on this list. Truth is not merely a private experience; it is also the discipline of public reason.

9.3 The Four Evidences

Justice accepts four main lines of evidence: direct inference, analogy, and wording. These are not four pieces of evidence but four types of reliable processes that produce true knowledge.

Analyzes the knowledge produced by the direct senses or the appropriate direct-sensitive senses. Justice does not accept the simplistic view that perception is truth; questions of illusion, sense-defect, ambiguity and conceptual determinism are long debated.

Inference is the knowledge of unknown conclusions from known signs. Dhoom se Agni is a well-known example, but the real philosophical emphasis is on the question of the appropriateness or extent of Dhoom-Agni. Just looking at two events together does not prove a universal relationship. Exceptions are examined in the title and opposite examples.

Metaphors play a role in word-object relations or knowledge of unfamiliar objects through familiar similarities. The words raise a question of knowledge from the statement of the trusted speaker. Of these four, many of the knowledge-processes of modern life are comparatively understandable; however, it is not appropriate to merge modern scientific methods directly into the canon.

9.4 Direct: The Experience and the Concept

In the Nyaya tradition, wide differences of opinion developed over the nature of perception. The earliest sutra-bhashya traditions raise questions of sense-meaning approximation, non-duality, and definite knowledge. Subsequent judgments discuss the distinction between objective and non-objective perceptions: at the first level, it is the undivided presence of the object; at the second level, it is the indigo pot; and at the third level, it is categorical knowledge.

The modern relevance of this critique is whether seeing is always entirely without language, structured by concepts. Jurisprudence does not provide a single answer to this question, but experience and judgment provide powerful tools for distinguishing between the levels.

9.5 Estimates and coverage

The aspects of inference are the basic elements of the means and the motive. There is fire on the mountain because of the smoke, and fire on the mountain side because of the smoke. But the cause is valid only if it has a reliable scope with the means and the cause is present in the present case.

The sequence of Upanaya and Nigama, examples of vows in a judicial Panchavibhavi performance, is well known. It is incorrect to call it a direct Indian form of Aristotelian syllogism. its communicative and evidential purposes have a different historical context. Examples serve as a basis for commonly accepted rules, not just conventions.

The problem of scope-knowledge becomes extremely subtle in later jurisprudence and neologisms. How to Become Indestructible with Limited Examples How to remove the possibility of an exception Justice arises from this question and communicates the universal philosophical problem of causality and law-knowledge.

9.6 Hetvabhasa: The Illusion of Reason

Judgment analyzes not only valid arguments but also wrong argument structures. If the cause is unprovable, gives contradictory results, is uncertain, or has other defects, prejudice arises. Different jurisprudence treatises classify haṭvabhāsa with different nuances.

The basic lesson for parallel philosophy is not to memorize names but to examine the relevance of causes. This is the reason why this conclusion

is drawn when the question of causation is actually in favor. It is related to the Sadhya. An example of the opposite is The reason itself is not clear.

9.7 Word Proof and Reliable Speakers

Most of human knowledge is acquired in a social way. This fact makes the term justice philosophically important, considering it independent evidence. Traditionally, a trustworthy speaker who knows the facts and wants to tell the truth can give insight into the author 's statement.

In the modern world, a speaker may be not only a person but also scientific institutions, archives, courts, news agencies, digital platforms and expert communities. However, in the modern expansion of judicial insights, additional questions must be added such as transparency, peer review, conflict of interest, independent confirmation, reform-processing and data availability.

9.8 Doubt and Reason and Judgment

Justice does not make doubt a permanent state of mind. Suspicion is the motivation for the investigation. Arguments are not independent proofs, but helpful ideas to remove inconsistent probabilities and clear the way for proofs. Judgment when a finding has been established by sufficient evidence after cross-examination of the opposing side.

The method of judging here differs from that of universalism. Not every piece of knowledge is held up to endless proofs. Common-sense procedures work, and special tests are done when problems arise.

9.9 pm: Jalpa and Vitanda

Vaada is the ideal of truth-seeking dialogue. The parties give reasons and respond to the defendant 's substantive objections within the framework of common evidence and principles. In jalpa, the goal may be more victory than truth; in vitanda, one merely tries to destroy the opponent without establishing one 's positive opinion.

This distinction is extremely useful in today 's public discourse. A discussion may seem superficial and produce little knowledge if the participant 's success is only to embarrass the opponent, change the subject, or create an impossible proof-measure. Parallel philosophy adopts the moral discipline of the orator.

9.10 Justified Realism

Nyaya gives realistic representations of many entities, such as the external world, the permanent soul, matter, qualities, and the general. Knowledge in general can capture the substance of the world.Belief is an exceptional failure of the actual knowledge-process.The existence of the illusion does not by itself prove the whole world to be unreal.

Buddhist transcendentalism, along with ontology and conceptual nominalism, are among the most profound debates in Indian philosophy. To treat this debate as merely theistic versus atheistic would be to destroy the philosophical content; the real question is of the soul and the universe, of reason and language, and of the structure of knowledge.

9.11 Misery and Discrimination

Justice is not merely a school of reason; the ultimate goal is concerned with the question of suffering or deprivation. False knowledge is believed to be related to the cycle of birth and suffering. True knowledge helps in the cessation of this cycle. Here reason takes the form of a means to spiritual liberation.

This fact is important for modern readings: to speak of justice merely as a means of Indian logic is to lose half its life-view.

9.12 The Question of the Gods

There is interpretive controversy over the theistic nature of the early Nyaya sutras; the later Nyaya, particularly the Udayanadi Acharyas, develop systematic arguments in favour of the existence of God. It would therefore be a simplification to say that Nyaya was always a theistic philosophy of the same form. It is necessary to set aside historical phases.

This example reinforces the principle of parallel philosophies: do not read post-traditional mature opinions backwards into their initial text.

9.13 The direction of the new judge

Gangesh Upadhyaya 's Tattvacintamani gives Pramanimamsa the nuanced analytical language that influenced Mithila, the Navadvipa, and the wider Indian scholarly world. Neorealism develops technical languages to analyze questions such as relationships, deduction, subjectivity, causality, and the nature of knowledge.

This chapter does not discuss the full scope of neoconservatives; the following section will discuss them separately. It is only significant here that the evidence-centric discipline of jurisprudence did not remain static but developed more nuanced tools over time.

9.14 PrevParty: Is justice a highly technical regard

Objection: Philosophy, if it depends so much on difference and logic, can escape from the fundamental questions of life.

Uttarapakṣa (Response): Technical language is a means of reducing ambiguity that is not possible. Criticism is appropriate if the nuanced term becomes merely a show of scholarship; however, conceptual nuance is essential when multiple meanings of the same word provoke controversy. The judicial ideal is the transparency of reason, not the worship of technicalities.

9.15 The text of the Parallel Philosophy

Parallel to justice, philosophy adopts five basic disciplines: examine if in doubt. elucidate the evidence for a claim. present the opposition forcefully. find fault with the reason. and maintain sound judgment without aiming to win the argument. At the same time, this tradition can be extended to new areas by adding modern source-review and scientific methods and social entity-analysis.

Chapter Conclusion

Philosophy of justice is much broader than logic. Proof, directness, inference, analogy, semantics, logic, judgment, rationality, and liberation are all part of the same epistemological project. The methodological backbone of parallel philosophy is linked to justice in

that justice urges questions to be answered with reasons that can be tested publicly, not just opinions.

Chapter Bibliography

Gautama wrote that the Nyāya-sūtra.
Vatsyayana is Nyaya-bhāṣya.
Udayanacharya of Nyāyakusumāñjali.
Gangesh Upadhye as Tattvacintāmaṇi.
Bimal Krishna Matilal — Logic, Language and Reality; Perception.
Stephen H. Phillips — Epistemology in Classical India.
Jonardon Ganeri — Philosophy in Classical India.
Internet Encyclopedia of Philosophy — “Nyāya”.

Chapter 10 — Vaiśeṣika

The peculiarity of Vaisheshika is that he does not confine philosophy to the question of liberation or enlightenment, but dares to systematically classify the world into whatever kinds of entities are perceived. For this reason, Vaisheshika is a very important realist tradition in Indian metaphysics. Its core questions are why materialism is made up of basic types of objects, qualities, actions, and relationships, and how to understand permanence in the midst of change.

10.1 Kanada and Vaisheshika Sutras

The Vaisheshika Sūtra is traditionally associated with the name of Kanada, but the dating of the text is disputed. Because of the long edit-history of the available text, it is not appropriate to consider its ideas as being of the same moment. In the early Vaisheshikas, the substance, quality, and karma take on a special significance; later commentators take the systematic form of a list of six substances, including ksha and samasya, common to the prasadapada tradition. The later Nyaya-Vaisheshika tradition also develops a tendency to accept scarcity as an independent substance.

This evolution leads to a methodological lesson: philosophical classification is not a static lexicon but a conceptual framework evolving under the pressure of problems.

10.2 Matter: The Basis of Properties and Action

Vaisheshika considers nine types of matter: earth, water, fire, air, space, time, direction, country, soul, and mind. In this list, the physical elements, space-time, conscious soul and subtle mind fall under the same metaphysical category śramaṇa, because matter can be a host of qualities and karmas, and some types of actions have a common cause.

This list is not an alphabetical list of modern sciences. Earthworms are a category of metaphysical entities, similar to modern chemical substances. Parallel philosophy makes this distinction clear when making comparisons.

10.3 Atomism

Vaisheshika 's famous contribution is the atomistic natural philosophy. The atoms of earth, water, and air are thought to be indivisible and eternal. visible physical objects are created and destroyed by the combination of atoms. The soul and mind are not thought to be made up of physical atoms in the sense that the sky is time.

To say that this atomism is the precursor of modern nuclear science would be attractive but misleading. Modern atomic experiments are the result of mathematical physics and empirical observation.Vaisheshika atomism is a system of metaphysical and logical inference. However, both can be put into dialogue as both scenes raise the question of the microstructure behind complex objects. Problem-structural comparisons, not historical parallels, are appropriate.

10.4 Virtue and Karma

The quality depends on the substance, but not on the substance itself. Many qualities such as form, taste, smell, touch, number, magnitude, separation, association, division, intelligence, happiness, sorrow, desire, hatred, and effort were analyzed in the Vaisheshika-Nyaya tradition. Karma is the range of motion or range of action.

The philosophical significance of this distinction is that the three questions of what a thing is and what a thing possesses and what a thing does are not the same. The language often tends to confuse these levels. For example, the relationship between red and yellow objects is not the same entity. walking and moving objects also require analysis.

10.5 General and special cases

Common is the basis by which several individual things are identified as belonging to the same species or variety. Examples are given in the tradition as singing within many cows, singing within many components. Special is a concept used to describe the ultimate differences between particular substances.

Here Vaisheshika raises the problem of universality and individuality. Whether the commonality of things is merely a classification of our mind or whether there is also a common element in reality. In modern metaphysics it is possible to compare universals with the disputes over properties and particulars, but it is necessary to set aside the historical meaning of the terms.

10.6 Consensus: The Problem of the Unbreakable Relationship

Composition is a very specific concept in rhetoric. Virtue and substance, element and non-element, the ordinary and the individual, etc., are relations which are not ordinary external coincidences. The same relation between fabrics and fibres and their properties cannot be said to hold only in relation to two independent things. Consanguinity gives a metaphysical place to this inextricable link.

But here arises the famous difficulty: if a concordance is required to connect the qualities with the substance, how can the concord be connected with the substance itself? Is there a need for a second agreement? The traditional North regards kinship as a distinct, continuous, and self-reliant relationship. This has been called into question by rival traditions.

10.7 Absence: The Existence of Absence

Subsequent ideas of justiciability developed into detailed analyses of deprivation. There is no book on the table: knowledge of the same sentence is not only knowledge of the table and the book, but also knowledge of the absence of the book. Is absence merely a linguistic negation; is there an objective basis for it? Nyaya-Vaisheshika makes this question a serious metaphysical one.

The modern significance of this discussion is clear. Data-analysis, juridical evidence, nothing found in medicine and history, when does evidence itself become evidence? Evidence of absence is stronger when

the object not being present was expected to be found at a proper checkup. Thus ancient criticism opens up useful dialogues with modern empiricism.

10.8 Causality: A different path from Samkhya

According to Samkhya positivism, karma presupposes a priori causation. The Vaisheshika-Nyaya tradition generally takes the direction of primitivism or non-functionalism: karma does not exist in that karma form before creation; new karma arises from cause-composition.

In the example of formation from clay, Samkhya would say that work develops an analysis of the transformation of cause-and-effect into a new macro-energy. The fundamental question in this debate is: does change mean the appearance of an already existing form; does it really mean the origin of new things?

10.9 The Soul and the Mind and Knowledge

Vaisheshika-jñāya realism considers not only the external world but also the soul to be real matter. The mind is considered to be extremely subtle and one for each body; limited mental contact at a time is explained by this mind. Knowledge, happiness, sorrow, and desire are considered to be the qualities of the soul.

This view differs from that of the Samkhya, the pure conscious male. In Samkhya, intelligence is a part of nature; in Purusha Shuddha Sakshi or

Nyaya-Vaisheshika, knowledge is a quality of the soul. Keeping this distinction clear reveals the true plurality of Indian self-views.

10.10 Vaisheshika and Nyaya: Proximity but not complete equality

In later periods of history, Nyaya and Vaisheshika became closely associated, and the term Nyaya-Vaisheshika came to denote a form of composite tradition. Nyaya was particularly developed in the systems of proof, argument, and argumentation. in the metaphysical classification of Vaisheshi. Later writers consolidated the two sources into one.

It is not advisable, however, to read the early history retrospectively. Parallel philosophy preserves textual distinctions and traditional distinctions through evolution.

10.11 Previous: Why do we need to accept so many categories?

The objection may be that the world is filled with unnecessary number of entities, assuming the properties of matter to be ordinary and independent elements such as particularity and non-existence. The Buddhist nihilism or transientist view is particularly critical of permanent matter and the universe.

Uttarapakṣa (Response): In the latter case, Vaisheshika may say that a separate category is necessary for a proper explanation of the actual differences in language and experience. I would not be able to tell the real difference if the traits and individuals considered similarities and relationships were the same kind of entity. But the number

of categories is not the only convention; each category adds a criterion parallel to the other to prove its explanatory function.

10.12 The text of the Parallel Philosophy

There are three main takeaways from Vaisheshika. First, the classification of reality itself is a philosophical task; categories should not be taken to be natural and self-evident. The second is the right to assume a microcosm when it has a clear explanatory role. Third, problem-structuring dialogues are more productive than drawing historical parallels with modern science.

Chapter Conclusion

Vaisheshika is a powerful realistic metaphysics of Indian philosophy. It asks what kind of being is to be considered in the world and how to understand their interrelationships, especially through the discussion of karma, the quality of matter, and karma. Its atomism is not modern science but a historical example of philosophical speculation on the microscopic structure of the natural world. Parallel philosophy reads Vaisheshika as a school of conceptual rigour rather than a story of glory.

Chapter Bibliography

Kanada is located at Vysheeshika-sūtra.
Praśastapāda — Padārthadharmasaṃgraha.
Bimal Krishna Matilal — Perception; Logic, Language and Reality.
Karl H. Potter (ed.) — Encyclopedia of Indian Philosophies: Indian Metaphysics and Epistemology.
Internet Encyclopedia of Philosophy — “Substance”.
Stanford Encyclopedia of Philosophy — “Naturalism in Classical Indian Philosophy”.

Chapter 11 — Pūrvamīmāṃsā

Preliminaries are among the most important traditions of Indian philosophy, where the focus is not only on the question of what makes up the universe or what constitutes a soul but also on questions such as how humans know duty, how sentences give meaning, how evidence gains its credibility, and how rituals guide action. The Jāminika Mīmāṃsāra begins with a query to the Dharmapada. Here, dharma is not merely a general religious sentiment; it is primarily a duty that one acquires knowledge of through the Vedic methods. For this reason, predicates are at once methodological, linguistic, epistemological, and action-philosophical.

11.1 Mīmāṃsā: Curiosity and Explanation

The basic idea of an epistemology is an examination, or analysis. The historical focus of Purva philosophy has been the proper meaning and application of Vedic rituals, but this interpretative work has also raised subtle philosophical questions. If two Vedic sentences seem to point in different directions, which one is the principal one? Methods, prohibitions, mantras, names, semantics, how to recognize different linguistic functions. Whether a sentence is an independent method or an adjunct to another method. The role of context, syntax, semantics and purpose.

These questions led Mīmāṃsā to cease being merely a code of rituals. He became a master of the art of interpretation. Similar problems arise when reading modern laws, constitutions, religious texts, administrative orders, or literature. Parallelism considers these comparisons to be dialogues of problem-structures, not historical parallels.

11.2 Religion and the Limits of Perception

The direct present receives the object. However, not every answer to the question should come directly from the question. Fire can be seen; but on this occasion, it is my duty to act; it is not visible to the naked eye. Mīmāṃsā considers this difference as the distinctive problem of Dharma-jnana. For this reason, the authenticity of Vedic sayings is central to them.

The distinction between fact and law is important here. It 's raining: descriptive statements. take the title: practical instructions. it 's a duty to say the word: moral statements. Language does not just describe things; it also directs actions. The contribution of preexeology is that it makes this functional aspect of language a systematic philosophical subject.

11.3 The inerrancy of the Vedas

Mīmāṃsā does not establish the authority of the Vedas as being the work of a human author or of God. The traditional Mīmāṃsā considers the Vedas to be apocryphal, meaning that their authenticity does not depend on the reliability of any historical figure. This view differs from the just

theistic interpretation. It is important to understand these differences because all philosophies that accept the Veda-vrittiya believe in one God, and such generalizations are incorrect.

The philosophical question here is this: the authority of a statement comes from its author, from linguistic tradition, from the process of truth-production, or from the absence of refutation. In modern parallel discourse, this question may change the nature of why such institutions are credible, when are expert opinions acceptable, and what are the limits to the authority of ancient texts. However, the answer cannot be borrowed from Eastern philosophy; only the subtleties of the question can be grasped.

11.4 Authentication

Authenticity is a highly influential principle in the epistemology of Kumarila Bhatta. In general terms, this means that external certification is not necessary every time knowledge is generated for its acceptance. If every knowledge needs a second knowledge to be true, and a third for the other, then an infinite series will arise. Therefore, knowledge usually presents in an acceptable form; later discrepancies may appear if a hindrance is found.

This theory should not be confused with the truth that came to mind. Arguments admit of error, obstruction, and rebuttal. The crux is the belief in the primacy of cognitive life. I can 't go through life with zero credibility before every scene, every memory, every sentence.

Parallelism takes this insight as an infallible belief: there must be initial acceptance, but re-examination if reasonable objections are raised.

11.5 Bhatt and Prabhakar

There is a lack of uniformity within the ideology. The Bhatta school of thought associated with Kumarila Bhatta and the Prabhakara school of thought associated with Prabhakara differ on several questions. Differences are found in the number of proofs, the nature of knowledge, and the analysis of sentences and duties. Leaving aside these internal debates, it is only logical to say that writing will reduce historical complexity.

The Bhatta tradition accepts more evidence, including Artha Pati and Anuvallabhi; the Prabhakaran tradition does not accept an independent verification of Anuvallabhi. Syntax also developed the well-known distinction between nominative and obviative. The technical details are nuanced across different interpreters; however, the overarching question is clear: do words first convey independent meaning and then add to the sentence? Do word meanings manifest themselves in syntactic relationships from the outset?

11.6 Underwriting and Inaccessibility

Interpretation refers to a situation where it is necessary to assume an additional fact to be consistent with the known facts. Traditional examples include imagining a night meal to understand the condition of someone who does not eat during the day but is obese. Whether this is

evidence apart from the usual conjecture or a special form of conjecture is debated in Indian traditions.

Absenteeism raises the question of the absence of knowledge. There is no pot on the table, how do I know it won 't happen? Only by looking at the table does the missing component play an independent cognitive role. This subtle question communicates the modern absence-proof problem: evidence not found and evidence not found is not the same thing. Whether the discovery was substantial is the decisive question.

11.7 Words and their meanings and sentences

Mīmāṃsā is extremely important in the history of linguistics. Semantic consistency, word-force, sentence-coherence, aspiration and aptitude, and the question of presence form the basis of interpretation. To understand a sentence, it is not enough to have the words close together; they must have semantic expectations and coherence. The phrase, " the stone drinks water, " may be grammatically correct, but in a general context raises questions of semantic appropriateness.

The modern significance of this linguistic discipline is clear. A word of law, a condition of a digital contract, a translation of a religious sentence, a record of history, meaning the context can change. Parallel philosophy therefore considers translation to be a philosophical responsibility, not just a replacement of words.

11.8 Actions and Consequences

The concept of apoorva-jaka in the Karma-siddhanta of Mīmāṃsā attempts to explain the relationship between karma and distant fruits. It would be unfair to draw a direct parallel with modern scientific reasoning. This is the concept of the specific Vedic ritual philosophy. On a philosophical level, however, the question of how one 's actions relate to future outcomes and the justification for invisible connections is an interesting one.

Parallel philosophy applies the proof-discipline to the point. Understand traditional theories in their historical logic. don 't declare them to be theories of modern physics. and apply the criteria of current evidence if they are made into current public claims.

Pūrvapakṣa (Prima Facie View): Premise is only the act itself.

This objection is misleading because of a half-truth. The Vedic ritual must have been its central historical theme, but the exposition of that theme led to the development of profound philosophies on the questions of language, evidence, duty, the validity of knowledge, and non-duality.

Uttarapakṣa (Response): From the Interpretation of Karma to the Philosophy of Knowledge

The philosophical value of presuppositions lies not in their acceptance of every theological conclusion, but in the fact that they subject to rigorous analysis the prescriptive language, the meaning of texts, the self-validation and refutation of evidence, and the knowledge of duty.

Chapter Conclusion

Preliminaries show that philosophy is not the only thing that exists; it is also how we know duty and how language gives us reason for action. Parallel philosophies draw from this tradition the caution of interpretation, the self-examination of evidence, and linguistic discipline. but do not regard their religious presuppositions as automatic proofs of modern public truth.

Chapter Bibliography

Jaimini <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk>

Shabara Śābara-bhāṣya.

Kumaril Bhatta Ślokavārttika.Tantravārttika.

Prabhākara — Bṛhatī.

Ganganatha Jha was a translator and scholar.

Bimal Krishna Matilal — The Word and the World.

Stanford Encyclopedia of Philosophy — “Kumārila”; “Language and Testimony in Classical Indian Philosophy”.

Chapter 12 — Vedānta

The literal meaning of the Vedanta text is linked to the end or Paripaka of the Vedas; however, in philosophical history, it is a broad family of many traditions centered on the Upanishads, the Brahma Sutras, and the Bhagavad Gita. It would be wrong to equate Vedanta with Advaita alone. Advaita, Vishishtadvaita, Dvaita, and other Vedantic schools hold serious disagreements on the relationship between Brahman and the world, the bondage of the soul to God, and liberation.

12.1 The Exodus and the Question of Interpretation

Vedantic traditions regard the Upanishads, the Brahma Sutras, and the Bhagavad Gita as the primary foundational texts. But how do different philosophies emerge from the same set of texts? The answer to this question lies in the interpretation. All metaphysics can be changed by the decisions of which sentence is primary, which is secondary, which is metaphorical, which is direct, and which is contextual.

For this reason, the texts themselves do not speak without an interpreter. It is written in the scriptures that there is no end to debate. The next question is which text, what text, what context, what interpretation, and what is the answer to the alternative interpretation.

12.2 The Question of the Brahman

The concept of Brahman is central to Vedanta, but there are disagreements over the nature of Brahman. In Advaita, Brahman is the

ultimate unparalleled truth. in Vishishtadvaita, Brahman is the transcendent reality endowed with qualities with which the living entity is uniquely connected. in duality, the real distinction between God and the living entity is fundamental. The reason for this difference, states Vedanta, is that ordinary sentences like jagat can only become the distorted essence of a particular interpretation of Advaita and not of Vedanta as a whole.

12.3 The Ātman and the Brahman

The Upanishadic Mahavakyas produce profound explanations of the relationship between the soul and ultimate reality. Advaita studies this relationship in a non-dualistic way. But what does it mean to be indivisible? The individual mind, body, and ego are Brahman, not ordinary equivalents. Advaita avidya explains the relationship between empirical distinctions and the indissoluble essence of Paramārtha through adhyasa and jñāna.

Vishishtadvaita and Dvaita dispute this distinction. The dependence of the soul, the personality of God, bhakti, kripa and the real difference are represented differently. Parallel philosophies do not end this debate by saying that there is only one right and the other wrong; the arguments of each view examine the textual and empirical perspectives separately.

12.4 The Real World: The Special Meaning of the Dependent Lie

In Vedanta-criticism, the reading of the word Śvētāmya in the sense of a simple lie leads to confusion. In Advaita, the world is neither the absolute

void nor the ultimate truth independent of Brahman-Jjakta; it has empirical practicality but is not the ultimate independent being. The second Vedantic tradition accepts the reality of the world in a more positive light.

The modern philosophical value of this debate is that the level of realism and dependency and empirical stability may be separate questions. But to call the modern virtual world or quantum physics the scientific proof of Advaita would be a historical and conceptual mistake.

12.5 Avidya and the Bondage

If the ultimate truth is one, then why experience differentiation? In Advaita, avidya or ignorance is at the heart of the problem. But who is Avidya himself? What is the level of their existence? How can he retire from knowledge? A wider debate developed on this question within the Advaita tradition.

Bonding is understood as false self-discipline, not just external discipline. The human body and mind take on a social status or a limited ego as the ultimate self. Knowledge leads to the cessation of these delusions. Parallel philosophy sees here the possibility of psychological metaphors, but opposes the reduction of real institutional exploitation to mere ignorance of social injustice.

12.6 Jnana and Karma and Bhakti

The Vedantic traditions also place varying emphasis on the means to liberation. In Advaita, self-realization is decisive; in the Vishishtadvaita and Dvaita traditions, the role of bhakti and divine grace and surrender is more central. Karma is explained differently in the place of preparation, Dharmapalan, or a life of devotion.

This diversity teaches a broad lesson: Indian liberation-philosophy texts cannot be lumped into one thread. The relationships between knowledge and action, devotion and meditation and grace are different in different traditions.

12.7 Shankara and critical Advaita

Shankara 's Advaita is highly influential in the history of Indian philosophy. The relationship between Adhyāsa and Brahmajñāna, Śruti and Logic and Anubhava is important in his explanation. But to Shankara, the only possible meaning of all the Upanishads would be to erase the plurality of human history. Later Advaita itself developed into numerous offshoots.

Parallel Philosophy respects Shankara 's argument while questioning: if the social individual is part of the oneness at the ultimate level, what are the ethical consequences for caste, gender or birth-based inequality at the practical level? Metaphysical uniformity does not automatically produce social equality; therefore, separate moral arguments are necessary.

12.8 Ramanuja and relational unity

Ramanuja 's Vishishtadvaita connects the unity of Brahman with the true diversity of living beings. God is the supreme reality, but the soul and the world are not mere illusions. Dependencies and differences are contained within a broader unity. Devotion is here not only an emotional complement but a central part of the path to liberation.

Philosophically, the question is important: Is unity possible without destroying diversity? Parallel philosophies see the transformation of this question in the social sphere: how is citizenship possible without erasing linguistic, religious, and regional differences? This comparison is only structural, not a political translation of Ramanuja 's religious doctrine.

12.9 Duality and the Reality of Differentiation

The duality of Madhva emphasizes the real distinction between Ishvara, the living entity, and the world. Salvation here is not a dissolution into indivisibility, but a right relationship with God. This vision is clear evidence of the metaphysical plurality within Vedanta.

The study of Vedanta matures when the student sees the explanatory struggle behind the simple equation of Vedanta = Advaita. The fact that different arguments are possible on the same classical basis is itself an important teaching of linguistics and hermeneutics.

Pūrvapakṣa (Prima Facie View): All the Vedantas ultimately say the same thing.

This popular syncretistic notion reduces the reality of differences. If the Brahma-Jiva relationship is an antithetical claim on the reality of the

world and the nature of liberation, then to say that they are one and the same would be erasing a philosophical dispute.

Uttarapakṣa (Response): Dialogue is not Unity: A Disciplined Study of Plurality

Parallel philosophies do not artificially unite traditions. He asks the common question of where there are real differences and what logic depends on which assumptions.

12.10 The problem of the chapter

In Advaita, adhyāsa is the imposition of one 's dharma on another 's; the consciousness of the soul is linked to the boundaries of body-mind and the transformation of body-mind is linked to the soul. Levels of self-awareness are mixed in with simple experiences like feeling sad because we 're getting older.

This is said to be the existential basis for bondage, not just linguistic error. But there are serious objections to the beginning of the study and how eternal ignorance is compatible with the non-duality of Brahman. The answer is given by the difference between the level of experience and the ultimate truth; but the relationship between the levels has to be clarified again.

Psychological metaphors can be useful; however, it is incorrect to refer to social status simply as status. Caste or poverty inflict practical institutional harm; metaphysical indistinguishability demands a separate moral-political duty to redress it.

12.11 Relationship between Śruti and Logic

In Vedanta, Śruti is considered to be the exclusive source of knowledge about Brahman. However, understanding the Śruti-vakya requires reasoning to resolve the conflict and ascertain the meaning. Logic cannot be said to be a complete independent source; however, it is active at every stage of interpretation.

The defendant would ask how the authenticity of the audio was established. Posttraditional apoplexy may be related to guilt or feeling. Each answer has a different amount of validity. A fair trial is especially important in the face of claims by other religions.

Parallel philosophy considers religious texts as evidence within tradition, asking for additional arguments for public metaphysical conclusions. The copyright cannot stop a defendant from suing.

12.12 Liberation from life and morality

This is the explanation for the liberation of life after the cessation of ignorance through knowledge, while the previous causes of the body-mind continue for some time. The question is how the liberated person will behave in duties, compassion and social relationships.

If all souls are one, then the suffering of others cannot be entirely separated from their own suffering; this is the moral motivation to be derived. But metaphysical unity does not automatically guarantee equal treatment; it is possible to distinguish between theory and practice throughout history.

Claims of impunity should not place the person above criticism. The guru has to endure the institutional test of demanding exclusive rights over the disciple 's property or body. The ethical fruits of knowledge are to be tested in practice.

12.13 Premise: If the world is a lie, morality is a lie

The objection is that if the world is not the ultimate truth, then suffering, duty, and justice can also lead to a low level of illusionism or monistic social indifference.

The answer is that the behavioural level is not negligible in pre-knowledge and post-knowledge life. Like the practical truth of fire, the results of suffering and karma have real effects. The classical discipline lays stress on ethical preparation.

The sufficiency of the answer, however, must be tested on conduct. It is unfair to belittle practical injustice with the language of altruism. The hierarchy does not end with organizing responsibilities.

Chapter Conclusion

Vedanta is not one philosophy; it is a family of many systematic answers to the Upanishadic-Brahmasutra questions. Its study addresses questions of the soul, Brahman, the world, God, knowledge, devotion, and liberation, as well as a multiplicity of interpretations. Vedanta 's principal teaching for parallel philosophies is that multiple

interpretations of the same established text are possible, and thus cannot replace textual authority arguments.

Chapter Bibliography

Badrayana, Brahma-sūtra.
The Principal Upanishads.
The Bhagavad Gita.
Śaṅkara, Brahma-sūtra-bhāṣya.Upaniṣad-bhāṣya.
Ramanuja was born as Śrī-bhāṣya.
Madhva is the Brahma-sūtra-bhāṣya.
Surendranath Dasgupta — A History of Indian Philosophy.
Karl H. Potter — Encyclopedia of Indian Philosophies: Advaita Vedānta volumes.

Chapter 13 — Buddhist Philosophy

It would be an injustice to Buddhist philosophy 's vast philosophical tradition to confine it solely to religious precepts or the formula of nothingness. The Buddhist traditions of suffering and impermanence, of non-self and non-self, of perception and production, of karma and nirvana, of knowledge and language, of direct perception and compassion and emptiness, have all developed profound controversies over the centuries. The term Buddhist philosophy itself is plural.

13.1 The Beginning of the Vision from Sorrow

A distinctive feature of Buddhist thought is that the philosophy deals with existential problems. Suffering is not merely an abstract puzzle; philosophy begins with the experiences of birth, childhood illness, death, separation, dissatisfaction, and addiction. The four Noble Truths are structured in terms of disease-diagnosis-treatment: suffering, the cause of suffering, the possibility of prevention and the path to prevention.

In this framework, the search for truth is linked to life-changing A wrong view can lead to unhappiness and not just intellectual error. Parallel philosophy broadens this insight by examining the validity of individual theories through logic but also looking at their human consequences. Consequences are not substitutes for truth; they are additional dimensions of moral evaluation.

13.2 Non-permanence

The objects that are cultured are those that change. Impermanence does not merely mean that they will disappear; it is in the constant change of objects and experiences from cause to condition. The experience of permanence may be useful in practice, but treating it as an immutable essence leads to attachment.

Modern science shows changes, but it is unfair to call Buddhist non-duality a principle of modern physics. The Buddhist doctrine also has an existential-liberal purpose. Variations of the same wording serve a different logical function in the Jiddu tradition.

13.3 Anātman

Buddhist philosophy questions the permanent, independent, and unchanging nature of the self. The person 's experience is analyzed through the processes of form, pain, nouns, rites and sciences. The term anātman does not mean that the individual is absolutely non-existent; a practical person has moral responsibilities and a course of action, but the claim of permanent ātmanasara is rejected.

Here a serious question arises: if there is no permanent soul, then what is the fruit of karma? How to develop memory and moral responsibility Buddhist traditions develop various theories of causal continuity, transience, and the flow of personality. Parallel philosophy may put this question into dialogue with modern individual identity-discussion, but does not consider the two to be the same theory.

13.4 Percentage of Product

The basic premise of phenomenology is that objects and states arise from causality. They are caused by what happens to them; they arise from what happens to them, and this structure is the basis of the Buddhist view of causality. Human suffering is also causal, so changing the cause can change the outcome.

This view is not that of fatalism. If everything was predetermined, the practice would be pointless. Conversely, a causal relationship opens up the possibility of change. Even in social parallelism, injustice may be understood as the result of causal institutions and behaviors rather than innate or unchangeable fates; but this is modern social expansion and not the direct political meaning of ancient aphorisms.

13.5 Medium and Emptiness

The Madhyamaka tradition associated with Nagarjuna harshly criticizes the concept of nature as independent and inherent in itself. Emptiness is nothing more than an atheistic declaration that things are not inherently free, but rather in relationship and dependence. For this reason, both moderate eternalism and abolitionism offer a middle way out.

Making emptiness itself a permanent element would be against the purpose of Madhyamaka. If nothingness is taken to be the new Absolute, then naturalism will come in another form. In this self-critical framework, parallel philosophy sees the crucial lesson: the concept of criticism itself is not immune to criticism.

13.6 Binary

The distinction between samvritti-satya and paramārtha-satya is important in the madhyamaka tradition. In the practical world, language is the person, reason the way, and morality operate. the free nature of things is not found in the ultimate analysis. This distinction should not be read into a simple formulation of two conflicting truths. Practical truth is not meaningless; without it, there can be no discussion of the Absolute.

Parallel philosophy does not conclude from this theory that all perspectives are equal. The Buddhist dualism has specific emancipatory and metaphysical implications.

The Yoga of the 13.7

The Yogācāra tradition is a subtle analysis of the science of experience and the relationship between subject and object. Simple to the point of mere description, my mind is a debatable simplification of the existentialist idealism. The purpose of Yogācāra is related to the analysis of the dualistic structure of experience, the karmic seeds, the theology and transformation of knowledge.

A study of this tradition shows that Buddhist philosophy is not merely metaphysical. The Buddhist internal debate is real. the sutras of one branch are not representative of the whole Buddhist philosophy.

13.8 Dignāga and Dharmakīrti: Pramaṇaṃhitā

Dignāga and Dharmakirti are decisive in the history of Buddhist epistemology and logic. His work on direct and deductive analysis, conceptual reasoning, and questions of evidence developed in a long dialogue-debate with the Nyaya and Mīmāṃsā traditions.

Buddhist canon generally regards appearances and inferences as the primary evidence. Terminology is ultimately analyzed by inferential or conceptual frameworks. In opposition to this view, the Mīmāṃsākas and Nyayikas present their own separate arguments. The vitality of Indian philosophy lies in the way traditions challenge and refine one another as they read.

13.9 Compassion and Wisdom

The combined ideals of compassion and wisdom are particularly developed in the Mahayana tradition. Only emotional compassion can choose the wrong course.Only analytical wisdom can erase human suffering. The Bodhisattva ideal links the individual conception of liberation to the larger animistic interest.

Parallel philosophy develops its aphorisms from this point: without compassion, reason can be merciless. Without reason, compassion can be confused. This is the modern rendering of the text, not a literal quotation from an ancient Buddhist sutra.

Pūrvapakṣa (Prima Facie View): Buddhist philosophy is atheistic nihilism.

This objection combines several different theories into a single term. The rejection of the God-creator, the critique of the permanent soul, and naturelessness are three different philosophical questions. Emptiness = Nothingness is a wrong reading of Madhyamaka.

Uttarapakṣa (Response): The Philosophy of Dependence, Process, and Liberation

Buddhist philosophy questions the independent essence of existence, but accepts a practical world of reason, morality, and suffering. The purpose of their negative reasoning is to dispel multiple false attachments and not to establish zero atheism.

13.10 Conjunctivitis and its causes

Implicit derivation states that events occur when there are specified conditions, and outcomes change when the conditions are changed. It looks at the process involved rather than looking for a primary cause. It is possible to walk away from suffering because the principle is liberating.

There are various interpretations of the sequence of twelve diagnoses. assuming them to be simple biological lifecycles or a single psychological sequence would call for caution. The texts and traditions must be clear.

Structural comparisons with modern systematics are possible but do not claim to be scientific validations of Buddhist doctrine. The purpose, proof, and terminology are different.

13.11 A Discussion of the Binary

Enlightenment is the realization of true behavior and the world of language and common differences, the naturelessness of things that are absolutely true. A binary is not two different worlds. Without a practical statement, preaching is not possible; language cannot be totally abandoned in the name of virtue.

Morality and compassion would be undermined if the narrative were called a lie. When Paramārtha is considered as a higher object, emptiness will be made the new essence. Moderate criticism tends to preclude both extremes.

These distinctions should be used with caution in social analysis. The entity can only pay the actual loss if the name changes. name dependency does not negate the loss by showing the possibility of change.

The Buddhist Canon, 13.12

The Dignāga Upanishadic Dharmakirti tradition treats directness and inference as the main evidence, and minutely analyzes the relationship between conception, self-identity, and words. Direct implicature is said to be absent while language works by generalization.

Objection is how to know or remember experiences without full comprehension. The Buddhist moment of enlightenment relates to the role of self-realization and perception. There are also different interpretations within the religion.

The controversy with Nyaya shows the multiplicity of Indian epistemologies. One side would emphasize the reality of the external normal, the other the difference-based concept. Let be a different metaphysical cost on the same example.

13.13 Preface: The Immortal Destroying Moral Responsibility

If there is not a stable soul, then there is a corner of authority and fruitfulness. The perpetrator of the crime was changed momentarily and then punished. This objection is central to Buddhist philosophy.

The answer lies in the causal continuity: the latter flow not wholly apart but conditioned by the former moment. The continuity of the lamp 's flame or seed form conveys an unchanging essence.

However, there are practical limits to moral recognition. Memory is meant to play a role in measuring responsibility in physical and social relationships. The soul is not an arbitrary impurity.

Chapter Conclusion

Buddhist philosophy ranges from the experience of suffering, to impermanence, to non-self, to pratītya samutpada, to emptiness, to duality, to consciousness and evidence. Its various branches, while disagreeing, share a common discipline: understand the causes of human suffering, examine the structure of delusions, and connect knowledge with life-changing experiences.

Chapter Bibliography

The Pali Nikayas are the selected suttas.
Nagarjuna as Mūlamadhyamakārikā.Vigrahavyāvartanī.
Vasubandhu, Abhidharmakośa. Selected Yogācāra texts.
Dignāga is the name of Pramāṇasamuccaya.
Dharmakīrti — Pramāṇavārttika.
Stanford Encyclopedia of Philosophy — “Madhyamaka”; “The Theory of Two Truths in India”.

Chapter 14 — Jain Philosophy

Jain philosophy presents the most developed traditions of nonviolence, living and nonliving, karma, anekantavada, nayavada, and samvada in Indian intellectual history. In popular parlance, Anekantavada is said to be their own true religion; however, this is a philosophically incorrect simplification. The Jain view accepts the multifacetedness of the object, and at the same time disciplines the narrative from a conditional perspective and context.

14.1 Living organisms and non-living organisms

In Jain metaphysics, jiva is the conscious element and ajiva is the realm of non-conscious elements. The jiva is essentially capable of knowledge and consciousness, but the bondage of karma limits its expression. The classification of Ajivika into Dharma, Adharma, Akasha, and Kala-Yajna elements has specific Jain meanings. The term dharma and dharma here carry the technical connotations of not only moral virtues and vices but also the attendant elements of motion and rest. In translation, this distinction requires careful interpretation.

14.2 Karma: Ethics and Metaphysics

In Jain karma-siddhanta, the tradition developed of analyzing karma as subtle physical bonds rather than mere metaphysical moral accounts. The soul 's instincts are the kashaya and the karmic come-ons, the samvara, the nirjara, and the expansive principle of moksha.

The modern reader may accept or reject this metaphysics, but the historical theory must be understood in its own way. To call karma the means of modern scientific energy would be an unproven analogy. Parallel philosophy avoids such a triumphalist translation.

14.3 Non-violence

Ahimsa is a central value of the Jain ethos. Violence is not only about direct killing but also harm to life, speech, occupation, consumption and lifestyle are subjects of moral scrutiny. Sages and householder may have different levels of vrata, leading to hierarchical discipline between moral ideals and practical life.

The philosophical strength of ahimsa lies in the extent to which it extends the bounds of moral community beyond human beings to the living world. Dialogue with modern environmental ethics is fruitful here, but it would be unfair to call Jain theory the precursor of modern ecology.

14.4 Polyantism

An object can have many different sides to it. A single statement may be true in a specific sense, but does not exhaust the object. This is the basic motivation behind Anekantavada. For example, an earthen pot is in one sense a permanent object for some time; in another sense, it is a changing object in the process of heat and time. Statements of fact and fiction can be unconditionally contradictory or complementary when properly articulated.

However, this principle does not make events and not events equally true in the same sense, at the same time and in the same place. It is important to make the relationship and meaning clear during the vision. Analectics is therefore a discipline of conditional statements, not relativism.

14.5 Neologism

It is a partial view or analysis of the way things are seen. Each one reveals new aspects and leaves out some. The problem occurs when partial vision declares itself complete.

Parallel philosophy deals specifically with this idea. Economic history looks at class. linguistic history language. feminist studies gender. political history state. Each one is important, but none is a complete history on its own. However, this is a modern methodological extension. the historical meaning of Jainism should not be taken to mean modern social theory as a whole.

14.6 The Syadvada and the Saptabhangi

Sayadvada emphasizes the conditional nature of a statement. Truth does not merely mean an unambiguous truth; it implies the validity of a statement under specific conditions or views. Saptabhangi develops a scheme of seven types of conditioned exposition: asti naasti, asti-naasti, avaktavya and combination of these forms.

It is wrong to regard this plan as an admission of general contradictions. The statements are subject to different perspectives, times, or

relationships. The philosophical aim is to prevent a multifaceted reality from becoming monotonous through language.

14.7 Knowledge and the Absolute

The knowledge of ordinary beings is limited by karma-varna; the knowledge of absolutely free beings is considered to be related to omniscience. Various forms of common knowledge form elaborate traditions relating to direct-observant Jain classification and canon-practicing.

Parallel philosophy does not consider historical omniscience to be the automatic basis of modern public evidence. But the Jain analysis of the partial vision of limited knowledge is a powerful source of epistemic humility.

14.8 Multiple endings and tolerances

The modern use of absolutism is often in support of religious tolerance. This use has moral force, but requires caution. Tolerance is not just about doing what is right. If an opinion justifies violence, slavery, or the dishonor of birth, respect for multiple perspectives does not preclude moral criticism.

Parallel Vision Principle: Vision can be multifaceted and requires dignity. Walk with both plurality and moral judgment.

Pūrvapakṣa (Prima Facie View): Anekantavada is contradictory in itself.

If neither statement is complete when stated, then the statement itself is not complete. This is a serious objection.

Uttarapakṣa (Response): The Principle Itself Conditional

The strength of the Jain tradition lies in the way Anekantavada also places its claims within the contextual analysis. That omniscience is the discipline of limited statement, not the claim of ordinary being.

14.9 Relationship between living and non-living organisms

Jain metaphysics distinguishes between the jiva as conscious matter and the ajiva as other forms of matter. Karma is interpreted as the subtle substance binding a living being, not just a moral record. It will not be replaced by the standard version Manav Shastri.

Because of the bondage, kashaya is associated with attachment and action. Samvara prevents new karmas, and Nirjara reduces established karmas. Liberation is the full manifestation of the soul 's jnana-shakti.

Modern science does not have a direct analogy of matter to matter. It is the theological-theoretical principle whose consistency is to be tested within the other vows of the tradition.

14.10 The Seven Breaches of the Syadvada

Sāyāvada conditions the claim: a view is the object in relation or form to time, not in other terms. a combined form of the sayable and the unspeakable is also possible. To say that the seven antithetical statements are simultaneously true in the same sense is not correct.

Not laziness of doubt of reality, discipline in writing down the limits of claims. The pot is in one place and not in another. it is in the present and not in the past. When the context is removed, the protest appears.

The limitation is that not all opposition can be brushed aside as difference of opinion. At the same time it is in relationship and meaning and neither of these is true. Let be the logistical criterion.

14.11 The epistemological basis of nonviolence

Panentheism reduces intellectual violence by acknowledging the imperfection of one 's own vision. Nonviolent forms of communication include listening to the defendant 's part of the truth, finding a way to justify their actions, and avoiding outright rejection.

But do not accept untruths or atrocities as your viewpoint. Vision may be limited, and the loss is real. With compassion, it is possible to have clear criticism.

Cognitive politeness should make the opponent look strong. The disagreement should be avoided unless the person is accused of violent intent.

14.12 Precedent: Anekantavada applied to its claim is fragmentary

If all the claims are partial, then all these claims are partial. This objection to subjectivity is an important one.

The answer is that transcendentalism does not say every statement is false; it denies the completeness of a view of complex things. The theory

itself is the specific metaphysical-epistemological claim whose limits can be accepted.

Criticism then asks which things are truly polytheistic and which are simple facts. Using theory as evidence is not a perfect solution to every problem.

Chapter Conclusion

Jain philosophy presents a philosophy of moral dignity of the soul, ahimsa, karma-bandhana, anekanta naya, and syadvada where the pursuit of truth is coupled with humility and moral restraint. Parallel philosophies draw from this tradition the teaching of multidimensional reality, but they reject the conclusion that all truths are equal.

Chapter Bibliography

Umasvati is the mother of Tattvārthasūtra.
Kundakunda is one of the selected texts.
Samantabhadra is also known as Āptamīmāṃsā.
Haribhadrasuri is also known as Anekāntajayapatākā.
Mallishena is one of the Syadvādamañjarī.
Paul Dundas — The Jains.
Stanford Encyclopedia of Philosophy — "Jaina Philosophy".

Chapter 15 — Lokāyata and Materialist Questions

The history of Indian philosophy is not just the history of the Vedas, the soul, salvation, and acceptance of God. There were also traditions that valued direct experience, the body and matter, and criticism of worldly life and religious claims. The term ālokayata or ālokācārava is associated with this materialist-scientific tradition. However, its study requires special source-care as the original texts are mostly unavailable and many accounts are reconstructed from the discursive works of rival philosophers.

15.1 The Problem with the Source

When a tradition has lost or unavailable its original literature and its ideas are known mainly from the quotes of opponents, the responsibility of the historian increases. The opposing writer simply quoted the opponent correctly. Whether the different periods are combined under one name. whether the satirical statement is a genuine theory or a polemical caricature

The Lokayat is, therefore, a model test of parallel historiography. Hashi 's desire to restore the tradition cannot make up for the lack of evidence. What is certain must be certain, what is probable must be possible, and what is disputed must be disputed.

15.2 The primacy of the direct

The primacy of Pratyaksha is commonly associated with the Charvaka tradition. Some traditional accounts strongly object to the reliability of the conjecture, especially one that posits an unseen entity far removed from direct experience. However, each of the Charvaka 's speculations was dismissive; this claim calls for caution; daily life is difficult to follow without conjecture, and the available sources do not explain the internal diversity of traditions.

The philosophical question is nevertheless powerful: how far can we go beyond the direct Whether the smoke hypothesis and the invisible afterlife hypothesis are equivalent The reliability of the hypothesis depends on the extent and frequency of recurrence, alternative causes, and tests. The skepticism of the Lokayukta challenged Indian epistemology to clarify its hypotheses further.

15.3 The body and the consciousness

In the physicalist view, consciousness is not evidence of an eternal soul separate from the body. The traditional Charvaka-narrative presents consciousness as a quality arising from the particular combination of material elements, rather than as a new quality arising from the combination of certain substances.

It is inappropriate to identify it directly from modern neurology. The experimental structure, brain-studies, and theories of modern science are of a different historical world. But whether separate self-material is

necessary for problem-structure awareness can be explained by physical processes is still a living philosophical question.

15.4 Criticism of karma and religious authority in the afterlife

The accounts of the Lokaya show a critique of the afterlife, invisible karmas, Vedic rituals, and priestly authority. Such criticism is not just negative atheism; it raises questions about the weight of evidence. Who is responsible for proving the existence of something that is not tangible? Tradition is only a matter of evidence.

Parallel philosophy makes this question the general rule: the party who makes a positive claim is obligated to give good reason. But since it is not direct, falsifiability can also lead to very hard conclusions, as many entities in science are known by instruments and inferences rather than by direct observation. Therefore, a critique of positivism is also necessary.

15.5 The question of hedonism

Charvaka is popularly portrayed as a hedonist unconstrained by the kind of rhetoric one might expect from drinking ghee. The historical context and representation of these types of quotes should be examined carefully. It is not right to regard satire of opposing texts as a moral principle of the whole tradition.

Materialistic materialism does not automatically prove chaos. If there is only one life, then the value of the inverted life, the responsibility for the

reduction of suffering and mutual support can be said to be more important. However, this is a modern philosophical possibility. it should not be accused of being a matter of historical fact.

15.6 The Social Role of Doubt

When religious or royal authority is in question, the doubt can be liberating. Suppose one were to say that questions are the basis of democracy. The historical memory of the Lokayat shows the place of dissent, atheism and materialism within Indian philosophy.

But doubt is not morality in and of itself. One can be a skeptic by rejecting all public knowledge, science, history, and evidence. Reasonable suspicion begets proof; unfounded suspicion begets only disbelief.

15.7 Caution of the Word Theistic Atheism

In the traditional classification of Indian philosophy, theistic texts are often associated with acceptance of Veda-satya and not with theistic texts in the modern common sense. The Sankhya or Mīmāṃsā-yoga tradition traditionally places theists in the category of those with complex theological positions. Buddhists and Jains and Charvas reject the Veda-satya because of its atheistic content.

Directly translating this term into the modern God-believing / non-believing meaning leads to historical confusion. Parallel philosophy keeps the meaning-history of technical terms clear.

15.8 History and evidence of the hashiya

The position of the Lokayukta is a critical criterion in the methodology of this text. If mainstream records have distorted the counter tradition, they must be reconstructed. But to build the desired philosophy in the name of reconstruction is another kind of injustice.

It is therefore useful to have three layers: the direct preserved original parts. the reliable anti-quotes. the later reconstructions. The definiteness of each level should be written separately. This method is necessary for the history of all extinct or lost oral traditions, not just folklore.

Pūrvapakṣa (Prima Facie View): Lokāyata is the lowest or only negative aspect of Indian philosophy.

This decision can often be framed in terms of a winning tradition. If a philosophy raises questions, shows limits to evidence, and challenges established authority, then its philosophical value does not depend solely on creating a positive metaphysics.

Uttarapakṣa (Response): Criticism as Philosophical Contribution to Self

The historical nature of the Lokayata is partly obscured by the materialistic and skeptical questions preserved in its name, proving the plurality of Indian philosophy. This tradition serves as a reminder that the authority of karma or scripture over the soul and the afterlife was not a unanimous conclusion in Indian history.

15.9 The Power of a Positivist

The direct-majority hypothesis associated with the Lokayat raises difficult questions about the claims of classical evidence and the invisible people. Intellectualism challenges the demand to accept what is not seen for what it is.

The directness is also inaccurate and many objects are not directly visible. The pathogen is known from a remote history or by signals and evidence from sentimental devices. Therefore, assuming only direct evidence would pose a practical difficulty.

Not to reject outright all skeptical speculations; to ask for sources and tests of the extent of the speculations. In the reconstruction of the Lokayukta, the limits to which the Opposition can cite must be kept clear.

15.10 The body and the consciousness

Such representations of the cosmos as consciousness arising from a specific combination of physical elements are exemplified by the new energy from the intoxicating mixture. This etymological direction would have opted to regard the soul as an independent eternal substance.

The examples show the possibility, not the full explanation, of consciousness. The question of subjectivity and unity in personal experience remains. It is a fallacy to call modern neurology direct evidence for ancient beliefs.

The philosophical value is that the body should not be considered a lower shell, but an essential basis of conscious life. Health, food and labour constitute the material conditions of an ethical life.

15.11 A Re-examination of the Pleasure

It may be customary to rely on dubious sources to lull the Lokayukta into a statement of having taken a loan. The sentences quoted in the Pratipaksha 's text are not reliable summaries of the entire tradition.

By accepting the value of physical pleasure, unrestricted indulgence is not necessary. Chronic pain, loss of others, and social dependence enter into rational happiness thinking.

Renunciation itself is superior, that religious claim is testable, happiness itself is supreme, and so on. May there be a place of happiness, with dignity, freedom and justice.

15.12 EAST PARTY: Lokayukta is only the imagination of the Opposition

The original texts are rare and the details are mostly in contradictory sources, which is why a reliable reconstruction of the historical locale is impossible. Caution is, of course, very important.

But in many independent traditions, the very mention of a similar materialistic counterpart, namely logic, undermines the claim to absolute fiction. The date, dependency, and polemical context of each passage should be examined separately.

Conclusions are layered: direct verifiable statements, probabilistic reconstructions and uncertain conventions are different. The void should not be filled with pride or blame.

Chapter Conclusion

The importance of a Lokayukta is at two levels. First, it is a reminder of the materialistic, metaphysical and skeptical potential within Indian philosophy. Secondly, its fragmentary sources teach the morality of parallel histories: find the desired tone but do not fill in the blanks with fiction. To write explicitly about the lack of evidence is scholarship itself.

Chapter Bibliography

Charvaka / Lokāyata-related quotations preserved in various philosophical texts.

Attributed to Mādhavācārya — Sarvadarśanasaṃgraha, Cārvāka chapter (with due caution concerning the sources).

Debiprasad Chattopadhyaya — Lokāyata: A Study in Ancient Indian Materialism.

Ramkrishna Bhattacharya — Studies on the Cārvāka/Lokāyata.

Stanford Encyclopedia of Philosophy entry on classical Indian naturalism.

Chapter 16 — Language, Word, and Meaning

Language is not only a means to express ideas; many times, it also shapes ideas. Human beings understand the world through words, categories, names, relationships and sentences. For this reason, philosophy of language is not just an extension of grammar; it is central to epistemology, metaphysics, social philosophy, and ontology. How words give meaning Whether a sentence means only a combination of words A holistic understanding How the meaning of a sentence is essential How forms and signs are understood The question of whether language portrays the external world or gives conceptual form has been a subject of long-standing debate in Indian philosophy.

16.1 From Speech to the Philosophical Language

In Vedic literature, speech exists not merely as ordinary speech but as a profound cultural-philosophical force. Later grammars, mīmāṃsā, nyaya, Buddhist philosophy, and poetics develop language-related questions with different goals. The basic concerns of Mīmāṃsā were the meaning and duties of Veda-vakyas. the concerns of Nyaya were actual literal knowledge. the concerns of grammatical tradition were linguistic structure and comprehension. the concerns of Buddhist thought were related to conceptual construction and word boundaries. Different institutional objectives on the same question produce different theories.

16.2 Relationship of words and their meanings

What is it that comes to mind when we hear the words spoken? The name of a particular cow. A common religion called Gāyātva A special person with a common religion or simply a conceptual construct. Nyaya, Mīmāṃsā, Buddhist and grammarian traditions do not agree on this question. The Nyaya tradition firmly supports the concept of external objects - yatras, understanding the meaning of words in the structure of individuals, castes, and associated qualities. Mīmāṃsā offers a different interpretation of the semantic continuity and the relationship of the Vedas to the imperfect. Variants of the Buddhist doctrine lead to interpretations of the word through differentiation without acknowledging its positive universal nature.

The modern teaching of this controversy is not that a tradition had already found modern linguistics. Education is not just a simple thing. Signs, objects, concepts, usages, social conventions and audience perceptions can all play a role in semantics.

16.3 Sentence-meaning: Declarative and Injunctive

A subtle dispute in Indian language philosophy is whether words first give independent meanings and then they combine to form sentences, or words initially give interrelated meanings. In the case of Bhatta Mīmāṃsā and Nyaya, in the nominative sense, the word means first, followed by the relative meaning. In the infinitive sense of Prabhakara

Mīmāṃsā, the word itself gives the meaning through the relative meaning.

This debate is important today because understanding a language is not just looking at dictionaries. The king ordered the soldiers: " Knowing the meaning of each word in a sentence makes it automatically clear whether the actor of the sentence, the action and the relationship are grammatical-contextual structures. " The language-view shows the hidden complexity within such common sense.

16.4 Verbal Conditions

In the Nyaya tradition, the discussion of aspiration and qualification for ordination and the terms sannidhi-jaka are well known. Sentence understanding is possible when words are mutually intelligible, meaning matching is possible, and there is necessary linguistic closeness. The fact that the stone drinks water may be grammatically correct, but in a general context raises questions of meaning-worthiness; again, in poetry or allegory, this abnormality may itself be a source of meaning.

For this reason, language-viewing is not a list of rules without context. Sentences that are incoherent in a scientific report can be meaningful metaphors in poetry. The mode of linguistic comprehension is related to purpose and social practice.

16.5 Words - Proof and Reliability

Most of human knowledge comes from linguistic evidence. We don 't do scientific experiments ourselves, we don 't read all the historical records, we don 't see all the places. Therefore, the justification of literal knowledge is a philosophical question. Nyaya emphasizes reliable oratory, while Mīmāṃsā considers linguistic authenticity in the immaturity of Vedic sentences and the overarching framework of autocorrect.

In modern societies, this debate extends to expertise, journalism, courts, digital media and educational institutions. This is not enough, he said. People or institutions are aware of this. This is a conflict of interest. The story is corroborated by independent sources. There is a system to correct errors. These are all verbatim modern civic questions.

16.6 Speakers and their Meaning and Text

Some linguistic meanings are deeply connected to what the speaker means. Satire, humor, threats, promises, commands, and allusions are not understood through words alone. But it is also difficult to limit the meaning of each text to the author 's personal intentions. In particular, ancient texts provoke new questions in traditional interpretations, linguistic changes and new social contexts.

Parallel philosophy thus avoids the two extremes: the only meaning the author wanted and the meaning the text wanted. For a historical meaning, language, time, textual differences, and philosophical context

are necessary. for a current re-reading, it is necessary to clarify whether we are stating the original historical meaning or proposing the current interpretation.

Form 16.7: Symptoms and Manifestations

Human language is not limited to verbal statements. The statement that the heart is turned to stone is not a claim about physiology. Indian poetics develops a rich tradition of indirect meanings through idioms, idioms, and idioms. For philosophy, its teaching is important: language means not only the enumeration of truth-telling sentences; language also transforms experience, value, and emotion.

But the power of metaphor is not a substitute for fact. Treating allegories as facts and poetic truths as scientific measurements in historical documents would be a fallacy. Parallel philosophy respects literary and philosophical meaning while keeping the type of evidence clear.

16.8 Language and Authority

Language is not only a meaning but also an institution. The question of which language forms the medium of school, court, university, science, administration and publication is related to epistemology. Communities that do not see their language as a medium of public knowledge may have their experiences declared through less formal or less authentic means, such as slow localization.

In this situation, linguistic justice does not only mean the emotional glorification of language. This means linguistic access to knowledge production, education, recording, translation and public decision-making. Parallel Philosophy considers writing philosophy in Maithili-speaking languages as a democratic act of knowledge-distribution and not just an act of translation.

16.9 The Philosophy of Translation Itself

Religion is the proof that the soul and Brahman are not one and the same, that there is no emptiness, that there is no self, and that justice is not a fixed equivalence of terms. Each choice of translation is a conceptual decision. A false equivalence can change the whole argument. Parallel philosophy, therefore, preserves the original form of technical terms, clarifies Maithili meanings, and limits translation where necessary.

16.10 Digital languages and artificial reproduction

The production of linguistic narratives has become extremely easy in the digital age. The same statement can be copied thousands of times. machine-generated text looks like human writing. quotes are cut from sources and transmitted. There is a lot of text here, not independent evidence. Rapid reproduction of language is not a guarantee of veracity.

The linguistic discipline of parallel philosophy proposes four questions here: What is the original source? What is the context of the statement? What is the technical meaning of the word Did the meaning change in

the translation or rewrite? It is a practical form of language-visioning for digital citizenship.

Pūrvapakṣa (Prima Facie View): If language shapes thought, then objective truth is impossible

Uttarapakṣa (Response): Language is not just a screen over the world; it is a means of connection with the world. Language affects classification and perception, but the external world resists the direct and practical linguistic demands of cross-examination and translation. Linguistic mediation produces a consciousness of the conditions for access to truth, not the impossibility of truth.

The 16.11 explosion and linguistic unity

The varnam is audible and fleeting respectively, yet conveys the unified meaning of the sentence at once. Explosion theory tries to understand the unity of this sense. The phonetic expression is interpreted as a stable linguistic unit of meaning.

The question of what entity is separate from the physical sound is debated within the word-level or sentence-level tradition. It is inappropriate to call the theory a discovery of modern phonetics or psycholinguistics.

Philosophical question still useful: how does the overall meaning derive from the signals received respectively Later grammars may find a combined role of memory and context, rather than expectations.

16.12 Misconceptions and classifications

The Buddhist Misconception links the meaning of the word normal to the exclusion of others. Agaya means no permanent singleness, a conceptual

act of separation from Agaya. It is an attempt to combine ordinary language with the transience of external objects.

The objection is that to understand this further, one must first understand the cow. negation is cyclical without positive ground. Post-Buddhist rites of passage developed through similar influences and conceptual constructs.

In social stratification, education is what creates class distinctions. However, modern identity-political conclusions cannot be drawn directly from the myth. The comparison should be at a functional level.

16.13 Satire and indirect statements

When the speaker criticizes by saying the opposite word, the listener understands the meaning from the tone, context, and shared knowledge. The literal meaning is not enough. Serious confusion may occur when context is omitted from court histories or digital messages.

Intention is important but not absolute protection from consequences. The speaker cannot justify the repetition of the intended insult by attributing it to a fraud. Listeners are also encouraged not to use violence in every unpleasant sentence.

The term linguistic evaluation should combine context, power, intended audience, and actual impact. A pointing machine - now the rule - is not enough.

16.14 Preface: Language Captures the Reality of

By dividing the language world into categories, we are said to know not objects but only linguistic structures. Different languages can make different realities, which can lead to harsh conclusions.

But translation makes possible the connection between shared action, scientific measurement and object resistance languages. The flooding of the river would have had a real impact on all communities if words were different.

Language is both the medium and the boundary of access. Objectivity is not giving up language, defining terms, comparing multiple descriptions, and checking results.

Chapter Conclusion

Language is a medium of thought, knowledge, social practices and entities. The questions of semantics, syntax, lexicality, oratorical reasoning, metaphor, translation, and linguistic justice are intertwined. Parallel philosophy regards language as the fundamental framework of philosophy, where words are not just names of things; words build relationships, convey knowledge, distribute power, and sometimes obscure important aspects of reality.

Chapter Bibliography

The Bhartrihari is the syntax of the word.
Kumarila Bhatta is the author of these verses.
Prabhakara Traditional texts and commentaries on the Mīmāṃsā.
Gautama wrote the Nyaya Sutras.

Vatsyayana is the language of judgment.
Vachaspati Mishra is the Tattvabindu.
Gangesh Upadhyay is a philosopher and a lexicographer.
Bimal Krishna Matilal — The Word and the World; Logic, Language and Reality.
K. Kunjunni Raja — Indian Theories of Meaning.
Stanford Encyclopedia of Philosophy — "Language and Testimony in Classical Indian Philosophy".

Part III — Mithila's Parallel Philosophical Tradition

Chapter 17 — Videha: A Geography of Questioning

The intellectual history of Mithila cannot be understood from the present-day administrative boundaries alone. The political geography of Nepal is a term of distinct historical significance, given its location in present-day Himachal Pradesh and modern-day Bihar. In ancient texts, Videha appears as a political-cultural domain; in later traditions, Mithila evolves into a philosophical, juridical, linguistic, and cultural domain. Modern nation-states are very new with this long memory. Parallel philosophy, therefore, reads geography as historical layers rather than static maps.

17.1 The text of the video - Memory

The court of Videha 's father in the Brihadaranyaka Upanishad is famous as a place of Brahmavidya debate and discussion. The dialogues of Yajnavalkya, Gargi, Maitreyi and other learned characters form the core of this literary-philosophical world. However, these narratives are not to be considered direct court records in the modern sense. These texts are philosophical texts whose historical use demands a critical approach.

Its importance to parallel philosophy is on two levels. The first is established in the Indian philosophical memory as the site of the Videha Prashna, the Vedas, and the Atmavidyas. Secondly, the Smriti forms a symbolic source for the modern narrations of later Mithila-Buddhist

traditions. It is important to distinguish symbolic continuity from documented institutional continuity.

17.2 The Three Forms of Geography

In this work, the term is used at three levels: the geographical area, the linguistic-cultural world, and the metaphor of the questioning tradition. Geographically, Mithila is formed by rivers, agricultural boundaries, towns and villages, and historical polities. Linguistic-cultural Mithila is closely associated with Maithili, its culture, songs, educational institutions, and literature. The Mithila evidence for the Prashnaparampara tradition comes from arguments, interpretations, and philosophical counterarguments.

These three are related to each other but not the same. Anyone outside the Mithila geography can contribute to the Maithili intellectual tradition; not everyone within the Mithila geography is automatically a representative of the same philosophical tradition.

17.3 Boundaries and Flow

Knowledge does not assume an administrative boundary. Ideas flowed from manuscripts, teachers, students, marriages, pilgrimages, royal courts, monasteries, schools, and debates. The connection between the Terai of Nepal, North Bihar, Bengal, Kashi and other centers of learning cannot be ignored while studying Mithila.

Parallel histories do not, therefore, constitute a closed narrative of independent great regions. The uniqueness of the regions is not diminished by their interchangeability; on the contrary, the real contribution is made clearer by understanding the intellectual web.

17.4 Government and the Enlightenment

The philosophical tradition is not just the spontaneous history of free thinkers. Protection, land-grant, educational institutions, royal prestige, religious rights and social hierarchy influence the production of knowledge. The text-Smriti of Videha 's father also shows the proximity of knowledge and kingship. The question is, do laws protect knowledge, but do they also set limits to the question?

Parallel philosophy asks for the social conditions of each episteme. Who used to enter the Durbar? Who was able to speak? In which language does the movie Dignified available? What knowledge was written down and what remained oral? The silence of the available text can also be a fact of history; however, it is not advisable to extract the desired narrative from the silence.

17.5 Mithila and the Nyaya tradition

In later times, Mithila became an important centre of jurisprudence and especially of the judiciary. Gangesh Upadhyaya 's Tattvacintamani is considered to be the starting point of the new linguistic-technological phase of Navya-Yajna. This is due to the long judicial tradition and the

contributions of Vachaspati Mishra and Udayana-Jaka 's earlier thinkers and the multi-centered Indian literary world.

To call this development a monolithic institutional school from the Upanishadic court of Avideha to Ganges would be more than anecdotal. Parallel philosophy examines the different continuities of thought-forms, memory, regional institutions, and textual traditions rather than such simple continuities.

17.6 Localism vs. Territorial Pride

Pride is natural when writing regional history, but pride is not a substitute for proof. Like the original text of the First Epistle to the Gentiles, the claims call for more rigorous proof. The real intellectual significance of the Mithila is strengthened not by exaggerations but by texts, arguments, manuscripts, commentaries, edicts, and documents of influence.

The geography of the 17.7 question

The geography of the question does not mean that the question arose solely on this ground. This means that some geographies develop specific types of knowledge-cultures for historical reasons. Mithila 's institutional traditions of scriptural interpretation, logic, theology, epistemology, and exegesis produced a distinctive school of thought. Parallel philosophy tries to connect this discipline with the modern civic conscience.

17.8 Philosophical meanings for present-day Mithila

Modern Mithila is a linguo-cultural region divided between the political boundaries of India and Nepal. In this reality, parallel philosophies propose a study of the common knowledge-world rather than romantic slogans against borders. Linguistic rights, education, cultural documentation, river-environment, migration and regional disparities are philosophical questions today. Ancient glory comes alive when it becomes the capacity for discerning examination of present questions.

17.9 The name and historical level of the video

The Videha Vedic-Upanishadic text may have appeared with a different meaning in later legends and modern regional memory. The geography of one source should not be directly attributed to another.

The context will tell when the text has a meaning, depending on the state, population, cultural region, and mythological symbol. A map cannot be drawn without a definite boundary source.

The vagaries of history do not diminish the regional significance. Mithila-centric studies gain credibility rather than prestige when the level of reverse sources is made clear.

17.10 Genesis The title of a person

In the Upanishadic stories, Janaka appears as a patron king of philosophical discourse. It is possible that Ajahn 's text may have been a hereditary title, so it is prudent to link all the events in a historical biography.

The philosophical role within the narrative is clear: the court question combines charity with scholarship and power. However, historical dates and first-hand accounts beg to differ.

While appreciating the scholarly patronage of the king, one must also examine the power relations. The award encourages free debate, whether the court should interpret the text according to context while maintaining decorum.

17.11 Question - The Social Limits of Assembly

The Philosophical Assembly presents the ideal of the open question, but the question arises from the silence of history as to who had access to it, whose labor makes the assembly possible, and whose voice is not heard in the text. A specific exclusion cannot be declared without proof, but a selection of records must be checked.

The presence of Gargi and Maitreyi is important textual evidence of femininity, not equality for all societies. An exceptional case does not prove a general condition.

Parallel text respects the available voices and writes boundaries about the missing voices. Silence is not an empty space for imagination.

17.12 Purvapaksha: Kalabhram to connect Videha with modern Mithila

The name may suggest continuity in geography and traditional memory, but direct parallels are risky due to the thousands of years of politico-cultural change. The criticisms are well worthwhile.

The answer is not a complete breakdown. Pharyngeal site-marking and subsequent traditions may be limited continuum studies involving linguistic history and regional memory. The proof of each link is different.

The validity of modern identities does not depend on ancient purity. The study of video should be a means to understand history, not to prove current superiority.

Chapter Conclusion

Videha and Mithila as a single, unchanging entity would be a simplification of human history. However, it is fruitful to establish a dialogue between the Upanishadic Videha 's Prashna-Smriti and later Mithila juristic traditions and the modern Maithili cultural world if evidence from each level is kept separate. The language and methodology of Mithila geography are useful for parallel philosophies; however, the relationship between the three is more likely to be established by historical investigation than by sentiment.

Chapter Bibliography

The Upanishads of the Brihadaranyas.
Gautama wrote the Nyaya Sutras.
Vachaspati Mishra is an Indian jurist.
Udayanacharya is Nyayakusumanjali, Atmatattvaviveka.
Gangesh Upadhyay Tattvachintamani.
Dinesh Chandra Bhattacharya — History of Navya-Nyāya in Mithilā.
Bimal Krishna Matilal — Logic, Language and Reality.
Jonardon Ganeri — The Lost Age of Reason; Philosophy in Classical India.

Chapter 18 — Yājñavalkya, Gārgī, and Maitreyī

The dialogues of the Brihadaranyaka Upanishad present both the dramatic and conceptual depth of questions in the history of Indian philosophy. Yajnavalkya is the principal orator, but it would be unfair to consider Gargi Vachaknavi and Maitreyi as mere supporting characters voicing their opinions. Their question sets out the philosophical problem itself. The parallel text reads the dialogue as a multilingual philosophical field rather than the story of a great male philosopher and his interrogators.

18.1 Forms of the Dialogue Philosophy

Unlike aphorisms or theories, in dialogue, ideas develop through questions, answers, objections, silence, and again through questions and context. Brihadaranyaka 's dialogues show that philosophy is not merely ready-made answers; the structure of the question itself can change the course of knowledge. Gargi 's question turns the thought towards the ultimate foundation of the universe, Maitreyi 's question towards wealth, immortality and self-worth.

18.2 Maitreya: Wealth and Immortality

Yajnavalkya communicates with Maitreyi about the division of property before leaving home. Maitreya asks if he can inherit all the earth 's wealth and immortality. The answer is in the negative. The philosophical sharpness of these questions is that they open up a distinction between

means and ultimate value. Money is useful, but is utility the ultimate human goal?

Maitreyi raises the ancient question of moral economics at this point: resources enable life, but the value of life does not end in resources. Parallel philosophy does not glorify poverty in this way. Material deprivation may be an injustice. but to regard material prosperity as a perfect synonym for self-worth is also a philosophical error.

18.3 Love and the Spirit

In the Maitreyi-Yajnavalkya dialogue, there is a complex representation of the beloved objects being loved because of their soul-relationship. There are many possible explanations for this. A simplistic euphemism would suggest that all love ultimately leads to personal gain, reducing the philosophical depth of the text. The more subtle question is: How do experience center, relationship value, and self-knowledge intertwine? Belovedness is to a person, a relationship, a sense of self, or ultimate reality.

Parallel philosophy does not make this passage a straightforward theory of modern psychology; it reads it as a philosophical source of relational self-awareness.

18.4 Gargi: Around the World

Gargi 's questions form a series of cosmological bases that revolve around the universe. On the basis of this, the The questions progressively

move from the visible to the invisible base. Philosophically, this eternal regression is a question of ultimate interpretation and the basis of existence.

Gargi 's importance lies not merely in the fact that she asked the question. Her question thus determines the structure of metaphysics. The question that changes the field of possible answers is itself a philosophical contribution.

A question of 18.5 characters

Gargi-Answer of the conversation eventually escalates into a verbal spat. Modern readers will not immediately relegate this verse to the modern category of God-fearing or God-fearing or God-conscious. The letters of the Upanishads are a philosophical indication of the ultimate, unchanging foundation of their text-context. Various Vedantic interpretations of it developed subsequently. The historical caution is not to declare the latter principle to be the only meaning of the original communication.

18.6 The Yajnavalkya and the other Nettis.

Yajnavalkya is not associated with any neti, nor is it read as a method of freeing the ultimate reality from limited attribution. It is a way of recognizing the limitations of concepts, not the futility of restrictions. Objects that are assumed to be beyond every finite object property are difficult to capture in a general classification.

Parallel philosophy takes an epistemological lesson from this method: sometimes negative definitions discipline positive assertions. We cannot say that knowledge cannot be weakness; there can only be reasonable limits.

18.7 The Soul and the Consciousness

Many of Yajnavalkya 's dialogues question the basis of the self, the knower, and the experience. The one who is watching The one who listens to the The One Who Knows How is it possible to have knowledge itself? These questions are comparable, but not identical, to modern consciousness philosophy. The Upanishadic self-liberation concerns existential and spiritual questions; modern mind-philosophy often makes separate references to neuroscience, mental states, and individual behavior.

18.8 A Re-reading of the Vision of the Feminine

In historiography, female characters may be excluded from the main philosophical category by being called wives, disciples, inspirers, or interrogators. Parallel philosophy raises the conceptual question of what changes the criterion of contribution. Who changed the direction of the argument? The basis for the value of was challenged by Gargi and Maitreyi are philosophers on this criterion.

But this recension does not force the idea of modern equality on ancient societies. The presence of women in the text is not evidence of complete

gender equality in society. Comprehensive social history with respect to specific text-evidence demands a separate investigation.

18.9 Court of Janak and the institution of Vachak

The court of Videha 's father figures in the text as a venue for scholarly contests and philosophical dialogues. Wealth, prestige, and knowledge are present in the same scene. Its institutional meaning is important because philosophy demands a social platform. But the stage is not devoid of power structures. The award is given by the The decision of the jury The presence of the Parallel philosophy studies institutional questions alongside philosophical texts.

18.10 The Meaning of the Modern

Dialogues by Gargi, Maitreyi and Yajnavalkya have a dual use in modern life. First, the quality of the question determines the quality of the answer. Secondly, the question of the relation and reality of the soul to the ultimate value - wealth - is present in a different vocabulary than mere historical religious curiosity.

18.11 What is the net worth of Yajnavalkya?

The neti shows the extent of each positive quality related to the soul or Brahman. This is not to be taken as absolute nihilism; it may be indicative of a basis that is not captured by objective attributes.

After a series of prohibitions, the remaining pure consciousness is the limit of ineffable entities or languages. Different Vedantic interpretations

would have given different answers. The original context and later commentary should be read separately.

There is a risk of contradiction when it is said to be indescribable: what cannot be said about what it claims to be. The answer is given by the difference between sign language and direct perception, but the proof remains a question.

18.12 The Structure of Love in the Maitreya Dialogue

The Maitreyi Samvad asserts the impossibility of immortality from wealth and that the beloved is loved because of the soul. It is easy to call this selfishness, but the soul itself is the overarching conscious basis of individual egoism.

If each love is only for its own sake, the free value of the other is lost. If the soul is the basis of the wider relationship, then unity in love and knowledge changes meaning. The text should make the presuppositions clear.

The question of Maitreya in the dialogue itself shows philosophical agency. He is to be read not merely as a listener of Yajnavalkya, but as a questioner who changes the course of reasoning.

18.13 The Gargi question and the politics of borders

Gargi reaches out to Akshar, asking him a series of questions about Jagat 's background. The caveat to stopping questioning is the limits of

knowledge: how to read scriptural rules or authority. The text makes a number of interpretations possible.

Philosophically, the question of the infinite number asks for a final basis of explanation. If each answer asks for a basis, then the infinite series, if any, is considered a self-supporting proposition.

Gargi 's fearlessness is not a complete testament to modern equality but a stark reminder of the supreme metaphysical question posed by woman. The claims must be kept to a minimum and significant.

18.14 Preface: Dialogue is not history; it is only literature.

The dialogues of the Upanishads may have been edited literary works, but they are not to be considered literal court transcriptions. The historicity of the characters and dialogues is a different question.

But the literary form does not destroy the philosophical content. Question-and-answer analogies and counterexamples are textual facts that can be conceptually analyzed.

The text presents history as it is written, and events as they actually happened, using different language. The philosophical value is to be saved by accepting the source-limit.

Chapter Conclusion

The intellectual richness of Brihadaranyaka is evident in the reading of Yajnavalkya, Gargi, and Maitreyi as co-creators of a dialogic philosophical field rather than separate biographies. Gargi widens the

scope of metaphysical questions, Maitreyi sharpens the question of value and immortality, and Yajnavalkya develops answers to the soul and ultimate reality. Parallel philosophy considers this polytheistic structure to be the ancient inspiration for its method.

Chapter Bibliography

The Brihadaranyaka Upanishad, in particular, is a dialogue between Yajnavalkya and Maithreyi and Yajnavalkya.

Patrick Olivelle — The Early Upaniṣads.

S. Radhakrishnan — The Principal Upanishads.

Surendranath Dasgupta — A History of Indian Philosophy, Vol. I.

M. Hiriyanna — Outlines of Indian Philosophy.

Chapter 19 — Nyāya–Vaiśeṣika and Mithila's Logical Tradition

A discussion of the philosophical glories of Mithila would be limited to a list of acharyas. The real contribution to methodology is to clarify claims, define terms, establish counterarguments, examine the extent of evidence, identify assumptions, distinguish relationships, and support conclusions in the face of objections. The Nyaya-Vaisheshika tradition and the later Navya-Nyaya present a richer version of this logical synthesis.

19.1 The Confluence of the Jurisdictional

Early jurisprudence focused on evidence, logic, and argumentation; empiricism focused on substance classification and metaphysics. Over time, the two traditions became closely intertwined. Questions of the soul, substance and attributes, and of the nature of God in general and particular, converged with juridical ontology. This union led to the development of a philosophical system in which the questions of what is true and how we know are interrelated.

The location of the 19.2 mila

Vachaspati Mishra, Udayanacharya, and Gangesh Upadhyaya are prominent names in Mithila-related juristic history, although each 's claim to chronological and regional affiliation must be corroborated by source-review. The Tattvachintamani of Ganges is clearly related to the

decisive development of the Nyaya-Yajna in Mithila. The study-traditions of many later scholars developed in the centres of Mithila and Navadvipa.

19.3 The discipline of the definition

In a philosophical debate, the argument is untenable if the wording is unclear. Judicial traditions take the issue of terminology very seriously. It is not impossible for a definition to be non-exhaustive. This theory is extremely useful in today 's law, science, policy and social debates. The ambiguity of the terms discrimination, violence, and freedom that define policy affects real rights for minorities.

19.4 The Subtlety of the Relationship

The specific strengths of the neo-jurisdictional are in the relationship of deduction and attribution, subjectivity, and the nuanced analysis of the concept of deprivation. Simple language stops short of saying redness. Logical analysis asks what qualities are present in what substance, in what relation, and in what form. The purpose of this subtlety is to prevent jargon or ambiguous conclusions.

19.5 The weight of the evidence

In a judicial debate, it is necessary for the party making the claim to present its reasons. Being present in the affirmative and present in the affirmative and absent in the negative forms is what constitutes the discipline of conditional reasoning. This vision is a reminder of the

weight of evidence, in contrast to the tendency in modern public life to place evidence first and later.

19.6 Prejudice and the Modern Delusion

Separate classifications of legitimate motives such as infidelity, adultery, and obstruction of good faith provide useful metaphors for understanding modern disinformation. If the cause does not establish the fact, if the cause proves the opposite of the conclusion, if the relationship is irregular, if an opposing cause of equal force exists, or if stronger evidence refutes the conclusion, the argument fails.

This classification should not be mechanically pushed into every modern debate; however, its value as a logical precaution is clear.

19.7 pm: Jalpaiguri to Vitanda

The distinction between truth-seeking arguments and victory-focused arguments is extremely relevant in today 's public debate. In a social media debate, understanding the opponent may not be the goal; defeating may be. Parallel philosophy regards the modern revival of mathematical logic as the art of winning arguments rather than the discipline of truth-seeking disagreement.

19.8 Neoliberalism: Subtle language and difficult of access

The technical language of the neo-justice develops unprecedented analytical accuracy, but excessive specialization can reduce public access to knowledge. This dichotomy exists in every advanced discipline:

mathematics, law, medicine, and philosophy all require technical language, but expertise can also become authority. Parallel philosophy does not mean reducing technical rigor; it means making it clear and accessible in a wider language.

19.9 Mithila and the Institute of Knowledge

Logical rites of passage were passed down from generation to generation through institutions such as schools, manuscript traditions, guru-shishya relationships, scriptures, and family scholarship. But the history of institutional continuity must be written in the source. Memoirs, genealogies, and epistemologies are important sources, but with critical scrutiny.

19.10 The use of modern civil

The modern form of judicial discipline is particularly useful in five areas: claim-witnessing in court. source-affirmation in journalism. causal inference in science. source-review in history. presenting a robust form of opposition in democracy. Parallel philosophies make the philosophical legacy of Mithila an exercise in civic conscience rather than museum glory.

Pūrvapakṣa (Prima Facie View): Technological Arguments Not Far from Human Suffering and Social Justice

Uttarapakṣa (Response): Logic by itself is not justice, but without a sense of justice, reason can be blind, and without reason, reason is incompatible. It is a moral duty to listen to the victim 's side of the story, because logical clarity is essential to

understand the structure and solution. Parallel philosophy does not consider compassion and reason to be competing.

19.11 The Institutional Conditions of the Scriptures

The logical tradition is not sustained by the intellect of the great man alone; the school, the manuscript, and the master-disciple sequence demand the rule of patronage and debate. Evidence for this institution is to be found in the study of Mithila 's logistical rituals.

Oral training will not look perfect in a written text. The style of the commentary, the web of quotations, and subsequent memory may indicate institutional relationships, but the extent of each indication should be noted.

Shelter enables knowledge as well as influences subject-selection. Power and authority are not the same thing if they are not different.

19.12 Examinations and the intellectual reputation

Scholarly recognition may be associated with public scholarship, teaching, or institutional examinations. Standards save capacity, but thresholds and legacy networks can create exclusion.

The popular story about Methyla 's ordeal calls for a source-based investigation; specific details should not be repeated without evidence. Claims about the institution must be supported by records, biographies, and independent sources.

The general formula for philosophical education is sufficient: the public criterion of knowledge separates prestige from personal claim if the process is transparent and open.

19.13 Combination of jurisdictions

Justice initially argued for proof and gave separate emphasis to emancipatory substance-classification and nature-discrimination. In the course of time, the doctrines of the two traditions have been read in conjunction, but a philosophy from the beginning blots out the differences in human history.

Combination arises from philosophical necessity: the metaphysical necessity of the subject of knowledge and the metaphysical necessity of matter. However, specific doctrines continue to develop in the Word and attributes of God.

In this study, it should be clear when the term justice refers to old justice, joint justice, or new justice.

19.14 Precedent: Narrowing down the territorial claims philosophy

The objection is that geography becomes the test of truth when philosophical reasoning demands a universal cause or calls it knowledge. In fact, the validity of the argument does not depend on birthplace.

Regional history is not a logical truth; the institution of production implies language and transmission. Sovereign claims are also written and read in specific places.

In parallel, Mithila does not claim ownership of Gaurava. Evidence of that contribution is supported by external communication and internal boundaries.

Chapter Conclusion

The real importance of logical reasoning here is not the number of great names, but the method of intellectual responsibility. Explain the terminology, provide evidence, listen to the opposition, identify the flaws in the argument, and refine the conclusion. Modern reinterpretations of this method can strengthen the knowledge-culture of democratic societies.

Chapter Bibliography

Gautama wrote the Nyaya Sutras.
Vatsyayana is the language of judgment.
The entrepreneur is a lawyer by profession.
Vachaspati Mishra is an Indian jurist.
Udyanacharya is the embodiment of justice and righteousness.
Gangesh Upadhyay Tattvachintamani.
Bimal Krishna Matilal — Logic, Language and Reality; Perception.
Jonardon Ganeri — Philosophy in Classical India; The Lost Age of Reason.
Dinesh Chandra Bhattacharya — History of Navya-Nyāya in Mithilā.

Chapter 20 — Udayanācārya

Udayanacharya is the principal philosopher of the Nyaya-Vaisheshika tradition, whose work systematizes and refines many of the arguments of the older Nyaya-Vaisheshika. His importance lies not only in the cause of God-realisation but also in his intervention in many areas of spiritual thought and juridical metaphysics, including the soul and matter, causality, the universal, Buddhist transcendentalism, and non-spiritualism. Udayana is a key link in understanding the pre-Neolithic intellectual world of Ganges.

20.1 Historical places

Udayana is generally placed around the tenth to the eleventh century CE. Many traditional biographical accounts exist, but in philosophical studies, the internal evidence of texts and citation-related commentarial traditions and reliable scholarly editing provide a more secure basis. Parallel Philosophy avoids speculative biographical detail when discussing his regional glory.

20.2 The major texts

Notable among Udayana 's major works are Nyayakusumanjali, Atmatattvaviveka, Kiranavali, and Nyayavarttikataparishuddhi. Nyayakusumanjali is a famous exposition of the juristic argument about the existence of God. it is a critical extension of the earlier jurisprudential commentarial tradition, countering the Buddhist ontology of

Atmātattvaviveka and defending the reality of the soul. it is a dialogue with the metaphysics of the Kiranavali Vaisheshika tradition.

20.3 The Severity of the Opposition

To understand the philosophical value of Udayana, it is not enough to simply count his conclusions. His method takes seriously the powerful arguments of the opposition. Without the Buddhist philosophy of Mīmāṃsā and other opposing views, juridical philosophy would not have been so sophisticated without serious intellectual challenges. Parallel philosophy learns from this history that rival ideas are not enemies of tradition, but often the principal causes of that tradition 's self-improvement.

20.4 The Spirit of Wisdom: The Question of the Spirit

Buddhist animism challenges the necessity of accepting a permanent soul. This variety of Buddhist logic was at the forefront of the Nyaya tradition, as can be understood from the flow of experience, memory, moral continuity, and the transient state of the individual. Udayana develops a counterpoint to the permanent soul in Atmātattvaviveka.

Juridical reasoning emphasizes the need to regard memory as a reservoir of desires, pleasures and pains, knowledge and accomplishments. Today we recall what we saw yesterday: the same experience and continuity of memory is presented as the cause in favor of permanent knowledge. The Buddhist pratipada tries to understand this continuum through a series

of reasons. The soul is the real centre of the controversy / Nor is the slogan the best explanation for individual continuity.

20.5 The challenge of transientism

Buddhist transience understands objects and mental states as fleeting events. Udyana-yoga is considered by juristic realists as the abode of permanent substance and virtue and essential to causal continuity. The question is whether a permanent basis is needed to recognize such a change. Or the continuum itself can be formed from the relations of ordinal moments.

Parallel philosophy would not have directly transformed this debate into the modern eternal soul versus mind debate. The historical concepts are different, but the problems of person-learning, memory and continuity remain.

20.6 Ishvara-siddhi: Nyayakusumanjali

In Nyayakusumanjali, Udayana develops several logical hypotheses in favour of the existence of God. Attempts at God-realization are found from various grounds, such as the causality of the universe, the combination of atoms and elements, the linguistic system, and the authenticity of the Vedas. The form, number, and interpretation of these arguments are arranged differently by commentator; therefore, a list of eight simple proofs is not to be considered final without text-reference.

In particular, the causal argument says that the knower of the created is the doer; the world is the doer; therefore, the knower of the world is the reason for assuming the cause. The opposition of the Buddhists and the Mīmāṃsās raises the question whether the Karta conjecture on the universe as a whole is a valid extension. If the world is the only example: how does comparison The strength of Udayana 's philosophy lies in its attempt to answer these objections.

20.7 Natural theology and logic

The Udayana and Nyaya traditions do not consider religious questions to be beyond dispute. The existence of God and the authenticity of the Vedas form the subject of philosophical evidence. Parallel philosophy holds the importance of this courage. Faith is honorable, but public philosophical claims may ask for reasons.

Also, the conclusion is not automatically proved by the arguments presented. The arguments of the jurisprudence are open to criticism. Philosophical respect means not accepting conclusions but examining them as the strongest form of argument.

20.8 Dispute with the Arbitrator

Mīmāṃsā denies the necessity of God while preserving the authenticity of the Vedas. The Vedas are apauruṣeya, karma itself is fruitful, creation is eternal, and in this framework, God appears as an additional concept.

An intelligent regulator of Nyaya-Vaisheshi, he proposes the necessity of God from the question of cosmic order and reliable scriptural evidence.

This controversy is not a simple division of the religious and the atheistic. Mīmāṃsā presents a non-theistic philosophical framework within the Vedic tradition: Nyaya, theistic realism. These examples are extremely important for understanding the plurality of Indian philosophy.

20.9 Causes and Effects

The questions of causality, atomicity, and causality are complex in the epistemological world. Karmic forces that are not directly caused by fate play a role in the explanation, but Udayana questions how unconscious elements themselves produce orderly results. From here, the logic of intelligent regulation develops. The opposition asks why conscious regulation is necessary for orderly natural processes.

Modern science does not share the historical vocabulary of this debate. It is therefore incorrect to call Udayana 's logic the precursor of modern physics. Their real importance lies in the philosophical questions of explanatory adequacy, causality and intelligent reason.

20.10 The Sovereign and the Classification

The true sovereign of justice acknowledges this. Udayana tries to explain the limits of what is considered universal: not every equality is a separate universal. otherwise there could be unnecessary multiplication or infinite regression. This problem of classification is also familiar in

modern philosophy: what kind of equality is real and what kind of class is merely convenient?

20.11 From Udayan to Gangesh

The philosophy of Ganges introduces a new stage of neo-judgment, but not from nothing. The problems created by the Udayana and earlier juristic traditions - the approximate extent of the universe, the relationship between the soul and God and matter - form the background of the Ganges. Gangesh 's innovation lay in reconstructing this legacy in highly nuanced epistemological language and analysis.

20.12 Udayana 's Teachings for a Parallel Philosophy

Of particular importance are the four methodological teachings from Udayana. The subject of the first condition is also not outside the test of reason. The second way is not to defeat the opponent by weakening them; but to overcome the objections of the Buddhists and Mīmāṃsās. Third, metaphysics and epistemology are interconnected.They claim to ask the only known questions. The fourth way traditions are defended is intellectual when they change and subtract from the objection.

Pūrvapakṣa (Prima Facie View): Udayana 's God-realization is irrelevant today

Uttarapakṣa (Response): The present importance of a historical argument does not depend solely on whether its conclusions are accepted today. Udayana systematizes the questions of causality, interpretation, and the limits of inference, as well as

classical evidence and the weight of counterarguments. Modern philosophers who disagree with this argument can learn from its structure.

20.13 The Logic of the Doctrine of the Faith

Udayana 's God-criticism presupposes a number of hypotheses; it would be unfair to reduce it to a single line of reasoning for wanting to create all things. The term activity and event demand a different set of commitments, based on the difference between tradition and morality.

The conclusion of each argument can also have a different strength because the first connector is the author of the Vedas. These findings should clarify the additional step of progressing to an omnipotent God.

Criticism should not merely take the name of modern science; it should raise objections within reason-theory and empiricism. In the same way, proponents should not make the unknown realm of science an easy basis for argument.

20.14 The Logic of the Soul and Memory

Memory adds ownership of past experiences by telling us what we saw. In the transitory knowledge-flow, first impressions and later memories provide a rationale for the permanent soul of a doer.

The Buddhist pratipada can be understood as continuity through causal flow. The question is whether the sense of ownership proves to be a free spirit or merely a memory-processing structure.

Memory is erroneous. however, error detection also needs a relation other than the present value. An explanatory cost comparison of the two parties should be made.

20.15 A strong presentation of the atheist opposition

Calling an anti-theistic view a moral flaw or dogma is not an argument. It is possible to explain the nature of the world, karma, and the eternal atoms or cause-series if the opposition presents itself in a strong form.

Udayan 's achievement lies in the technical communication with this counterpart. Modern readers tend to identify promises and unanswered questions rather than declaring a winner.

The study of traditional logic is not just a means of reinforcing beliefs; it is the public practice of testing the validity of arguments. The conclusion is up to the reader 's interpretation of the evidence.

20.16 Preface: The Medieval God-Talk is Irrelevant

The notion that ancient causality is useless after modern science merges the levels of metaphysics and science. Science will explain specific processes. there is something to be said for the question of the basis of laws or of consciousness or value.

However, given the rest of the question, the ancient answer is not true. Modern knowledge has changed many of the assumptions about matter and life.

The enduring significance of Udayana lies not in the accuracy of the conclusions, but in the discipline of giving formal reasons before a competent opponent.

Chapter Conclusion

Udayanacharya 's philosophy is a high point of the Nyaya-Vaisheshika tradition, where the soul is the cause, God the sovereign, and the antithesis is the criterion. Their importance lies not only in theological conclusions but also in the openness of reason to reason, to hear and answer objections, and to accept philosophical criteria. Parallel philosophy regards this intellectual daring as an important precursor to its Mithila-centered method.

Chapter Bibliography

Udyanacharya was a man of integrity.

Udyanacharya is the embodiment of the concept of Ātman.

Udyanacharya, also known as Kiranavali.

Udyanacharya is the purifier of justice and righteousness.

Gautama wrote the Nyaya Sutras.

Vatsyayana is the language of judgment.

Vachaspati Mishra is an Indian jurist.

N. S. Dravid — Ātmatattvaviveka of Udayanācārya; Nyāyakusumāñjali of Udayanācārya (translations/studies).

Bimal Krishna Matilal — Logic, Language and Reality.

Internet Encyclopedia of Philosophy — “Nyāya”.

Stanford Encyclopedia of Philosophy — “Gaṅgeśa”; “Language and Testimony in Classical Indian Philosophy”.

Chapter 21 — Vācaspati Miśra

Vachaspati Mishra is significant in the history of Indian philosophy not only because he expounded on texts belonging to several philosophical traditions. His importance lies in the fact that his work makes it abundantly clear that Indian philosophy was not a collection of closed cells cut across generations, but a world of constant cross-referencing, debate, and reinterpretation. For parallel philosophy, Vachaspati Mishra is an example of a multidisciplinary intellectual discipline.

21.1 Multiculturalism: Methodology in opposition to bigotry

It is easy to remain within one school of thought and view the other tradition only as opposed. Vachaspati Mishra 's Intellectual World breaks this simplicity. His work on Nyaya, Samkhya, Yoga, Mīmāṃsā and Vedanta texts shows that to understand a philosophical tradition seriously, one must also understand its neighbouring and opposing traditions.

This polytheistic reading does not mean that all opinions ultimately say the same thing. Inversely, the ability to see differences accurately is increased. It would be intellectual laziness to conflate the nature dualism of the Samkhya Purusha, the Brahma-criticism of Vedanta, the just evidential philosophy, the mental attitude of yoga, and the word-evidentiality of Mīmāṃsā. The study of Vachaspati Mishra teaches the tolerance to these variations.

21.2 Interpretation and not just the repetition

The task of the interpreter is sometimes considered a secondary task repeating that of the original author. This assumption is very flawed in the Indian classical tradition. Commentaries and commentaries on the Vartikas and Upatikas have at various times been sites of new questions, subtle distinctions, and elaborations of the Vedas. Vachaspati Mishra 's creativity must be seen within this interpretative tradition.

Interpretation becomes philosophy when the reader elucidates difficult terms, examines conflicting meanings, fills in gaps in argumentation, raises possible objections, and places basic principles in the context of new controversy. In this sense, the interpreter can be not only a servant of tradition but also a co-creator of tradition.

21.3 Major philosophical fields

Notable works attributed to Vachaspati Mishra include Samkhya Tattvakaumudi, Tattvavaiśarādi, Bhāmati, Artha-tika on Nyaya philosophy, and Tattvabindu-jaka. These works have different themes, but share a common tendency to open up complex questions in a methodical manner.

The questions of Prakriti, Purusha, Gunas and Mukti in the context of Samkhya. mind, Vritti, Samadhi and Kaivalya in the context of Yoga. Brahman, Ātman, Avidya and Jnana in Vedanta. proofs and arguments in Nyaya. words and meanings in Bhasha-Vimarsha show the expanse of his field of study.

21.4 The Teaching of a Parallel Philosophy

Parallel philosophy takes an important approach from Vachaspati Mishra: understand other philosophies in their strongest form before you can prove your own. Read Buddhist objections while reading Nyaya. read Mīmāṃsā and Samkhya while reading Vedanta. read Marx. liberalism. Gandhi. Ambedkar. tradition. read its margins.

Multiculturalism is not the same thing as neutrality. In the end, it is necessary to draw conclusions. However, the value of the conclusion increases when it is given after observing the actual strength of the opposing side. In this sense, multicultural studies is intellectual justice.

21.5 Interpretation: Authority and Tradition

Each tradition comes up with its own interpretation. The history of knowledge influences decisions about which commentaries to read, which texts to refer to in the curriculum, and which opinions are important. Vachaspati Mishra 's polytheistic presence reminds parallel philosophies that tradition is not uniform; multiple readings are possible within it.

When writing history, therefore, one must look not only to the original texts but also to interpretive traditions. The influence of the ideas sometimes extends beyond their annotated tradition, less than the original formula.

Pūrvapakṣa (Prima Facie View): Multiculturalism leads to a weakening of philosophical commitment

The objection may be that by reading too many traditions seriously one will lose sight of the obvious. The answer is that true commitment is not being afraid of criticism. The strength of the opinion, which survives only because dissenting opinions are not heard, is questionable.

21.6 The Philosophical Meaning of Totalitarian Freedom

The term sarvatantrasvatantra is useful for understanding Vācaspati Miśra's intellectual character, but it should not be turned into extravagant praise. Concretely, it means that he could enter the technical languages of distinct traditions such as Nyāya, Sāṃkhya, Yoga, Mīmāṃsā, and Vedānta. When explaining a position, he does not impose the convenient language of an outside critic; he first adopts that position's own questions, pramāṇas, and terminological discipline.

Such polysemic efficiency is different from that of combinatorism. Synchronicism may refer to differences as ultimately being one; grammatical writing maintains the reality of the differences. Purusha-prakriti in Samkhya, pramana-premya in Nyaya, citta-vritti in Yoga and adhyasa in Advaita are not simple synonyms for eka-dosara. The lesson for parallel philosophies is that to read multiple traditions is not to distinguish them, but to understand each in its strongest form and find common ground.

21.7 Commentary: The Relationship between Criticism and Originality

Modern readers often consider the original texts as the main and the commentaries as second-rate writings. This division is insufficient in the Indian classical tradition. The commentator opens the reader 's sentence, arranges the objections, defines the boundaries of ambiguous terms, and responds to new arguments. In this process, the explanation itself becomes the philosophical creation. Vachaspati 's works are examples of how questions can change structure within a tradition.

However, the right to an annotation is not unlimited. Interpretations will be judged on the possible meanings of the original text, other available interpretations, and philosophical compatibility. If a later commentary imputes its canonical conclusions on the original author, textual criticism and comparative study are necessary. For this reason, the parallel method does not consider the original sources, early commentaries, and later commentaries by modern historians to be the same level of source.

21.8 Questions of the Philosopher and the Mind

Vachaspati 's discussion of yoga attempts to explain the interrelationship between the terms mind, vritti, samskara, klesha, and samadhi-jaka. The mind is not merely a metaphor for modern meanings; it is a subtle philosophical device connected with the processes of experience, memory, instinct, and bondage. Treating detachment as a destruction of

consciousness would distort the goal of yoga; the question is how to distinguish between the changing forms of the seer and the mind.

To call this analysis the precursor of modern psychology would be without evidence. The goals, methods, and terminology of the two disciplines are different. Nevertheless, it is possible to have a structured dialogue on the question of samskara, meditation practice and self-discipline. The condition of the dialogue is not to name ancient terms as modern diagnoses and not to consider modern empirical findings as evidence for classical sentences.

21.9 Bhamati Traditions and the Problem of Avidya

In the Advaita interpretation, avidya is associated with the fundamental fallacy of accepting empirical distinctions as ultimate truths and not merely the absence of information. But the argument from Advaita is incomplete without raising questions as to whose dependence Avidya is, what its content is, and how it can be divorced from Brahmajnana. Vachaspati 's Bhamati is an important milestone in the long tradition of this debate, as he presents a detailed framework of objections and answers rather than formulaic conclusions.

The parallel view sets two levels apart here. The illusion of self-discipline may be a genuine human problem. but to consider social oppression as mere ignorance of the individual would hide institutional causes. Emancipation and social justice are not mutually exclusive. If self-

realization were to free man from his inborn egoism, its moral consequences would be tested in practical equality.

21.10 Polling and critical distance

A difficult interpretative question arises in the study of Vachaspati: while writing on many philosophies, he presents each opinion only or even takes his own independent position. It cannot be answered without a close reading of the text. It 's easy, but risky, to find the same final say in all texts given the same author name. The genre of commentary often requires an argument within the context of the tradition being discussed.

Therefore, intellectual biographies and bibliographies ask for separate evidence. Questions such as whose work is the commentary, which objection is the antecedent, which answer is the principle, and which sentence is the editor or influenced by later traditions will be examined respectively. With this caution, Vachaspati does not symbolize the unity of all these philosophies but rather a complex example of impartial reconstruction, internal criticism, and linguistic originality.

Chapter Conclusion

Vachaspati Mishra 's philosophical significance lies in his multi-disciplinary reading, interpretive creativity, and the interplay of traditions. Parallel philosophy adopts the ideals of one school, one source, one interpretation, or one center as the ultimate authority, non-

distortion of differences, and acceptance of critical reading as intellectual rigor.

Chapter Bibliography

Vācaspati Miśra is the father of Samkhya Tattva.
Vachaspati Mishra was a philosopher by profession.
Vachaspati Mishra was a Bhamati.
Vachaspati Mishra on the philosophy of justice.
Vachaspati Mishra is the Tattvabindu.
Surendranath Dasgupta — A History of Indian Philosophy.
Karl H. Potter — Encyclopedia of Indian Philosophies.

Chapter 22 — Gaṅgeśa Upādhyāya

Gangesh Upadhyaya 's Tattvacintamani represents a turning point in the history of Indian ontology. The text 's four broad sections, namely the direct inference, analogy, and terminology, elevate judicial evidentiary theory to a level of meticulous analysis that formed the basis for the language and methodology of later neoliberal traditions. Modern research considers Gangesh to be an early central figure in the fourteenth-century matrilineal chief justiceship and judiciary.

22.1 Tattvacintamani: A Re-examination of the Evidence

Tattvacintamani is not just a summary of ancient Nyaya philosophy. Gangesh revisits many of the core concepts by borrowing questions from earlier Nyaya traditions, particularly those developed by Udayana and others. Knowledge is reality, evidence is evidence, and evidence is evidence. Words are no longer ordinary words. Everyone 's terms, limits, and exceptions are subtly determined.

A fundamental property of this method is that the terminology must be such as to avoid overlap and overlap. Overlap if the definition includes an object that is not the subject.lap if we leave out some examples of the subject. This kind of discipline is active behind the neo-judicial definition-craft.

22.2 Direct: The Structure of the Experience

Eyewitness accounts are not limited to those seen with the naked eye. The knower asks for an analysis of the relationship between the senses, the subject, contact, perception, and the reality of perception. Examples of fallacies are important because if silver is visible in the ink, then what is the structure of the fallacy? How is the quality of that which is not present imputed to the object?

These questions lead to a general epistemological lesson: the certainty of experience is not proved by the mere fact of having experienced it. The causality of the experience needs to be seen in relation to the context and the object.

22.3 Estimates and Scope

At the heart of Ganges 's speculations is the inextricable relationship of scope and scope, which is of particular importance. Smoke-to-fire estimation is appropriate when the relationship between smoke and fire is known to be an orderly one, not just coincidental. The question is how to know this universal relation. How to remove the possibility of an exception How the title, i.e. hidden bet can spoil the guess

This question is not the same as the modern arrival-problem, but problem-structural comparisons are useful. The limited known examples in both fields make the validity of the broad relationship questionable. Parallel philosophy uses this comparison and does not declare historical uniformity.

22.4 The Word and the Reliability

Most of the knowledge humans have comes from linguistic communication. So the question of verbatim is not just a question of religious texts but a basic question of social knowledge. The reason for the statement is known. When to Recognize the Credibility of a Speaker or Source The meaning of the word is uncertain. How to understand the meaning of a sentence

Modern uses of this criticism can extend to news, court, academic articles, expert opinions, and digital media. It would be wrong to assume that Ganges 's theory is a straightforward modern communication-theory, but the problem of reliable linguistic knowledge is certainly a common philosophical question.

22.5 The linguistic turn of the neo-Judges

Ganges 's writings began to develop a technical philosophical language capable of expressing relationships, virtues, and the subtle states of competition, subjectivity, and knowledge. The difficulty of these languages is well known, but their purpose is to reduce confusion caused by ambiguous sentences, not just to show scholarship.

Parallel philosophy draws inspiration from Ganges in the sense that subtle distinctions are never idle wordplay; they can be a means of preventing false generalizations. But if the language is too complex to communicate, the system may lose its social use.

22.6 Mithila and the Geography of Knowledge

It is not merely a question of pride to place Ganges in the intellectual history of Mithila. The question is, what kind of educational institution, scripture-cultivation, manuscript-tradition, and guru-disciple network made it possible for such a philosophy to develop. Knowledge arises from the genius of the individual; but institutions, language and debate-culture influence their form.

The parallel historiography therefore looks beyond the biography of the philosopher to the social basis of knowledge.

Pūrvapakṣa (Prima Facie View): Excessive subtlety cuts philosophy out of life

There is some truth to this contention. Public viewing is difficult if the technical language only serves to signal a closed scholarly community. But the answer is not to give up on subtlety. The proper way is to have a complex analysis and develop a clear common language.

22.7 The Four Questions of Philosophical Thought

Tattvacintamani is organised on the basis of four sets of axioms, namely, directness, inference, analogy and etymology. This division is not merely of the external sequence of texts; each section reveals a different problem of origin, authenticity, error, and linguistic expression. Questions of direct sense-object relations, scope and suggestion in inference, analogical sense in analogy, and syntax and reliability in words arise.

The discussion of the four proofs shows that they are not the only answer to the question of how we know. Eyewitness account and trained speech are not the same process; however, both can provide verifiable information. The initial premise of multidimensional rationalism is as follows: evidence is many but not arbitrary; the means to each is the proper object and the typical form of failure.

22.8 Scope: More than one iteration

The heart of speculation is the inextricable link between reason and the possible, from known signs to unknown conclusions. It is not enough to see the fire with smoke only a few times, as accidental coincidence does not prove universal association. In the opposite example, it is necessary to check the actual relevance of the title, context and purpose.

Ganges analysis does not consider estimates to be mechanical formulas. The relation of memory and critical sense to the mental process of applying known premises is also important. The lesson for modern texts is that correlation is not immediately causal or necessarily causal. The data are useful, but the conclusions would be poor without examining the sample, alternative causes, measurements, and counterarguments. It is not the equivalent of modern science, but a comparable form of logical reasoning.

22.9 Clarity of Intersections and Relationships

In ordinary language, it is easy to say that something is related to someone, but in philosophical debate, confusion occurs when the type of

relationship is unclear. Questions such as what constitutes merit, how does the subject matter of knowledge relate to knowledge, and what is considered lacking in authority necessitated the term demarcation. The language of the clause describes what the claim is limited to, such as religion or a relationship.

These nuances are not superfluous if they remove the actual ambiguity. But the technical term itself is not proof. If the terminology is so complicated that the opponent cannot understand the underlying claim, the dialogue will fail. Parallel philosophy maintains two criteria: technical language should preserve the essential distinction of meaning, and every technical statement should be reproducible in simple explanations and examples.

22.10 The Knowledge of the Absence

There is no book on images: how is it possible to have such negative knowledge? I see things missing, or the lack of a suitable location a direct and expected failure. In the Nyaya tradition, the perception of scarcity as an actual substance-category developed, but there was subtle controversy over the means and nature of knowledge of scarcity. Gangetic analysis does not treat negation as a mere linguistic convenience.

Lack of knowledge is also of social importance. Missing a name from the record could be evidence, but does not mean it did not happen right away. The practice of creating records, preservation, and access will be

scrutinized. Absenteeism after a qualified search can change the burden of proof; in disorganized or biased records, silence will be weak evidence. Judicial discrimination prompts such caution in the source-review of history.

22.11 Authentication and error-correction

How is the truth of knowledge ascertained, whether knowledge itself reveals its truth or whether truth is known by subsequent successful persuasion and confirmation? The Nyaya tradition also sees the role of causation, merits and demerits, and fruitive tendencies in favour of virtue. From this point of view, we can only conclude that it is not enough; it is necessary to check whether the knowledge-generating process was reliable.

Modern institutional forms of the doctrine can be found in peer review, review, appeal, and public cause, though these are not direct translations of jurisprudence. The important clue is not to give up knowledge by assuming mistakes are possible. Rather, error detection methods make knowledge more responsive by explaining contradictory evidence, failed behaviors, faulty tools, and unreliable speakers.

Chapter Conclusion

The importance of Gangesh Upadhyaya lies in his re-analysis of four areas of phenomenology: the subtleties of inferential scope, the examination of linguistic knowledge, and the development of a

neologistic analysis-language. Parallel philosophy assumes from his method a basic principle: that clarity can be the enemy of opinion; that a careful examination of relations and evidence can form the basis of just conclusions.

Chapter Bibliography

Gangesh Upadhyay Tattvachintamani.
Udayanacharya is Nyayakusumanjali, Atmatattvaviveka.
Dinesh Chandra Bhattacharya — History of Navya-Nyāya in Mithilā.
Bimal Krishna Matilal — Logic, Language and Reality.
Stephen H. Phillips — Epistemology in Classical India.
Jonardon Ganeri — Philosophy in Classical India; The Lost Age of Reason.

Chapter 23 — Navya-Nyāya: The Subtle Discipline of Language

Neo-Nyaya is not merely a new school in Indian philosophy but the development of a distinct language and method of philosophical analysis. In this tradition, after Gangesha Upadhyaya, the relationship of concepts was expressed with such subtlety that it became a style of technical analysis distinct from the usual Sanskrit philosophical prose.

23.1 Why is it a difficult language

If I see something wrong somewhere, the sentence is enough for normal communication. But philosophical analysis may ask: What is the subject of knowledge? Subtract: A subtraction is a property of a component. What is the relationship between the knower and the known? What are the limits to the presence of objects in knowledge? What is the difference between memory and perception?

When the question is subtle, ordinary language sometimes proves ambiguous. Neoliberalism gives a hierarchical language to relationships to reduce this ambiguity.

Section 23.2: Relationships and Boundaries

A major tendency of neoliberal analysis is to explain the relationship between what is true and what is false. A quality creates confusion by making the question of what is present in an object, in relation to what, and with what characteristic, clear without limitation.

This kind of language is not the same as modern formal logic, but the common motivation for both is clarity. According to the rules of comparative philosophy, problem-structural equivalence can be considered, not historical equivalence.

23.3 Definitions and defects

Neo-justice tests definitions on a very rigorous set of criteria. Diffusion, overlap, and impossibility - these fallacies are not just wordplay; they show whether the definition holds up to actual examples.

This method has direct intellectual benefits for contemporary public discourse. Nationalism, religion, violence, corruption, freedom, and a small number of scientific terms are used in debates without clear definitions. The conclusion is also misleading when the definition changes.

23.4 Navya - Nyaya and Mithila

Mithila remained one of the major centres of neo-judicial development. After Ganges, the complex tradition of judicial study developed here and later spread to other centres, including Navadvipa. It is inappropriate to make this history the private property of a region.Intellectual traditions travel, students and manuscripts change center, and languages take on new forms.

The parallel view accepts territorial contributions here, but does not claim overlapping ownership.

23.5 Subtlety and the Stress of Communicating

Criticism of the new justice has been that its technical language became too difficult. This criticism is not to be taken lightly. Social interaction is reduced if the exposure is limited to trained professionals.

But there is also the flip side of difficulty. Mathematics, jurisprudence, medicine, and computer science all make technical language because common words are never enough. The question is whether the need for a strong language arises from the necessity of the subject, or whether the reputation arises from the performance.

Parallel philosophy proposes two levels: absolute subtlety in expert analysis and clear translation in public discourse.

23.6 Neoliberal education in the digital age

In digital media, the narration is short, sharp and devoid of context. A dispute arises when the meaning of a word changes. Here, the discipline of the new judge is noteworthy. Explain the topics of discourse, boundaries, relationships, exceptions, and precedents.

This is not to make neo-justice a modern fact-check but to learn from an ancient tradition of analysis for a modern intellectual discipline.

Pūrvapakṣa (Prima Facie View): Excessive analysis destroys the complexity of real life

Sometimes subtle divisions can tear apart the overall experience of life. The answer is that analytics is a tool, not a final vision. It is necessary to understand the part and then return to the whole.

23.7 Interior map of a neologism sentence

Neoliberal language breaks claims down into components: what is the subject, what is their religion, what kind of relationship, what are the boundaries of the relationship and who opposes the prohibition. Simple sentences such as blue are sufficient in practice, but if the issue is whether the blue is consistent with the blue, or with some other relationship, additional clarification is required. Technical terms create a philosophical blueprint for this clarity.

The value of a map is when it reduces ambiguity. The deception arises from the fact that the same word is used at a different level - it is difficult to change the subject abruptly or hide an exception from the general statement. But the map is not the terrain: formal analysis cannot replace experience, historical context and moral consequences. Neoliberalism is a tool of the parallel method, not the whole method.

23.8 Prohibition and Competition and Tribunals

Three questions are particularly important in a deprivation statement: what constitutes a deprivation, where is the deprivation, and in what relation is the deprivation. Trees in the yard are not called yard trees, but yard tribunals and designated relationships form the boundary of scarcity. Without these distinctions, the claim of ignorance may be unnecessarily broad.

The use of this device in public disputes is obvious. If the same policy is said to have no benefit, the question is, " What is the benefit, over what

period of time, on what indicators and on what basis of comparison? " Unexplained inhibition can be emotionally powerful but quantitatively debilitating. The neoliberal discipline links negative claims to measuring areas and countermeasures.

23.9: Gradual improvement of the sophistication definition

Philosophical definitions do not have to be perfect on the first try. The counterexample is to show the extent to which the definition should apply to the object missed or the overlap should not apply to the object missed or the impossibility. After that, the definition should be improved. This gradual process can be called refinement.

Refinement is not giving up; it is intellectual progress. If the new example breaks the old definition, the definition should be changed instead of pressing the example. But adding exceptions to every objection can also make the definition useless. So simplicity, explanatory power and ability to withstand counterarguments will all be tested.

23.10 Distribution of Responsibilities in the Scriptures

Who is Responsible for Providing the Evidence? Those who make positive claims have to give reasons, but even the opposition is not free from infinite doubts. If they point out specific flaws in the claim, they will give examples or arguments for the flaw. The neoliberal tradition teaches the distribution of responsibilities by specifying examples and titles for pledges.

In digital debates, the discussion is usually done endlessly, with unconnected links asking for sources or new conditions being added after each proof. This may be an escape from evidentiary duty rather than reasonable suspicion. Disciplined communication will first decide what kind of evidence is sufficient on which claims and which counterarguments can change the decision.

23.11 Difficulty of the Translator

The one-sentence translation of the terms neo-justice into modern language is often misleading. The meaning of the term competition or association opens with the context of the work and the dispute. Simply substituting in English does not make the concept clearer; sometimes it is necessary to include both the original term and a functional definition and example.

There are also challenging opportunities to rewrite the text. Giving examples in the vernacular shows the real function of technical terms. If the concepts are understood only in Sanskrit sutras or English commentaries, it is possible that their function is no longer clear. Translation is a test of knowledge in this sense, not just a replacement of words.

Chapter Conclusion

The importance of the Nyaya-Yajna lies in the meticulous discipline of language, rigorous examination of terminology and relationship-clarity.

Parallel philosophy borrows precision from this tradition but gives equal importance to communication. Without subtlety, thought is illusory. without communication, subtlety is useless.

Chapter Bibliography

Gangesh Upadhyay Tattvachintamani.
Raghunatha Shiromani is a selected text on Nyaya-Nyaya.
Dinesh Chandra Bhattacharya — History of Navya-Nyāya in Mithilā.
Bimal Krishna Matilal — Logic, Language and Reality.
Jonardon Ganeri — Philosophy in Classical India.

Chapter 24 — Folk Tradition, Śāstra, and Parallel Mithila

The philosophy of Mithila is not limited to Sanskrit texts, formal treatises, or eminent acharyas. Folklore, storytelling, stories, rituals, festivals, advertisements, agricultural life, women 's experiences, family relationships, and riverine landscape practices all embody the value of human life, time, the relationship between body and nature, and notions of justice. It is not appropriate to declare these materials without examining them, but it is also inappropriate to regard them as articles worthy of viewing.

24.1 The Philosophical Position of Folklore

Folk wisdom often does not come in the form of written doctrines. Those behaviors appear in the form of songs, stories, stories, or rituals. Because of this, particular care must be taken in their philosophical reconstruction. The theories that researchers derive from folklore may not always be self-explanatory.

The parallel method, therefore, distinguishes two levels: what the sources actually say and what the philosophical analyst proposes they mean. Combining the two would be an insult to the source.

24.2 Women - Experience and the Domestic World

Formal classical texts often speak the language of a public, ritual, or philosophical institution. In folk songs and domestic traditions, the experiences of marriage, separation, motherhood, labor, possessions,

pain, the body, the foreign family, and women 's autonomy come in different tones.

It is not enough to confine these sources to the realm of aesthetics by calling them simply folklore. They can also be documents of social morality and power structures. However, it is inappropriate to treat every song as a direct historical fact; one must understand the genre, context, and rules of performance.

24.3 Festivals: Nature and Time

In an agrarian society, seasons, rainfall, rivers, soil, sun, moon, crops and animals are not just economic resources; they constitute time, purity and the fabric of community life. Festivals express the essence of human connection with nature.

Modern eclecticism can communicate these sources, but should avoid romanization. Traditional practices can also be environmentally friendly or anti-environmental. Tradition by itself is not proof.

24.4 Scripture vs. the People: The False Conflict

Scripture is a very simple division of what is oppressive, what is liberating, or what is true and what is ignorance. In folk societies, caste, gender, superstition, and exclusion may be present; in classical traditions, self-criticism, logic, and liberation-criticism may be present.

Parallel philosophies apply the same critical criterion to both: which claim What kind of evidence is it? What are the ethical consequences? The sound of the crow The Silence of the Crow

24.5 The right to language and knowledge

If the darshan is only in Sanskrit, English, or the university language, the experience in the local language is automatically inferior. Writing down the philosophy of the text is therefore not only a task of translation but also a question of the public right to knowledge.

Expressing complex concepts in the mother tongue is a function of language enrichment. At the same time, caution is required so that technical terms do not create ambiguity in the name of correctness. The language has to be alive, accurate and communicative.

24.6 Parallel Mithila: Geography Not Methodology

In this text, Mithila is present at three levels: historical geography, the linguistic-cultural world, and the question of tradition. Parallel mythology does not mean a linear story of glory. It means bringing together on the same critical platform the Upanishadic dialogues of Samyavideha, Nyaya-Imamsa-Navyayana, folk life, feminine voice, regional languages and modern social questions.

No source on this forum is immune from criticism. This is what is meant by parallelism.

Pūrvapakṣa (Prima Facie View): To call folk material philosophy is to exaggerate the extent of

It is the objection that is important. Not every sentence is a philosophy, just as not every sentence is literature. The answer is that folk material, rather than the original texts of philosophy themselves, can be a source of philosophical questions. Philosophy is formed when concepts, arguments, values and opposites are clearly explained.

The plurality of the people within 24.7

They agree that it is a historical mistake to assume a pure and unchanging community. In the same village, experiences differ based on caste, occupation, gender, age, property, and religious affiliation. The practice can be celebratory for one group, or laborious or exclusionary for another. So the question of whose voice is speaking in the name of the people, who is silent, and whose experience is not documented, is essential.

Respect for common sense will not eliminate internal differences. Multiple versions of oral traditions, different recitations of songs, local forms of rituals, and anecdotes against Smriti are the standard material. In parallel, Mithila examines the distribution, context, and social function of versions, finding a genuine version and not corrupting the rest.

24.8 The Debate Within the Scriptures

Just as people are not the same, scriptures are not the same. The sutras, commentaries, commentaries, antiparticles, and practical treatises are responses to different historical moments. Scripture says that a sentence is incomplete unless the context of the text, passage, and usage are explained.

The examination of classical authority will occur at two levels. The first is what the text actually says; the second is whether that statement is morally or publicly appropriate today. Antiquity may confer historical significance, not moral infallibility. This distinction makes the study of tradition respectable and allows for criticism.

24.9 Behaviour and Practice and Justification

Just because a practice has been around for a long time is evidence of its existence and social stability; it does not automatically mean that it is justified. Reasonableness will depend on the question of who benefits from the practice, who increases costs, whether or not alternatives are blocked, and whether or not there is room for disagreement.

However, the quick judgment of an external reformer can also be flawed. It is important to understand the local meaning of custom, the variety of uses, and critical voices within a community. Parallel methods neither blindly defend nor ignorantly deny. they add participatory narration, source-review and dignity-based ethical examination.

24.10 Proof of the Oral Source - Discretion

Oral sources are not inferior to written records, but the method of examining them is different. The narrator 's location, memory span, context, audience expectations, recency, and comparison to other versions will be examined. Memories do not just hold events; they also reconstruct meanings, identities and present concerns.

If multiple independent memories converge on a structured experience, it gains quantitative weight. If the details are different, the differences themselves are a matter of study. The uncertainty of the date or number should be clearly stated, but for this reason it is not advisable to throw away all evidence of experience. The carefulness of oral history is the necessary condition of their respect.

24.11 The Border and Migration of Mithila

Considering Mithila only as a fixed geography makes the migration, cross-border connections from cities and multi-lingual life disappear. People carry with them languages, songs, food, memories and rituals; they also change in new places. It is easy to call change the collapse of an original culture, but historical life often goes on by mixing and rearranging.

The philosophical question is how identity maintains continuity. Are the similarities in language, memory, social relationships, or accepted self-talk? A single criterion is not sufficient in all cases. Coexistential realism views identity as neither pure essence nor mere desire; it views history

as the combined result of relationships, institutions, and self-determination.

Chapter Conclusion

The Loka and the Shastras are not contradictory worlds but separate records of human experience. Parallel philosophy places both the rigorous conceptual tools of scripture and people 's empirical material into critical discourse. A philosophical re-reading of Mithila would be credible if one were to engage with the tradition of introspection with pride and present Maithili folk tunes alongside Sanskrit texts.

Chapter Bibliography

The Upanishads of the Brihadaranyas.
Gautama wrote the Nyaya Sutras.
Gangesh Upadhyay Tattvachintamani.
The folk songs of Mithila are a source-specific critical use of oral and narrative traditions.
Bimal Krishna Matilal — Logic, Language and Reality.
Jonardon Ganeri — The Lost Age of Reason.

Part IV — Western Philosophy

Chapter 25 — Greek Questions

Ancient Greek philosophy occupies a central place in the history of Western philosophy, but it is historically inaccurate to regard it as the only beginning of human thought. Serious ideas about nature, order, morality, death, the kingdom, and knowledge also developed in India, China, Egypt, Mesopotamia, and other civilizations. The uniqueness of Greek philosophy should be sought in its questioning, treatise-tradition and development of reason, and not in subordinating it to other traditions of the world.

25.1 Arguing with myths: avoid the simple stories

Many textbooks consider the beginning of Greek philosophy to be a direct transition from mathematics to logic. Partially true to this statement, a more systematic and non-hierarchical explanation of the causes of this phenomenon has developed. But myth and rational thought are not entirely different periods. In Greek philosophy, gods and spirits and cosmic order and logic coexist in many forms.

Therefore, it is not appropriate to make the birth of philosophy a victory story like the end of superstition and the beginning of reason. The better question is when, how and in what context did the public standard of reasoning develop?

25.2 The nature of the Ionian question

Early thinkers associated with Miletus question the very essence or principle of nature. The ideas of Thales as water, Anaximenes as air, and Anaximander as apeiron are connected. Historical sources are limited and depend on later writers, so these ideas must be reconstructed with care.

The philosophical significance lies not in the scientific accuracy of the answers. Water or air is not the basic substance of modern science; the importance is that a tendency developed to find a systematic explanatory basis behind various phenomena.

25.3 Change and Sustainability

Heraclitus is famous for the importance of transformation, struggle, and process. Parmenides presents a sharp tension between the perception of change and the logical stability of existence. It would be too simplistic to limit this opposition to words that change everything in one sentence and nothing in another.

The basic philosophical question still survives: is realism essentially a thing or a process? How to survive a change of identity What is the meaning of the same river if the water changes continuously?

25.4 Number and Form and Order

The tradition associated with Pythagoras raises the question of the relationship between number and proportion, music and cosmic order.

It is difficult to separate the historical Pythagorean and later Pythagorean traditions, so definitive claims must be avoided.

The philosophically important question is whether mathematical structures are inventions of the world or man-made languages. Why does nature accept mathematical descriptions? This question goes back to the philosophy of science.

25.5 Atomism and pluralism

The ancient atomism associated with Leucippus and Democritus attempts to understand the changing visual world in terms of indivisible particles and spaces. It would be anachronistic to link the theory directly to modern nuclear science. The same word does not prove historical equivalence between atoms.

But equally important is the philosophical question of how complexity arises from simple entities. Whether the property is in the original component or derived from a combination Whether or not the spaces are real

25.6 The Sophist and the Public Argument

In the public life of Greek city-states, questions of oratory, citizenship, and justice grew in importance. To think of the Sophists as mere tricksters might be a Plato-influenced oversimplification. They raise questions of language, norms, natural traditions, law and relativity.

Against this background, Socrates ' method of questioning becomes clearer. Philosophy does not merely deal with the fundamentals of the universe; it deals with questions such as whether human life is just or whether knowledge and virtue are related.

25.7 Greece and the worldview

Parallel philosophy neither diminishes nor monopolizes the Greek tradition. Plato, Aristotle, the Stoics, and the Epicureans are all important commentators on worldview. But philosophy, like all other religions or mythologies born in Greece, can reproduce the colonial hierarchies of narrative knowledge.

The proper method of worldview demands equal scrutiny and respect for historical context and traditional freedoms. India 's justice should not be seen as a copy of Greek logic, nor should Greek logic be seen as superior to justice because of its precedence in history.

Pūrvapakṣa (Prima Facie View): The history of Western philosophy would be obscured if Greek philosophy were removed from the center

The answer is not to deny Greek centrality. Greece is certainly central to the development of Western philosophical traditions. The only objection is if the center of Western history should be made the sole center of human philosophy.

25.8 Change of Finding the Cause of Nature

The importance of the early Greek thinkers lay not in the simple title of first scientific treatise, but in their attempt to find a regular cause, root

cause, and principle of change in the explanation of natural phenomena. Water is limitless, air is number, change or non-change, all these different propositions are multiple answers to the same question: what is the basis of a diverse world and how is continuity possible between changes?

It would be anachronistic to regard these proposals as incomplete versions of modern chemistry or physics. Their proofs, concepts, and purposes were different. The philosophical value is that the traditional story is tested by rational argument and counter-argument rather than external authority. But the mythic language died out, and so did the straightforward history. Logic and fiction coexisted for a long time.

25.9 Controversies of change and sustainability

Heraclitus emphasizes the pervasiveness and counter-stress of change, while Parmenides argues for true existence as unborn, imperishable, and unchanging. It is insufficient to limit both to the slogan " They change everything " versus " Nothing changes everything. " The basic problem is that experience shows change, but logic assumes a statement is possible without stable identity.

Later Greek philosophy sought answers to these tensions through the concepts of matter and form, atoms and cause-and-effect. Parallelism contrasts this debate with the Indian idealism and transcendentalism or quality-of-matter debates. The common question makes possible a

dialogue of worldviews. not proving the historical indivisibility of words or conclusions.

25.10 The Sophist and the Public Argument

To call the Sophists mere charlatans would be a one-sided picture dependent on Plato. He questioned the power of language, education, civic success, and traditional forms and approaches to law. In the public life of the city-state, the art of oratory was a real political tool; therefore, the study of oratory was associated with both democratic participation and power.

The problem arises when the effect replaces the truth. Skilful speech can make weak causes appear strong. But an ineffective truth can also be ineffective in public life. The parallel method considers oratory as neither a complete fault nor a measure of truth; it examines the quality of reason, the independence of the listener, and linguistic strategy separately.

25.11 Nomos and the Fucis

The distinction between nature and human custom or law became important in Greek debate. The system in which justice is practised in one city may vary from city to city; this diversity raises the question of whether justice is merely a practice with a broad base. The diversity of practice opens up the possibility of relativism, but also shows the need for critiques beyond practice to criticize injustice.

A similar question arises in the comparative study of the practices and popular culture of Indian religions; however, to say that dharma = nomos would be a false equivalence. The two have different linguistic histories and philosophical fields. The comparison is useful at the level of questions: how transformative are the practices, which entities are legitimated in the name of nature, and how universal moral claims can be substantiated.

25.12 Tragedy and Fate and Responsibility

Greek tragedies are not philosophical treatises, yet they present complex experiences of karma, ignorance, fate, family, kingdom, and responsibility. Characters sometimes make decisions without full knowledge, and even good intentions can lead to disastrous consequences. Here evil arises not only from the will of the bad person but also from structure and limited knowledge.

Literary evidence is not the same as theoretical evidence, but it does expand the moral imagination. The story shows the human cost of abstract laws that hide conflict. Parallel philosophy uses tragedy as an example and experience, not as a historical fact or universal law.

Chapter Conclusion

The strength of ancient Greek philosophy lies in its multiplicity of questions: the origin of nature; change and permanence; number and substance; language and law; knowledge and the good life. Parallel

philosophy takes this tradition seriously but maintains a multi-pronged worldview. The history of philosophy is not the journey of a single torch, but the mutual illumination of many fires.

Chapter Bibliography

Fragments of Heraclitus are available for purchase.
Available in the section Parmenides: On Nature.
The Plato Early Dialogues. of the Republic. p.
Aristotle — Metaphysics; Physics.
Diogenes Laertius — Lives of Eminent Philosophers.
G. S. Kirk, J. E. Raven and M. Schofield — The Presocratic Philosophers.
Jonathan Barnes — The Presocratic Philosophers.

Chapter 26 — Socrates, Plato, and Aristotle

With Socrates, Plato and Aristotle, ancient Greek philosophy enters a new phase. The question of the essence of nature now joins man to the question of knowledge, virtue, justice, the state, education, the soul, and the good life. It is easy to tie these three philosophers together, but not necessarily. Socrates ' ideas are preserved mainly in the form of dialogues and questions.Plato develops the forms of justice, knowledge, and the broad structure of the state through philosophical dialogues.Aristotle combines experience, classification, logic, morality, and politics in a more systematic manner.

26.1 Socrates: The Moral Courage to Ask Questions

Socrates did not write any books on his own. His main sources of ideas are the dialogues of Plato, the writings of Xenophon, and the satirical works of Aristophanes. There are differences between these sources; therefore, the historical Socrates and Plato 's literary Socrates are not entirely the same. One thing that is clear, however, is that Socrates makes philosophy a matter of public inquiry.

His method was not to reject an opinion immediately but to ask for the meaning of words, to ask for examples, to point out contradictions and to force the speaker to re-examine the basis of his belief. What is courage? What is justice? What are the virtues? These questions were

not merely a play on words but a test of the moral foundation of the life one leads.

The philosophical significance of Socrates is therefore more in question than in answer. But asking questions is not the only philosophy. Being honest with the question, having a willingness to listen to the answer, and being able to change your mind is when questioning becomes philosophy. In this sense, one can see a comparative similarity between the Socratic dialogue and the juridical method: both present an ideal of truth-seeking dialogue, although the historical development is independent.

26.2 Knowledge and Virtue

A well-known assumption attributed to Socrates is that moral error arises from ignorance. If the person truly knows what is right, they will not do wrong knowingly. In this view, the importance of moral knowledge is extremely high. However, modern experience raises questions about the extent to which human beings knowingly do wrong; desire, greed, fear, groupism, and selfishness can dominate knowledge. Knowledge, therefore, may be a necessary condition of virtue, not a sufficient condition.

26.3 Plato: Justice and Knowledge and Form

The philosophy of Plato is one of dialogue. By comparing the just man and the just city in the Republic, he asks what is the relation between the orderliness of the human spirit and the orderliness of the state.

Knowledge is the difference between opinion and ignorance. What is the basis of one 's ability to govern? How does education affect the power structure?

Plato 's form-theory is generally associated with the idea that behind the changing sense-world there is a permanent intelligible form or ideal structure. Beautiful things change, but the concept of beauty itself is not just a collection of changing examples. There are many interpretations of this theory.The basic question for parallel philosophy is whether science needs a general structure beyond just visual examples. In Indian jurisprudence, the Buddhist hypothesis and Jain general-specific analysis can open a dialogue with historical paths apart from this question.

26.4 The metaphor of the cave and the politics of knowledge

The cave-forms of the Republic are famous paintings of knowledge and ignorance. Humans can perceive shadows as truths.Education changes perception. But there is also the political question of this metaphor: how can a claim to rule based on knowledge be valid when the truth is seen by the few and shadows the majority? Expertise is essential, but expertise does not eliminate civic equity. Parallel philosophy therefore questions the epistemic relationship.

26.5 The Limits of Plato 's Ideal State

It is unfair to dismiss Plato 's political philosophy as mere idealism. He makes a serious analysis of the relationship between education and character and power and agency. But the parallel text asks what the

location of the woman is. Where is the voice of a slave? How much space does the working class have in decision-making? The experience of foreigners and defeated communities. The great texts of history should be read with their answers, as well as their silences.

26.6 Aristotle: The Classification of Experience and the Causes

Aristotle was a disciple of Plato but took a different path on many questions. His work spans logic, metaphysics, biology, ethics, politics, poetics and linguistic analysis. Aristotle considers many levels of causation, material forms, and motivational causes and purposes to explain matter. Modern science does not accept causative explanations in all contexts, but the Aristotelian insistence on distinguishing types of causes is still philosophically useful.

26.7 Virtue Ethics

In Nicomachean Ethics, Aristotle considers the good life to be a question of character-building rather than mere rule-following. Virtue is something that is built up through practice. Courage is not the absence of fear. it is the sensible standing between fear and defiance. Liberty, temperance, and justice are all connected with the formation of human character.

This view has the advantage of treating moral life as a long exercise rather than a single decision. The limitation is that the Middle Way does not apply to every injustice. It would be a moral mistake to find a middle

ground between slavery and racial humiliation or misogyny. In some cases, an explicit prohibition is necessary.

26.8 Politics and human welfare

Aristotle regards politics as the practical science concerned with human welfare. Human beings are socio-political beings, fully integrated into human development institutions and communities. However, the limits to citizenship in their historical societies were narrow. Women, slaves, and many laborers were not considered full political citizens. Parallel philosophy establishes an important rule here: take philosophical insights but do not make their historical exclusion invisible.

26.9 Parallel Lessons from the Three Philosophers

Socrates teaches the ethics of questioning.Plato the relationship between knowledge and justice and institutions.Aristotle the systematic analysis of character and experience and politics. However, the three are not to be regarded as the only roots of European philosophy. He is a centre, not the only centre, in the great tradition of world philosophy. The independent philosophical beginnings of Indian, Chinese, Iranian, Buddhist, Jain, Mithila and other traditions will be read with equal reverence.

Pūrvapakṣa (Prima Facie View): Why We Must Examine the Great Texts in a Modern Moral Test

Objections may be raised that the slavery or femininity of ancient societies is unhistorical to examine by modern standards.

Uttarapakṣa (Response): It is necessary to understand the historical context but not prohibited by moral judgments. We can understand why an idea was possible in its day and at the same time ask whether its arguments are acceptable today. Historical understanding and ethical criticism are not mutually exclusive.

26.10 Socratic Ignorance and the Responsible Question

Socrates Ignorance means not knowing anything about everything. This means recognizing the limits of one 's claim and not assuming prestige or majority or self-confidence to be evidence of knowledge. In dialogue, the question subtly shows that the initial definition does not tolerate exceptions: examples conflict with one another, or the speaker is unconsciously assuming two opposing affirmations.

Such questions can become a tool of insult if the questioner simply defeats the other by hiding his or her conclusions. In the Responsive Aesthetic method, the questioner will also be open to experimentation, explaining the position, and taking the opponent 's answer at face value. The goal is the consistency of the claim rather than the individual.

26.11 Plato 's Form and Level of Knowledge

Plato 's form-theory is an attempt to understand the relationship between changing particular objects and static knowledge. Many beautiful things change, but the idea of beauty is only the choice of the moment whether there is a more stable standard It would be a mistake to think of form as a physical object in space; it is a metaphysical proposition based on the definition and evaluation of the object 's perception.

The metaphysical principle raises objections to participation, separation, and infinite regress, and Plato 's dialogue does not conceal these difficulties. Parallel studies read the self-reflection along with the findings. It is more believable to see a philosopher develop questions in his dialogues rather than locking him into a fixed belief system.

26.12 The Triangle of Souls and the Moral Struggle

Plato sees human actions as having different motivations from reason, passion, or desire. Mere explanation of ignorance does not suffice when man does the opposite of what he knows to be right. The triune nature of the soul is a model for understanding such internal conflict, rather than a scientific description of bodily entities.

Comparing this psychological division of the state to classes carries moral and political risks. Functional differences within individuals are not evidence of congenital social hierarchy. Parallel philosophies accept Plato 's question of harmony, but examine independently the justification for fixing social status.

26.13 The Four Causes of Aristotle

To understand something is not just to say it is made of matter. Aristotle speaks of matter as the source of form and motive as the cause of nature. The stone material and motif for the sculpture may be the motivating factor of the sculptor 's work and the intended use or intended purpose. The four causes apply in the same way to all things, and are not mechanical laws.

Modern natural science often emphasizes procedural reasons rather than purpose, but the language of function or purpose is still useful in understanding organisms, tools, and human institutions. Care is taken not to impute human motives to nature and not to replace the question of how things came to be.

26.14 Virtue and Practice and the Middle Way

In Aristotle 's ethics, virtue is not merely the observance of rules; proper conduct is character formed by choice and practice. Courage is not the absence of fear; it is the facing of fear in the right way for the right reasons. The middle way is not the mathematical middle. it is the proper conduct between excess and deficiency, according to the individual and the conscience of the situation.

There are also limitations to this view. Emphasis on character can make unjust institutions disappear, and the question of who makes the right decisions comes from social experience. Dignity-based ethics studies virtue in relation to rights, equality of status and structural justice.

Chapter Conclusion

Socrates, Plato, and Aristotle present three distinctive styles of philosophical history: dialogical theorizing and systematic analysis. Parallel philosophies assume their intellectual power but at the same time ask who got the right to knowledge, what citizenship was for, and what experiences were left out of philosophical history. Respect for noble

traditions does not preclude criticism of them; on the contrary, harsh criticism is a serious form of respect.

Chapter Bibliography

Plato — Apology; Republic; Meno; Phaedo.
Aristotle — Nicomachean Ethics; Politics; Metaphysics.
Xenophon — Memorabilia.
Gregory Vlastos — Socrates: Ironist and Moral Philosopher.
Terence Irwin — Plato's Ethics; Aristotle's First Principles.
Julia Annas — An Introduction to Plato's Republic.

Chapter 27 — Medieval Philosophy

The term Middle Ages itself is a special European time division. Applying this mechanically to the history of the entire world leads to confusion. During the Middle Ages in Europe, India, the Islamic world, Jewish intellectual centres, China and other regions underwent distinct historical chronologies and philosophical transformations. Thus, in this chapter, medieval philosophy is used primarily in the context of European, Islamic, and Jewish philosophical discourse.

27.1 The Myth of the Dark Ages

Popular history sometimes tells the story of a darkness after Ancient Greece and then the sudden light of Renaissance / Modernity. It is a very simple line. Syrian, Arabic, Persian, Jewish, and Latin scholars contributed greatly to the preservation, translation, and criticism of Greek philosophical texts. Philosophy was not destroyed and reborn; it was transformed through many linguistic-cultural paths.

27.2 Faith and reason

A central question in medieval philosophy was the relationship between religious revelation and human reason. If truth comes from God, what is the independent role of philosophy? And if reason is free, how should religious texts be interpreted? The answer to this question varied in different traditions.

Augustine emphasizes the interconnectedness of faith and understanding. Anselm presents an argument for the existence of God. Thomas Aquinas makes a detailed synthesis of Aristotelian philosophy and Christian theology. However, if this European development is read separately from Islamic philosophy, the story remains incomplete.

27.3 The Role of Islamic Philosophy

Al-Farabi was not the only patron of Greek philosophy, along with thinkers such as Ibn Sina, Ibn Rushd, and al-Ghazali. He developed his own free-questioning criticisms and theories. Ibn Sina 's Existential Theology and the Difference between Essential and Possible Existence, The Self-Criticism. Ibn Rushd 's Aristotelian Commentary. al-Ghazali 's Philosophical Criticism are all active constructs of medieval intellectual history.

27.4 The Jewish Philosophical Tradition

Like Maimonides, the thinker gives important thought to questions of scripture, logic, language, and the attributes of God. What we cannot say about God in negative theology reveals the limitations of language and the problems of religious knowledge.

27.5 The problem of the sovereign

Like human words, common words in reality indicate an independent common element, or simply a name for a number of individuals. The controversy between universal realism, nominalism, and conceptualism became a central question of medieval logic and philosophy of language.

Comparable echoes of this question can be found in Indian generalizations and semantic discussions, but it is not appropriate to assume a historical equivalence.

27.6 Aquinas The Logic of Nature and God

Aquinas combines Aristotelian philosophy with the theology of Christianity. His fivefold path presents a variety of arguments for the existence of God, from change as a cause to probability, value-order, and purpose. Modern theosophy continues to debate these arguments extensively. Importantly for parallel philosophy, the question of faith was not declared outside the realm of reason.

27.7 University and Commentary and Scripture

Medieval European university culture develops the systematic form of questions (quaestio), objections, responses and conclusions. The morphological comparison with the Indian eastern and northern traditions is interesting. In both traditions, presenting and answering counterarguments is part of the intellectual style; however, social institutions and historical developments are different.

27.8 Religion and Power and Boundaries

It is not enough to simply call medieval philosophy a tradition of reason. Religious and political power, questions of heresy, women 's limited institutional access, and the status of Jews and other minority communities all influenced the social geography of knowledge. What has

been preserved is that the curriculum recognises that voices are not isolated from all structures of power, including institutional spaces.

27.9 Parallel Text

Parallel philosophy does not regard the Middle Ages as a failed precursor to modernity. These are complex times with their own set of questions. The intellectual output of this period formed the background for many questions in modern science, university law, metaphysics and philosophy of religion.

Pūrvapakṣa (Prima Facie View): Medieval philosophy was nothing but theology.

Uttarapakṣa (Response): Religious questions predominated, but logic, language, existence, causation, knowledge, morality, and questions of politics and law received independent philosophical analysis. The boundaries of theology and philosophy are not always clear, but to call it non-philosophical is historically incorrect.

27.10 The Many Relations of Faith and Wisdom

To call medieval philosophy simply the suppression of reason by faith erases historical diversity. Some thinkers consider logic to be an explanation of religious truth, some distinguish claims based on verifiable inferences and revelations from natural intelligence, and others emphasize the limitations of logic. Belief and intellect are not two fixed camps; they are names of many relationships.

The question for the philosophical test is which conclusion is supported by public reason and which depends on specific religious postulates. Arguments within a religious community may be valid, but binding state

decisions require shared evidence. This distinction makes clear the scope of the reason for not offending the faith.

27.11 The Problem of Sovereign and Special Objects

Common terms such as human being, tree, or plant signify the actual universal entity: the shared form present in things, the concept of mind, or simply the name. Medieval Realism, Conceptualism, and Nominalism give different answers to this question. Controversy is not a language game, as knowledge is associated with classification and the framework of understanding God 's creation.

The comparison with the common misconception and semantic debate about Indian ethnicity is useful, but the historical similarity in terms of similar terms is untenable. In both traditions, the problem-space and the structure of the argument are to be examined. The goal of the comparison should be to see the strengths and limitations of alternative solutions rather than simply to prove what was said before.

27.12 Existence from the Logic and Concepts of Anselm

Anselm 's famous argument attempts to deduce existence from the concept of God. The strength of the argument lies in the question of whether the highest possible being exists only in the mind and whether that concept leads to opposition. Critics ask whether the external existence of a thing can be proved by adding completeness to its definition.

This debate should not be taken as a one-sentence miracle. Concepts and probabilities must explain the relationship between existence and reality. Whether the argument succeeds or not shows that the question of God is not merely a question of finding empirical objects. the nature of metaphysics and logic itself enters into dispute.

27.13 Thomas Aquinas and the Path of Reason

Aquinas presents a number of paths from motion, causality, probability, and order of values and the world to God. They are not a repetition of the same argument. Each path begins in the empirical world but assumes a principle of causal dependence and final interpretation to reach conclusions.

Criticism asks why an infinite series is impossible, why the first cause is the God of religious tradition, and how much the order of the world can be understood from natural processes. The parallel method checks each additional statement separately by reconstructing the argument in its stronger form.

27.14 The Islamic and Jewish Philosophical Dialogue

Medieval philosophy is not just the story of Latin Christian Europe. The Arabic and Jewish philosophical traditions were decisive in the preservation, translation, criticism, and new development of Greek texts. The questions of intellect, revelation, soul, creation, essential being and law swirled in the multilingual intellectual world.

Knowledge reached the West from the East, and even this simple story is insufficient. Translation choices vary by vaccine, institutional protection, and political context. To do justice to history, it is necessary not only to name ideas but also to clarify knowledge-transmission relationships, debts, and disputes.

Chapter Conclusion

The history of medieval philosophy is also the history of the multilingual circulation of knowledge. The Greek, Arabic, Jewish, and Latin worlds became intertwined with translation, criticism, and reinterpretation. Removing this period by calling it Darkness destroys the complexity of history. Parallel philosophy reads history not as a straight line of progress but as a multicentric dialogue.

Chapter Bibliography

Augustine — Confessions; City of God.
Anselm — Proslogion.
Thomas Aquinas — Summa Theologiae; Summa Contra Gentiles.
Avicenna (Ibn Sīnā) — The Metaphysics of The Healing.
Averroes (Ibn Rushd) — Long Commentaries; The Decisive Treatise.
Al-Ghazālī — The Incoherence of the Philosophers.
Maimonides — The Guide for the Perplexed.
Etienne Gilson — History of Christian Philosophy in the Middle Ages.

Chapter 28 — Descartes, Spinoza, and Leibniz

In seventeenth-century Europe, the question of the basis of certain knowledge intensified amid science and mathematics, crusades and political changes, and the transformation of the institutions of knowledge. Descartes, Spinoza and Leibniz are often referred to as the intellectuals. This classification is useful for study, but the ideas of the three philosophers are not identical.

28.1 The methodological doubts of Descartes

Descartes seeks a faith that can withstand the severest test of doubt. The senses are confused. dream experiences can explain the waking experience. so they gradually doubt their beliefs. But one thing that cannot be denied when doubting is the contemplative existence of the doubter. This is where the famous conclusion of the cogito comes in.

The purpose of this doubt is to find a definite basis, not a permanent doubt. Parallel philosophy accepts Descartes ' skepticism as a disciplined method, but does not regard universal skepticism as the norm of everyday knowledge. The Nyaya tradition examines the specific causes of suspicion, while Descartes systematically raises broader doubts. Comparison is useful and should not be confused with equality.

28.2 The Duality of the Mind

Descartes distinguishes between the mind as the deliberative element and the body as the expansive element. This division leads to new

questions of consciousness, identity and the body. But then the difficulty arises as to how these different elements form a causal relationship with each other. Many of the questions of modern philosophy of mind are connected to this Cartesian heritage.

28.3 Spinoza: One element is a number of properties

Spinoza replaces the dualism of Descartes with a monism. Ishvara or Prakriti is understood to be two names for the same infinite essence. Mind and body are not two independent entities but different qualitative expressions of the same reality.

In the philosophy of Spinoza, freedom is not an arbitrary will. I am part of the cause-order. Real freedom lies in understanding needs, breaking free from emotional bondage and developing intellectual life. In this view, ethics links back to a cosmological understanding.

28.4 Emotions and freedom

The importance of ethics lies not only in metaphysics; Spinoza understands fear, hope, jealousy, love, hatred and desire causally. Rather than dismissing emotions as mere moral quandaries, one must understand their origins. A direct analogy with modern psychology is not appropriate, but the causal analysis of emotional life is philosophically remarkable.

28.5 Leibnitz: Reason enough

Leibniz asks why there is a zero. According to the doctrine of sufficient reason, a fact or truth must have a just cause. Simultaneously, he develops the theory of contradiction, the concept of possible worlds, monads, and preconceived notions of harmony.

The concept of the possible world has a broad influence in modern modal philosophy, although modern usage may differ from Leibniz 's original metaphysics.

28.6 The Monad and the Multitude

Leibniz 's monads are simple, indivisible elements that reflect the world in their own way. Different perspectives can give different presentations of the same world. Parallel philosophy may here take metaphysical inspiration from polytheism, but does not declare its theories to be the direct historical successors of Leibniz.

28.7 The Limits of Rationalism

Descartes, Spinoza, and Leibniz all held high ideals of mathematical clarity and logic and theory. But without sufficient connection to experience, reason can cut off the self from the world. For this reason, later empiricist traditions question where the content of thought comes from.

Caution of the 28.8 Classification

The textual division of the intellectual versus empiricist text is an early map of philosophical history, not the terrain itself. Descartes talks about experience. using Locke 's logic. Leibniz does not deny experience. Parallel philosophy studies each thinker in the complexity of their reasoning.

Pūrvapakṣa (Prima Facie View): The pursuit of a certain knowledge is an impossible ideal

Uttarapakṣa (Response): Absolute infallibility is not possible, but clarity and the ideal of cross-examination are valuable. The problem lies in making infallibility a necessary condition of knowledge. Parallel philosophy tends to favor error correction knowledge.

28.9 Limitation of reasonable doubt

Descartes 's skepticism is a method of finding a definitive basis for not permanently abandoning all belief systems in life. The senses sometimes give off illusions; dream experiences seem to awaken - and systematic deception in thought may be considered possible. But nothing is certain: the findings themselves are an act of skepticism.

The power of this method lies in removing unfounded beliefs; the limitation is that everyday knowledge does not demand infinite certainty. The court relies on scientific and civil probabilities, corroborative sources, and error-checking. Not all claims are created equal due to the lack of absolute certainty.

28.10 The Interaction of the Mind-Body

If the mind is a thinking substance without expansion and the body is an expanding substance, how do the two affect each other? The desire causes the hands to rise, and the hurt causes pain. Descartesian dualism preserves the distinction between the individual consciousness of experience and the physical body, but makes interaction difficult.

Modern consciousness-philosophy has a new form of this problem; however, to say that Descartes is directly opposed to modern neurology is incorrect. Historical theory should be understood within the context of the mechanical nature of its time. Parallel studies do not devalue personal experience and require public scrutiny of physical evidence.

28.11 The Monotheism of Spinoza

Spinoza considers God or nature as the only infinite substance. mind and body are not independent substances but are understood as different qualitative expressions of one reality. Here, God is not the cause of craftsmen outside the world. This leads to tension with traditional individualistic theosophies.

Monothelitism is similar to Advaita in that quick conclusions are often wrong. The ideological background of intellectual love is different, as are Brahman, Maya, the quality of the self, moksha, and Spinoza 's quality of matter. The comparison must be to a question of dependence, unity and difference, not semantic indivisibility.

28.12 Necessity and Freedom and Emotion

According to Spinoza, man often considers his will to be free because he does not know the cause of the will. Freedom does not mean an irrational choice; it means an adequate sense of necessity and an increase in active emotion. Knowledge of the emotions that make a person inactive under external factors can make a person more active.

This view encourages understanding by minimizing moral culpability, but eliminating accountability would make justice harder. Parallel philosophy combines causal understanding, prevention and improvement, and the defense of dignity. Social responsibility is concerned with the person being part of a chain of causation.

28.13 A sufficient reason for Leibnitz to

The theory of sufficient reason asks why this is so and why not otherwise. Just counting events is not an explanation. Leibniz tries to understand the existence and order of the world through the distinction between truths necessary for a possible world and factual truths.

But asking for sufficient reason for everything begs the question of how the ultimate reason itself can be supported and whether human knowledge can reach that reason. Theory is a useful question in applied research, not a claim to have found a complete explanation. The search may continue as uncertainty is accepted.

Chapter Conclusion

From Descartes ' discipline of skepticism to Spinoza 's unity of reality and causal understanding, Leibniz brings out the seriousness of sufficient reason and probability. All three together form the major questions of modern European metaphysics and epistemology, but it is not appropriate to confine them to a single intellectual room.

Chapter Bibliography

René Descartes — Meditations on First Philosophy; Discourse on Method.
Baruch Spinoza — Ethics; Theological-Political Treatise.
G. W. Leibniz — Monadology; Discourse on Metaphysics; New Essays on Human Understanding.
Margaret Wilson — Descartes.
Michael Della Rocca — Spinoza.
Robert Merrihew Adams — Leibniz: Determinist, Theist, Idealist.

Chapter 29 — Locke, Berkeley, and Hume

Locke, Berkeley and Hume are often considered the three principal names of the British empiricist tradition. They find common ground in the importance of the initial content of empirical knowledge, but their conclusions about the causality of matter and spirit in the external world and the limits of knowledge are very different.

29.1 Lock: From where the contents of the mind originate

Locke questions rigid forms of innate thought in his essay Concerning Human Understanding. Sensation and self-examination form the main source of experience. Simple ideas come from experience; the mind forms complex ideas by their combination, comparison and abstraction.

In this view, the limits of knowledge are important. Human intelligence is limited; it is not possible to have definitive answers to all questions. Adequate knowledge and aptitude for practical life also play an essential role. This epistemic humility communicates with the error-prone epistemology of parallel philosophies.

29.2 Primary and secondary properties

Locke distinguished between properties of matter such as size, volume, and motion, and those of color, taste, and smell. This distinction was later widely criticized. Berkley questions how the primary quality can be completely mind-independent when the secondary quality is mind-dependent.

29.3 Person - Passenger

Locke 's ideas on the nature of the individual are particularly influential. The person is not just the physical object or spirit; the continuity of consciousness and memory play an important role. But the memory is faulty. If forgotten, the identity is lost. From this question develops the modern philosophy of personal identity.

29.4 Berklee: A Critique of the Substance

Berkley questions the necessity of assuming an independent basis for physical matter that goes beyond direct experience. According to his famous idealistic formula, existence and perception / experience are closely connected. He does not deny the objects of ordinary life; he denies the philosophical necessity of an unknown foundation called materialism.

It would be wrong to simplify this theory by saying that the universe is fiction. Berkeley 's philosophy is associated with religious metaphysics, empiricism, and linguistic criticism.

29.5 Hume: Direct Influence and Ideas

Hume analyzes the contents of the mind as impressions and ideas. He finds that many philosophical concepts do not make the connection with experience clear. For this reason, he questions dogmatic claims about the soul, causality, matter, and essential relationships.

Causes of 29.6.

I watch one event after another over and over again, heat after heat, shock after shock. But we see firsthand the relationship between needs and wants. According to Hume, experience gives a regular sequence. the mind forms expectations out of habit. This analysis challenges the philosophical premise of causation.

29.7 The problem of the arrival

The assumption that the future will be like the past is both scientific and based on everyday life. But what is the logical justification for this theory? In the past, nature has been regular, so the future must also be regular; the argument uses appearances. Hume goes on to highlight this cycle.

29.8 Dialogue with the Indian Dispensation

The central question is how it is possible to have knowledge of the infinitesimal relationship between scope and attainment in Indian inference. Nyaya, Buddhism and other traditions develop different solutions to this. Hume 's problem of advent-doubt and scope is not the same historical problem, but a structural dialogue about the justification of generalizations is possible.

Caution is warranted in this comparison: the Court may have settled Hume 's problem earlier, or Hume may have rejected the Indian hypothesis: a statement without historical merit. The point is not to question each other and declare victory.

29.9 The Spirit of Hume Criticism

Introspection finds a permanent unchanging soul, whether it is the flow of changing experiences or not. Hume 's bundle-practice may be reminiscent of Indian Buddhist non-self-criticism, but the philosophical premise and the historical context are different. Comparative philosophy makes both similarities and differences clear.

29.10 Ethics and the Spirit

Hume emphasizes the role of emotion in moral judgments. Reason alone does not make a man do actions; sympathy, approval, and social feeling are the ingredients of moral life. Parallel philosophy learns from this that compassion can be merciless without reason, but emotion can also be biased without criticism.

Pūrvapakṣa (Prima Facie View): Empiricism itself may be considered a theory outside of experience.

Uttarapakṣa (Response): Empiricism is not a single rigid formula. The differences between Locke, Berkeley, and Hume show that the meaning of experience is itself a broader dispute over the role of the mind and the place of reason.

29.11 The structure of simple ideas and experiences

Locke regards experience as the source of knowledge, but the mind is not merely a passive storehouse. Sensing gives content from external objects, introspection gives insight into the mind 's own actions, and the mind forms complex ideas through comparison, combination, and abstraction. Criticism of innate ideas is not to deny the organization of experience.

The question of this view is whether experience itself is without conception or whether language and prior expectations shape it. Later philosophies show that it is not easy to tell which content is which. Parallel epistemology assumes a preference for perception, but clarifies the role of memory, language, social training, and inference.

29.12 Primary and Secondary Properties

They propose a distinction between the primary properties of lock size and span, number and speed, and minor properties of color, taste, and odor. The primary quality is believed to be in the object; the secondary quality is the perception of the object 's power and connection to the perceiver 's senses.

Differentiation preserves the reality of the external world; but the question arises whether the knowledge of primary qualities is also through perception. The findings of modern science should not be taken as direct evidence for Locke 's theory. The philosophical significance lies in explaining the relationship between the qualities of experience and external causes.

29.13 Berkley and perceived objects

Berkley questions the concept of physical matter as something that is theoretically separate from all perceived properties. I feel the colour, the shape, the hardness and the movement. Whether or not a completely unintelligible substance behind these qualities enhances human

interpretation. His idealism does not deny the regular experience of things, but questions their independent physical basis.

Such a ridiculous premise is not a fair representation of his argument, if not the observer. The constant realization of the Divine preserves material stability in their system. Criticism then asks whether the doctrine of divine providence is a means to salvation.

29.14 The Causes and Habits of Hume

I watch one event after another over and over again but do not perceive the necessary relationship directly from my senses. Hume links the belief in causality to regular phenomena and habits of mind. The belief that the future is in the past tense is the basis for every coming, but non-cyclic proof of that is difficult.

Science does not become meaningless with these criticisms. Science-controlled testing - comparing mathematical models, alternative explanations, and error-correction - is more reliable than simple habituation. However, the findings are subject to revision. Hume reduces the conceit to certainty, not the discipline of proof.

29.15 Personality and Memory

Locke links the continuity of the individual to consciousness and memory, while Hume sees in introspection a flow of experiences rather than a static soul. The question is whether memory loss alters individuals and how inaccurate memory affects responsibility.

Body and memory, social identity and moral relationships all play a role in continuity. A test cannot solve all the cases. Judicial responsibility, family relationships, and self-experience may raise different questions. The coexistential view does not consider the individual to be a permanent entity, only a temporary flux.

Chapter Conclusion

Locke raises fundamental questions about the origin and limits of knowledge, the concept of inanimate matter, Hume 's causality, the soul, and the appropriateness of advent. Parallel philosophies, in particular, put Hume 's Arrival-Doubt in dialogue with the Indian Enlightenment-discussion through problem-structural comparisons without historical uniformity.

Chapter Bibliography

John Locke — An Essay Concerning Human Understanding; Two Treatises of Government.

George Berkeley — A Treatise Concerning the Principles of Human Knowledge; Three Dialogues.

David Hume — A Treatise of Human Nature; An Enquiry Concerning Human Understanding; An Enquiry Concerning the Principles of Morals.

Barry Stroud — Hume.

Michael Ayers — Locke.

Kenneth Winkler — Berkeley: An Interpretation.

Chapter 30 — Kant

Immanuel Kant is the turning point in modern philosophy where the previous controversies of rationalism and empiricism are renewed. Their question is how is the experience possible? The Limits of the Level of Knowledge What is the basis of a moral duty? How it is possible to make an aesthetic decision How can a human being think independently?

30.1 Changes to the Copernican System

Kant proposes that in knowledge the mind is not merely a passive receptacle of material coming from outside. Knowing contributes to the structure of perception. Space and time organize experiences into forms of perception and categories of intelligence. For this reason, I know things as they appear to me in my experience. the knowledge of what things are in themselves is limited.

30.2 Before and after the experience

Kant gives new depth to the distinction between a priori and a posteriori knowledge. Also, discussing the difference between analytic and synthetic judgments, synthetic a priori asks for the possibility of knowledge. His project of understanding the universality of mathematics and natural sciences deals with this question.

30.3 The phenomenon and the noumenon

The phenomenal world is known in terms of experience. The concept of noumenon or object-in-itself marks the limit of knowledge: no direct knowledge of the simple, invisible world. Without this nuance, it would be misleading to summarize Kant as saying that we cannot know reality.

30.4 Causality and the challenge of Hume

The Causality of Hume had a profound effect on Kant. Kant considers causality to be the necessary intellectual category of not only habits formed later from experience, but also experiences understood in an objective order. In this way, he seeks to preserve the universality of scientific knowledge but also to clarify the limits of knowledge.

30.5 Ethics: Autonomy and the Duty of

In Kant 's moral philosophy, man himself is a law-making rational being. Ethics is not based solely on external rewards or desires. The categorical imperative demands that individuals act on rules that can become universal laws.

Another popular version says to treat humanity as always, not just a means to oneself or another person. The modern notion of human dignity is deeply connected to this idea.

30.6 Universality and equality

Kant 's moral universals are powerful because they can challenge moral privilege. If the rules are the same for rational persons, it is difficult to

have separate moral rules based on birth, rank, or personal gain. Parallel philosophies regard this universal urge as an important agent of a dignity-based morality.

30.7 But the Sovereign is of human origin.

Many times throughout history, universal language assumed the experiences of particular social groups to be normal human experiences. The experience of female colonized societies, racially excluded communities, laborers, slaves, or racialized communities remained outside the definition of philosophical humanities. So giving up universalism is not the solution. universalism must be filled with more real inclusion.

The Historical Limits of the 30.8 Kant

Some ideas about race and human diversity in Kant 's writing are the subject of serious criticism today. It is not right to hide this fact from philosophical history. A thinker 's great moral principles and his historical prejudices can coexist in the same person. The parallel method makes these contradictions the subject of study rather than removing inconvenient facts.

Freedom of speech 30.9

The natural world seems to be subject to the laws of causation; moral responsibility demands the notion of freedom. Kant tries to handle this tension through the phenomenon / noumenon distinction. This solution

is widely debated, but the question remains: if every action of mine is determined by a chain of causes, then what is moral responsibility?

30.10 Public Conscience and the Enlightenment

Kant links enlightenment to the courage of individuals to make public use of their intellect. The exercise of free conscience, coming out of a state-directed puberty, constitutes the crucial norm for modern citizenship. But for the real exercise of public conscience, education must entail freedom of expression and social equality. It is insufficient to say that hunger, ethnic oppression, gender inequality or colonial subjugation can only be exploited.

30.11 Comparative Dialogues with Indian Philosophy

Kant 's questions of the limits of knowledge and the conditions of experience can open a dialogue with many traditions of Indian philosophy, such as Nyaya 's objective knowledge, Buddhist epistemology, and Vedanta 's epistemological questions. But it is not right to make a direct equivalence. Comparison is fruitful when the problem-structure is clear, not just word-for-word similarity.

Pūrvapakṣa (Prima Facie View): Kant 's universal morality is highly abstract.

The objection is that real social relations, emotions, history and inequality are not adequately encapsulated in abstract laws.

Uttarapakṣa (Response): Criticism is appropriate, but universality itself is not. Without universal dignity, powerful groups can make their own special rules. What is needed is a solid analysis of the universal moral criterion + historical inequality.

30.12 The decision of the synthesizing antecedent

Kant 's fundamental question is how it is possible to have knowledge that enhances experience, but not merely generalizes specific experiences. Some basic decisions in mathematics and the natural sciences are examples of synthetic precedents for them. While adding new things to the subject of empirical methods, these empirical methods do not derive their necessary justification from experience alone.

Not every example of this classification is without controversy. The question arose again after the development of modern mathematics and science. The philosophical significance, however, is that it can be difficult to reconcile knowledge with only semantic truth and empirical fact. The very fact that knowledge is possible makes it a subject of investigation.

30.13 The Form of Sensation: Space and Time

Kant considers space and time to be the antecedents of human consciousness, rather than independent entities. What is found in experience is found in spatial or temporal settings; therefore, we cannot directly claim the objectivity of space-time outside of experience.

To call this a prediction of the modern theory of relativity is incorrect. Kant 's questions concern transcendental conditions of knowledge. the questions of modern physics concern the empirical-mathematical

theories of motion and gravity. Dialogue is possible, historical equality is not.

30.14 Degree of intelligence and experience

The senses provide the material, but experience as objects requires unity of intellect and conceptual quality. For matter and unity are not mere marks copied from outside; they make experience decisive. Here the mind is not the arbitrary creator of the world but the active organizer of experience.

The objection is to how Kant proves the completeness of the given quotas. Whether the concept of a different language or culture changes the organization of experience. Parallel philosophy acknowledges Kant 's active Enlightenment but adds socio-linguistic diversity more explicitly.

30.15 Autonomy and the ethical rules

Moral autonomy does not mean doing whatever the mind wants; it means accepting rules that apply equally to all reasoning individuals. A person is not just a means but a goal in itself. This was because coercion and exploitation degraded a person 's rational status.

But the critique of whether abstract rationality adequately captures body dependence, care and social inequality is significant. Dignity-based ethics associate autonomy with suffering, interdependence, and equal status and fair opportunity.

30.16 The Purpose of Beauty and the Common Decision

Beauty judgments claim shared acceptance, beginning with personal pleasure. Just because it 's beautiful is not the only thing you like to say; however, it cannot be forced by perceptual evidence. Kant finds the basis for this strange universal claim in the free harmony of imagination and intellect.

Aesthetics are not exempt from social training and authority. The question of what art should be considered prestigious, whose language should be literature, and whose craft should be relegated to the margins gives Kant 's abstract structure a historical test. Common judgment requires open criticism, not dominant standards.

Chapter Conclusion

Kant posits the active role of knowledge, the limits of experience, and the structure of causality as powerful forms of moral autonomy and universal dignity. Parallel philosophies, while acknowledging their universality, question their historical limits. Universalism would be just if the word human truly included all humans.

Chapter Bibliography

Immanuel Kant — Critique of Pure Reason; Groundwork of the Metaphysics of Morals; Critique of Practical Reason; What Is Enlightenment?

Henry E. Allison — Kant’s Transcendental Idealism.

Christine M. Korsgaard — Creating the Kingdom of Ends.

Onora O’Neill — Constructions of Reason.

Pauline Kleingeld — Kant and Cosmopolitanism.

Chapter 31 — Hegel and Dialectic

Hegel 's philosophy is an ambitious attempt to understand history, consciousness, society and reason in the same dynamic process in modern European thought. The fundamental strength of his philosophy lay in the idea that reality should not be thought of as a mere collection of static objects. Human beings, institutions, ideas, ethics and history are built within these shifting relationships. Resistance is not only a barrier to change; it is often a means to change. But to conclude immediately from this point that history has a definite end and an inevitable course or a universal destination is already settled is a parallel view of the text which takes caution on such claims.

31.1 From stationary object to a process

The Everyday Intellect tends to think of things as separate, ready, and fixed. But social institutions, moral values, political systems, or self-consciousness are not really fixed things. This is a result of the changing relationships within history. The thinking of Hegel emphasizes this dynamic. A concept finds its meaning not only in itself, but also in its opposites and relations. The question of what constitutes freedom cannot be understood apart from slavery, compulsion, law and social norms.

31.2 The meaning of the conflict

The formulas for the thesis Antithesis Antisynthesis are popular under Hegel 's name, but his actual method is more complex than this school

triptych. Importantly, the concept itself provokes tension that highlights its limitations. The imperfection of one form begets the need for another. This process becomes a method of understanding consciousness and the development of society and history, not just a technique for debate.

31.3 Relationship of Swami Sivananda

In Phenomenology of Spirit, Swami Suvarnadasa Prasanga had a profound impact on modern social philosophy. Self-consciousness is not solely accomplished through self-awareness; recognition of other self-consciousnesses is essential. The dominator simply wants to objectify the opponent, but recognition by that person can only be meaningful if he or she is free self-conscious. This contrast highlights the extent of the dominance. Parallel philosophy considers this idea to be a useful clue in the analysis of caste, class, gender, and colonial relations.

31.4 Freedom and the institution of

For Hegel, freedom is not just doing what we want. Real freedoms take social form through the law, the family, civil society and state institutions. The power of this idea is what makes freedom social. But there is also the danger that if the existing institutions are taken to be the full expression of reason, then the institution-consideration may weaken. Parallelism accepts the need for institutions, but does not regard any historical institution as a form of ultimate sanity.

31.5 The course of history

Hegel shows the extent of the consciousness of freedom in history. The motivating aspect of this idea is that history is not a pile of meaningless events; institutional change can have moral meaning. But turning history into a story of linear progression creates problems. Declaring a society that has not gone through European modernity as backward can give an ideological basis to the idea of colonial superiority. Parallel philosophy says to look for directions in history, but also to ask questions of direction, evidence, progress, cost, and displacement.

31.6 Indian and Mithila - Parallel Dialogues

There are many forms of opposition, transformation, and argument in Indian philosophy, but to call them precursors to Hegelian conflict would be anachronistic. The jurisprudential Purvapaksha, Purvottara Paksha, the Buddhist Madhyamaka pratipada-vibhagana, Samkhya 's qualitative changes, and Vedantic differences are all distinct historical approaches to debate. Useful comparisons are here so that truth-finding does not remove the opposition but makes it a means of reflection. Mithila 's shastrartha-samskara also develops the discipline of listening to the opposing side.

31.7 Precedent: Conflict is the law of history

One might say that every social order produces its own opposition, and from that opposition necessarily emerges the next higher state. From this point of view, the course of history seems logical and predictable.

Uttarapakṣa (Response): Opposition is real, results are out

Parallel philosophy accepts the reality of opposition but does not consider the outcome to be predetermined. A single protest can lead to reform, repression, dissolution, compromise or violence. Human actions, institutions, chance, technology, resources and moral choices influence the course of history.

31.8 Prohibition and protection within a conflict

It is often misleading to lump the Hegelian conflict into a fixed three stages of thesis antithesis synthesis. The important thing is that a concept provokes opposition within its boundaries, and its transgressions do not merely destroy the old but also negate some aspects, save some, and transform into new relationships. Because of this polyphony of Germanic terms, monosyllabic translation is difficult.

The use of dichotomy is only valid when specific perceptual transitions are shown. Just because there are two opposing events does not mean that it is a contradiction. The three questions will be clear: what is the internal tension, why the old form is inadequate, and which side does the new form save.

31.9 The master-slave relationship and recognition

Self-consciousness does not find itself complete only through observation; it needs the recognition of another self. In the struggle for dominance, the master seeks the recognition of the slave, but the forced

recognition is not of independent origin. The slave changes things through labour and gains a sense of his own power.

It is unreasonable to consider this metaphor as a complete explanation of every historical slavery or class struggle. However, it is useful to understand the unequal relations of belief. He who destroys the free judgment of those in authority will not receive the real recognition that comes with his praise. Respect is based on a sense of mutual freedom.

31.10 The Extent of Independence in History

Hegel reads history as the development of a consciousness of freedom. In this sense, institutions can give concrete shape to not only external bonds but also family, civil society and state freedoms. However, the linear direction of history and the tendency to consider Europe as the culmination is a matter of serious criticism.

The colonial and caste-feminine subjugations and regional experiences show that autocracy could coexist with a declaration of independence. Parallel historiography examines claims of progress on the evidence of both the privileged and the excluded. The meaning of history is not a predetermined end but a critical reconstruction of disputed changes.

31.11 Intangible rights and tangible entities

It is not enough to say we are free if property, education, law or social norms do not provide the means for free action. Hegel seeks concrete forms of freedom within institutions, moving from abstract rights to

moral life. To think of individuals and communities as complete opposites is wrong in this sense.

But institutions, while being instruments of freedom, can be instruments of domination. The state cannot be held above criticism as the embodiment of moral considerations. Legitimate institutions will accept appeals, rights of representation and public review. historical existence alone does not justify morality.

31.12 Systems and Incompleteness

Hegel 's philosophy forms the overarching system, linking nature and spirit, history and art, religion and philosophy. The advantage of the system is that the different questions appear to have hidden connections; the danger is that the experience not incorporated into the system may be called secondary or immature.

Aspiring to a parallel system of philosophy is not a claim to ultimate perfection. Write down the exceptions to a pattern, such as silence and source-boundary. Theories that neutralize resistance by calling it a necessary stage of history tend to avoid testing. A totality without introspection can become an intellectual entity.

Chapter Conclusion

Parallel to Hegel, philosophy takes three lessons: treat realism as a process, see opposition not as an enemy of thought but as a means of examination, and associate freedom with social institutions. But they do

not accept a predetermined end of history. Conflict is useful, determinism is not necessary.

Chapter Bibliography

G. W. F. Hegel — Phenomenology of Spirit.
G. W. F. Hegel — Elements of the Philosophy of Right.
G. W. F. Hegel — Lectures on the Philosophy of History.
Charles Taylor — Hegel.
Robert Pippin — Hegel's Idealism.
Frederick Beiser — Hegel.

Chapter 32 — Marx

Marx brings labour and production, property, class and material social relations to the centre of modern philosophy. His question is: What role does the economic and social structure play in shaping the institutions that humans think in and the moral language they use? If philosophy remained only within consciousness and did not look at factories, wages, land relations, property and division of labour, the real power structure of society might be lost.

32.1 The Historical Physical Vision

Marx does not consider history to be only the story of great ideas or great men. The means of production, the organisation of labour, property relations and class-structure form the framework of society. This is not to say that ideas are meaningless; rather, the social basis of ideas needs to be asked. Parallel philosophy expands the question of whose opinions are formed from experience, whose interests are presented as the common good, and whose experiences are left out.

32.2 Dissonance

In early Marxian antithesis, the worker can be the product of his own labor, the labor-process, and away from other human beings and his own human potential. If labour becomes merely a survival instinct and workers lose meaningful control over their work, not only economic exploitation but also human self-reliance is perverse. Parallel

philosophies modern extensions of this insight range from temporary employment and stage-based labor to migrant labor and unpaid care work.

32.3 Value of Goods and Services

Commodities in capital are not just useful things; they have exchange-value and social relations in the market. Analysis of objects shows that human social relationships appear to be related to objects. Value is inherent in the commodity while labour is the institution and exchange framework behind it. This analysis provides a means to question modern consumerism, brands, digital platforms and the data-driven economy.

32.4 The Class and the Power

Marx 's class-analysis is crucial to understanding the relationship between economic power and political power. The groups that control the means of production can gain not only economic benefits but also social influence. But parallel philosophy makes an essential expansion here: human beings are not just classes. Race, gender, language, religion, region, family, education, cultural capital and state identity also influence opportunity and dominance. Class analysis is necessary. not sufficient.

32.5 Ideology

It is not a question of ideology that all these ideas are false. The question is which social order presents its particular interests as the universal truth. Philosophical criticism is necessary if inequality is to be

axiomatized as a natural phenomenon, poverty as a personal failing, birth-based privilege as tradition, and the low value of labour as the law of the market. But to say that every moral ideal is only classless would also be a contraction.

32.6 The Revolution and the Reformation

Within Marxist traditions, there have been serious disagreements over the course of social change. Parallelism does not necessarily believe in a single historical model. Their criterion is whether the change enhances human dignity, freedom, equality and democratic participation. New autocracies, in the name of eliminating exploitation, do not sanctify the means to the goal.

32.7 Mithila and the Indian Context

Land, labour, caste and social status have been closely intertwined in Indian society. The language of class alone is not enough to understand the long-term institutional power of caste; the language of caste alone is not enough to understand economic inequality. Parallel philosophy proposes a multi-faceted analysis: birth hierarchy, property, education, language, gender, and regional opportunities can strengthen or weaken each other.

32.8 Preface: Explains the Basics of Economics

If production-structure is the basic foundation of society, then religion, law, art, morality and politics can only be considered its consequences.

Uttarapakṣa (Response): The cause is multifactorial.

Economic structures are influential, but social histories have overlapping causes. Religious institutions may change the property structure. caste may limit the labour market. laws may change the distribution of property. language may influence educational opportunities. Parallel philosophy expands economic analysis, not abolishes it.

32.9 The State of Indifferent Labor

In the analysis of alienation, the worker feels alienated from his product, labor-activity, human creativity, and other human beings. Instead of being the self-expression of life, labour may become the external compulsion for sustenance; the worker is not in control of what is made. This is not just a sadness but a structural consequence of the production relationship.

It would be premature to conclude that all salaried workers are equally disengaged. The degree of control, meaning security, cooperation, skills, and rights over the product is different. The analysis will examine actual workplace contracts and decisions. Psychological cognition and economic structure may be evidence of the other, not substitutes.

32.10 Commodities and Values and Social Relations

Commodities appear in the market as independent things with value, but behind them are labour, resources, ownership and the social relations of exchange. The analysis of Vastu Puja notes this reversal: human

relationships appear as relations of objects, and forces of objects as natural.

It is possible to dispute specific economic theories of value; however, the method of finding invisible relationships behind visible objects is useful. Cheap goods depend on the environmental cost or risk of labor. Ethical criticism requires proof of supply-chain wages and ownership; consumption guilt alone is not enough.

32.11 Ideology and the general intellect

Ideology is not just a list of lies. Social order may show its historical nature as natural, inevitable, or in the interests of all. Concepts that are embedded in everyday language and institutions can legitimize inequality even without explicit promotion.

But to dismiss every disagreement as a school of thought is self-defense. The critic will also check their location, interests and evidence. The distinction between claims that are factually incorrect, that are selective, that are value-based, and that are sustained by institutional advantage becomes an accusation without ideology.

32.12 The Man Who Made History

Man makes history, but not in his chosen vacuum of circumstances. Resources, class relations, technology, and political power make up the range of available institutions. For this reason, both strict determinism and absolute freedom of will are insufficient.

This duality is important for the political process. If everything decides the structure, then responsibility and change are meaningless. if only desire is enough, failure becomes the fault of the victim. Parallel philosophy places the three in a joint analysis of structural constraints, collective organization, and moral judgments of individuals.

32.13 Don 't reject a class beyond the class

Caste, gender, language, or religion are not entirely absorbed into the ruling class; however, economic resources influence these relationships. Differences in wealth within the same race or gender change experiences, while individuals with similar incomes may differ in social status and risk of violence.

Analysis is therefore the study of correlates, not correlates. The question of which institutions bridge economic and social hierarchies, which policies reduce one inequality to another, and whose voice dominates the organization demands concrete evidence. The square is the essential dimension, not the only key.

Chapter Conclusion

Marx 's lasting contribution is that he brought philosophy to the solid ground of labour and production, class and material life. Parallel philosophy accepts this power analysis, but economic determinism rejects it. Justice must look at class; at the same time, at caste, gender, language, region and other power structures.

Chapter Bibliography

Karl Marx — Capital, Vol. I.
Karl Marx — Economic and Philosophic Manuscripts of 1844.
Karl Marx and Friedrich Engels — The German Ideology.
Karl Marx — Critique of the Gotha Programme.
G. A. Cohen — Karl Marx's Theory of History.
David Harvey — A Companion to Marx's Capital.

Chapter 33 — Kierkegaard and Nietzsche

In nineteenth-century European philosophy, Kierkegaard and Nietzsche both sharpened the question of the individual 's life choices, values, and self-relationship against the larger system, though both take very different approaches. Kierkegaard emphasizes individual concerns and decisions, faith and existential responsibility; Nietzsche questions the origin of values, the genealogical power of morality, self-formation and cultural decay.

33.1 The person versus the system

If philosophical systems explain all of history, but the real person is left alone in moments of suffering, fear, love, death, and choice, then philosophy is incomplete. Kierkegaard 's main argument here is that human beings are not merely examples of a broad concept. Existence is the domain of living decisions. Some forms of truth have meanings that are related to how a person lives.

33.2 Concerns and the election

Anxiety is not just the technical meaning of mental illness; it is the vortex of possibility in a moral context. Man is free in many respects, and freedom brings responsibility. Not having an election can also become an election. Parallel philosophies accept this insight, but they add social limits; not all individuals are equally likely. Constituencies of the poor, caste-ridden, displaced or violence-ridden may be structurally limited.

33.3 Faith and Deception

Kierkegaard does not consider faith to be a mere intellectual conclusion. Religious existence involves risk, dedication, and personal decision-making. But in terms of public philosophy, limitations are necessary here: individual beliefs can have existential meaning for individuals, but additional common causes are needed to make public law or other personal binding rules.

33.4 The Genealogy of Nietzsche and Price

Nietzsche asks, " Where does the value of money come from? " The history of the word humility is similar to that of humility, which is the forgiveness of sins. Behind the moral claims of genealogical value, one finds power struggles, memory and institutional constructs. This method is extremely useful for parallel philosophy, especially in examining histories of race, gender, language, and social status.

33.5 The Limits of the Lineage

Finding someone 's value history linked to a power struggle does not automatically make that value false. The history of human rights is full of political struggles. The history of scientific institutions is intertwined with power structures, so not every conclusion of science is wrong. Genealogy opens the claim up for re-examination.It does not give a final verdict of fact.

33.6 The Philosophical Meaning of God is Dead

Nietzsche 's famous statement can only be condensed to mean a religious slogan. The question is, if the traditional ultimate value-source is to lose credibility in modern society, what will be the basis of value? This is where the crisis of nihilism comes in. Parallel philosophy seeks the answer to this question in a multifaceted foundation of dignity, reason, coexistence, compassion and public propriety.

33.7 Strength and self-building

Nietzsche 's critique of power gives rise to a number of interpretations. Parallel philosophy accepts the possibility of reading these forces not only as dominance but also as self-transcendence, creativity and the capacity for value-creation. But no one 's greater power gives them the moral authority to violate the dignity of others.

33.8 Parallel communication

Kierkegaard reminds that individuals do not merge with institutions; Nietzsche reminds that values are not immaterial. Parallel philosophies combine the teachings of both. See also Person and structure. Ask for a history of values, but don 't automatically draw moral conclusions from history.

33.9 Existential selection of the keyguard

The individual is not merely an example of a universal principle. he has to make decisions that are not absolutely guaranteed. Kierkegaard 's writing shows a tension between aesthetic, moral, and religious life-

views. Choice is not just making choices; it is taking on the forms and responsibilities of your life.

This force does not make private truth arbitrary. Factual claims call for public proof or how honestly the existential commitment was borne out in life is a different question. To us, the facts of history or science cannot be changed by telling the truth.

33.10 Frustration and Self Relation

Disappointment may not be just momentary sadness; it may be a distorted connection to one 's own potential and grounding. Self-segregation arises as a result of humans not accepting what is, or running away from the responsibility of what can be.

This religio-existential analysis should not be considered a diagnosis of modern mental illness. The clinical situation calls for an empirical evaluation. Philosophical language, however, can be helpful in describing the fear of meaninglessness, self-doubt, and choice if it does not replace healing.

33.11 The Genealogy of Nietzsche and Price

Values do not exist in a permanent and self-evident form; they are formed within history, conflict, body, religion, and social power. Genealogy asks when and in whose response and what kind of life was encouraged. This history will not simply be pointing to origins; it will be weakening or complicating the claim of present value.

Truth is not automatically destroyed by attributing origins. It may be appropriate if a value is born out of conflict. To avoid genetic confusion, independent ethical testing after history is desired. Genealogy opens up questions and is not the only criterion for a final decision.

33.12 Perspectiveism and the Truth

All knowledge is from some point of view; however, not all points of view are equally true. Body language, interests, and historical location change the focus of attention; different perspectives can show different sides of things. But objects and opposites put limits on perspective.

The multiplicity of viewpoints calls for more rigorous testing: whether the sources are independent, which side of the vision makes it invisible, and whether the opposing evidence changes the conclusion. Relativism eliminates antithesis. Disciplined positivism increases antithesis.

33.13 The Cautionary Text of the Power-Desire

It is too narrow to consider the will-to-power as simply a desire for political dominance or violent force. This self-transcendence comes in a variety of applications involving form-giving, value-creation, and active interpretation of life. It is especially important to distinguish the source-level between Nietzsche 's published work and his later collected notes.

Denying the rights of the vulnerable or glorifying oppression in the name of this concept is morally unacceptable. Paraplegmatic philosophy

examines the criterion of power to see whether creative self-abasement is possible without destroying the dignity of the other.

Chapter Conclusion

Existential choice and the genealogy of value are two powerful tools of modern philosophy. Parallel philosophies accept individual responsibility from Kierkegaard and value-checking from Nietzsche, but do not place faith or power above any public moral test. Genealogy is the beginning of criticism, not the end.

Chapter Bibliography

Søren Kierkegaard — Fear and Trembling.
Søren Kierkegaard — The Concept of Anxiety.
Søren Kierkegaard — Concluding Unscientific Postscript.
Friedrich Nietzsche — On the Genealogy of Morality.
Friedrich Nietzsche — Beyond Good and Evil.
Friedrich Nietzsche — The Gay Science.

Chapter 34 — Phenomenology and Existentialism

Phenomenalism tries to understand experience in the form it appears in consciousness. Existentialism sharpens within this experience questions of freedom, choice, death, anxiety, futility, responsibility, and authentic life. The two traditions are not to be confused, but there is a deep dialogue between them in many twentieth-century thinkers.

34.1 Return to the experience.

Husserl 's famous exhortation to return to the facts does not mean accepting ordinary experience without examination; rather, it means putting theoretical presuppositions into brackets and describing how experience manifests itself. Consciousness is always oriented towards something, this quality is called intentionality. Observe, remember, hope, and fear as the consciousness is oriented towards an object, event, or possibility.

34.2 The World of Life

Scientific abstraction is important, but human experience is not the only scientific measure. I live first in the world, I walk the streets, I make connections, I use objects, I speak the language, then I describe the scientific. The idea of a world of life shows the importance of this prescient experience. Parallel philosophy sees here the philosophical significance of folk wisdom, language, and everyday experience without scientific criterion.

34.3 Heidegger: In the world - will be

It is insufficient to understand human existence from a different brain-body. I am already inside the world, the tools and relationships, the history and possibilities. Mortality and timeliness change the meaning of a person 's existence. But while acknowledging the philosophical importance of Heidegger, critical discussion of his political history cannot be suppressed. Ethical review is necessary even if the idea and life history are separate questions.

34.4 Sartre: Freedom and Responsibility

Sartre 's famous idea that humans first come into existence and then make meaning out of their choices is read as a declaration of independence against predestined anthropocentrism. The excuse may be an attempt to escape one 's freedom through selfishness and immorality. But parallel philosophies question the freedom of speech. Hunger, caste, patriarchy, poverty, war, disability, imprisonment and state violence limit real possibilities.

34.5 The Body and the Experience

Later developments of the phenomenological tradition, particularly Merlo-Ponty, regard the body as a medium for experiencing the world and not just objects. I am not just a body. I am a physical being. Sickness, disability, gender, labour and place change the structure of experience. Body experience is important to the dignity-based ethics of Parallel Philosophy.

34.6 The other person

Other people are not just objects of my experience. Its vision is one of desire and freedom. Love, conflict, shame, belief, and violence are all created by the presence of other self-consciousnesses. The question of social justice finds empirical depth here: humiliation is not merely a lack of resources; it is connected to how one is seen and perceived in the public world.

34.7 Existentialism and social justice

A criticism of existentialism has been that it is sometimes overly personal. Parallel philosophy improves on this premise. The advice to choose is hollow when the person 's real options are closed. Freedom does not merely require the lifting of legal restrictions; it also requires education, food, health and safety, social respect, and a minimum level of political voice.

34.8 Mithila - The Parallel Experience

Regional languages, migration, floods, agriculture, women 's domestic labour, caste practices, festivals, and folkloric memories make up the world of these experiences. To place this experience in philosophy is not to romanticize public life; it is to structure and describe pain, meaning, and the relationship of being.

34.9 Intentionality: Consciousness is always the consciousness of something

According to the basic axiom of phenomenology, consciousness is not an empty vessel; it is always oriented towards something, whether seen or remembered, feared or imagined. Objects are not found complete in consciousness at once; their meaning is formed by perception, memory, and possible further experience.

Intellectualism is not necessarily a denial of the existence of external things. The question is first how the object manifests itself in experience. Parallel realism describes the structure of experience while holding that objects resist our expectations and allow for cross-examination.

34.10 Categorization and description

Phenomenological bracketing is not permanently denying natural beliefs; it is stopping to question whether things really are for a moment and see how they are given in experience. These pauses make the hidden structure of the familiar object appear closer to the body than it does to the background.

It is disputed whether a complete anachronistic description is possible. The language and selection already gives the meaning. Therefore, bracketing should be considered a self-aware discipline rather than an assertion of absolute fairness. The researcher will compare their vision to that of the writing and alternative descriptions.

34.11 Heidegger: To be in the world

Humans are not at first isolated, but later on connected to the outside world. They exist in a world made up of language, tools, and other people and possibilities, working from scratch. A hammer is generally understood as a tool for work rather than an object of observation; its physical properties are apparent when broken.

This analysis shows a preference for behaviour, but does not destroy the objective study of natural science. The instrumental world and the scientific description are levels with different purposes. To regard any one as the whole of reality would produce incompleteness.

34.12 Sartre: Liberty and Misandry

Sartre considers man to be a creature made by his own choosing, without a predetermined essence. Circumstances give boundaries, but individuals are responsible for their own interpretation and response to situations. Misandry is when one avoids responsibility by thinking of oneself as a mere object or a completely limitless freedom.

Extreme poverty, violence, or being told to choose between social bonds can lead to victim blaming. Independence is always a matter of position. Parallelism also measures the actual availability of alternatives, risks, and institutional constraints while acknowledging individual choices.

34.13 The body and the penis and the other

The body is not just the external object of consciousness. we live the world through the body. The capabilities of the body, pain, vision and

social meaning form the domain of experience. Social expectations and roles imposed on the gendered body can lead to negative experiences.

Biological facts and social meanings need to be separated out and reconnected. It is not right to deny the reality of the body, but it is also wrong to extract a stable social destiny from the body. Phenomenological descriptions provide personal experience; broader claims require multiple experiences and institutional evidence.

Chapter Conclusion

Phenomenalism explains the structure of experience; existentialism sharpens freedom and responsibility. Parallel philosophies accept the power of both, but do not see freedom as separate from social conditions. The individual chooses, but the electoral field is shaped unevenly by history and power.

Chapter Bibliography

Edmund Husserl — Ideas Pertaining to a Pure Phenomenology.
Martin Heidegger — Being and Time.
Jean-Paul Sartre — Being and Nothingness.
Jean-Paul Sartre — Existentialism Is a Humanism.
Maurice Merleau-Ponty — Phenomenology of Perception.
Simone de Beauvoir — The Ethics of Ambiguity.

Chapter 35 — Analytic Philosophy

Analytical philosophy is not a single theory but a broad name for a number of schools of thought in the twentieth and twenty-first centuries that emphasize language, logic, knowledge, science, and the microscopic analysis of mind and concepts. Frege, Russell, Moore, Wittgenstein and many later thinkers developed different directions in this tradition. This is of particular importance for parallel philosophies because the linguistic rigor of the neo-Jurisprudence makes problem-level communication possible, but it is inappropriate to declare a historical equivalence.

35.1 The New Twist of Language and Logic

Frege developed the distinction between statement structure and function, quantifier, and semantic context in modern logic. Russell showed by the analysis of descriptions that grammatical forms and logical forms can be different. Sentences like the one about the current king of France being bald show that ordinary grammar sometimes has hidden claims to existence. Many philosophical fallacies can be traced back to misreadings of linguistic forms.

35.2 Early Wittgenstein

The Tractatus attempts to understand the relationship between language and the world through imagery. Meaningful statements indicate a possible state of the fact. Logic explains the structure of language and the

world. But morality, beauty, and the meaning of life can be areas that are not expressed in the same way as factual statements. The impact of this border dispute was profound.

Wittgenstein after 35.3

In Philosophical Investigations, the point of view changes. The meaning of the word is in their use many times. Language is not a single rigid structure. it is a plurality of languages. Orders, questions, prayers, jokes, calculations, poems, and legal pronouncements are different from the rules of the day. The work of philosophy can sometimes be more about unraveling linguistic riddles than it is about theorizing.

35.4 Conceptual Clarity

The analytic method asks: What is the necessary and sufficient condition of a word like freedom because freedom is a person 's true duty? Although later philosophies showed the limits of strict definition, the value of explicit distinction remained. Parallel philosophy adopts this discipline: social debates based on vague terms quickly become confusing.

35.5 Logic and Ethics

Analytical philosophy is not just a language game. Much of modern ethics, political philosophy, philosophy of mind, science philosophy, and epistemology developed within this tradition. Analytical clarity is important in Rawls 's theories of justice, contemporary free will,

psychoanalytic relationships, personal identity, and artificial intelligence.

35.6 Dialogue with the Neo-Justice

The neologism develops highly nuanced technical language to describe the relationship, breakdown, lack of knowledge, scope, and linguistic structure. Analytic philosophy also subtracts logical forms, contexts, properties, relations, and conditions of knowledge. With these similarities, a comparative dialogue is possible. But it would be a historical mistake to say that Genghis was Frege or that neo-Nazi was modern symbolic logic. The purpose of the question is different from semiotics and philosophical background.

35.7 The Dangers of Subtlety

Technical clarity is useful, but if the language becomes too specialized to be penetrated by the wider intellectual community, philosophy may withdraw from social life. Both neoliberalism and modern analytic philosophy are familiar with this criticism. Parallel philosophy proposes a double authorship, requiring subtlety at the technical level and clear explanations for common text.

35.8 The problem is merged versus the problem is solved.

Some philosophical problems may be linguistic fallacies; with correct analysis, the problems disappear. However, not all problems are like that. Poverty, caste discrimination, religious violence, and the climate

crisis are not mere words. Analytical clarity explains the problem, and social action is necessary.

35.9 Premise: Clarity is the highest quality of philosophy.

If ambiguity is the source of confusion, then the work of philosophy must remain only clear definitions and valid arguments.

Uttarapakṣa (Response): Clarity is Necessary and Not Enough

A flagrant injustice can also be an injustice. A repressive rule may be logically absolutely clear. Philosophy, therefore, must combine truth with evidence, history with morality and authority with clarity.

35.10 Logical forms and ordinary languages

A branch of analytic philosophy looks for the logical form behind simple sentences. Grammatical surfaces sometimes give rise to confusion about existence or relation. The second stream considers ordinary language use, context, and linguistic behavior as the basis of philosophical clarity.

The two views are not mutually exclusive. In some cases, the formal form removes ambiguity; in others, contextualization removes meaning. The tool should be selected according to the problem. The universal domination of a single method would deny its multiplicity in analytic philosophy.

35.11 Russell 's description of the theory

A sentence would be meaningless or false if no real person could convey a definite description, such as the current king of Mithila. Description-

theory analyzes the sentence as a combined assertion of existence, oneness, and quality. This reduces the pressure to accept fictitious names or missing items.

The benefits of formal analysis are clear, but whether all names and descriptions fit into one framework is controversial. Social customs and contexts also determine the context in which the speaker speaks. Logical forms can provide the necessary explanations, not all of linguistic life.

35.12 The Early and Later Wittgenstein

Early Wittgenstein emphasizes the pictorial relationship of language and world, the limits of the narrative, and the logical form. Later writings relate the meaning to the use of language, play, and life-form. It is not enough to call this change a simple self-reflection; it changes the view of the source of the philosophical problem.

Just because something is useful does not make it an arbitrary social convention. Uses are regulated and the world resists successful or unsuccessful operations. Language-game differences explain the range of evidence; criticism between games is not impossible.

35.13 Questions on the Personal Language

If a word only conveys a private feeling whose public test of correct use is not possible, how can there be a difference between what is considered lawful and what is considered right? The private language critique does

not deny the privity of the experience; it shows the normative value of linguistic meaning attached to public practice.

Pain is personal, yet the language of pain is learned socially. The public test will not give the person the right to cancel the experience. Clinical measurement and self-report are both evidence but different aspects. Multidimensional rationalism does not reduce one to the other.

35.14 Conceptual analysis and the power of

Liberty Equality The definition of a nation or language is not just a dictionary question. The institution creates the official meaning of the term and distributes the authority. The concept of who speaks the language of the people, what works, and what damages are personal matters has political consequences.

For this reason clarity itself is not neutral, but neither is ambiguity a means of criticism. Using the term analytics, one sees the pros and cons of limitations and missing experiences. Social history is incomplete without conceptual analysis, and power-seeking would be blurred without clear concepts.

Chapter Conclusion

Analytical philosophy gives parallel philosophies linguistic clarity, logical discipline, and conceptual subtlety. India can be a partner in this dialogue, but the historic independence of both must be protected.

Substances are useful when they lead to wrong conclusions and increase public understanding.

Chapter Bibliography

Gottlob Frege — “On Sense and Reference”.
Bertrand Russell — “On Denoting”.
Ludwig Wittgenstein — Tractatus Logico-Philosophicus.
Ludwig Wittgenstein — Philosophical Investigations.
G. E. Moore — Principia Ethica.
Bimal Krishna Matilal — Logic, Language and Reality.
Jonardon Ganeri — Philosophy in Classical India.

Chapter 36 — Pragmatism

The fundamental strength of pragmatism is that it does not allow philosophy to become a mere abstract definitional game, cut off from life. In this tradition associated with Charles Sanders Peirce, William James, and John Dewey, the relationship between thought, meaning, truth, exploration, experience, and action is repeatedly brought up. But to call pragmatism the truth that it is useful would be to trivialize its serious philosophical nature. Practical results and long-term testing are important for efficacy, but immediate benefit is not a substitute for truth.

36.1 Meaning and practical consequences

The basic idea of Peirce 's pragmatic formula is to look for the meaning of a concept in practical differences that that concept produces in possible experiences or actions. If two theories yield the same result under all possible conditions, then their alleged difference may possibly be only semantic. The importance of this method is in reducing philosophical ambiguity. Freedom is a true belief because words like rights are not defined by mere declarations of ideals. One has to ask what difference does this concept make in practice.

36.2 Truth: Not a Momentary Gain: The Discipline of Discovery

William James emphasizes the lived and experienced aspects of truth, but caution is required here. A lie can be useful in the short term. Rumors can provide political gain, false medical claims can create markets, and

superstitions can provide psychological relief. For this reason, the meaning of the text should be clear to the reader: in what time period, on what evidence, and at what cost.

Peirce 's ideas of long-term exploration defend pragmatism from arbitrary individualism. The truth is not only useful to us; it requires a process of public scrutiny, criticism, review, and community inquiry. Parallel philosophy sees from this point onward a confirmation of its error-prone epistemology.

36.3 Dewey: Philosophy of Education and Democracy

Dewey links ideas from problem-solving to education to democracy and social experimentation. Democracy is not just a voting system but can also be a life form of shared exploration, communication and experience-refining. In this view, the question of whether institutions are sacrosanct, whether they solve social problems, whether they enhance civic dignity, and whether they learn from new experiences is essential.

36.4 Behaviorism and Ethics

If a policy is said to be just in theory but in practice consistently offends or marginalizes certain groups, the policy is worth re-examining. Consequences are an important part of a moral argument. But results are not the only criterion. If the basic rights of the minority are destroyed for the benefit of the majority, then totalitarianism is not an adequate answer. Parallel philosophy therefore examines outcomes, rights and dignity, processes and long-term social impacts simultaneously.

36.5 Communicating with the Indian Tradition

In the Nyaya tradition, there is a discussion of right knowledge being associated with successful tendencies; Mīmāṃsā is about karma and karma, and Pāla; Buddhist traditions emphasize the practical aspects of suffering prevention; and many Indian philosophies emphasize the lifelong goal of liberation. However, these similarities should not be declared as direct historical parallels. Parallel philosophies communicate problem-solving and how the relationship between science and life is considered in both traditions.

Pūrvapakṣa (Prima Facie View): If the outcome is important, what is the independent value of the theory?

Uttarapakṣa (Response): The theory gives directions and the results test them. Only theory without results can become opportunism. only theory without results - rigid dogmatism.

36.6 The Doubts and Beliefs of Pierce

Peirce emphasizes genuine skepticism rather than artificial consensus. Beliefs form habits of action.Investigation begins when experience or opposing factors destabilize these habits. We are only skeptical if we say that not changing one 's behavior or decisions can be philosophical posturing.

Persistence, authority, instinct, and the method of public inquiry have a different credibility. The merit of public inquiry is not that the researcher is an impartial deity; rather, the method allows for the correction of

personal bias in the long run. The results are not final and are researched by the community.

36.7 Pragmatic interpretation

The meaning of a concept is clear when one thinks about what its practical consequences might be. The object is rigid, meaning it opens up under possible pressure and pressure. The meaning of this sutra is truth, not mere immediate gain; the result is the test of perception.

In moral or religious terms, the consequences can be long-lasting, collective, and indirect. So practicality is not a quick fix. It is a vague statement that works without any question of what outcome, for whom, at what time, and at what cost.

36.8 James and the Living Question of Truth

William James considers a state of belief where the alternative is alive and vital and cannot be avoided, but conclusive evidence is not yet available. Postponing a decision here could also result in a judgment. They argue the established facts of science should not be allowed to change at will.

The right to belief exists in limited circumstances. A private will is not a public right if the claim creates a policy binding on others or if there is sufficient evidence. Multidimensional rationalism sets aside private existential commitments and public claims.

36.9 Dewey: The Experience of Problems and Democracy

For Dewey, experience is not passive sensation; it is the interaction of the organism and the environment. Problems arise when habits fail; research develops possible solutions, tests, and improves upon the results. Knowledge is not a picture of an audience separated from life.

Democracy is not only a method of voting but also a social method of collective problem-solving. The education question should teach collaboration and review of results. But when power-sharing is neglected, such experiments can become the agenda of the powerful; resources and voices must be conditioned for equal participation.

36.10 Consequences and the Moral Limits

Just because an idea seems useful does not mean it is true in every sense. Use deception can also be obtained through violence or short-term gain. The consequentialist test will examine the distribution of gains and losses, long-term effects, and fairness of rights and options.

The best form of pragmatism leaves the theory open to experience. The bad form can only become good once it is gone. Parallel philosophy assumes empiricism, considering human dignity and factual honesty as boundaries that cannot be abandoned for convenience.

Chapter Conclusion

Pragmatism brings philosophy back to the center of life. Its teaching is not that truth is the name of convenience, but that concepts and

principles and institutions cannot be entirely separated from their practical consequences. Parallel philosophy links these teachings to its ethics of evidence-sensitivity and dignity.

Chapter Bibliography

Charles S. Peirce is the author of selected philosophical articles.
William James — Pragmatism.
John Dewey — Experience and Nature; Democracy and Education.
Stanford Encyclopedia of Philosophy — “Pragmatism”.

Chapter 37 — Philosophy of Science

Science is not just a list of facts. Science is a complex process of questioning, hypothesizing, observing, measuring, experimenting, calculating, modelling, theorizing, reproducing and institutionalizing inquiry. Scientific knowledge changes, but changes do not prove arbitrariness. In fact, the capacity for revision is the strength of science.

37.1 The characteristics of a science

The philosophical question is what is the criterion that separates science from non-science. The use of the only Many astronomical findings are made without direct controlled experiments. It is just that the mathematics Many areas of biology are observational, rather than mathematical. Karl Popper insisted on the rebuttal of scientific claims that possible evidence would disprove. However, the history of actual science shows that theories are not immediately discarded upon a single failed observation; instruments, supporting hypotheses, and data and methods are also examined.

37.2 Coon and the scientific paradigm

Thomas Kuhn discusses the crisis and paradigm-shifting of general science in the history of science. It would be wrong to call this idea that science is only fashion. Paradigms provide social and conceptual frameworks; however, the acceptance of new theories is not merely a

power struggle; the effectiveness of problem-solving, prediction, interpretability, data, and research are crucial.

37.3 Scientific realism and instrumentalism

When science deals with electrons, genes, quarks, curved spacetime or other indirect objects, the question arises whether all objects really are: are theories merely successful computational devices? Scientific realism says that successful theories often capture some aspect of the actual structure of the world. The instrumentalist view cautions that predicate-failure does not automatically prove absolute metaphysical truth. Parallel philosophy accepts not infallibility but evidence-based belief in the dispute.

37.4 Observations and Theories

All we see are the facts: the sentence is simple. Scientific observation is connected to instruments, measurement methods, concepts, and background theory. However, this does not imply that the facts are arbitrary. Different teams can test one-two claims using the same tools, recursion, public statistics, and critical methods.

37.5 Reasons for Arrival and Uncertainty

Science looks for causal explanations, not just correlations. Causality is investigated by controlled experiments, natural experiments, statistical models, mechanistic explanations, and various methods. Hume 's advent-problem serves as a reminder that the conclusion from the past to the future is not philosophically sound. Modern science does not hide

uncertainties; it organizes them by probability, confidence-interval, error, recursion, and independent verification.

37.6 Science and Values

Science can tell which policies reduce pollution, which drugs are effective on average, and which technologies increase risk. But risk alone is justified; our interests are primary; we must make sacrifices; our ethical questions do not end with data alone. Facts inform value judgments. values do not cancel out facts.

37.7 Scientism and anti-science

One extreme says that only science can answer all meaningful questions. Another says that epistemology is also an ideology, and therefore not a specific epistemological authority. Both of these are not right. The empirical method of science is extremely powerful in the questions of the natural world, disease, matter, biological processes, climate, and technological influence. But the question of justice, beauty, rights, the meaning of life and religious experience does not end with laboratory-assessment alone.

Pūrvapakṣa (Prima Facie View): Science has changed, so why rely on science today?

Uttarapakṣa (Response): Changing can be a sign of improvement not failure. Reliability is built from the ability to perform tests, independent reviews, and revisions, rather than from infallibility.

37.8 Interpretation and forecasting and control

Scientific theories do not simply summarize observed phenomena; they propose causes or structures, predict new outcomes, and sometimes

enable interventions. These three functions are not the same. A model may give correct predictions but may misinterpret the reasons.A historical science may give strong explanations without precise control.

The assessment of science will vary by subject. Planetary motion, disease distribution, geological history, and social behavior cannot be examined in the same laboratory. Multiplicity of law not evidentialism Transparent measurement and error-correction will be required in every field.

37.9 Theory-based observations

What scientists see is influenced by the equipment, training, and concepts. Telescope images need the principle of reading signals, not simple visualizations of microscopic samples or data sheets. For this reason, the concept of constructed facts is not simple.

But principle-dependence is not an arbitrariness of facts. Separate apparatus and independent teams create external pressure on blind trials and successful prediction theory. The world will not give all the results according to my language. Critical realism accepts both mediation and objective resistance.

37.10 Fragmentability and its Limitations

According to the theory of refutability, scientific claims will take such a risk that possible observations will disprove them. This principle distinguishes science from claims that match every result. However, a

failed prediction may rely on assumptions, devices, or measurement errors rather than just core principles.

So scientific practice does not immediately give up on a theory on a test. Retesting involves looking at alternative explanations and the evidence as a whole. Flexibility may be justified. it is inappropriate to defend the principle of continuous exception. How boundaries are drawn is also a matter of history and community decision.

37.11 The paradigm and the scientific transformation

The scientific community works within common examples, questions, tools and standards. In times of crisis, the old paradigm may lose its power and new paradigms organize problems in new ways. A change would be not only to add new facts but also to change the way the relevant facts are shown.

The conclusion that paradigm-debating makes science only politics is wrong. Proof, problem-solving, accuracy and effectiveness play a real role, although the decision is not entirely mechanical. History shows the human institution of science. not denying its achievements.

37.12 Saying the uncertainty in public

Scientific findings are often accompanied by probabilities, error thresholds, and conditions. In public discourse, if this limitation were removed, the conclusion would look like an infallible commandment; if the limitation were merely repeated, even useful knowledge would be

useless. Proper language distinguishes between main findings and confidence levels, major uncertainties, and the outcome of the decision.

Uncertainty is not the cause of inaction. Caution may be appropriate in the face of incomplete knowledge if the potential harm is severe and irreversible. Decision making is not done by science alone; cost and fairness come into play. However, a correct presentation of the factual basis is a prerequisite for ethical judgment.

Chapter Conclusion

Parallel philosophy does not deify or discount science. Science is one of the best public methods of understanding the physical world. not the only source of moral value.

Chapter Bibliography

Karl Popper — The Logic of Scientific Discovery.
Thomas S. Kuhn — The Structure of Scientific Revolutions.
Carl G. Hempel — Philosophy of Natural Science.
Stanford Encyclopedia of Philosophy — “Scientific Method”; “Scientific Realism”.

Part V — Social and Political Philosophy

Chapter 38 — The Individual and Society

A person is not born outside of society. Language and name, relationships, memory, education, business opportunities, fears, beliefs, and restrictions are all connected to the social world. But individuals are also not passive products of society. Individuals question, rebel, create new languages, reform traditions, and change institutions. The relationship between the individual and society is therefore not one-sided causality but a mutual construction.

38.1 A person who is socially constructed

After birth, the child is not without social meaning as a ready-made independent self. One becomes a person by learning language, forming relationships, understanding rules, and accepting the social meaning of one 's body and identity. Our emotions are also affected by how we look. Family, caste, class, gender, language, region, and religion can define many occasions and boundaries.

38.2 Society The individual shall not swallow

If all ideas are said to be merely social products, how is social criticism itself possible? Reformers, rebels, poets, scientists, philosophers, and ordinary citizens disagree with the norms of their societies. The social effect is real, not absolute. Parallel philosophy therefore accepts both individual autonomy and social status.

38.3 Community and Dignity

Community gives people language, security, belonging, and meaning. But the community is not holy. Caste ostracism, misogynistic rules, violence over religious conversions, linguistic oppression, and destruction of autonomy in the name of family show that communities can be unjust themselves. The individual dignity should not be inferior to the community tradition.

38.4 Liberalism and Community Criticism

Liberal traditions emphasize the rights of the individual to elections and protection from the state. Community critics remind that the real person is not a disconnected atom. Their values, language, choices and identities are shaped by social history. Parallelism does not see this conflict as a choice of sides. Communities without rights can be tyrannical. person-stories without relationships can be imaginary.

38.5 Recognition and Social Existence

Human beings do not only want resources but also respect and recognition. Humiliation, untouchability, linguistic inferiority, caste stereotypes, and gender devaluation affect a person 's self-esteem. Social justice does not only mean income distribution. it also means the structure of respect.

38.6 The Digital Society

The digital medium has reshaped the way individuals socialize. Network communities, algorithmic visibility, group-learning, online humiliation,

collective memory and disinformation change the individual-society relationship. The person may speak more, but may also be more subject to group pressure and information manipulation.

Pūrvapakṣa (Prima Facie View): The individual is a product of society, so individual responsibility is diminished.

Uttarapakṣa (Response): Social causes refer to responsibilities and do not eliminate them completely. Responsibilities should be judged on ability, compulsion, and level of knowledge and choice.

38.12 The Metaphysics of Society: The Structure of the Couple

To think of society as a sum of individuals, languages, currencies, laws, and traditions - facts that do not arise or cease at the whim of any one individual - is difficult. Conversely, if society were considered a free organism, individual suffering and responsibility would disappear. Proper analysis assumes emergent structures: those formed by the individual 's actions but giving actual effect to the individual 's choices after they are made.

For example, markets are made up of millions of decisions; however, prices and employment conditions present themselves as external constraints to an individual. Family members are related, but inheritance and gender can be generational rules. To change the structure, one must change the collective rules with individual will.

Be up to date on the evidence analysis. Statements by individuals can lead to institutional hypotheses, but broader claims must examine

multiple experiences, norms, statistics, and historical changes. It is also a mistake to derive individual traits from group-level data.

38.13 Social imitation and critical distance

Human conduct does not merely learn from explicit commands; it lives within norms of ostentation, ridicule, and repetition. For this reason, unfair treatment can survive as a normal habit even if the law prohibits it. More than punishment, new examples, language and institutional incentives are necessary for social change.

Imitation is not always a sign of oppression. Children learn language, cooperation and skills along the way. The question is whether standards are open to question or imposed as a birthright. Critical distance is the ability to see causes and consequences rather than dismissing one 's own traditions as external objects.

This is where the ethical role of schools and public media comes in. They do not impose a narrow image of an ideal citizen but practice and develop a language of dissent, demanding equal dignity and respect for different forms of life.

38.14 Solitude and community and psychiatric leave

Communities provide meaning and support, but constant socializing can prevent individuals from self-reflecting. The right to privacy allows individuals to check their worth by stepping away from a role. This may be a preparation for more responsible participation, not social flight.

On the other hand, forced isolation, migration, old age or digital deception are not independent entities. The experience behind the same words can be counterproductive. Policies should separate help for personal leave and unwanted loneliness, including choice.

Philosophically, the individual is neither completely self-sufficient nor integrated into the community. He wants a relationship and the distance to think about the relationship. Coexistence is the name given to this rhythm.

38.15 Preface: Social Interpretation Wipes Out the Guilt of the Individual

The objection is that the emphasis on structure, roles, and social training will shift the blame for every wrong done onto society. The person can say they did it according to tradition and are not guilty. Such a conclusion destroys the moral agent.

The answer is that giving reasons will not justify it. Social pressures can make the choice difficult, but not always impossible. When measuring responsibility, consider the risks and benefits of information, power, and resistance. Not everyone is equally at fault, and no one is without fault.

Structural improvements prevent future harm, and individual responsibility judges specific actions. One without the other is incomplete.

The Making of a Social Person 38.7.

A person is not a self made being from birth. Language, care, family, school, labour and public recognition build their capacity. This social construction does not imply that the individual is illusory; rather, the personality is actualized through relationships.

The community would be the source of the person, not their master. Traditions that prevent questions of departure or survival transcend their nurturing role. The proper relationship of the individual and society will accept freedom of criticism and exit with mutual construction.

38.8 Role and Self-Direction

Humans play many roles: family members, professionals, citizens, and members of linguistic communities. Roles give expectations and meaning, but the person does not end up in any one role. Conflict occurs when two roles are assigned opposite duties or society fixes the role from birth.

Self-criticism is not just a personal statement, nor is it simply an external accusation. The body identifies with history, relationships, experiences, and self-determination. The individual 's own voice is important when making policy, but the social consequences of claims and the rights of others will also be examined.

38.9 Collective responsibility

The process can disappear if only the last person to place an order takes responsibility for the damage done by the entity. The role of the enforcer, the beneficiary, and the deterrent is different. Collective responsibility checks the distribution of these roles.

But not every member is equally guilty of the group name. Responsibilities shift according to the information, power, benefits, and potential for resistance. Justice requires individual culpability, institutional reform and different means of victim redress.

38.10 Trust and social capital

Some degree of trust is required to cooperate. It is impossible to verify every statement by oneself; dependence on institutions, neighbors, and experts is a condition of social life. The cost of transactions, knowledge, and democratic communication goes up when trust is broken.

Blind faith is a risk rather than a capital asset. Reliability is built from transparency, accountability, and uniform rules and error-corrections. If the marginalized community distrusts the institution because of historical experience, then institutional proof rather than indoctrination is required.

38.11 Privacy and the public

The private sphere of the individual is essential for freedom and self-development, but domestic violence or inequality can be made invisible by calling it personal. On the other hand, excessive interference by the

state or society destroys self-determination. Limits will be determined based on agreed-upon losses, dependencies, and strengths.

In digital life, private behaviour becomes data and creates public impact. Consent is not simply accepting longer terms; it is seeking information, real options, and the right of withdrawal. The new field of interpersonal relationships is data-strength.

Chapter Conclusion

A society without individuals is incomplete.A society without individual dignity is tyrannical. Parallel philosophy accepts the real effects of social status while focusing on the critical autonomy and equal basic dignity of individuals.

Chapter Bibliography

John Stuart Mill — On Liberty.
G. W. F. Hegel — Philosophy of Right.
Charles Taylor — Sources of the Self.
Axel Honneth — The Struggle for Recognition.

Chapter 39 — The Justification of the State

The state orders, levies taxes, makes laws, imposes penalties, controls property, establishes borders, and sometimes uses force. For this reason, the fundamental philosophical question of the state is why this coercive power is justified. The state is there, so don 't take it as an excuse. Power and legitimacy are two different things.

39.1 Security: The Questions of Hobbes

Hobbes fears a state of insecurity and seeks justification for strong sovereign power. Security is, of course, a basic requirement of political life. But security alone is not enough. Prisons can also be very safe, but not a free society. Security itself can become a source of fear for citizens if the state assumes unchecked power in the name of security.

39.2 Right: The direction of the lock

Locke justified political power in terms of the preservation of life, liberty, and property. The legitimacy of the government is linked to the consent and sovereignty of the governed. A serious contribution of this tradition is that the state is not the master of the citizen. the power of the government is purposeful and limited.

39.3 Rousseau and self-government

Rousseau 's question is not merely one of fewer states: whose will does the law really express; if citizens themselves participate in law-making as equal members, the meaning of political obedience changes. But

collectivism can become oppression when the majority or ruling class impose their will in the name of the common good.

39.4 Legitimacy and moral legitimacy

A law may be passed by due process, but may still be unfair. The history of slavery, caste exclusion, women 's rights-defying and colonial laws shows that legal legality and moral justice are not the same. Therefore, the duties of civil obedience are not absolutely unlimited.

39.5 Public Justification

Parallel philosophy asks for a public reason from the state. Why is there a limit to freedom? Why should I do it? Why there is a need for surveillance Why the Land Acquisition Act Why the Language Policy? The reasons for decisions affecting the lives of citizens must be public, verifiable and fair on equal footing. The interests of the state are not the final answer.

39.6 The welfare state of the minimal state

One view holds that the state should be limited primarily to protectionism, contracts, and rights-protection. Another view holds that real freedom requires education, health, social security, and a minimum of economic opportunities; therefore, the state must play a positive role. Parallel philosophy examines influence, resources, capability, and dignity in this debate. The more or less fundamental question is whether the state 's power is accountable, transparent and equally dignified.

39.7 Federalism: Localism and Multicentric Power

When power is highly centralized, local knowledge can override language and needs. But local power can also lead to caste, gender, or community oppression. Multicentric democracy, therefore, does not merely mean decentralisation. local autonomy + fundamental rights + responsibilities + judicial security.

Pūrvapakṣa (Prima Facie View): Without a strong kingdom, the system will fall apart.

Uttarapakṣa (Response): Strong institutions are needed, not uncontrolled states. The greater the power, the greater the need for scrutiny and accountability.

39.13 Cognitive Limits of the State

The state possesses extensive data collection expertise and coordination, but lacks the granular knowledge of local life. The Centre 's policies may fail to capture the imagination of the average person across diverse geographies and languages. The capacity of the state and ignorance must be acknowledged at the same time.

A local consultation is not just a formal meeting after a decision has been made. Those affected may participate in defining the problem, making choices, and checking results. However, the local opinion itself is not factually accurate. there will be limits to independent measurement and authority.

The epistemic polite state publishes reasons, formulates testable policies, admits errors and lays down ways for improvement. Continuing a failed policy to save face destroys public trust.

39.14 Taxes and mutual obligations

Taxes are not just a forced reduction of a person 's wealth; they are the financing of social conditions - laws, money, roads, education and security. However, the powers of the state are not unlimited. The use and processing of the tax burden demands public justification.

Equal pay sometimes creates a disproportionate burden because the same amount of living resources is reduced for individuals with lower incomes. Progressivity, consumption taxes, property taxes and service charges give different distributive results. Claims for justice should be checked against real data and administrative capacity.

Tax compliance is closely related to trust. Corruption and opaque spending or special party favors undermine civic duty. Accountability is the moral basis of a citizen, not the antithesis of their tax obligations.

39.15 Borders and Migration and the Rights of the State

The state controls the border, but a person crossing the border is not without rights. The question of security, labour, asylum and family creates a tension between state self-determination and sovereign dignity.

It is not appropriate to arbitrarily detain, exploit or deprive citizens of basic services. On the other hand, the true extent of resources and institutional capacity should not be denied. Policies should clarify risks, human needs, legislation and burden-sharing.

Employment, marriage, violence, environment, and education may be linked to migration rather than isolation. Categorization without listening to the person 's story increases the likelihood of judicial error.

39.16 Preface: Limitless Power is Needed for Security

Given the need for quick decision-making in a crisis, it is said that the executive should be given wide and almost unlimited powers. Procrastination can exacerbate the damage.Common procedures are not sufficient for every situation.

But the immense power to conceal information can stifle criticism and prolong crises. The express subject matter of the expedited authorization is the duration, geographical extent, and legislative-judicial review. It was up to the state to certify that the measure was necessary.

Security and freedom are not static exchanges. Transparent, targeted and time-bound measures can save both. arbitrary power ultimately undermines security.

39.8 State and lawful forces

The state retains an organized capacity for law enforcement. The question is not merely whether there is force, but when and by whose authority and in what proportion and under what review. Just because something is legal does not make the force just, because unjust laws are also possible.

Legalization requires public regulation, due process, proportionality, appeals, and equal protection. An emergency may require quick power, but timelines and independent reviews can make for a stable regime without exception.

39.9 Consent and Residence and Citizenship

The social contract is not an actual historical signature, but a deliberation of political expediency. It is weak to regard birth or residence as a tacit consent, especially when going out is practically impossible. Legitimate governance renews consent with continued rights-protection and participation.

Citizenship confers rights and duties, but the state cannot conditionalise the basic dignity of a person seeking duties. The minimum rights of non-citizens, immigrants, or minority individuals do not depend on the will of the majority.

39.10 Welfare and the patriarchal state

The state can enable independence by ensuring education, health, security and minimum living conditions. But taking away the decisions of citizens in the name of their well-being can become patriarchal. The extent of support and control will be clear.

Prevention of harm can lead to interventions that protect dependents and ensure fair use of public resources. The means must be minimally

restrictive, evidence-based and appealable. The person 's disagreement should not be dismissed as mere ignorance.

39.11 The Rule of Law

The rule of law does not mean just lots of laws. The rules should be public, relatively stable, future-oriented, understandable, and equally applicable. The officers would also be subject to the law. An arbitrary conscience keeps the citizen in indefinite dependence.

But formal equivalence can save the unjustified content. If the same rules apply to everyone, the results should be tested if they historically place a disproportionate burden. The rule of law and social justice are mutually reinforcing criteria.

39.12 The Justification of the Resistance

If the state continues to erode fundamental rights and block legislative avenues for reform, the question of deterrence arises. Not every disagreement is a justification for rebellion. Risk and options will be assessed on the severity of the harm, the evidence, the target, the means, and the citizen.

Nonviolent noncooperation has moral force, but not all situations are equal. Particular strict proportionality and the protection of the innocent are necessary in questions of violence. Parallel philosophies demand responsible outcome-judgment rather than romantic heroism.

Chapter Conclusion

The state is not the master of the citizen. it is the institution subject to public justification. Security, rights, self-governance, welfare, and justice give a possible justification for the state, but no single objective justifies unchecked power.

Chapter Bibliography

Thomas Hobbes — Leviathan.
John Locke — Two Treatises of Government.
Jean-Jacques Rousseau — The Social Contract.
John Rawls — Political Liberalism.

Chapter 40 — Freedom

Freedom does not mean the state alone cannot stop me. Individuals may be legally free, without real options due to hunger, debt, caste exclusion, patriarchy, illiteracy, violence, lack of disability-friendly structures, or societal fears. At the same time, freedom is destroyed again when the state or community takes over the choice of the individual in the name of real freedom. Freedom is therefore a concept with many layers.

40.1 Negative freedom

What 's holding me back from asking the fundamental question of negative freedom? Unnecessary repression, censorship, arbitrary arrests, religious compulsions, traffic restrictions, and the imposition of marriage-choice are all direct obstacles to freedom. Both the state and the community can be interventionist. Individuals must have a protected area where they can make decisions about their lives.

40.2 Positive Freedom

Lack of inhibitions alone is not enough if a person does not have the minimum ability to achieve their goals. Education, health, food, information, physical safety and mobility all influence the real choice areas. Positive freedom emphasizes the question of what a person can actually do.

But the danger is that the state may exercise patriarchal control, saying, " We know your real interests. " Capacity-building should, therefore, increase a person 's agency and not replace them.

40.3 Autonomy and the Meaning of Life

Freedom is not just the number of choices. A person 's ability to choose their values, relationships, professions, beliefs, language, religion or law, love, creation and life-plan is also important. Autonomy is not self-sufficiency without society. it is self-determination in the midst of information, ideas, relationships, and ample opportunities for self-examination.

40.4 Freedom and equality

Extreme economic inequality can lead to a loss of legal freedom. On paper, both have the same market-independence, but neither has the same power to exchange when one person has no food options nor the vast resources of another. Conversely, strict controls to impose perfect equality may crush individuals ' choices. Parallel Philosophy Formula: Equality without liberty can become privilege. equality without liberty control.

40.5 Freedom and the Dignity of Others

Our freedom is not allowed to destroy another person 's equal rights. Limitations may be appropriate in the context of hate, violence, harassment, fraud, public health or outright rights violations. However, the limit must be verifiable, proportional, and minimal.

The Loss of 40.6 Mill - Theorem

John Stuart Mill famously held that in civilised societies, personal restraint may be justified mainly to protect others from harm. The theory offers a powerful defense of diversity of expression, lifestyle, and personality. However, the definition of harm is not the same as severe emotional distress, economic impact, collective risk, disinformation, or structural injustice. Therefore, a detailed public argument is necessary.

40.7 Social freedom

Informal rules of caste, gender, language, and religion are sometimes more stringent than the law itself. The law may allow inter-caste marriages but prevent family violence. the constitution may grant language rights but force social ridicule to give up the mother tongue. so freedom is not just a legal question. It is also necessary to change the social structure.

40.8 Freedom in the digital age

Digital platforms increase expression, but surveillance and data-gathering create new problems of algorithmic control and information manipulation. Choice seems free, but if the structure of choice is dictated by invisible systems, then the question of autonomy arises again.

Pūrvapakṣa (Prima Facie View): Creating this level of freedom does not make the concept too broad.

Uttarapakṣa (Response): It is important to have a level head. Oppression-indifference is not the same thing as ability and autonomy, but all three are important for

understanding true human freedom. The analysis should make it clear what level is being discussed.

40.14 Differences in the number and quality of options

Having many options does not automatically mean more freedom. The numbers give an illusion when all options are insecure, abusive or financially impossible. A reliable exit would sometimes be worth more than ten hypothetical options.

The quality of the options is determined by information cost, risk, and return probability. The consumer will see many plans in the contract, but the choice is not free if the terms are ambiguous. Political elections have many names but limited freedom of information and fair competition.

Ability-wise, this asks for a real chance to win. Measure the constraint while counting the policy options. The choice of the individual should be respected, but the consequences of a compelling circumstance should not be legitimized as a choice.

40.15 Self Restraint and Freedom

Freedom is not having every impulse to will. Addiction, fear, or momentary anger can drive a person against their long-term value. Temperance is the ability to act according to one 's chosen course of action.

But in the name of the true self, external forces can take away the person 's decision. Support and education or treatment should be based on

consent, evidence and minimal restrictions. Disagreement does not have to be an immediate disagreement.

The philosophical difference is that capacity building and life-planning are different things. Free societies provide a means of self-regulation and do not necessarily require a form of official virtue.

40.16 Economic dependence and the exit

The employee can legally leave, but the cost of leaving is prohibitive if food, housing, or medical treatment are tied to the employment. Financial dependence in the family may prevent violent withdrawal. A formal contract can hide this fact.

Social security, savings, skills, and alternative employment increase an individual 's bargaining power. It makes real terms of voluntary exchange, not market-conflict.

Policies cannot and should not eliminate dependency completely. The goal is to reduce arbitrary dominance, giving rights without the necessary support, and making the possibility of exit a reality.

40.17 Preface: Liberty is a Matter of Law Only

The objection is that the function of the state is to prevent interference. by making poverty or social fear or family pressure a question of freedom, the state will enter into life. The boundaries are going to be blurred.

The answer is that not all difficulties are solvable in law, but some obstacles are institutionally created and correctable. Freedom enables the prevention of violence, education, enforcement of contracts and prohibition of discrimination.

The state 's measures themselves will be subject to review. Actual results on claims for increased capacity, costs and unintended controls to be checked. Positive liberty is not infinite patriarchy.

40.9 The Stress of Negative and Positive Freedom

Negative freedom asks for freedom from external constraints. positive freedom real control and ability over one 's life. A hungry person may not have a real choice but to buy the book legally. But there is a danger of control when the state decides whose real interest it is to serve in the name of giving power.

The two concepts are not enemies of each other. Fundamental rights will enable education-health opportunities while preventing interference. Policies will check whether the means increase choice or impose an official way of life.

40.10 Freedom from the Dominions

A subject is no longer free if he has the power to arbitrarily intervene. If the master is merciful, then the slave 's position is not freedom because rights depend on mercy. Anti-dominant liberties seek stable rules and protection of appeals.

Families, workplaces, and local organizations can have similar strengths. Anti-state liberties alone are not enough. Where there is dependency, transparent rules, noise, drainage and countermeasures are needed.

40.11 Expression and Loss of

Freedom of expression is the basis of dissent, enlightenment and democracy. Power can become the arbiter of truth by stopping unpleasant or wrong thoughts just because they are unpleasant. Yet direct threats, targeted harassment, defamation or violent provocation erode the freedom of others.

Limitations will be assessed according to the strength and potential harm, not just the material but also the context. It is difficult, but necessary, to distinguish between criticism and hatred, sarcasm and intimidation, error and complicity. The process should be transparent and open to appeal.

40.12 Freedom to form and not to form associations

Religious, political, labor, or cultural unions give individuals a united voice. Without freedom of association, individual individuals would be vulnerable to powerful institutions. However, collective freedoms conflict with individual freedoms when unions force members to leave or are prevented from leaving.

Proper organization would balance the autonomy of the organization, the voices and exits of members, and the rights of outsiders. For weaker

members, a formal exit is not enough if the economic or social punishment is intolerable.

40.13 The Question of Measuring Freedom

The first question is whether the law states a right. The second is whether the person can use them. the third is whether there are informal penalties for using them. the fourth is whether there are remedies available. These four levels can remain on paper without being claimed as independent.

Statistical indicators are useful, but empirical evidence is also needed. Apprehensions, insults, or local boycotts do not show up in government statistics. The Multidimensional Valuation Law links resources, outcomes, and life-stories.

Chapter Conclusion

Freedom is multi-layered - freedom from oppression, access to real options and the ability to choose your life 's meaning. But liberty is not an infinite right.The dignity of another person is his moral limitation.

Chapter Bibliography

John Stuart Mill — On Liberty.
Isaiah Berlin — “Two Concepts of Liberty”.
Amartya Sen — Development as Freedom.
Martha C. Nussbaum — Creating Capabilities.
John Rawls — A Theory of Justice.

Chapter 41 — Equality

Equality does not mean making all human beings uniform. It is fundamentally equality of moral status: every person possesses equal basic dignity, equal civic respect, and an equal claim to public justification. Modern political philosophy then raises a difficult question: equality of what—rights, opportunities, resources, capabilities, respect, or political influence? Without answering this question, “equality” can become a mere slogan.

41.1 Distinctions between equality and uniformity

The talents, interests, body language, family circumstances, and life-plans of the two individuals may differ. Equality does not seek to eliminate these differences. The goal is for differences not to become the basis of dishonor, civility, or subjugation. Equal treatment is sometimes just, sometimes different help is needed because of unequal circumstances. Equality, therefore, is not the loss of one 's goods but the denial of a superior unqualified status without just cause.

41.2 Formal and actual equivalences

The law may say that all citizens are equal. This is a necessary achievement, but not sufficient. If access to education, health, land, capital, social interaction and safe public spaces is highly unequal, so too will the exercise of equal rights. For this reason, it is necessary to distinguish between formal equality and real equality of opportunity.

Historical inequality does not end with simply saying that we are all equal. In a race, people are free to be tied down from generation to generation and then cut the rope until formal equality is a real justice.

41.3 Equal opportunities and their limits

The Equal Opportunity ideal states that positions, education, and public opportunities should not be restricted by birthright. However, open competition alone is not enough if the initial conditions are too uneven. Nutrition becomes a precondition for school, language, social security, discrimination and family resource competition. So equality of opportunity demands an institutional precondition.

41.4 Resources and Capacity and Dignity

Sharing resources equitably will not always lead to equal outcomes because individuals have different needs. The elderly, the disabled, children or socially disadvantaged individuals need extra support to live independently. The capability view emphasizes that the question should not only be about what one possesses but also what one can actually do and become. Parallel philosophy links this view to the dignity principle.

41.5 Relational equivalence

Equality is not only a question of distribution; it is also a question of relation. If a group in a society is expected to touch another 's feet, use separate utensils, stay away from public places, or have a less valued voice in decisions, unequal civic relations can be avoided even with

increased economic resources. Equality is therefore also a public rite of passage to those of us who share the same values.

Pūrvapakṣa (Prima Facie View): Natural Differences Because Inequality is Natural

Uttarapakṣa (Response): Natural differences are not automatic justifications for social subordination. The difference between power, intelligence, wealth, or birth does not destroy one 's equal moral status.

41.11 Luck and Hard Work and Moral Qualification

A person may work hard, but talent, family, health, birthplace, and historical occasion are not their choices. Accepting the role of effort in success, it is difficult to regard all results as having a purely moral merit. It is also unfair to call failure a character flaw.

This argument does not exhaust the respect for achievement. The question is the extent of authority arising from the fruit. Outstanding work may be encouraged, as well as contributing to the original opportunity by acknowledging the debt they owe to society.

Justice will decide which inequalities are useful and voluntary, and which are the dominions of arbitrary luck. The difference should be checked against actual data, the impact of incentives, and the minimum of dignity.

41.12 Horizontal and vertical parallelism

Equal treatment of people with the same condition Horizontal equality. different help vertical equality according to different needs or abilities.

Giving the same medicine to all patients can be both formal and medically inappropriate.

Differential treatment can lead to discrimination, depending on the context. The category must be relevant to the actual purpose, to the extent necessary, and reviewable. The language of inborn prejudice should not be returned to as a different necessity.

The transparency criterion is of particular importance. Both the beneficiary and the disadvantaged will understand why the distinction was made and how to appeal.

41.13 The result of the representation

Diverse representation gives symbolic dignity, brings new experiences to decisions and enhances the legitimacy of the institution. But only if the numbers add up can the agenda and resources and the right to speak remain in the hands of the old group.

Measures of representation include the number of positions held, the impact on decision-making, sustainability and accountability to promotions and communities. The structure changed so quickly that only one person was left.

The representative of a group is not the unanimous voice of all members. Internal pluralism should be preserved, but for this reason the historic boycott measure should not be abandoned.

41.14 The Preface: Equality Reduces Excellence

There are objections that egalitarian policies weaken standards and reduce the motivation for effort. Talent and innovation can suffer if there is pressure to equalize results.

The answer is that not all forms of equality result in equality. More talent emerges when opportunities for nurturing, education and non-discrimination increase. Keeping standards relevant to the task at hand is not a privilege.

The true impact of the policy should be investigated. If the measures do not meet the goals or create new injustices, reform should take place; however, perceived fears should not be a reason to continue with historical exclusion.

41.6 Formal and real equivalences

Formal equality is when the same rules apply. But if the initial resources, social risks, and accesses are very different, the same rules can set off unequal outcomes. A staircase would be the same for everyone, not guaranteeing entry to those unable to walk.

Real equality is not about making outcomes exactly the same; it 's about having the right ability to seize opportunities, remove barriers and ensure equal status. Separate aid can never be a privilege, but a means to equal access.

41.7 The three levels of equal opportunity

The first level is open competition: positions are not closed at birth. The second level is the proper opportunity for preparation: education, nutrition, and information. The rule of third-degree selection itself measures relevant ability or social privilege. Just because an application is open does not make it a level playing field.

The qualification is not without its history. Examine what language and experience and training the test assumes. However, standards should not be abandoned entirely; there should be actionable, transparent and enforceable standards.

41.8 The Equality of Dignity

Income inequality Public humiliation Untouchability or exclusion from decision-making destroys human equality. Relational equality is the question of freeing citizens from master-dependent, superior-status, or donor-subscriber relationships.

If welfare assistance is received through an abusive process, there is material gain as well as material loss. The policy should be checked not only for how much but also for how it behaves. Dignity is the criterion for the method of distribution.

41.9 Justifications for reservations and countermeasures

Justifications for representation or reservation may be linked to historical exclusion, existing barriers, and institutional legitimacy. If the

same rules lead to outdated privileges, targeted measures will create real competition.

The design of the solution asks for evidence: whether benefits are being reached, whether disadvantaged groups within are being left out, what the duration and review are, and how the quality is protected. Criticism does not negate the history of reform measures and boycotts.

41.10 Equality and adequacy

Some opinions ask whether it is important to differentiate between them or to give each a respectable minimum. Sufficiency emphasizes basic limitations such as hunger, health, and education. But extreme inequality can produce political dominance while remaining sufficiently low.

Therefore, both the minimum security and the limit of variance must be checked. Just because someone is rich doesn 't make it unfair, but when money buys political voice, opportunity and laws, equal citizenship is at stake.

Chapter Conclusion

Equality, not uniformity, is the principle of ensuring equal moral status, equal civic dignity, and fair opportunities and real capabilities. The formula for the parallel philosophy: birth is not a moral qualification.

Chapter Bibliography

John Rawls — A Theory of Justice.
Ronald Dworkin — Sovereign Virtue.

Amartya Sen — Inequality Reexamined; Development as Freedom.
Martha C. Nussbaum — Creating Capabilities.
Elizabeth Anderson Selected articles on social equality.
Stanford Encyclopedia of Philosophy — “Equality”; “Egalitarianism”.

Chapter 42 — Justice

It is not just about dispensing justice. Honor is also justice. There is also the matter of representation. They will also be able to listen in. There is also the issue of due process. Also a correction of the injustices of history. Justice asks who gets what, why, how to make decisions, how to make rules and bear the burden of rules.

42.1 Justice: From the Individual to the Institution

A person can act justly or unjustly. also laws and institutions. In modern societies, education, health, property, police, courts, elections, labour market and family norms shape life opportunities. For this reason, justice is not only a personal virtue but also a criterion of social structure.

42.2 Distributive justice

Distributive justice asks for fair sharing of resources, opportunities, burdens and benefits. Equal sharing, need-based sharing, merit and contribution, and free exchange all present different theories. No single theory is sufficient in every field. According to emergency medicine requirements and award achievements, civil rights can equally demand different things.

42.3 Rawls and fairness

Rawls 's hypothesized origins provide a means to think objectively, removing information about the person 's social identity, wealth, race, gender, and talents. Its strength is that a person chooses rules when he

does not know where he will be born in society. Parallel philosophy finds this fiction useful, but at the same time asks how much of the real injustices of history can be understood only through imaginary fairness.

42.4 Recognition and representation and voice

Who sits at the table to decide what is right? If the principle of justice is built without the voice of the victim, then the fairness of the principle must be re-examined. Representation is more than just numbers; it requires effective participation, language access, information, and real influence on decisions.

42.5 Procedural justice

Correct results are not enough if the process is opaque, biased or abusive. Hearing, reasoned judgment, appeals, common law, and conflict-of-interest disclosures are all part of procedural justice. Public hearings are an important form of civic respect from the courthouse to the school.

42.6 Correctional and Historical Justice

The injustices of the past can survive by becoming the structures of the present. The effects of history can be passed down through generations, from land-grabbing to slavery to caste-abuse to education and women 's property. Corrective justice is seeking institutional answers by identifying the historical sources of existing inequality, not retribution.

Pūrvapakṣa (Prima Facie View): Justice is only applying the same rules

Uttarapakṣa (Response): Uniform rules are necessary, but if the initial conditions are structurally unequal, uniformity of rules can secure long-standing unfairness in the outcome.

42.12 The desert and the question of eligibility

People often say that a worthy person will receive his fruits. But what is merit based on: effort, contribution, necessity, sacrifice, or discipline? This criterion gives a different result. It is hard to complete the same distributions all at once.

Measuring effort is difficult because opportunities and abilities are different. Contributions do not equate to market value; care workers are paid less than is necessary for society. The emphasis on necessity begs the question of incentive.

Justice is not a blind application of a principle. Criteria should be clear by region: achievement in awards, need in health care, and equal status in civil rights. The reason why the category changes is also different.

42.13 The criminal justice

Punishment of crimes may aim for retribution, deterrence, reform, social security or victim recognition. A tool does not serve all purposes in the same way. While harsher penalties are popular, they can be ineffective in reducing crime.

The appropriate penalty should be proportional to the fault and the harm caused, in terms of intent and procedure. Reducing the risk to the

innocent is the paramount prerequisite because wrongful convictions cannot be reversed. Poor legal aid to the poor can make similar laws unequal.

A guilty person does not lose his or her dignity. Rehabilitation, education and the possibility of returning to society can be a means of preventing future harm, not of undermining justice.

42.14 Restorative Justice

Restorative perspectives view crime not only as a violation of the law but as a loss to the individual and the relationship. The needs of the victim, the responsibility of the offender and community improvement are brought into the dialogue.

It is not appropriate for every crime. Reconciliation pressure on victims of power imbalances or violence can cause other harm. Participation must be voluntary, security strong and legal rights protected.

Success requires more than just forgiveness; it requires acceptance of the truth, resilience, behavioral improvement, and a plan to prevent relapse. Punitive and restorative means may be combined depending on the context.

42.15 Preface: Justice is a perfectly fair rule

One opinion says the judge should have his eyes closed; bias will creep in by looking at a person 's history or identity. The norm of the uniform rule prevents arbitrary special behavior.

But without context, the same rules can repeat the same reality. The implication of organised theft for profit and food theft by the hungry are different. Contextual bias does not exist if the criterion is universally and uniformly applicable.

Impartiality does not mean impersonality; it means removing irrelevant identities and assuming relevant situations for obvious reasons.

42.7 What is the object of the distribution?

Justice is not just a question of sharing the wealth. Rights, opportunities, dignity, time, security, education, health, and political voice are also distributed. The actual freedoms of two people with the same income may differ due to the burden of health care or social discrimination.

The same indicator does not capture all losses. The policy will first decide what is morally relevant and then check distribution. The measurement choice itself is the evaluation. its reasons will be public.

42.8 Processes and Outcomes

Fair processing increases the likelihood of a fair outcome, but structural impediments can recur if the process appears fair. On the other hand, arbitrary procedure may destroy the right to a desired outcome. Justice considers both to be a joint criterion.

Selection, hearing, record and appeal are parts of procedural justice. The results showed burden-gain, affected groups, and long-term effects. The success of one side is not the only proof of justice.

42.9 Ignorance of the Rolls - Cover

The decision-makers in the illusion of ignorance do not know their class, caste, talent, religion or social position. The aim is to reduce the bias for personal gain and choose principles that are acceptable regardless of one 's position. This is a test of fairness, not an actual meeting.

Criticism asks whether individuals can think so differently from community relations and whether historical injustices are invisible in abstract choices. The parallel method adds the actual history of the victim with fairness.

42.10 Ability - Vision

Not everyone can do the same thing when given the same amount of resources. Ability-vision asks what a person can really do and be. Health, social support, environment, and discrimination affect the power to convert resources into freedom.

Who decides the list of abilities is a difficult question. A list of experts is not enough.The affected person needs a voice and a public argument. Lifestyle should not be imposed in the name of increasing capacity.

42.11 Generational Justice

Today 's decisions leave future people with debt, environmental damage and institutional opportunities. The prospective individual may no longer consent, but his or her interests are not morally void. It is unfair to put the entire cost of current profits into the future.

The decision is not impossible because of the uncertain future. Take precautions according to the potential serious harm, availability of alternatives, and irreversibility. Generational justice demands an honest accounting of the costs of not halting development.

Chapter Conclusion

Justice encompasses resources, rights and dignity, process and representation, and history. Parallel philosophies consider justice to be a combined test of dignity and public propriety.

Chapter Bibliography

John Rawls — A Theory of Justice.
Amartya Sen — The Idea of Justice.
Nancy Fraser — Scales of Justice.
Iris Marion Young — Justice and the Politics of Difference.
B. R. Ambedkar — Annihilation of Caste; States and Minorities.
Stanford Encyclopedia of Philosophy — “Justice”; “Original Position”.

Chapter 43 — Caste and Social Hierarchy

Caste is not just a personal prejudice but a historical social construct. Caste long determined opportunities in marriage, labour, education, status, residence, religious rights, and social interaction. The question of caste-philosophy, therefore, is not merely a question of whether or not people like each other but of the relationship between birth and moral status.

43.1 Birth and Moral Qualification

The answer to the parallel philosophy is clear: birth is not a moral qualification. If a tradition denies the equal dignity of human beings, then criticism of the tradition is morally justified. The antiquity of the tradition proves its historical importance, not moral expediency.

43.2 Caste: Labor-Division or Division of Labor?

Division of labour is sometimes argued in favour of caste. But the question arises as to why the act of circumcision should be congenital. Why the freedom to change profession is limited Why is there a hierarchy of marriage, food, education, residence and respect? For this reason, the problem of caste is not merely an economic one but one of social conditioning and hereditary status.

43.3 Untouchability and the Politics of the Body

Untouchability creates social distance by declaring the human body unclean. It is not just religious considerations that can determine actual

access to water, roads, schools, temples, homes, food, marriage and labour. At this level, dignity is not an abstract term; it is the public presence of the body.

43.4 The Basic Challenges of Ambedkar

Ambedkar does not criticise caste solely through appeals to harmony; he raises questions of social structure, religious appropriateness, intermarriage and political representation. Castration is not merely the reduction of an offending behavior but the breaking of a closed, birth-based structure.

43.5 Law and social change

Laws are necessary to prohibit discrimination, grant rights, and ensure representation. But social habits, marriage-network, economic dependence, linguistic insults and cultural prestige alone do not change laws instantly. Parallel philosophy, therefore, sees a combined program of legal equality, social reform, education, representation, and economic opportunity.

Pūrvapakṣa (Prima Facie View): Caste is only a cultural identity

Uttarapakṣa (Response): Where identity is voluntary and of equal dignity, the problem is less.But if there is inborn confinement, humiliation, exclusion and opportunism, the culture is not free from moral criticism.

43.11 Shuddhi - The Moral Examination of Purity

Sanitation, ritual purification and social untouchability are different concepts. Hygiene of disease-prevention asking for empirical reasons. ritual purification meaning of community. inborn impurities of man.

direct opposition to equal dignity. Calling all three the same avoids discrimination in the language of health or religion.

A profession may be associated with dirty conditions, but workers are not dirty people. Secure equipment requires a decent wage and division of labor. It is a double injustice to have a birthright.

An internal reinterpretation of the tradition is useful but does not oblige the victim to wait for correction. The law required that public service and social education run concurrently.

43.12 Caste and Place of Birth

Housing segregation affects access to schools, roads, markets and social networks. Social boundaries can be strict, with distances on maps being short. The location forms the physical form of the hierarchy.

Segregation does not have to end just because income increases. Land tenure, rent discrimination, public investment and fear of violence must be checked. The structure can vary between villages and towns.

The spatial study map should include demographics and service data. Ensure equal access to public facilities while maintaining the privacy of your private home.

Proof of Discrimination for the Day 43.13

Subtle insults may seem trivial at first glance, but constant repetition has a cumulative effect on education, health, and self-confidence. Evidence

is not just a single event. it is a sample of behavior and the organization 's response and results.

The assumption that every unpleasant behavior is due to caste also calls for caution. Comparative situations and unequal application of spoken word rules and other evidence should be examined. The victim 's statement is the primary evidence at the outset, not the sole evidence at the end.

Complaint-Method Provides secure recording of evidence before it is destroyed, preventing retaliation and explaining the reasons for the decision. Silence is not evidence of an absence of complaint if the complaint is costly.

43.14 Preface: In modernity, caste will automatically cease to be

Urbanization, education, and markets can loosen old occupational limits; therefore, time will provide solutions that do not require major reform.

But caste can take new forms in marriage, networks, politics and housing. The market itself does not deny discrimination; identity-based recruitment can replicate that. The direction of change will vary by region and class.

Policy should be based on results, not assumptions. Let 's learn from the process where there have been setbacks; let 's continue with targeted rights and representation where it stands.

43.6 Caution in the Definition of Race

It is incomplete to say that caste is only a profession, a varna is only a varna, a marriage is only a group, or a religious belief is only a belief. Local communities play different roles in intermarriage, division of labour, purification, and status, land, and political power in different contexts.

The pattern of one region should not be imposed on the entire subcontinent. Comparative studies look for similar structures but preserve local names, histories, and changes. Multidimensionality of definition is not ambiguity but consistency of evidence.

43.7 Intermarriage and reproduction

Social hierarchies are not sustained by ideas alone; the rules of marriage, inheritance, food, housing, and networks reproduce them from generation to generation. Intermarital property can become a means of keeping relationships and status within the group.

The freedom of individual marriage decisions may be limited by de facto social penalties. The law will provide the necessary protection, but the family 's employment and housing pressures must also be checked. The measure of the change is not just a formal permission.

43.8 Knowledge and caste power

The question of which group will read and interpret the text, and who will be the custodian of authenticated knowledge, can be linked to caste

power. By limiting access to knowledge, exclusion not only takes away employment but also the right to self-expression.

Experience is important evidence, but experience alone does not prove all general conclusions. Individual evidence and institutional data, history and comparative studies should be added. Cognitive justice listens to experience and does not exempt it from scrutiny.

43.9 Reforms in representation and power

Reform laws can be changed from the top, but without the organization of the affected communities, practices change slowly. Representations provide a voice; however, one person is not the only spokesperson for the entire group 's experience. Gender and regional differences persist within the group.

Proper reform should combine rights, security, education, economic means and public respect. Symbolic recognition is useful but does not replace resource allocation. An independent review of the results is necessary.

43.10 Dignity and Friendship

Without legal equality, social bonds weaken because everyday insults keep citizens out of the same community. Fraternity is not emotional uniformity. it is acceptance of equal status in public institutions.

Dignity precedes the recognition of birth and occupation or purity. Traditions that demean human beings based on touch, food, residence or marriage cannot be justified by tradition alone.

Chapter Conclusion

The caste criterion is the decisive test of equality. Societies that make birth a status are against the dignity principle. Parallelism is a moral rejection of the birth-based hierarchy.

Chapter Bibliography

B. R. Ambedkar — Annihilation of Caste; Who Were the Shudras?; The Untouchables.
Jyotirao Phule — Gulamgiri.
Gail Omvedt — Dalits and the Democratic Revolution.
Eleanor Zelliot — From Untouchable to Dalit.

Chapter 44 — Class and Economic Power

Property does not just create private convenience; it also creates power. Those who control resources, land, capital, information or technology, have an influence on social decisions. The question of economic philosophy is not merely one of the quantity of money but of control and dependence, of bargaining power and democratic equality.

The Philosophical Meaning of the 44.1 Square

In the Marxist tradition, class is understood by its relation to the means of production. The relation of master and worker is not merely one of income-interference; it is a question of decision, risk, control of labour, and ownership of surplus. In the modern economy, managers, professionals, unorganised workers, platform-based labour and financial capital make this structure more complex.

44.2 Labour and Value and Dignity

Labour is not merely commodity-production but man 's time and life. The ethical implications of voluntary contractual agreements can be undermined if the worker 's working conditions are set in unsafe, abusive or completely unequal bargaining positions. Economic freedom has to be judged by real choices.

44.3 Property and political equality

Extreme economic power can amplify political voices through media, election finance, lobbying, expertise, data, and legal resources. The

formal equality of one person and one vote is undermined if money becomes an almost direct means of political influence.

44.4 Poverty is not just low income

Poverty can lead to a lack of food, health, housing, education, mobility, time, security, and social respect. Competence-vision therefore looks at actual life expectancy rather than income.

44.5 Class and Other Identities

Class analysis is necessary, but not sufficient. Race, gender, language, region, and religion influence the distribution of economic opportunity. Two people of the same income may have different real status because of Social Security, inheritance, networks, or discrimination.

Pūrvapakṣa (Prima Facie View): Market Results Are Automatically Justified

Uttarapakṣa (Response): Markets can be useful coordination mechanisms, but initial wealth, power, information, monopoly and external influence justice raises questions. Exchange is not automatically a proof of justice.

44.11 Wages and standard of living

Market-wage implies demand-supply and not moral sufficiency. Contracts are formal, voluntary and not dignified if full-time employment but also food, housing, health, and education is impossible.

The measure of the living wage varies by family size, regional cost and public service. One number does not apply to all places. Empirical studies are needed to see if the increase affects employment.

Along with salary, time, security, leave, and respect also make up the quality of work. A high income does not automatically justify a dangerous or abusive situation.

44.12 Collective bargaining of workers

A worker may be vulnerable to a large employer; the organization balances out the strengths. The right to form associations, to share information and to enter into collective agreements enhances the genuine spontaneity of the contract.

The Union itself is not immune from liability. Internal democracy, financial transparency, the right to dissent and the interests of unorganised workers are essential. Leadership did not have to be a permanent privilege.

Strikes impose costs on employers and the public, and their justification must be judged by the goal and process, the safety of essential services, and the options available. Mass pressure is not violence, but it is also not without limits.

44.13 Loans and Interest and Dependencies

Debt provides future income for current needs, but unclear interest rates, mortgages, and emergency forces can create long-term dependency. The borrower 's willingness to compromise is often undermined by a lack of information and options.

Not all interest is absorbed; the time and risk and administrative costs are real. The question is the ratio of the rate, the transparency, the method of recovery and the power of the lender.

Financial literacy is useful, but not a substitute for structural regulation. The contract must be legible, comparable, and free from abusive charges.

44.14 Preface: Class-criticism is the politics of envy

It is argued that criticism of economic inequality breeds envy of successful individuals and reduces motivation to produce. It is truly inadequate to consider injustice merely in terms of difference.

The answer is that class-criticism examines not only the wealth of the individual but also the conditions of labor, opportunity, property, and political influence. The question is who holds more, and whether their excesses constitute subordination to others.

Create appropriate criticism by acknowledging the contribution of risk and effort, as well as hereditary privilege and monopoly, and accounting for external costs.

44.6 Labor and Ownership

Production is contributed by labour, capital, land, knowledge and organisations. The question is how much control should ownership have over decisions and profits, and how much recognition should workers ' contributions receive. Contracts may appear arbitrary, limiting options to unemployment or dependency.

All the profit exploitation and all the unequal pay are injustices, so simple conclusions are not enough. The true state of risk, skill, time, power, and choice is to be tested. Transparent contracts, secure labour and collective bargaining are the minimum conditions.

44.7 Property and Social Responsibilities

Property increases a person 's security, planning, and independence. However, property law is possible within the social framework of public order, labour and natural resources. therefore rights are not absolute. Limitations may be appropriate if the use destroys the original opportunity of the other.

Taxes, land laws, or inheritance policies raise price disputes. Policies should be based on public goods, incentives, opportunities, and proof of ownership, not just envy or pious claims.

44.8 The Invisible and the Labour of Care

Home care for children, the elderly, and the sick makes economic life possible but often goes without pay or social recognition. This labor is not worthless because it is outside the market. Time and fatigue and loss of opportunity are real costs.

Simply calling caregiving a family 's private duty may place the burden disproportionately on women. The questions of public service, leisure, social security and the distribution of men 's responsibilities are part of economic justice.

44.9 Unsafe Labour and Digital Platforms

Short-term contracts and digital platforms can offer flexibility, but also transfer risk to workers. The system that decides access or work opportunities cannot be entirely free from the responsibility of being a middleman.

The algorithm 's decisions are to be appealed and data and income volatility checked. Technical facilities are not a substitute for labour rights. The new form of class criticism will look at data and platform authority alongside ownership.

44.10 Class - Consciousness and Multiple Interests

Common economic positions may produce common interests, but workers are divided by race, gender, language, and region. If the organization suppresses these differences, powerful subgroups can take over the common good.

Solidarity does not eliminate equality; it seeks solutions to specific injustices with common demands. Class-consciousness is not a self-generated fact; it is an achievement of communication, experience, and institutional organization.

Chapter Conclusion

Economic power is not the same as political and social power. Parallel philosophies accept property-rights, but their social consequences

demand constant examination of the effects on labour-respect and democratic equality.

Chapter Bibliography

Karl Marx — Capital; Economic and Philosophic Manuscripts of 1844.
Amartya Sen — Development as Freedom.
Thomas Piketty — Capital and Ideology.
John Rawls — A Theory of Justice.

Chapter 45 — Women, Gender, and Power

In philosophical history, the word man became synonymous with the experience of men in practice several times. Control over a woman 's body, labour, reproduction, property, education and public appearance must be considered philosophical questions. Feminist philosophy does not have a uniform creed; liberal, socialist, radical, postcolonial, Dalit, intersectional and many other strands raise different questions.

45.1 Limitations of private and public

Traditional political philosophies focused on the state and the market, leaving the family as the personal domain. But in the family, there is property, care, violence, marriage, reproduction, education, and the distribution of opportunities. So power within the home is not outside political philosophy.

45.2 The Body and the Autonomy

How free is a person to make decisions about their body? Marriage, pregnancy, health, clothing, mobility and sexual consent are all areas of struggle for autonomy and social norms. Autonomy is not just about declaring options; it is also about the absence of coercion, dependence, violence and social punishment.

45.3 The labour of unpaid care

Home care, childcare, eldercare, food, and sanitation are the foundation of the rural labor economy but are often invisible in economic statistics.

If a group 's time is systematically spent in unpaid care, their education, employment, leisure and political participation are affected.

45.4 Equal opportunities and institutional barriers

Despite legal equality, barriers to employment, education, succession, leadership, and public safety remain. Having the same rules is not enough if the institution is based on a historically male way of life.

45.5 Intersectionality

Women are not a homogeneous social class. Caste, class, religion, language, region, disability and other identities alter gender experiences. Therefore, it is not appropriate to declare a single feminine experience as universal. The multidisciplinary method of parallel philosophy is particularly useful here because the experiences are different but share a common criterion of dignity.

45.6 Representation and knowledge

Theories about the absence of women may leave some experiences unexplained. For this reason, representation is not just a question of political seats; it is also a question of knowledge. What experiences are considered to be the experiences of ordinary human beings is the subject of philosophical introspection.

Pūrvapakṣa (Prima Facie View): Equal rights were given, so gender justice was achieved

Uttarapakṣa (Response): Equal rights are essential achievements, but real equality may be imperfect because of inequalities in domestic labour, violence, social expectations, resources, security and representation.

45.12 Criticism of the division of public funds

Traditional politics may regard the home as private and the state-market as public. But within the home, labour-distribution, education, property and violence make up public capacity. Privacy can protect inequality by keeping it out of the law.

This criticism does not justify the state 's unlimited access. Intimacy is valued in the realm of love and personal decision-making. Interference should be minimal based on obvious harm, dependence and entitlement.

Secrecy can be a protection for the victim, not a shield for the criminal. Confidential channels of complaint and impartial investigation balance this dichotomy.

45.13 Self-determination over the body

Decisions about the body are central to an individual 's autonomy; consent is essential in medicine, reproduction, marriage, and sex. The interests of the family, the community or the state cannot merely make the body of the individual a means.

Autonomy Information and services can exist without paperwork. Secure healthcare, privacy, and financial access make for better decision-making.

Where another life or public health is affected, the dispute is complex. The proof should explain the harm ratio and the minimum deterrent measures. Moral disagreement should not turn into humiliation.

45.14 Gender within a language

Language can gender the image of occupational rights and normal human beings. Positions that are exclusively male influence the prospects for children and social expectations.

But grammatical gender and social discrimination are not the same thing. The changes must take into account linguistic structure, living use, and speaker convenience. Forced castration may prevent arousal of public opinion.

Inclusive language is a complement to structural reform. The positions are subject to change as well as opportunities for recruitment, security, and leadership.

45.15 PREVIOUSLY: Got equal rights, now the problem is over

After the laws are declared equal, the remaining difference is said to be the result of a private election. Formal rights are a historic achievement, but the cost of use, fear of violence, the burden of care and the professional trap can still change choices.

Not all differences are evidence of discrimination. The physique and life plan may vary. The question is, what is the choice, what are the expectations, and what is the information contained within.

Policies should not force outcomes to be the same, remove unnecessary barriers, provide safer alternatives and regularly check for differences.

45.7 Biological differences and social meanings

Physical differences may be real, but they do not automatically lead to social roles, intelligence, rights, or fortune. Society chooses which distinctions are important, how to classify them, and which to associate with resources or punishment.

Biological denialism and biological determinism are both wrong. In medicine or health, the body may be relevant. in civil rights, equal dignity is crucial. It is important to keep the context clear.

45.8 Care and dependence and ethics

Human beings are dependent on others in many stages of life. The ideal of the autonomous individual is incomplete if the caregiving labor is invisible. Relationships, responsibility, and sensitivity are central to ethical living.

But to make it compulsory for a woman to sacrifice herself in the name of maintenance is injustice. Proper care should preserve the dignity, rest, resources, and voice of both caregiver and recipient. Dependency dominance is not a given.

45.9 Consent and the Power of

Consent is not just a word here and there. The right to information, absence of pressure, decision-making ability, and the right to genuine

choice and revocation of consent are essential. Economic, familial, or institutional dependence can alter the meaning of formal consent.

Not every power-interference agreement makes this impossible, but more security is called for. The rules aim to reduce the risk of retaliation by vulnerable parties and allow for confidential complaints and impartial investigations. Ethical relationships are built on a continuous dialogue.

45.10 Cognitive Injustice

Evidence bias is when someone 's statement is deemed less credible because of their gender or social identity. The second form is when the public perception of the community 's experience is not available, leaving the loss nameless.

The solution is not to assume every statement is true without testing it. Add bias-awareness hearings, diverse representation, safe language, and independent evidence. Reliability tests are similar, but historical distrust patterns should also be checked.

45.11 Interrelated inequality

Women are not a homogeneous group. Caste, class, religion, language, disability and region change the gendered experience. The average improvement in a group may hide the situation of the most disadvantaged individuals within.

Don 't just make a list of policy categories. Let 's look at how agency affects multiple identities combined. Participation of the affected group and disaggregated data is essential, but so are privacy and stigma risks.

Chapter Conclusion

Gender justice is a combined question of dignity, autonomy, recognition of labour, security, equal opportunity and representation. Parallelism regards feminist thought as the central introspection of social philosophy, rather than an appendix.

Chapter Bibliography

Simone de Beauvoir — The Second Sex.
Susan Moller Okin — Justice, Gender, and the Family.
Martha C. Nussbaum — Women and Human Development.
bell hooks — Feminist Theory: From Margin to Center.
Iris Marion Young — Justice and the Politics of Difference.
Stanford Encyclopedia of Philosophy — “Feminist Political Philosophy”; “Liberal Feminism”.

Chapter 46 — Language, Region, and Identity

The language is more of a medium of communication. The language has a unique way of looking at history, memory, humor, love, folklore, religious experiences, labor terminology, family relationships, and the world. For this reason, the question of language is not only a question of grammar; it is also a question of dignity and access, of representation and structure.

46.1 Language and Identity

Individuals share many identities: linguistic, regional, religious, occupational, ethnic, sexual, and national. Linguistic identity is an important dimension of all of these, but no single identity is synonymous with the whole person. Parallelism cautions against the politics of single-labelism. Languages give identity, but they do not have to be fences.

46.2 Mother Tongue: Knowledge and Opportunities

The language of childhood forms the initial world of thought. If the instruction is in a completely unfamiliar language, the language barrier is added to the content. However, mother tongue-based education and comprehensive multilingualism are not antagonistic goals. Appropriate policies strengthen the intellectual base in the local language while increasing access to other useful languages. The question is not one of language or another language. the question is just multilingualism.

46.3 Language and Authority

Access to knowledge is determined by what language the state, universities, courts, markets, technology and publications prefer. If the language of the citizen is constantly absent from public institutions, their experience may become invisible. Linguistic justice is not just a symbolic honour; it is also an opportunity for translation, education, administrative access, digital support and publication.

46.4 Regionalism: Localism versus narrowness

Regional identity preserves local history, ecology, language and memory. But if regional pride becomes the demeanour of another region, that is not self-respect but a new form of dominance. The principle of parallel philosophy is clear: respect for one 's own identity must be compatible with equal dignity with that of others.

46.5 Mithila is an example of

Mithila 's language-literature, scriptures, folk traditions, and cross-border cultural life show that political boundaries and cultural geography are not always synonymous. The study of such a regional world makes broader history more nuanced than nationalism. But every claim to historical glory must pass the test of proof.

46.6 The Digital Age and Linguistic Inequality

Digital tools like small language publishing, audio-visual collections, dictionaries and e-magazines provide new opportunities for learning and archiving. At the same time, artificial intelligence and standardized

data give more advantages to languages with multiple sources. Therefore, Unicode 's free font and corpus require quality translations and local content for digital linguistic justice.

Pūrvapakṣa (Prima Facie View): Division leads to linguistic rights

Uttarapakṣa (Response): Equal rights not division | Humiliation and forced assimilation can lead to division Common citizenship is strengthened when multiple identities are preserved.

The Dialogue of the Parallel Philosophy

Language is also a medium of knowledge and power. A proper form of linguistic pride is the creation of high-quality knowledge in one 's own language, translation, education, and increased public outreach; not the denigration of another language or community.

46.12 Language - Conversion and Authenticity

Living languages change with borrowing, new words, and migration. By treating change as a fall every time, language becomes a museum object. Unchecked dominance, on the other hand, can reduce local vocabulary.

Authenticity is not finding a pure origin. it is meaningful continuity through community. The need of the hour is to check comprehension and consistency with Maithili grammar. Make sure that there are options available.

Dictionaries both describe and guide, but do not govern, living experiments. The standard is developed through literature, school and mass media communication.

46.13 The linguistic market

Some languages form the basis of employment, examinations and prestige. Intergenerational transmission of mother tongues may be impaired as families choose the dominant language for useful occasions. It is the result of structural incentives, not just emotional apathy.

They should not be made opponents of employment to save the mother tongue. Bilingual education, publication, digital means and use in public services give practical value to the language.

If linguistic pride stops learning a second language, the child 's opportunities will decrease. The goal is multilingualism and not isolationist purity.

46.14 Access to and record of scripts

Scripts are associated with both cultural memory and access to texts. Preservation of historical scripts is important, but so too is access to education and digital literacy. Respecting one option does not necessarily mean destroying the other.

Cataloguing old manuscripts requires high-quality copies and reading-training. A symbolic celebration alone would not have preserved the record.

The loss of sound and original spelling should be obvious in transliteration. Research-editing should separate original images from transcripts and editorial decisions so readers can check.

46.15 Preface: National unity is impossible without a language

A common lingua franca facilitates administration and civic communication; therefore, a single language is considered essential for cohesion. But unity is not the same thing as uniformity. Multilingual societies can run on shared institutions and translations.

The imposition of one language may reduce education and justice access for minority citizens and increase resistance. Having the opportunity to learn a common language is not a prerequisite for leaving one 's mother tongue.

A more permanent basis for unity is equal rights, mutual translation, and political participation. A language bridge is not a stepping stone to status.

46.7 Mother Tongue and Public Ability

The mother tongue is not just an emotional cradle; early education is a means to summon the courage to question and express complex experiences. Intellectual participation is limited by formal admission if the child cries without understanding the language of knowledge.

The same language is not necessarily sufficient at all levels. Multilingual arrangements of mother tongues and regional contact languages and mass communication languages can enhance capacity. The policy did not make the languages a zero-sum conflict.

46.8 Advantages and costs of standardization

Standard spelling and grammar make learning, publishing, and administration easy. However, standards are often based on the use of a field or class and may declare other forms to be inaccurate. Technological advantage is not evidence of social superiority.

Inclusive standardization should document diversity, clarify rules for formal contexts, and not offend speakers. Literary creation can broaden the range of standards.

46.9 Translation and Knowledge - Rights

The rights of citizens become unequal in practice when law, science, health and philosophy are available only in major languages. Translation is not only about giving information but also a condition for participating in decisions. Technical terms need both a correct form and a clear explanation.

A literal translation would sometimes distort the concept. For basic terms, Maithili, examples and bounds should be included. The name and version of the translator should be legible so that errors can be corrected.

46.10 Regional identity and internal pluralism

Regional identities may confer dignity against centralized neglect, but may conceal underlying caste, gender, or linguistic disparities. All of these single-word slogans can be useful in external conflicts and a barrier to internal criticism.

An inclusive identity acknowledges shared history but accommodates disagreement and pluralism. Love of territory is not contempt for another territory. Cultural rights should be linked to civil equality.

46.11 Census and Categories and Powers

States create categories when they count languages and communities. Decisions about which forms are independent languages and which are multilingualism have an impact on resources and beliefs. The data is not a neutral mirror.

However, without calculations, the policy is difficult. Categories should be transparent, self-administered, and pluralistic; methods should be published; small communities should not be invisible. Qualitative evidence of use, education, and institutional access to the numbers is required.

Chapter Conclusion

Language, territory, and identity are fundamental questions of democratic justice. Respect for identity and respect for plurality are one-two prerequisites.

Chapter Bibliography

Benedict Anderson — Imagined Communities.
Will Kymlicka — Multicultural Citizenship.
Charles Taylor — "The Politics of Recognition".
UNESCO selected documents related to multilingual education.

Chapter 47 — Democracy

Democracy is not just about elections. If elections are held but critics remain fearful, if parliament is there but institutions are ineffective, if majority is there then minority rights are insecure, if constitution is there but social relations survive on humiliation then democracy is incomplete.

47.1 Population and limited powers

The first meaning of democracy is that state power derives legitimacy from the citizens. But democracy itself is not uniform. The Constitution 's Fundamental Rights limit the power of the majority. Both majority rule and rights-protection are necessary.

47.2 Representation

Representation is not just about counting the votes. The question is which community is present at the site of the decision. What experiences are consistently missed The number and form of representation may vary by geographical area, gender, marginalized communities, and linguistic groups. The quality of democracy should also be measured by how much power listens to social diversity.

47.3 Institutions and Rules of Dissent

An independent judiciary, legislature, independent journalism, electoral process, universities, civil society and information are the structural

foundations of democracy. Leaders are popular and not above the company. Personal goodwill is not a substitute for institutional control.

47.4 The validity of the counterparty

One hard virtue of democracy is to regard the opposition not as the enemy, but as the legitimate opposition. Public argument ends when disagreement is interpreted as treason or immorality or moral turpitude. Parallel philosophies regard democracy as a public order with constant scriptural pressure and counter-pressure, evidence, criticism, and revision.

47.5 Social Democracy

Political equal suffrage is extremely important, but civil equality is incomplete when the society suffers from birth defects, economic subjugation, or gender-based violence. For this reason, social democracy is the basis of political democracy.

47.6 Information and democracy

Misinformation, propaganda, artificial materials, and algorithmic polarization influence democratic decisions. Solutions require not just censorship but also source-checking, media-literacy, transparency, independent fact-checking, and civic conscience.

Pūrvapakṣa (Prima Facie View): Stronger, less-regulated government is better for efficient governance

Uttarapakṣa (Response): Immediate motion cannot replace long-term legality and rights-protection and error-correction. Democracy may be slow, but its capacity for self-improvement depends on institutional critique.

47.12 Time of election and decision

Elections renew the regime 's authorization from time to time, but decisions are made continuously in the intervening period. Responsibility is weakened when the citizen 's role is limited to one vote in five years.

Hearing, right to information, local assemblies, committees and peaceful protests are the means of sustained democracy. Not all subjects are referendum-eligible; complex decisions require expertise and delegate time.

Too much involvement can lead to burnout and the domination of organized oligarchies. The process should be relevant, accessible, and representative.

47.13 The Moral Place of the Opposition

The opposition is not the enemy of the regime; it presents an alternative and makes regime change possible. A democracy without a permanent opposition can dominate while having elections.

The duty of the opposition is not just to obstruct. Factual criticism considers possible alternatives and constitutional limitations. Extremism

that destroys every institution in the name of silence and protest in the name of national interest.

Finance decisions and internal democracy of both the ruling and opposition parties should be open to public scrutiny.

47.14 Misinformation and the Democratic Will

Free speech is when citizens have access to reliable information and a variety of options. Systematic falsehoods distort the will to choose the fake medium or source-cover election.

The risk of censorship if the state becomes the sole arbiter of truth. Independent fact-checking, media-transparency, source-marking, and prompt response may be better tools. The law must be limited, without cause, and appealable if it is manifestly violent.

Medium-literacy is a long-term solution, but so is the creative responsibility of the platform. The user should not be blamed entirely.

47.15 Preface: Expert rule is superior to democracy

Complex policies demand scientific and economic knowledge; ordinary voters do not know the details. Therefore, it seems attractive to offer a decision to an expert.

Experts may offer superior knowledge on means-effects but aim for risk-distribution and fairness values. Experts are also intrigued by institutions and uncertainties. The civic experience gives the necessary knowledge of the implementation.

Due process adds expert evidence, elected responsibility, and public comment. Knowledge is not a substitute for informing democracy.

47.7 Many Forms of Representation

This is a different meaning of representative, whether they look like the people of the area, advance their interests, or are responsible for public consultation. Winning the election alone does not make all the sense.

Descriptive representation may reduce historical exclusion, but does not ensure uniform identity. Accountability requires information, questions, elections, and institutional reviews.

47.8 Majority and constitutional limits

Majority is the practical rule of judgment, not proof of truth or moral infallibility. Fundamental rights are protected by the will of the majority because the minority is also an equal citizen.

Judicial or constitutional limits are not in themselves anti-democratic, but accountability of unelected bodies is. The balance of rights-safety and people-participation will depend on transparent reasons.

47.9 Thoughtful Democracy

It is necessary to vote, but not the fullness of democracy. The evidence and experiences affected should be heard before a decision is made or people can reconsider their preferences. The goal of deliberation is a clear and respectful form of disagreement, not artificial consensus.

Formal opportunity to speak is not enough if language or social phobia blocks one 's speech. Facilitation requires participation in translation, secure forums, and agenda-building.

47.10 Parties: Money and Political Equality

Political parties combine interests and make governance possible, but internal democracy may limit civic choice. Too much money has a disproportionate effect on campaign access and candidate selection.

Maintaining the right to expression requires financial transparency, conflict-of-interest rules, and public information. The effect of political similarities is not to equalize at all; it is to prevent a purchasable dominance.

47.11 Dissent and civil disobedience

Public, nonviolent, and responsible civil disobedience can take form when normal media fails to correct injustices. Their justification depends on the seriousness of the issue, the proportion of the means and the public cause.

Not every private disagreement is civil disobedience. Actions should not destroy the basic rights of others, keep the door open to dialogue and accept responsibility for the consequences.

Chapter Conclusion

Democracy is a combined system of voting rights, institutions, representation, social respect, and legitimate dissent. Making enemies is

the natural disease of democracy. treating the opposition as legitimate is its medicine.

Chapter Bibliography

Alexis de Tocqueville — Democracy in America.
John Stuart Mill — Considerations on Representative Government.
The B. The R. Ambedkar Speeches and Articles about the Constituent Assembly.
John Rawls — Political Liberalism.
Amartya Sen — The Idea of Justice.

Chapter 48 — Gandhi

In Gandhi 's philosophy, the relationship between truth, non-violence, satyagraha, and Swaraj, self-restraint and resourcefulness is central. They must be studied critically, not in the simplistic binary of worship or refutation. Gandhi Heritage Portal preserves original texts like * Hind Swaraj: * Satyagraha in South Africa: * Constructive Programme: * It is more appropriate to read Gandhi-Thought on the basis of these texts.

48.1 The Truth

For Gandhi, truth is not only factual correctness but also moral practice. A person is not an absolute master of truth. he is a seeker of truth. This makes the language of introspection and experimentation important in his writing. Parallel philosophy takes from this a lesson in epistemic humility, but retains the usual criterion of proof in questions of public fact.

48.2 Non-violence

Ahimsa is not the absence of inaction. Silence in the face of injustice is not the ideal of nonviolence; the aim is to challenge injustice without resorting to violence. But the moral high ground of nonviolence raises difficult questions when immediate life-saving or state repression or community violence is present. It is therefore necessary to discuss both the historical consequences and the moral limits of nonviolence.

48.3 The Satyagraha

Satyagraha is the political method of addressing one 's conscience rather than destroying the opposition. Self-sacrifice, discipline, public speaking, and the morality of means are the foundations of this method. In contrast to violent conquests, satyagraha viewed opponents as fellow citizens of the future.

48.4 Swaraj

In Hind Swaraj, Swaraj is not merely the end of foreign rule; it is also a question of self-rule, civilisational review and the discipline of the will. Gandhi takes a critical look at the pace of modern industrial civilization, at consumption and centralization, and at machine-driven life. But some of his findings on modern medicine, technology, industrialisation and village-wise demand rigorous revision today.

48.5 Means and means of achieving

Gandhi 's crucial plea is that unjust means corrupt the just ends. This principle is particularly important in political ethics: lying in the name of truth, terror in the name of freedom, and insult in the name of equality do not automatically sanctify the injustice of the language of the instrument.

48.6 Race and Criticism

Gandhi 's views on caste changed over time, but Ambedkar 's critique of it would be incomplete without a study. Opposing untouchability is not enough if the inherent caste-structure itself is out of the question. Parallel

philosophies read Gandhi and Ambedkar not as conflicting icons but as rigorous philosophical dialogues.

Pūrvapakṣa (Prima Facie View): Gandhi is a moral idealist, inadequate to modern structural injustice.

Uttarapakṣa (Response): Criticism is powerful where appropriate, especially in questions of caste, industrialisation, and institutionalisation. But their questions of resourcefulness, non-violent resistance, self-restraint, and political morality are still important.

48.12 The extent of self-pity in satyagraha

The satyagrahi possesses the moral strength to awaken the conscience of the opponent by taking risks with his body. But self-pity can sometimes become emotional pressure, especially when followers take risks with leadership commands. Volunteering and information is a must.

Leaders cannot make the sacrifice of others their moral capital. The distribution of risk should be a clear condition of protection for vulnerable participants and prevention of exposure. Self-compassion is bravery, not a devaluation of life.

The conclusion that greater suffering is more likely to be true if the outcome is not achieved is unfair. The re-evaluation of means should be part of the introspection of satyagraha.

48.13 The creative programme

Resistance weakens unjust institutions, but without alternatives, old power can fill the void. Education, sanitation, local production,

community cooperation and constructive work against untouchability make up the potential of future societies.

Local self-sufficiency is not complete economic isolation. What can be locally justified and what can be widely supported must be decided by evidence. Romantic village-dramas do not hide the drudgery and caste inequality.

The success of constructive programs must be measured by participation, resource sustainability, and the real rights of vulnerable groups; symbolic labor is not enough.

48.14 The conscience and the democratic rules

The person may sometimes refuse to obey the law for serious moral reasons. Respect for conscience is essential, but not every private belief can be exempt from public law. Check the rights of others and the functionality of the shared entity.

The state may make an exemption where reasonable alternative arrangements can be made. Public duty can be paramount where exemptions prevent service to the vulnerable or destroy equality.

The state cannot know for sure whether the conscience is true or not; therefore, a general and transparent test is required. Exemptions for popular belief and penalties for minority belief are unjustified.

48.15 Preface: Non-violence is useless in the face of the powerful

It is argued that the ruthless regime does not listen to moral appeals or that nonviolence keeps victims passive. The historical circumstances are different, so the universal claim of success is invalid.

Nonviolent struggle is not only appealing; it can also lead to economic costs, crises of legitimacy, and widespread disorganization. Their strength lies in discipline, numbers, and organisational rigour.

However, the risk victim community must decide; an outside audience cannot impose the moral purity of nonviolence. The choice of means must concern the result, the dignity and the safety of the citizen.

48.7 Truth and Political Conduct

Gandhi 's truth is not just a static claim but a discipline to be tested throughout life. Not demonizing the opponent as an absolute, considering one 's understanding limited, forms the epistemological basis of nonviolence. The means may corrupt or strengthen the search for truth.

But private conscience will not replace public proof. Leaders cannot impose their will on others in the name of truth. Criticism with self-examination requires a review of the affected person 's voice and results.

48.8 Non-violence: not the absence of inaction

Non-violence is the active politics of non-violence, association, non-cooperation, boycott, satyagraha and self-defense. The goal is not to

destroy the opponent physically, but rather to create openness to the truth rather than unjust relations.

Even in nonviolent action, there is pressure, but that is limited by the preservation of life, dignity, and communication. It is inappropriate to romanticize the suffering of the weak and ask for sacrifices. Safety and effectiveness should be checked in concrete cases.

48.9 The means - the possible relations

Gandhi questions the very notion that unjust means will lead to a just society. The means, like the seed, forms the institution and character of the future. Deceitful insults and centralized violence can leave their structure even after victory.

However, not all hard tools are equally as unclean. The law should examine the justifications for punishment or economic coercion by way of harm ratios and procedures and alternatives. Resourceful unity is a moral test, not a simple prohibition.

48.10 Gram-Swaraj and Satta-Vikendran

Local self-governments can increase participation and accountability by bringing decisions closer to life. But the village itself is not egalitarian; caste, gender, and local ownership of property can more closely oppress the weak.

Decentralization must be accompanied by basic rights, external appeal, financial transparency, and marginal representation. Local knowledge is important, but not without criticism.

48.11 Trusteeship and Economic Justice

The idea of trusteeship considers the wealthy not as absolute owners of property but as socially responsible custodians. It emphasizes moral restraint and voluntary responsibility. The critique is that a system dependent on benevolent bosses cannot replace workers " rights and structural redistribution.

The parallel view links moral restraint to the rule of law, labor rights, and democratic decision-making. The will is useful, not a substitute for judicial power.

Chapter Conclusion

The best study of Gandhi puts faith and criticism together. The best form of respect for great persons is not worship but critical study.

Chapter Bibliography

M. K. Gandhi — Hind Swaraj.
M. K. Gandhi — Satyagraha in South Africa.
M. K. Gandhi — Constructive Programme.
M. K. Gandhi — The Story of My Experiments with Truth.
B. R. Ambedkar — Annihilation of Caste.

Chapter 49 — Ambedkar

At the heart of Ambedkar 's philosophy are social democracy, caste-free constitutionalism, representation, liberty, equality and fraternity. His writing considers social stigmatization as an institutional problem rather than just a moral evil.

49.1 Caste: Not a Division of Labour or Division of Labour

In Annihilation of Caste, Ambedkar does not criticise caste solely on the basis of economic backwardness. Caste is the structure of birth rank, intermarriage, social distance, and status. For this reason, formal equality of opportunity is not sufficient unless social institutions determine a person 's life path based on birth.

49.2 Social reform and political reform

Ambedkar 's important argument is that political freedom cannot replace social equality. Social democracy is necessary for political democracy to survive. For Indian public life, this question is as fundamental as the question of whether democracy is incomplete if social dignity is unequal.

49.3 Freedom and equality and fraternity

Ambedkar considers these three theories to be a trilogy, not separate entities but interdependent. Liberty without equality may become the privilege of the powerful; liberty without equality is difficult to maintain in social life. His public statements and writings consider this trilogy to

be the foundation of democratic life. citeturn707669search25turn707669search28

49.4 Constitutionality

A constitution is not just a legal document. it is a framework for rule over power, protection of rights and civil equality. Ambedkar stresses the importance of the constitutional method while warning that political democracy cannot survive in the serious paradox of socio-economic inequality.

49.5 Representation

The representation of groups that have historically been excluded from decision-making is not just a question of symbolic presence. Representation is also a question of knowledge, which leads to experience in policy-making. Parallel philosophy takes up from here the question of who sits at the judging table.

49.6 Religion and the Ethical Community

Ambedkar studies religion in relation to social morality, not just personal beliefs. Acceptance of Buddhism late in life was associated with questions of social dignity, moral community, and freedom. Treating the issue as merely a political strategy is insufficient.

49.7 The Gandhian and Ambedkar Dialogue

Both are against injustice but have serious differences of opinion on the social structure and methods of change. Gandhi emphasizes self-

transformation, moral appeal, and community-reform.Ambedkar on legal rights, representation, structural change, and a clear program of annihilation of caste. Parallel philosophy studies both, questions both, and considers the dignity of the victim as the ultimate moral criterion.

Pūrvapakṣa (Prima Facie View): Constitutional rights do not automatically change social behaviour.

Uttarapakṣa (Response): True. the law is not enough. But without laws, representation, and institutional rights, social moral change can be weak. Both law and social order are necessary for justice to prevail.

49.13 Caste - Extinction and the Limits of Reform

Some reforms may reduce the harshness of discrimination, but the basic structure survives if caste group-border intermarriage and status persist. Abolition is not merely a change of heart; it is a question of social reconstruction.

Law, education, economic opportunity and inter-group relations must go together. Symbolic courtship is useful, but the effect is limited unless property, representation, and the actual barriers to marriage are changed.

The leadership of change must come from the oppressed community; willing external allies will not reassert their dominance.

49.14 A Moral Retelling of the Buddhist Religion

Ambedkar 's conversion to Buddhism should be read as a project of social equality and new communities with individual spiritual choice. Their

interpretation is not merely a revision of ancient Buddhist doctrine but a modern ethico-political re-reading.

According to the historical Buddha, the later traditions and modern Navayana versions are different sources. Do not accuse one of the other. The validity of the recension must be checked with its stated modern purpose.

Religion here claims to be a public discipline of dignity and fraternity rather than a means of accepting one 's destiny. Whether the claims constitute equality in practice is open to review.

49.15 Hero worship and democracy

Liberation movements may ask for effective leadership, but by putting the leader above criticism, the institution is weakened. The merit of the opinion lies in examining the arguments by reading their texts and not in making citations the final order.

Hero worship absolves the follower of responsibility and breeds succession conflicts. Organization rules should protect elections, collective leadership, and dissent.

Criticism can be a weapon of the opposition, so don 't let fear stop you from criticizing. Source-acceptance, contextualization, and uniform critique keep the tradition alive.

49.16 PrevParty: Constitution cannot change the social spirit

The law cannot compel behaviour; the mind cannot be prejudiced; therefore, a constitution is said to be insufficient for social democracy. This objection is only partly true.

However, the rules of engagement vary by occasion, contact, and expectations; standards can change over time. The law gives the victim a language of defence and claim. Rights should not be suspended while waiting for a change of heart.

Constitutional reform must be accompanied by education, public example, and economic change. Punishment alone cannot create fear; preaching alone will not change power.

49.8 Social democracy

Political democracy gives voting and representation.Social democracy demands liberty, equality, and fraternity in everyday life. If society is organized in hierarchical relationships, the effects of equal suffrage may be limited.

The three values are not that different. Liberty without equality, privilege without equality, liberty without control, and fraternity without fraternity are both unsustainable. Institutions should embody this balance in rights, education and public practice.

49.9 Constitutional morality

The text of the Constitution alone is not enough; officials and citizens must have an ethics of due process, dissent, minority-right, and power-limit. Constitutional morality is respect for the rule over popular sentiment.

But in the name of the text, living injustice is not to be avoided. Criticism is possible within the legitimate course of values and rights and amendments to the Constitution. The cult of personality undermines institutional responsibility.

49.10 Be Educated, Organize, and Struggle

Education is not just information; it is the power to identify and give reasons for an insult. The organization makes segregated pain a public demand. Conflict is a disciplined collective action for rights and not blind hatred.

If the educated elite were cut off from the community, knowledge would not be representative. Democracy within the organization requires transparency of women 's voices and resources. The means must correspond to the value of the release.

49.11 Religion and Ethics and Change

The value of religion should be tested not in sanctifying birth-based inequalities, but in creating moral communities of human beings. Religious systems that oppose liberty, equality, and compassion deserve to be criticized.

Conversion can be not only a change of personal doctrine, but also a choice of social status and a new community. However, the experience of conversion is varied; they are not intended to be inferred from external assumptions but from sources and participant evidence.

49.12 Representation and independent voices

For historically excluded communities, representation is a cognitive condition of policy-making. No one else can willingly take the full place of the spoken experience. Independent organisations change the balance of power.

A representative is not the whole community. Let there be inner conflict and accountability. Genuine representation is the combined arrangement of choice, resources, freedom of speech, and accountability to the community.

Chapter Conclusion

Ambedkar 's philosophy takes democracy beyond the ballot box to social relations, dignity, representation and fraternity. The Indian modern philosophical basis for this formulation of the philosophy of ijnana not being a moral qualification derives its depth from Ambedkar 's conception of caste.

Chapter Bibliography

B. R. Ambedkar — Annihilation of Caste.
B. R. Ambedkar — States and Minorities.
B. R. Ambedkar — The Buddha and His Dhamma.
B. R. Ambedkar — Dr. Babasaheb Ambedkar: Writings and Speeches.

Part VI — Philosophy of Religion

Chapter 50 — What Is Religion?

It is difficult to bind religion within a single definition. Belief? Ritual? Ethics? Community? A path to liberation? Sacred experience? A way of life? Each tradition combines these elements in different proportions. The first task of philosophy of religion, therefore, is to acknowledge the plurality of the word “dharma.”

Difficulty of the 50.1 Definition

The history of the term Western modern religion and the semantics of Indian religions are not entirely identical. Dharma can mean duty, moral order, way of life, virtues, religious traditions, or social norms. Buddhism, Jainism, Vedic religion, the bhakti-tradition, and modern institutional religion do not share the same structure. The translation is the philosophical decision here.

50.2 Limitations of the Confidence Centered Definition

In some religions, theism is central, but it is inconsistent to define Buddhist or Jain traditions by the criterion of theism. So religion = God - belief is not a sufficient definition.

50.3 Rituals and the Community

Religion is expressed through group rituals, festivals, meals, mourning, marriages, pilgrimages, music, and stories and institutions. Here, religion is not just a theory but a social practice. But because social

practice is ancient, it is not automatically moral. Every practice can be tested on the test of dignity and justice.

The experience of a 50.4

Religious experiences can be profound, transformative, and meaningful for individuals. Philosophy may respect empirical truths, but does not automatically draw universal metaphysical conclusions from experience. If the experiences of different traditions claim different things, then additional arguments are necessary.

50.5 Religion and Ethics

Religion can give moral motivation, compassion, service, truth, and restraint. But religion says it is not the only answer to public moral righteousness, especially in a plural society. If religious rules deny someone equal dignity, then there is a right to criticism.

50.6 Religion and Identity

Religious identity can be a source of language, memory, and connection for individuals and communities. But a person can be a dissenter, reformist, convert, or irreligious within their own tradition. Therefore, the right to a religious community should not extinguish an individual 's freedom of conscience.

50.7 The Three Levels of Religion

The Parallel Philosophy proposes three levels of separation in theology: personal faith. community religious life. state public law. Individual

faiths should enjoy wide freedom, and community life should be subject to equal rights; the state should not make any one religious truth a condition of citizenship.

Pūrvapakṣa (Prima Facie View): To argue about religion is to insult faith.

Uttarapakṣa (Response): Freedom of belief is respectable.But when religious claims affect public obligation, education, law, property or the rights of another person, public cause is necessary. The question is not one of humiliation, but of coexistence.

The Dialogue of the Parallel Philosophy

Religion is neither entirely private nor entirely state. Its moral force and oppressive potential are both reflected in history. Conscientious pluralism is an attempt to preserve both freedom of religion and human dignity.

50.13 Religion and Magic and the Limits of Science

Placing religion, magic, and science at the bottom of a simple hierarchy reduces the diversity of history. In the same society, ritual means technical knowledge and causal beliefs can coexist.

Empirical claims call for scientific tests to see if the drug reduces the disease. The grief-meaning or communal memory of life is not a laboratory question. Segregation is not an insult; it is the selection of evidence.

Criticism is necessary when there is harm, fraud or delay in treatment due to magical reasons. Religious freedom is not an unqualified right to another 's life.

50.14 Types of myths and truths

Myths tell the story of the community 's origins, values, and worldview. They cannot mean a chronology of history. Symbolic truths can open up human experience, although literal phenomena are not verifiable.

To call a myth a complete lie is not to consider it a literary-religious work; to call it a history is a proof-class fallacy. The reader should clarify whether they are interpreting the cultural meaning of the story or an anecdotal one.

The power of myth can also be a valid one. The moral of the story is to question whose origins are glorious and whose service is natural.

50.15 The Economics of Religion

Temples, monasteries, and shrines distribute donations and festive resources, labor, and prestige. Religious institutions can be not only groups of thinkers but also economic agents.

Charity may be voluntary compassion, but social pressure or opaque use may constitute exploitation. The accounts must be maintained in accordance with the Public Standards Body for Asset Management and Service Delivery.

Economic analysis does not reduce beliefs to profit calculations. They only show that sacred purpose is connected with practical resourcefulness.

50.16 Preface: Religion is only a private matter

Faith is a matter of conscience. so the proposition that religion should be completely private seems like a conflict reduction. But festivals, institutions, marriages, education and services have a public impact.

The state must not control conscience but must enforce the same laws on conduct affecting rights. Religious citizens may participate in public debates or even present compelling reasons in common language.

The public boundary of private property is not fixed, but neither is the permissibility of vague, infinite interference. There should be a clear loss and rights criteria.

50.8 The Difficulty of Defining Religion

Treating theism as an essential feature of religion would exclude atheistic or heterodox traditions. Ritual, community, story, morality, salvation, purity and life-form are the different dimensions of Dharma. Not all instances of a trait can be captured.

A multidimensional definition should not be a vague list; contextually speaking, what dimensions are relevant in law, history, or philosophy. Self-determination is important, but whose authority the institution affects is open to public scrutiny.

50.9 The Sacred and the Ordinary

Communities give particular respect to objects or stories in certain places and times. The experience of purity creates meaning, discipline, and

collective memory. To call it ignorance is not to understand the social power of experience.

But sacred claims are not entirely free from public criticism, especially when affecting access, land, or civil rights. Respect doesn 't have to mean forbidding questions; the language of communication should be non-abusive.

50.10 The Philosophical Meaning of the Ritual

Rituals are not just external acts of faith. Repetitive memory builds relationships between the body, time, and community. Participants can live the same ritual in a different sense.

The existence of a custom does not automatically imply its truth-claiming or moral justification. The question of who participates in rituals, who is excluded, who demands labor, and whether change is allowed is a subject of sociology.

50.11 The Crisis of Religion and Meaning

Religions offer stories, communities, and exercises in the questions of death, grief, sudden loss, and the purpose of life. This existential function cannot be completely quantified by factual evidence.

Consolation does not make the claim true, but neither is it without human cost. Philosophy would relate facts and existential meanings and moral consequences separately. A distinction must be made between false assurances and compassionate accompaniment.

50.12 Criticism within a religion

Religious traditions do not change by external criticism alone; devotees, saints, philosophers, and social movements reinterpret scriptures, institutions, and practices from within. The internal language can increase the validity of the changes.

However, the rights of victims should not be restricted by the mere fact that a crime has been committed. To communicate the vision of internal reform and universal dignity. Who is considered the representative of the voice tradition is also a question of power.

Chapter Conclusion

Religion is a multifaceted human phenomenon, encompassing belief, practice, community, experience, morality, and the idea of liberation. No one definition fits all of the traditions. The following chapters will explore specific questions of God, faith, suffering, karma, pluralism, and religion-state relations.

Chapter Bibliography

William James — The Varieties of Religious Experience.
Émile Durkheim — The Elementary Forms of Religious Life.
John Hick — An Interpretation of Religion.
Wilfred Cantwell Smith — The Meaning and End of Religion.
B. R. Ambedkar — The Buddha and His Dhamma.

Chapter 51 — The Question of God

The question of God is one of the oldest and most enduring questions in philosophy. But whether there is a God is not the only question. It is first necessary to explain what is meant by God. The Creator The omniscient and omnipotent moral being The Reason for the World The Absolute Reality of the Absolute Nullity of Brahman A personal tribute to the or the symbolic center of religious experience. Different traditions take the word God to have different meanings; therefore, logic also varies in meaning.

51.1 The Plurality of the God-Concept

The concept of God is not uniform in Indian philosophy. The later acharyas of the Nyaya-Vaisheshika tradition, particularly Udayana, develop speculative arguments in favour of the existence of God. The classical form of Samkhya explains the world through the elements of Prakriti and Purusha and does not consider the creator God as indispensable. Purva-mimamsa tries to protect the authenticity of the Vedas without the need for a God-writer. Major schools of Buddhist philosophy do not accept a need for a creator God. Even within Vedanta, there are serious differences of opinion on the relationship between Brahman, Ishvara, and the world and the living entity.

The first lesson to be drawn from this variety is that Indian philosophy is theistic or that Indian philosophy is atheistic; this is an

oversimplification. The correct approach is to ask tradition-specific questions.

51.2 From Reason to God

A common argument in favor of God is based on causality: the world is changing, connected, or dependent; therefore, there must be a sufficient reason for it. Various forms of inference from intelligent agents developed within the juridical tradition, considering the world as work. In Western philosophy, there are several forms of cosmological reasoning: first cause, necessary being, sufficient cause, etc.

But the objection immediately arises: if everything needs a cause, then what is the cause of God? In response, theists often say that reason is not the cause of all things but the cause of everything that exists or is possible. This answer does not eliminate the problem. The question remains, why can 't the universe itself be necessary? The reason why the chain is not infinite Whether it is right to apply the principle of causality to the whole universe

Parallel philosophy does not consider this argument to be deductive or immediately deductive. Each line of reasoning must be tested separately.

51.3 Order and Purpose and Intelligence

Intelligent planners have been inferred from the order of the world, mathematical structures, biological complexity, or life-adapting conditions. The power of this argument lies in its questioning of the

comprehensibility and structure of the world. But natural selection, self-organization, physical laws, and the vast cosmic scale provide natural explanations for many complex phenomena.

The philosophical question is therefore not as simple as the question of īlātilāt = God. The question is whether the existence or intelligibility of a final law demands additional interpretation when a natural explanation is available. The theists and naturalists differ on this point.

51.4 Ethical reasoning

Some thinkers associate material moral values or duties with the existence of God. If indeed some actions are not merely a question of choice but objectively improper, what is the ultimate basis for them? The theists may answer that the divine nature is full of auspiciousness.

Objection: If an action is right only because God commands it, then morality can be arbitrary. if God commands what is right because it is freely right, then the basis of morality seems separate from God. This ancient dichotomy is a serious problem for religious morality.

Parallel philosophy here regards the equal dignity of human beings as a public moral criterion. Religious morality may inspire, but the justification of a citizen 's rights cannot depend on sect-specific injunctions alone.

51.5 The experience of the religious

A person experiencing prayer, meditation, devotion, mystical oneness, and purity considers this experience as evidence of God. It is unfair to call experience a direct illusion because experience is a real human event. However, the interpretation of the experience is disputed. Practitioners of different religions report different ultimate selves or realizations of truth. Psychological, social, and neurological explanations are also possible.

Experience therefore demands a distinction between reasons for the individual and public proofs for them. Life-changing experiences can be extremely powerful for a person; however, additional arguments are necessary to draw universal conclusions.

51.6 The Argument Against God

Major foundations of the anti-theistic side include the problem of evil, divine hiddenness, religious dissent, natural adequacy, and conceptual difficulty. If there is a perfect loving God, why do honest seekers live in grave uncertainty? If God is omniscient, what is human freedom? If it is omnipotent, what does omnipotence mean?

These objections have been variously answered.No single answer applies to all traditions. The onus of religiosity is to present this debate in its strongest form.

Pūrvapakṣa (Prima Facie View): The Question of God Eliminated from Science

According to this view, the scientific explanation of natural phenomena, by extension, eliminates the need for God.

Uttarapakṣa (Response): The level of the question is different.

With the progress of logic and science, the gods of certain realms become weaker. But the philosophical question of God touches not only on what physical processes produce phenomena but also on questions of existence, causality, value, consciousness, and ultimate interpretation. Just because something is a philosophical question does not make God perfect. Science and metaphysics communicate on a different level.

The State of Parallel Philosophy

The question of God can neither be settled by ridicule nor by fear. The philosopher 's respect for the positions of the theist, atheist, and agnostic is when he explains his reasons, listens to the opposition, and accepts uncertainty honestly.

51.12 The Interconnectedness of the Attributes of God

The qualities of omnipotence, omniscience, perfect compassion, timelessness and subjectivity are all fascinating in their own way but together they raise questions. If the future is known to be perfect, how can human freedom If God is timeless, how about the answer to prayer?

Traditions may confine shakti to logical probabilistic tasks, understanding knowledge as a metaphor for timeless realizations or

relationships. Each solution changes the original concept to be checked for specifics.

Critics who object should take a strong philosophical interpretation of the virtues. The Theoretical interpreter will accept the cost of the solution.

51.13 Prayer and the Causes of

There may be prayer requests, gratitude, meditation, group memories, or self-transformation. The value of all prayer does not depend on the outcome of external miracles.

Empirical claims of effects on specific diseases or events call for testing. It is possible to have a bias towards remembering successes and forgetting failures. Prayer is not a substitute for healing.

Philosophically, the question is: Does an unchanging God change judgment by petition? Different theological answers have a different set of promises.

51.14 The Many Forms of Atheism

Atheism is sometimes a denial of the existence of a god, sometimes a lack of sufficient evidence, and sometimes a rejection of specific god-concepts. Not all atheists share the same metaphysics or ethics.

Criticism of theism does not automatically prove materialism. The metaphysical option requires an independent argument. Similarly, the

fault of a religious institution may not directly disprove the existence of God, although it may affect moral credibility.

The label of infidel or superstitious in communication does not replace reason. The claim must be made in a specific way.

51.15 Preface: The question of God is beyond judgment

It is said that God is beyond experience, so it is impossible to support or refute. The debate is futile. This objection is strong for some concepts, especially if no amount of evidence can change the claim.

But if the religious claim has moral or empirical consequences for the world, a partial test is possible. Perceptual consistency can also be checked without experience.

The final decision may be a limited one. Decision proof does not exist and they are not the same thing. The level of trust must be within reason.

51.7 Not a proof without clarifying the concept

Before examining the claim that there is a God, the meaning of God must be clear: subjective creator, essential being, foundation of the universe, moral authority, omnipresent consciousness, or divine deity. The same logic does not apply to different concepts.

One can get to the first premise by reasoning, but that premise requires additional reasoning from the omniscient to the compassionate and specific religious virtues. The limitation of the conclusion is the honesty of the human evidence-discussion.

51.8 The form of the cosmological argument

The cosmological argument shifts from causality or dependent existence to a premise that is not self-reliant. It is not a strong argument to immediately say that God is causeless, that all forms are not the same.

The key questions are whether the totality of dependent objects demands independent interpretation, whether infinite series can suffice, and whether the necessary entities are conceptually compatible. The opposition wants a promise-by-promise answer, not simple ridicule.

51.9 Arrangements and micro-compatibilities

Purposeful arrangements are predicated on the laws of nature and the conditions conducive to life. Criticism may present natural selection, the possibility of a multiverse, selection-effects, or unknown physical explanations.

Here, the incompleteness of science is not direct evidence of God. I don 't know if there is a specific answer to this question. Yet the explanation of the world remains a legitimate subject of metaphysical wonderment, unless claimed to fill a scientific vacuum.

51.10 The experience of the religious

Mystical unity, answering prayers, and experiencing presence or transformation can be powerful foundations of faith. The experience changes the person 's life, but the interpretation is influenced by language, conventions, and expectations.

The conflicting interpretations of different religions make a public conclusion difficult. Do not dismiss the experience as a lie or self-evident proof. Stability and ethical consequences, mental states and alternative causes should be examined carefully.

51.11 The Silence of the Gods

If the merciful God desires a relationship with man, why can 't the honest seeker find enough clues? The problem of divine concealment is different from that of evil. Here, the absence of suffering and the ambiguity of relationships are central.

The latter may emphasize freedom and spiritual growth, or an indirect presence. Criticism will ask whether this answer adequately explains the reality of unwarranted disbelief. Accepting limitations is appropriate for both theists and atheists.

Chapter Conclusion

God-criticism is not a yes / no vote but a multi-layered philosophical field of reason, morality, experience, suffering, freedom and interpretation. Parallelism does not privilege theism, nor does it automatically regard atheism as an intellectual triumph. Equal access to evidence, strong opposition, and dignified dialogue are the basic tenets of this chapter.

Chapter Bibliography

Udayanacharya of Nyāyakusumāñjali.
Gautama wrote that the Nyāya-sūtra.
Kumārila Bhaṭṭa — Ślokavārttika.
David Hume — Dialogues Concerning Natural Religion.

Immanuel Kant — Critique of Pure Reason.

Alvin Plantinga — God, Freedom, and Evil.

J. L. Mackie — The Miracle of Theism.

Stanford Encyclopedia of Philosophy — “Philosophy of Religion”; “Cosmological Argument”; “Divine Hiddenness”.

Chapter 52 — Faith and Reason

The inevitable enemies of faith and reason greatly narrow the history of human theology. Some religious traditions explain doctrines through logic, while others emphasize mystery, trust, and practice or revelation. Problems arise when faith assumes itself above all criticism or when reason, forgetting its limits, declares every meaning of human experience to be meaningless.

52.1 A sense of the faith

Faith is not just believing something without evidence. Faith can be a mix of belief, trust, loyalty, practice, community membership, and spiritual expectations and life-directions. The person believes in God is a propositional belief. we trust God is a relational belief. we follow this way of life is a practical commitment. All three cannot be tested by the same criteria.

52.2 The Role of an Argument

Logic serves at least four functions: to clarify concepts. to identify contradictions. to check the weight of evidence. and to compare alternative explanations. The religious claim that the event was a miracle is disputed. The origin of the Whether the natural explanation is exhausted what is the meaning of the statement If the religious claim proposes a moral law, the argument will examine its consequences and universality.

52.3 Faith shows the limits of reason.

A person 's life is not run by perfect statements alone. The decision to choose love, trust, friendship, and future projects is made without perfect evidence. This fact does not automatically justify religious belief; however, it does show that absolute certainty does not = imply irrationality is not a correct equation. Logic decides between probability, reliability and risk.

52.4 Fideism and its difficulty

To say that religious belief is entirely independent of reason would be an impossible criticism. Any conflicting religious claims can then become equally critical in their respective fields. At the same time, extreme injunctions or even violent beliefs can escape criticism as heretical beliefs.

Parallel philosophy therefore does not consider absolute irrational beliefs to be a sufficient basis for public justification.

52.5 The Arrogance of Rationalism

On the other hand, poetry, beauty, love, grief, spiritual practice, and existential experiences will lose their significance if they are only considered formally meaningful. The function of philosophical reasoning is not to erase experience but to clarify its claims.

52.6 Private Causes and Public Causes

In a democratic society, one can live life on their religious grounds. Personal religious reasons may be enough to prevent others from breaking their rights, such as fasting, worship, prayer, clothing, or eating. But when the state imposes rules binding on all citizens, merely stating religion is not enough. Public reasons should be such that citizens of different faiths or backgrounds can understand and examine their arguments.

This distinction is not antireligious. it is a defense of religious freedom. For if the state makes the intrinsic causes of one religion the ultimate basis of law, the citizenship of another religion and non-religion alike is weakened.

52.7 Evidence and persons of evidence

Religions are mostly based on word-of-mouth evidence, such as gurus, texts, and community traditions. Indian numismatics raises questions about the reliability of the term. Why is the speaker so reliable? The history of the text is Differences in the text The Interpretation of the Tradition The Opposition These questions do not discredit religious sources but are responsible reading.

The Moral Test of Faith 52.8

A belief may be sacred to the individual, but its social consequences must be examined. If faith promotes compassion, self-control, service, and nonviolence, this can be a morally praiseworthy outcome. Religious

reputation cannot survive moral criticism if it sanctifies dishonor, ostracism, violence, or birthright inequality.

Pūrvapakṣa (Prima Facie View): To demand proof of faith destroys the meaning of faith.

Uttarapakṣa (Response): Not all faiths ask for the same kind of evidence, but public claims do ask for accountability. Personal beliefs and public truth-telling are different. The wider the impact, the clearer the justification needed.

52.14 Proof of absence and absence of evidence

Failure to support the statement and proving the statement is false are different situations. However, if the claim is true, conclusive evidence is expected, and if it is not found after an exhaustive search, the absence may constitute negative evidence.

The evidence required in the religious claim itself is disputed. Whether the miracle should be public or private, whether the divine presence should be obvious or vague presuppositions for freedom changes the conclusion.

So, in the search field, write down the source and the expectation. Don 't assume your counterargument is valid just because you didn 't prove it.

52.15 Community discipline of the faith

Faith is sustained by individual emotion but also by collective practice: reading, prayer, celebration, service, and education. Communities provide memory and self-improvement, but also the pressure to conform.

Be the institution of questions within the faith community: multiple interpretations of the text, leadership responsibilities and the right to go out. Boycotting dissent as moral turpitude may be a sign of intellectual fear.

Community testimonies gain credibility if they acknowledge and correct errors. Every institution that is hostile to criticism weakens its own evidence.

52.16 Hope and the Future

Faith sometimes holds out hope that may not be entirely assured by the existing evidence but inspires righteous action. Hope is not passive waiting. it is present responsibility for the possible future.

There are risks that false hopes can hide. Explaining the true potential in a debt or crisis to the patient does not change the facts.

The philosophical criterion is that hope enables or makes incapable a person of facing reality and of ethical action. The result is not absolute proof of authenticity but rather an indication of moral worth.

52.17 Preface: Reason destroys faith.

Some people believe that questioning breaks trust.The value of a religious life lies in unquestioning submission. In fact, not all forms of love and loyalty are based on formal proof.

But logic forbids that power-abuse is economic, and that violent order can save. Credible faith accepts questioning, source checking, and ethical boundaries.

The arguments do not end the mystery. They only ask what I claim, why, and what the consequences of this claim are for others.

52.9 Faith is not just a form of belief

Beliefs can include facts, beliefs, beliefs, practices, and community ties. We believe that sometimes historical statements, sometimes life-affirmations, and sometimes hopes are expressed. Without this distinction, logic strikes at the wrong target.

Commitment does not absolve one of factual errors. If faith makes a public decision about medicine, education, or the rights of others, then shared evidence is required. Private money and public obligation are separate fields.

52.10 Objection as to the evidentiary

The evidentialist view holds that belief without sufficient evidence is intellectually wrong. Its power is in stopping rumor, wish fulfillment, and possession confusion. But not all life decisions can be held up to absolute proof.

The morality of the belief varies according to the risk of the claim. Modest private expectations and life-or-death public policies will not demand

uniform evidence. The disadvantage is the burden of proof increases with the availability of defense and the immutability of the decision.

52.11 Traditions and Testimonies

Most religious knowledge comes from family, gurus, lessons, and community testimonies. Testimony itself is not illegal; much of human knowledge depends on it. Questions are about the speaker 's abilities, source distance, interests, and correctional arrangements.

The long tradition shows the historical consistency of the narrative, not the authenticity itself. The opposing claim to independent tradition demands a comparative investigation. Respect is not the end of the question.

52.12 The Religious Value of Doubt

Doubt is not the enemy of faith alone; superstition can protect us from selfish masters and violent interpretations. The question makes the tradition more introspective. Many religious texts themselves place the mourning in a place of silence and questioning.

The endless doubts can make the commitment impossible. The prudential position is to accept the limitations on causation and to be open to change on new evidence. Faith can be refined by being honest.

52.13 Dissent and Modesty

People of equal intelligence and good will disagree on religious questions. This fact does not make one 's beliefs false, but it does make

one reconsider one 's confidence level. It is also worth noting the effect that geographical birth has on beliefs.

Modesty is not giving up one 's opinion. it is the willingness of the opponent to listen to moral equivalence, denial of use of force and reasons. Civil rights will be shared so that truth can prevail.

Chapter Conclusion

Bigotry is possible if faith is the perfect substitute for reason; rational egoism is possible if reason claims to exhaust every sphere of human experience. Parallel philosophy allows individuals freedom of belief, proselytizing, and abstinence, but demands a common justification for public obligation.

Chapter Bibliography

Gautama wrote that the Nyāya-sūtra.
Kumārila Bhaṭṭa — Ślokavārttika.
William James — The Will to Believe.
Søren Kierkegaard — Fear and Trembling.
John Rawls — Political Liberalism.
Jürgen Habermas — Between Naturalism and Religion.
Stanford Encyclopedia of Philosophy — “Faith”; “Religion and Political Theory”.

Chapter 53 — The Problem of Suffering and Evil

If God is all-powerful, all-knowing, and all-good, then why is there innocent suffering? It is one of the most difficult questions in philosophy. But the problem of evil is not just an intellectual conundrum. Disease, famine, violence, child-mortality, war, natural calamities and humiliation are the real sufferings. For this reason, the moral style of the philosophical answer is also important.

53.1 Logical and evidential problems

The logical question is whether the Almighty, the Omniscient, the Absolute Good God, and the existence of evil are mutually exclusive. In modern discourse, many philosophers believe that it is difficult to prove a logical antithesis simply because God may have some morally sufficient reason.

The evidential form is more subtle: given the amount and intensity and distribution of suffering in the world, the existence of a perfect god seems less likely. Here, in particular, suffering begs questions with no apparent moral consequence.

53.2 The Defense of Free Will

A key answer states that while morally meaningful freedom is possible, so too is the possibility of wrong choices. Murder, deceit, war, and oppression - these moral evils can arise from the abuse of free agents.

However, this answer does not directly explain the causes of natural disasters, disease, or birth defects. At the same time, there is the question: why couldn 't Almighty God create a world where there was freedom but less extreme suffering?

53.3 The Answer to Self-Development

According to the second answer, hardship enables courage, compassion, patience, and moral development and responsibility. Some qualities can only be developed in a challenging world.

The limits of this argument are obvious. Not every sorrow develops. many sorrows break a person. It can be cruel to tell the sufferer that you are there for them to grow. It is necessary to set aside philosophical possibilities and pastoral ethics.

53.4 Caution of the Karma-Based Answer

In Indian religious traditions, the doctrine of karma is sometimes used to explain suffering. However, it is generally beyond direct evidence to declare the specific suffering of available life to be the result of definite past actions. There is a risk of victim-blaming associated with this use. Chapter 54 will go on to expand on this question.

53.5 The Buddhist Question: The Creator Without Suffering

Buddhist philosophy views suffering as a question of existential fact and causality, rather than as a moral problem of a creator God. The analysis

of craving and disobedience, impermanence and impulsiveness, changes the question: why did God inflict suffering?

This comparison shows that problem-solving is dependent on metaphysics.

53.6 Opposition to Lamentation and Silence

In religious traditions, the answer to suffering is not just doctrine; it is also lamentation, prayer, compassion, service, and resistance. If philosophy makes the experience of the victim a mere syllogism, then moral distance is created. Sometimes silence, presence, and assistance in the face of the victim are more appropriate than philosophical explanations.

53.7 Social Inauspicious

Caste-based humiliation, slavery, misogyny, communal violence, and economic exploitation are evils created by human institutions and actions. The critical responsibility of theology begins when the liturgical language sanctifies this structure as an immutable order.

Parallel philosophy insists: the metaphysical answer must not diminish social responsibility. If human beings can change because of suffering, then the discussion of the ultimate mystery is not a substitute for correction.

Pūrvapakṣa (Prima Facie View): Suffering is conclusive evidence against God

Uttarapakṣa (Response): Suffering is one of the gravest challenges to theism, but for a decisive conclusion it is necessary to examine arguments concerning the probable cause

of God, freedom, natural law and the limits of human knowledge. On the contrary, the problem cannot be eliminated by simply saying it is God 's plan.

53.13 The Amount and Distribution of Pain

Whether the problem of evil is only suffering or not is relevant in so many ways, at so many times, and in so many senseless ways. Character can be created with little difficulty, but it is difficult to justify the extreme suffering of a child or animal with identical answers.

A grandfathered plan does not certify a plan by stating that an appeal of the plan is likely. No particular event is justified by the fact that it is unknown to man.

Religious humility may acknowledge that the full answer is not available. Compassion and help are more important than the triumph of principle over victimhood.

53.14 The Doctrine of Karma and the Unlucky

To regard present suffering as the result of past action through karma seems to preserve the moral order of the world. But the question arises as to whether punishment for memory loss is justified and why aid does not interfere with the outcome.

Assigning eligibility to a victim status can increase social stigma. Many karma-traditions emphasize compassion and helpfulness; however, popular blame may not be representative of the entire doctrine.

The level of evidence should be clear. Karma is the religio-theological explanation.public evidence for specific individuals being declared the cause of suffering is scarce.

53.15 Forgiveness and Remembrance

Forgiveness can free the victim from the burden of anger after the bad, but it is not their duty to ask for forgiveness. Truth can hide injustices without responsibility and retribution.

Forgiveness is not the same as forgetting. Communities can prevent the recurrence of atrocities by remembering them and not denying the humanity of the perpetrators. Distinguish between a memory switch and a responsibility.

Institutional apologies seek public acknowledgment, documentation, redress, and reform. Words alone do not satisfy a moral debt.

53.16 Preface: The Meaning of Good Without Evil

It is said that courage requires fear, compassion requires suffering, and forgiveness requires guilt; therefore, evil creates the possibility of good. Some values really do come into play in difficult situations.

However, not every pain is necessarily caused by it. Too much evil destroys potential and does not allow for virtue. Using the victim as a tool creates a problem with her dignity.

The answer shows at most that a world with few risks can offer valuable freedoms; the scale of the evil seen and the full justification for the distribution still remains.

53.8 Logical and quantifiable ill-posed problems

Logic asks whether the existence of an omnipotent, omniscient, and omnipotent God is incompatible with the existence of evil. The normative form states that the amount and type of suffering seen decreases the likelihood of such a god. The weight of proof is different for both.

Free will may preserve logical consistency, but does not make natural disasters or animal cruelty absolute. Character development may imply some difficulty, but there is a moral problem with the instrumentalization of extreme pain.

53.9 Free will - The defense

It is possible to make a bad choice when moral freedom is real. In a world where individuals may appear free but every wrong action is divinely forbidden, the meaning of freedom can be questionable.

Yet the freedom of man works within unequal power. Intervening to protect victims is not in itself an affront to liberty. These defenses suggest divine providence and not a moral justification for each specific harm done.

53.10 Natural bad luck

Diseases, earthquakes, floods, and other natural phenomena are not caused by human evil desires. Regular natural laws make life and knowledge possible, but those laws can also have harmful consequences.

Natural phenomena cannot be moral evils, but their social consequences are aggravated by unjust distribution. Poor housing, lack of health care, and unequal access to warnings turn disasters into social evils.

53.11 Protest and Mourning and Silence

It can be insensitive to rush into every philosophical explanation in the face of pain. Being present at the bereavement, acknowledging the loss, and listening to the victim 's voice can be moral duties prior to argument.

The silence does not end the questions. Causes, responsibility, and prevention will be examined later. Instead of imposing a meaning, the victim should be given the space to choose their own meaning. Philosophy did not become an authoritarian language of comfort.

53.12 Joint action against the evil

A debate on the propriety of God may be necessary, but human responsibility to alleviate suffering cannot be postponed. Theistic compassion and atheistic humanism can cooperate in practical help, justice, and prevention.

A shared action does not necessarily require final metaphysical agreement. Public causes of harm can provide a sufficient basis for

dignity and proven remedies. Don 't let disagreements get in the way of coexistence.

Chapter Conclusion

The problem of evil is on three levels: intellectual, existential, and moral. Parallel philosophies do not offer ready-made solace; they examine the logic, placing the dignity of the victim at the center and emphasizing responsibility against socially transformative suffering.

Chapter Bibliography

The ancient problem of the Epicurus.
The Selected Writings of Augustine.
Gottfried Wilhelm Leibniz — Theodicy.
David Hume — Dialogues Concerning Natural Religion.
J. L. Mackie — “Evil and Omnipotence”.
Alvin Plantinga — God, Freedom, and Evil.
William Rowe — “The Problem of Evil and Some Varieties of Atheism”.
Stanford Encyclopedia of Philosophy — “The Problem of Evil”.

Chapter 54 — Karma, Rebirth, and Mokṣa

Karma, reincarnation, and moksha are interrelated but not synonymous concepts in many traditions of Indian philosophy. The Hindu, Buddhist, and Jain traditions differ profoundly on the nature of karma, the continuity of karta and rebirth, and the meaning of mukti. Therefore, it is not appropriate to present the same version of the Indian karma-principle text.

54.1 Karma: Moral Causality

In a general way, the idea of karma says that conscious karma has moral consequences. But by convention this changes the metaphysical interpretation of the result. Mīmāṃsā develops the concept of apoorva-jaka.Jain philosophy links karma to specific subtle fluidic principles.Buddhist philosophy emphasizes consciousness-related karma and the causal chain.Vedanta 's school explains the relationship between karma, knowledge, bhakti, and moksha differently.

54.2 Karma is not fatalism

What happened is past action, so nothing can change; it is not the inevitable conclusion of the karmic principle. If the present karma affects the future, then the karma-principle contains the locus of action itself. Fatalism regards present efforts as futile; many forms of karma regard present moral acts as important.

54.3 The Victim - The Indictment

One of the most dangerous social distortions of karma-thinking is to declare the current state of the victim as the definitive punishment for his or her unknown past actions. Such claims about the poor, sick, disabled, oppressed, or socially marginalized are usually unverifiable and can reduce compassion.

The law of parallel philosophies is clear: no metaphysical theory diminishes our moral responsibility to the present sufferer. If injustice can be stopped, then calling it an act of righteousness is itself a present moral duty for which I have responsibility.

54.4 The Philosophical Question of the Resurrection

If rebirth is accepted, a question arises: what is reborn—a permanent self, a stream of consciousness, or a karmic continuum? Jain, Nyāya–Vedānta, and Buddhist answers differ. Buddhist non-self theory presents a particular challenge: how can moral continuity exist without a permanent self? Buddhist responses develop different models of causal continuity.

Parallel philosophy does not follow the same word = same principle here.

54.5 Memory and evidence

Reincarnation is sometimes supported by evidence of past lives, traditions, or spiritual experiences. General evidence-discipline applies when examining such claims: independence of source, alternative

explanations, information-entry, memory-error, corroboration-bias and recency. Religious significance is not a substitute for cross-examination.

54.6 The Essence of Salvation

Moksha is also not the same thing. In Samkhya, the rational Kaivalya from the nature of Purusha. in Yoga, the Kaivalya from the transcendence of mind-attributions and afflictions. in Advaita, the knowledge of the non-existence of Ātman-Brahman. in Vishishtadvaita and Dvaita, the separate liberation-concept of God-relationship. in the Buddhist tradition, Nirvana. in Jain philosophy, the state of being free from the bondage of karma.

This distinction makes clear that to say “mokṣa = heaven after death” would be an unjustified simplification of most Indian philosophical traditions.

54.7 Liberation and Social Justice

A serious modern question is the relation between individual spiritual liberation and social liberation. If a person is calm in meditation but society is unjust, then the work of darshan is complete. On the contrary, social reform would eliminate fear, greed, hatred, and existential suffering.

Parallel philosophy tends to link the two levels. Internal coercion and external coercion are different but mutually effective. The salvation of the individual and the justice of society are not opposed to each other.

Pūrvapakṣa (Prima Facie View): Karma Gives the Fullest Explanation of Moral Justice

Uttarapakṣa (Response): Karma theory may be a serious form of understanding moral causality, but it is inappropriate to posit without evidence specific causes of suffering. Independent study of the natural, social, biological, and historical causes is necessary.

54.13 Karma and fatalism

If the present state is determined by past actions, what is the meaning of new actions and moral efforts? Most karma-views are not absolute determinism; rather, existing actions can give new directions by creating pre-causal circumstances.

However, admitting injustice by attributing it to your karma distorts the ethical conduct of karma. Helping others can also be a question of karma and social dharma.

Philosophical analysis distinguishes between reason, moral reasoning, and prophecy. Causal relationships are not automatically a justification for punishment.

54.14 The epistemology of liberation

Liberation-knowledge is said to be different from ordinary fact-knowledge: the transformation of information into self-discovery or experience. However, conversion is not an absolute proof of truth; practitioners of different traditions may offer opposing explanations.

The fruits of personal experience, guru-gavahini, lessons and conduct are to be jointly examined. Claims of a public history require separate evidence.

Whether or not the experience of liberation reduces egoism, violence, and greed may provide moral clues, although metaphysical conclusions are far from complete.

54.15 Emancipation of life and behaviour

The notion of a liberated person while alive raises the question: in what sense is liberation when the suffering of the body and social roles and moral duties continue? The answer is found in non-attachment, self-knowledge or inner freedom from karmic effects.

The behavior of the freedmen is not above reproach. Disciple worship and the abuse of economic power or sexual privilege undermine claims to liberation.

Public evidence of spiritual achievement is limited, but the harm is worth investigating. The institution became a responsibility rather than a personality cult.

54.16 Preface: Salvation is the opposite of life

Art, love, politics, and reform can take precedence when liberation from the world is the goal. Critics may call this tradition an escapism.

But freedom from bondage is not always a denial of the world. There are several explanations why compassionate action is more likely than abstinence. The lessons and practices of the tradition are to be seen.

A parallel criterion is whether the ideal of liberation produces indifference to suffering or whether egoism leads to increased responsibility. The fruit is not the only truth-test, but a moral test indeed.

54.8 Karma: Action as Fruit and Moral Order

The meaning of the word karma varies from tradition to tradition: formal action, moral act, rite of passage or causal effect. It is wrong to impose a uniform form on all Indian philosophies by assuming a universalistic doctrine.

The popular notion that the fruits are immediate and in simple proportion is philosophically flawed. Collective causes, contingencies, and social structures affect life. Calling every suffering a past action can become victim-blaming.

54.9 Proof of reincarnation - the question

Reincarnation gives a long perspective of moral continuity and redemption in many traditions. But while the soul and samskara or consciousness as a form exist at birth, Buddhism, Jainism, Vedanta, and other schools differ.

Memory stories or religious testimonies will be tested by alternative interpretations of the source and independent corroboration. The boundaries of conclusive proof should be written clearly. Beliefs may claim a different standard from scientific conclusions.

54.10 The soul without karma - Continuity

Buddhist philosophy attempts to understand the steady-soul negation as causal flow, samskara, and karma. The process of one moment conditioning the next, like a lamp burning with a lamp, is neither wholly integral nor wholly unrelated.

It does not declare the appearance problem solved. The question remains as to whether the relationship between the worker and the beneficiary is sufficient for moral responsibility. The vote must be verified within its own non-disclosure agreement.

54.11 The Many Meanings of Salvation

Moksha is sometimes self-realization, sometimes God-presence, sometimes liberation from karmic bondage, sometimes cessation of suffering or Kaivalya. To say that the liberation of all traditions is a single experience destroys the difference.

There are different answers to the same question concerning the state of being, knowledge, and devotion or conduct after one has left the liberated body. Comparative studies do not make the problem-similarity or conclusion-equivalent.

54.12 Personal Liberation and the Social Bondage

Loss of attachment may make a person more compassionate, but the institution of caste, poverty, or violence does not end with meditation alone. The law of social bonding is the reason for resources and organization.

Individual transformation and social justice can be complementary. It is possible to resist injustice without being a slave to anger. If liberation is to be indifferent to the suffering of others, its moral meaning must be re-examined.

Chapter Conclusion

Karma, reincarnation, and moksha are areas of great debate in Indian philosophy. Parallel philosophies do not allow karma to be reduced to fatalism or victim-blaming. apply the usual test of proof to claims of reincarnation. and read moksha as multiple philosophical questions of identity, bondage, and liberation-vision rather than escape from the world.

Chapter Bibliography

The Bhagavad Gita.
According to Patanjali, the Yoga-sūtra.
Ishvara Krsna said that Sāṅkhya-kārikā.
Umasvati <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> <unk> Tattvārtha-sūtra.
Nagarjuna as Mūlamadhyamakārikā.
B. R. Ambedkar — The Buddha and His Dhamma.
Wendy Doniger O'Flaherty, ed. — Karma and Rebirth in Classical Indian Traditions.
Stanford Encyclopedia of Philosophy — "Karma"; "Śaṅkara"; "Buddha".

Chapter 55 — Religious Plurality

In the same world, there exist many religious traditions, many God-concepts, many paths to liberation, and many atheistic traditions. Secularism is not only a social fact; it is also an epistemological and moral question. If intelligent, honest, and studious individuals reach conflicting religious conclusions, what effect does this have on the certainty of their beliefs?

55.1 The fact of the plurality

In human societies, religion is deeply intertwined with birthplace, family, language and history. This fact doesn 't automatically disprove any religion, but it does prompt introspection: if I had been born in another culture, my religious beliefs would probably be different. Taking this possibility seriously is part of cognitive humility.

55.2 Specificity

One view holds that the same tradition is the absolute or exclusive authority of ultimate truth. This view is logically possible; a plurality alone would not make all the views true. But the particularist raises additional questions: What is the public basis for his specific claims? The Experience of Other Traditions: How to Explain Moral Achievement and Reasoning.

55.3 Inclusivism

The inclusivist view regards its own traditions as the ultimate center but accepts the possibility of partial truth or salvation in other religions. It may be more liberal than individualism, but it runs the risk of subsuming other traditions into its own framework rather than its own self-explanation.

55.4 Pluralism

Pluralism says that different religious traditions can be different human responses to the ultimate reality. Its strength lies in its tolerance and humility. But the difficulty lies in how to make the conflicting claims simultaneously valid. If one tradition says personal God, another niratmavada, and a third Advaita, it is only a different language, or there are real differences.

Parallel philosophy does not consider pluralism to be equally true of all these claims. They set aside the moral pluralism of coexistence and the critical examination of truth-telling.

55.5 The Three Rights of Religious Freedom

Parallel philosophy places religiosity on three inalienable rights: the right to one 's own beliefs. the same rights as others of a different faith. the right to change faith or to have no faith at all. If any of these three were removed, religious freedom would be incomplete.

Congenital religious membership can be a prison without freedom of proselytization. Without freedom of conscience, religious liberty would only be a choice between religions.

55.6 From Toleration to Respect

The minimum civil status that we endure is three. Democratic pluralism demands more equal legal status, security, and public opportunities, freedom of worship or association, and citizenship without offenses. Respect means agreeing or disagreeing and accepting equal rights.

55.7 Plurality within a religion

There is no one uniform religion. Texts, sects, regions, castes, genders, classes, languages, reform movements, and folk traditions produce many voices within religion. Hinduism says Islam says Christianity says Buddhism says this phrase is often overly broad. The source and denomination should specify the time and interpretation.

55.8 Plurality and Criticism

Respect for plurality does not mean stopping criticism. Criticism is justified if a religious practice violates human dignity, physical safety, or fundamental rights. But criticism should focus on theory or practice, not on dehumanizing an entire community.

55.9 Conditions of communication

Three conditions are necessary for a meaningful interfaith dialogue: express your opinion clearly. listen honestly to the self-description of the

opponent. and accept the possibility that your opinion may be slightly modified after the dialogue. A mere proselytizing or formal goodwill-meeting is not a philosophical discourse.

Pūrvapakṣa (Prima Facie View): Religious Plurality Undermines the Question of Truth

Uttarapakṣa (Response): Plurality does not make truth meaningless; it increases the burden of proof of a claim. The more serious the disagreement, the more obvious reasons are for politeness and cross-examination.

55.15 Translations into the Conversion Dialogue

The simple equivalence of God as Dharma as liberation and sin as nirvana or grace can give rise to confusion. The first act of communication is to clarify the traditional function of the word. There may be different questions behind the same words and common problems behind different words.

Translation is for convenience, not for acquisition. The opponent can improve their concept without the outsider imposing a final definition.

Where there is no equivalent, the original term should be interpreted. Interrupting a conversation by saying the conversation is impossible is also hyperbole.

55.16 Plurality and the Mission

Sharing one 's faith is freedom of expression, but pressure through power or money or service is unfair. The consensus is weak on making aid to the needy a condition of conversion.

Open communication gives the same rights to reject and respond to questions. The state must not stop the propagation of ideas; it must stop the intimidation and threats.

The increase in numbers is not a proof of truth nor is the stability of the community. Philosophical claims are to be tested on logic and evidence.

55.17 Mixed religious identity

In practice, members of one tradition may relate stories or practices from the site of another tradition. Rigorous census-trials make this mix invisible.

It is too early to say whether the mixtures are pure or idealized. Participants should study the context in which the conflict occurred and how the organization responded.

Plurality is not just the coexistence of opinions; it is also the many relationships within individuals. Don 't let the law force you to simplify your search.

55.18 PrevParty: Pluralism undermines all forms of opinion

Treating the other way as legitimate is said to make one 's claims hollow. Specificity is important in order to be committed.

The answer is that civil law and metaphysical truth are different. A person may accept the same rights as others if their opinion is true. Modesty is not about giving up.

The difficult task of pluralism is to prevent violence by keeping differences clear. These manipulations undermine real communication in a way that the opponent is not heard.

55.10 Description and Evaluation of the Plurality

The existence of multiple religions is a fact. all different claims to the same truth or the same moral truth. Philosophical pluralism does not arise automatically from descriptive pluralism. Logic requires an examination of experience and moral consequences.

The fact of the plurality, however, shows the extent of the confidence. Beliefs are formed in the language and community of the place of birth. This effect does not negate the truth and demands humility and comparative study.

55.11 The Strengths and Risks of Speciation

Existentialism may regard its traditions as the only path to absolute truth or liberation. Its strength lies in its clear commitment to the risk of initially delegitimizing others ' experiences and undermining civic equality.

It is freedom to have a personal set of beliefs. In the public sphere, the rights of others will remain the same and binding policy will demand common cause. True violence or discrimination is not allowed.

55.12 The Duality of Inclusionism

Inclusivism accepts parts of truth in other traditions, but puts its full meaning within its framework. It is liberal with strict exclusion but may exclude others in exchange for their self-awareness.

In dialogue, the opponent must be given the right to speak in their own words. It 's helpful to find similarities, but it 's also an honor to make clear unacceptable differences. The inclusion does not have to be a cancellation.

55.13 Types of religious truth-telling

All religious claims to historical events, metaphysical entities, moral laws, ritual effects, and existential meanings do not demand the same proof. Historical records, metaphysical reasoning, ethics, dignity and consequences, and experience test self-evidence and comparison.

Domain confusion occurs when poetic statements are taken to be scientific reports or personal experiences as conclusive evidence of public history. Categorizing claims in advance makes communication easier.

55.14 Common citizenship

Civil equality, regardless of religious differences, is possible if the state preserves the freedom to profess, change, or not practice religion. Education, justice, and public service should not be dependent on communal status.

Common citizenship is not the same as cultural homogeneity. Religious dress may be appropriate for festivals and institutions if considered to limit the rights and equality of others. The dispute must be resolved by reason and procedure.

Chapter Conclusion

Secularism is both a political-political doctrine of equal dignity and an epistemological challenge to conflicting truth-claims rather than a declaration of equal truth. Parallel philosophies place religious freedom at the triad of faith, change, and nonbelief, and associate dialogue with both criticism and respect.

Chapter Bibliography

John Hick — An Interpretation of Religion.
Wilfred Cantwell Smith — The Meaning and End of Religion.
John Rawls — Political Liberalism.
Martha C. Nussbaum — Liberty of Conscience.
B. R. Ambedkar — The Buddha and His Dhamma.
Stanford Encyclopedia of Philosophy — “Religious Diversity”; “Religious Toleration”.

Chapter 56 — Religion and the State

The question of the relationship between religion and the state is not as simple as simply whether the state is religious or secular. The fundamental problem in a multi-religious society is whether the legitimacy of the state rests on the equal political status of all citizens or on the privilege of claiming a religious truth. Parallel philosophies do not command the state to be heretical; they do not give the state the right to be the arbiter of the spiritual truths of religion. The first duty of the state is the equal liberty, dignity and legal security of the citizens.

56.1 Truth of Religion and the Rights of the State

A religious community may base its claims on scriptures, traditions, gurus, prophets, metaphysics, or empiricism. This is a natural part of religious life. However, the state 's penal powers apply to all citizens. So, religion tells us that there may be individual or community reasons, but a law binding on all citizens needs additional public justification. Public reason does not mean irreligious reason; it means that reason can be evaluated by citizens without changing their religious identity.

56.2 Secularism: Distance, Equality and Protection

There have been many historical forms of secular states. In some traditions, the emphasis is on strict separation between state and religious institutions. in others, on doctrinal equidistance. in others, on limited state intervention to protect religious freedom. Parallelism does

not believe in a single historical model as the universal recipe. Their four criteria are that the civil rights of every citizen should not be dependent on religion; that the freedom to change or reject religion should be protected; that the state should not legitimize violence or civil disobedience in the name of religion; and that the state should not become an instrument of domination of any religion.

56.3 Equal treatment and equal outcomes

The same set of rules does not always make them equal when it comes to religion. Formal neutrality can place disproportionate burdens on minorities if a rule is made according to the routines of the majority tradition. A just state would therefore have to see both formal equality and real influence. But special arrangements should not in themselves be permanent privileges; they must be justified by dignity, freedom and equal citizenship.

56.4 Religious Institutions and Internal Justice

The state is not the arbiter of religious beliefs, but when questions like violence within religious institutions, coercion, property-crimes, child-rights abuses, and caste or gender-based civil disenfranchisement arise, it cannot be entirely dismissed as an internal religious matter. Religious autonomy is important, but individuals are also citizens of the state and members of religious communities. Parallel philosophy seeks a balance between community-rights and individual dignity.

56.5 Majority and religious nationalism

The majority religious identity can influence the cultural life of a state; history, language, festivals, and symbols are all part of society. But majority numbers are not proof of spiritual truth or political privilege. Democracy can turn into majoritarianism if respect for citizenship becomes dependent on religious conformity.

Pūrvapakṣa (Prima Facie View): Religion is the main source of public morality. the state would be worthless without it.

Uttarapakṣa (Response): Religious ethical traditions can enrich public life; but the legitimacy of the state must rest on the equal status of all citizens, not on the merit of one religion. Religious individuals are able to give public reasons. a secular state is not an anti-religious state.

56.11 Religion-based personal law

Community personal laws may protect identity and autonomy, but may affect members ' equal rights in marriage, inheritance, or guardianship. Uniformity of state can also impose a majority norm.

The criterion for reform is the fundamental right to freedom of speech and expression, and the voice of affected members. External intervention must be free from political bias and have the same ethical standards for all communities.

Alternative civil law should be genuinely accessible, not just on paper. Family pressures on vulnerable members should be investigated.

56.12 Religious sites and public resources

Religious sites are important to history, community, and worship, but land, roads, sound, and safety are tied to public resources. The rules should not be made to suit one religion 's convenience.

Old usage can give historical claims, not infinite extension rights. The local habitat and environment should be heard as well as minority worship.

Stop spreading rumors in disputes and adopt records, maps, and legal procedures. The intensity of the sacred emotion does not replace the fact.

56.13 The symbolic neutrality of the state

The language and symbols of state functions sometimes make the majority religion the natural face of a nation. A minority may feel symbolically excluded from legal rights.

A state without absolute symbols is not possible. The question is whether the symbol expresses civic-social values or specific religious membership. There should be equal opportunities for multiculturalism and a place for nonreligious citizens.

Symbolic inclusion does not have to hide resource inequality. Serviceability and safety will be the main criteria for appointment.

56.14 Preface: Keeping Distance from the State Religion is Just

Strict distancing reduces bias. separation from the principles or institutions of state religion. But if there is a clear disenfranchisement

within the religious institution, the distance can become an abandonment for the victim.

Doctrinal distance prevents states from determining trust and enforcing uniform laws. Interference should be based on violence, property, labor, or civil rights, not the truths of religion.

It is important to have a common standard. Secularism is not about being soft on the institutions of the majority and hard on the minorities.

56.6 A Different Sample of Secularism

Secularism is not the same institutional form everywhere. Emphasis is placed on principled intervention, sometimes for separation of state religions, sometimes for equidistance from all religions, and sometimes for rights-protection. The pattern changes with history and social structure.

Instead of names, the results should be checked: whether citizens ' religious freedom is protected; whether there is state bias; and whether the rights of vulnerable members remain within the institution. A formal distance does not ensure true equality.

56.7 Limitations of freedom of religion

Internal freedom of belief is widespread; external conduct may affect the rights, health, or public order of others. Limitations should be based on actual losses, proportionality and minimum constraints. Not just the inconvenience or loss of the majority.

The state may not decide the truth of religious doctrines, but it can examine the social implications of the practice when applying the law. A ban must be on the same criteria, with a transparent reason and appealable.

56.8 Dissent within the institution

The autonomy of religious institutions is part of collective freedom. However, a member who is a woman or child or a person of low rank is not disenfranchised. Domestic violence, property abuse, or civil disobedience are not to be hidden by talking about domestic issues.

Interference is prudent because outside powers can unfairly control religious minorities. Clear harm, equitable legislation, independent investigations and the protection of voices of reform within the community are essential.

56.9 Public cause

Citizens may support policies based on their religious persuasions, but also provide compelling reasons for legislation that citizens of different faiths can understand and examine. The public reason is to add common ground, not to ban religious language.

Not all disputes will reach a complete agreement. The process must be fair, the evidence open, and the rights protected. A majority decision is possible, but the dignity of the minority and the avenue for reconsideration will remain.

56.10 Symbols: Schools and civic equality

Religious symbols or educational disputes in schools add to the independence of the child, parental rights, and state neutrality. A theory does not solve all the cases.

Education can give comparative knowledge, sermons are different subjects. Teach children to think critically, understand their traditions, and respect their choices. The policy is not to stigmatize any community.

Chapter Conclusion

Religion should be protected by the state by protecting religious freedom. not dominated by any religion. The formula for the parallel philosophy is: individual faiths are free, community religions are respected, and state laws are bound by equal civil dignity.

Chapter Bibliography

John Locke — A Letter Concerning Toleration.
John Rawls — Political Liberalism.
The B. The R. Ambedkar on States and Minorities.Selected Speeches.
M. K. Gandhi as Hind Swaraj.Selected articles.
Rajeev Bhargava — The Promise of India's Secular Democracy.
Stanford Encyclopedia of Philosophy — "Religion and Political Theory"; "Religious Toleration".

Chapter 57 — Folk Religion and Institutional Religion

Religious life is not confined to scriptures, monasteries, temples, mosques, churches, guilds or formal doctrines. In folk life, festivals, songs, stories, fasts, household rituals, local deities, rivers, trees, ancestors, seasons, diseases, cures, agriculture, and rites of passage have religious connotations. To dismiss this world as unscriptural would be to lose sight of a vast body of religious history. But it is also wrong to think of folk religion as inherently liberal, or even honest or innocent.

57.1 The Mixed Form of Folk Religion

Elements of multiple traditions may coalesce in the religious practices of a single village or family. The classical limit can be more flexible in practice. This admixture should not be immediately glorified as a coincidence; sometimes it is the result of historical coexistence, sometimes social pressure, sometimes local adaptation, and sometimes forgotten sources.

57.2 Women and the Home and Religious Meaning

Household vows, songs, birth-marriage rituals, and care-based religious practices sometimes make up the meaning world apart from the official texts. From these sources, the religious agency of women can be understood as labor and moral imagination. But if the ethos limits women 's autonomy, one cannot stop criticising it by saying tradition alone.

57.3 Why is an institution made?

Only a negative image of institutionalized religion is not appropriate. Institutions preserve memory, preserve lessons, impart education, run community support, and build discipline and succession. Without institutions, many traditions may have been lost. The problem is not the institution but the responsibility of the institution. A closed structure based on prestige, wealth, position, gender, caste or lineage can make a religious authority a social entity.

57.4 People vs. the Scriptures: The False Conflict

Stories like lok = free and shastra = oppressive are as wrong as shastra = truth and lok = ignorance. In both, knowledge and beauty and compassion and discipline and justice are possible. Parallel philosophies apply the same moral criteria to both: dignity and autonomy; nonviolence and truthfulness; accountability and the possibility of criticism.

57.5 Study of Mithila and the Folk Religions

Mithila festivals, women 's songs, river rituals, village deities, clan traditions, folklore, and household rituals can be important sources of religious study. However, when using this material in philosophy, it should be made clear what facts are documented, what oral memory is, what current practices are, and what philosophical interpretations are. Folk beliefs themselves are not a verifiable metaphysics.

Pūrvapakṣa (Prima Facie View): Institutional religion is corrupt. the real religion is in the people.

Uttarapakṣa (Response): Public religion is not powerlessness and institutions are not just corruption. The question is not about people or institutions; the question is about how structures affect human dignity, meaning, memory, and freedom.

57.11 The Changing Text of the Folk Religion

The folk tales and songs may change a bit in each performance. These errors are not the only ones; new situations and experiences of listeners and speakers change the meaning. It is useful to find the original text, but not to think of the surviving versions as corrupted copies.

Enter the date, place, presenter, and event of the edition. If the editor makes a composite text, write down the decision clearly.

The direction of change shows power: which characters move, whose voices rise, and how classical influences enter.

57.12 Ritual and the Environment

Local festivals can hold environmental memories related to rivers, seasons, crops, and animals. But because of modern materials, population, and markets, old rituals can create new pollution.

Saving tradition and reducing harm are not opposites. Look for alternative materials, waste management, and time improvements with the community. Resistance is superior when the external barrier is not respected.

Each practice is romanized as eco-friendly by the term nature-worship. The actual impact has to be measured.

57.13 Folk religion and the market

Festivals at shrines and markets for religious goods may provide local income but make up the consumptive display of sacred meaning. The craftsmen 's labor and profit-sharing were often invisible.

Business by itself is not corruption. Transparent pricing, rights of local producers, waste-control and non-obstructive nature of religious services are essential.

The sight of tourism can put pressure on communities to adopt traditional ways. The inhabitants have a right to change their culture.

57.14 Preface: Folk religion is natural religion free from scripture

It is tempting to call people easy-going, misogynistic, and tolerant of institutionalized religion rigid. In reality, populism can also be exclusionary, fearful, or hierarchical - even critical within the classical tradition.

What practice does not originate from what is just determines the outcome and the test of rights. Being human is not truthful; being classical is not false.

Parallel studies look at the interdependence, conflict, and change between the two. Write down the evidential relations instead of imagining a pure field.

57.6 Folk Deities and Places of Remembrance

The sacredness of folk religions is often linked to rivers, trees, squares, family diseases, or historical memories. Such places can be a record of the community 's environmental and social relationships.

However, not every story should be taken as literal history. Ritual, folklore, physical sites, and written sources provide different evidence. Cautionary conclusions when similarities are found Edition: current; Page: [25] Version history if differences are found.

57.7 The Religious Labor of a Woman

Household vows, songs, meals, memories, and rituals are often sustained through the labor of women, but this contribution to formal religious history is less visible. The distribution of religious rights and religious labor can vary.

To glorify this labor merely as a means of preserving tradition would be to hide burdens and disagreements. The participant woman 's own meaning is exhaustion, agency and a demand for change to be heard.

57.8 Treatment and Faith and Health

Folk remedies can give hope and community support and meaning. Some practices may be harmless supplements, but the risk increases when scientific treatments are stopped. Empirical health claims ask for controlled evidence.

Healthcare providers will state the obvious harms and benefits without disrespecting the public trust. Communication between community trust and medical safety is possible if there is accountability for the trade-offs and pressures of wrong treatment.

57.9 Advantages of Being an Organization

The organization sets the memory, training, resources, and rules. Without institutions, traditions can be passed down from one generation to the next. The organization also organizes community services and crisis assistance.

With stability, the position concentrates property and authority. Service can become power without the path of leadership selection, accountability, women 's participation, and grievance. Criticism of institutions is not a denial of religion.

57.10 Area - Ethics of the Study

The study of folk religion influences not only external observers but also the writing and publishing communities in question. Informed consent, confidentiality, name permissions, and sharing of results are required.

The urge to explore the unknown can make people perform. The description should be respectful, but not hide harm or inequality. The researcher should clearly state their location and boundaries.

Chapter Conclusion

Folk religion is the living laboratory of religious experience. institutional religion is the structure of memory and organization. Parallel philosophy studies both respectfully, questions both, and does not exclude any form of criticism.

Chapter Bibliography

Émile Durkheim — The Elementary Forms of Religious Life.
Clifford Geertz — The Interpretation of Cultures.
Wilfred Cantwell Smith — The Meaning and End of Religion.
Diana L. Eck — India: A Sacred Geography.
Folk religions: Selected ethnographic studies on oral traditions and South Asian religions.

Part VII — Modern and Contemporary Philosophy

Chapter 58 — Modernity

Modernism is not just a term for time. Science, industry, capitalism, nation-state, individualism, bureaucracy, democracy, mass education, colonialism, markets, printing, urbanization, and new communication systems are its different historical dimensions. It is difficult to make modernity the same source or the same value story.

58.1 The Duality of Liberation and Control

Modern institutions have brought unprecedented expansion of legal status of individuals, education, communication, medicine, democratic participation and scientific knowledge. At the same time, censuses and records, frontiers, prisons, military bureaucracies, industrial discipline and surveillance, and new forms of colonial administration were created. Therefore, modernity is neither pure liberation nor pure oppression.

58.2 Tradition vs. Modernity

It is a mistake to think of tradition as a static past. Traditions themselves keep changing, reinterpreting and inventing. Modernity is also not the same thing. The person can perform family rituals using a scientific hospital. can save the regional language while asking for democratic rights. Real life is a mix of things.

58.3 Colonial Modernity

In South Asia, modern administration, railways, printing, modern education, new laws, and science came about as a result of the structures of colonial domination. For this reason, dualism is essential in the evaluation of modern institutions: what knowledge is universally useful Which system was created by imperialist interests? What institutions can reinvent postcolonial societies?

58.4 Individuals and communities and markets

Modernity emphasizes the autonomy of the individual; however, markets can also limit individuals as consumers and workers. Communities can be oppressive, but community-splitting can lead to isolation and insecurity. Parallel philosophies assume the need for both independent individuals and supportive communities.

58.5 Mithila region and modernity.

The modern experience of the interaction between regional languages, migration, education, digital media, employment and state policies shows that modernity does not arrive in one form or another from the center to the margins. Linguistic communities can revive traditions by using modern technology. Therefore, the distinction between local = past and global = modern does not hold.

Pūrvapakṣa (Prima Facie View): Modernity breaks traditional bonds and frees man; therefore, their critique is reactionary.

Uttarapakṣa (Response): The achievement of modern freedoms is important, but the power structure of modern institutions is not immune to criticism. Parallel

philosophies choose between the knowledge of tradition without the injustice of tradition or the freedom of modernity without the dehumanization of modernity.

58.11 Creation of the public sector

Printing, assemblies, journals, and modern communication give private individuals a platform to argue public questions. But access may be limited by education, language, property, and gender; so-called public opinion may in fact be the opinion of a narrow group.

Digital mediums reduce entry costs while platform-ownership and mindfulness-trading create new gatekeepers. Publicity by itself is not free.

An inclusive region requires local languages, safe dissent, source-transparency and diverse institutional platforms. Stay away from excessive control of both the state and the market.

58.12 The Two Forms of Individualism

Ethical individualism assumes equal rights for every human being; selfish individualism may deny social responsibility. To call the two the same is to criticize authority.

Traditional communities may support individuals but impose natal roles. Modern rights will allow an exit, but may extend to the market-exit.

The parallel view seeks a relationship with rights. Individuals may choose to criticize and leave the community.The community shares the burden of care fairly.

58.13 The Invention and Reconstruction of Tradition

In times of modern change, communities may present certain practices as ancient unbroken traditions, even if they are new in their current form. This may not always be the case; it may be a social process of identity fixation.

Historians examine the origins, changes, and choices made. By calling it an invented text, the present meaning of the practice is not nullified but the claim to antiquity is limited.

The New Testament is not without its moral trials. It remains to be seen on whose exclusion the unity of the community was formed.

58.14 Preface: Modernity is Westernization only

The history of modern science, nation-states, capitalism, and bureaucracy are deeply intertwined with European expansionism; therefore, accepting modernity is called cultural subordination.

But the institution changes with local struggles when it is moved. Democracy or the scientific method is not the private property of any civilization; their justification must be checked by public cause and effect.

Criticism of colonial power must be accompanied by criticism of indigenous hierarchy. External origins are not just defects and local origins are not just properties.

58.6 Rationalization and the Bureaucracy

Modern organization rules make extensive work possible with calculations and specialization. Instead of individual grace, regular procedure can bring security to the citizen. But if the rules are out of reach, humans become files and numbers.

Criticism of bureaucracy is not asking for orderliness. Simple procedures and deadlines such as spelling and spelling can humanize local language and appeal system reasoning. Efficiency is not the opposite of dignity if the goal is clear.

58.7 Markets and areas of life

Market exchanges increase choice and innovation, but not all goods are marketable. Do not think that justice destroys equal citizenship when the body or public office becomes untenable.

The question of where it is useful to set prices and where ethical boundaries should be is a very relevant one. Leaving access to health, education and water to pay for affordability can lead to unequal basic capabilities.

58.8 Colonial Enlightenment - Classification

The colonial regime knew and controlled society through censuses, maps, laws, and linguistic classification. These records are important sources, but not exclusive of the purpose and scope of the rule.

Colonial sources are not to be denied; comparisons are to be made with local records, oral memory and later research. This modern institution is not merely an external imposition or a one-line narrative of pure progress.

58.9 Time: Speed and displacement

Modern life accelerates the pace of technology, communication, and production. Speed gives an opportunity, but old skills and relationships can quickly become irrelevant. Not all group transitions have the same cost.

Time saved is not the only measure of progress made. Questions such as how much time is saved, whether the labor intensity is increased, and whether there is enough time for maintenance are important.

58.10 Multi-modernity

A European model of modernity would not be replicable in all societies. Local histories, religions, languages and political conflicts have shaped modern institutions. Cultural surrender is not necessarily about accepting science or democracy.

Anti-authoritarian practices in the name of multi-modernism should not be tolerated either. It is possible to test the respect and universal dignity of local forms at the same time.

Chapter Conclusion

Modernity is an incomplete project, a struggling history and a plural experience. Their critique is not a condemnation of modern achievements but a moral examination of their emancipatory claims.

Chapter Bibliography

Max Weber — Economy and Society.
Jürgen Habermas — The Philosophical Discourse of Modernity.
Michel Foucault — Discipline and Punish.
Charles Taylor — Sources of the Self.
Dipesh Chakrabarty — Provincializing Europe.
M. K. Gandhi — Hind Swaraj.

Chapter 59 — Science and the Human Being

Science is one of the most powerful systems of knowledge in human history. Modern medicine was profoundly changed by communication, agriculture, energy, transportation, physics, and cosmology. But the power of scientific knowledge does not automatically give moral direction. What is possible and what should be done are different questions.

59.1 The cognitive power of science

The power of science lies not only in fact-gathering but also in public experimentation, measurement, recursion, mathematical modelling, hypothesis-research, and the critical community. For this reason, parallel philosophies do not treat science as a single entity. The scientific method holds special public authority in empirical questions of nature. However, the scientific community is also a human institution, and conflicts of interest and bias are possible, so review is necessary.

59.2 The value will not be automatically extracted from the data

Biology can tell how genetic traits are transmitted; it does not tell who society values more. Neuroscience can describe decision-making processes; it does not automatically determine penal justice. Science strengthens the factual basis for moral judgments, but not the whole source of value.

59.3 Bi-usable Knowledge

Nuclear science is useful in both energy and medicine, as well as in destructive weapons. Biologics are a means of treatment as well as an abuse for discriminatory genetic politics. Artificial intelligence can enhance aid learning and discovery, as well as be a tool for surveillance, deception and manipulation. Technical ability is not a moral license.

59.4 Expertise and democracy

Expertise in complex scientific questions is essential; however, delegating public policy solely to experts would pose democratic problems. Experts can only suggest possible solutions; civil society is asking the same price-questions as risk-admitting, profit-releasing, and loss-making. Appropriate arrangements add expert knowledge and democratic accountability.

59.5 Scientism and anti-science

Scientism, seeing the success of science, assumes that science alone will answer all worthwhile questions. Anti-science can, in turn, dismiss scientific evidence as mere hearsay. Parallel philosophy avoids both: accept the evidence-discipline of science but understand its limitations.

Pūrvapakṣa (Prima Facie View): Ethics is up to the individual. Science is only objective, so ethics must decide.

Uttarapakṣa (Response): Science provides disciplined knowledge of objective facts; however, questions such as " What are the risks? " and " What are the rights? " demand a moral-political justification.

59.11 The Crisis of Regeneration

If the results of a study are not reproducible by an independent team, the cause may be deception. Smaller samples may be due to selection bias, imprecise methods, or statistical randomness.

Reproduction is not an insult to original research. part of collective error-correction. Methods and data should be kept as open as possible in the event that negative results are published.

Not all areas reproduce in the same way. Historical events cannot be deduced again, but source-methods and analysis can be examined independently.

59.12 Measurement and the Human Concept

Indicators are chosen to measure intelligence, poverty, health, or happiness. Indicator does not change the result by itself. which side counts and which misses.

Policy can be blind without measurement, but numbers alone are not the whole truth. Conceptual definitions add to the reliability of the measurement and the experience affected.

Once an indicative goal has been made, the organization can improve upon it and discard the original goal. Multiple measurements and independent reviews are required.

59.13 Funding and questioning of science

Research on a disease, technique, or field is not just an abstract sequence of truths; money affects markets, states, and public sentiment. Problems that the poorer community has may decrease its economic attractiveness.

Credibility is lost if the financier dictates the outcome; however, societal preferences in question-selecting are valid. Conflict of interest should be declared, freedom of research and publication of results protected.

Citizens should have a voice in the use of public funds, but popularity should not end difficult original research. Balance short-term use with long-term knowledge.

59.14 Preface: Science itself will give moral direction

If human behavior and happiness were scientifically understood, morality would also be deducible from facts, such is the claim. Science provides important evidence about the consequences of harm and human needs.

But they want to make sure it 's fair, not automatic. Desires can be made up of misinformation, fear, or dominance. The value-struggle demands an argument of equality, freedom and distribution.

Moral philosophy is not anti-scientific; it asks for justification of goals based on facts. Communicate science tools and values to civil society.

59.6 The institutional ethics of science

Science is not only the genius of individuals; it is also the laboratory, finance, journals, reviews, and institutions of public trust. Conflicts of interest or selective publishing or hiding of data weaken the system.

It is not the weakness of science to admit error. Improved recursion and data transparency increase reliability. Institutional incentives would be consistent with fact-finding.

59.7 Human participants in the research

A person 's body or data cannot be the only tool for knowledge gain. Informed consent, risk reduction, the right of return and the protection of vulnerable groups are essential.

Consent letters are not enough if the language is not understood, the treatment options are unclear, or the financial pressure is strong. Ethical review is a continuous process, not a one-time permission.

59.8 Science and communication

Technical limitations may disappear when communicating expert conclusions in public. The sensational title makes the probability a definite fact.

Proper communication distinguishes between main conclusions, methods, models, uncertainties and practical meanings. Science writing

is a part of the knowledge base. translations should be both accurate and readable.

59.9 Citizen science and local knowledge

Locals can learn about the river, weather, seeds, or signs of disease from long-term experience. It enriches the questions and observations of knowledge research.

Locality is not an automatic proof of truth. Systematic recording requires comparison and scientific testing. Expertise and local experience are quantifiable strengths rather than competitors.

59.10 The Joint Judgment of Science and Value

Science explains what are the possible outcomes by which society decides which outcomes are appropriate and how acceptable the risks are. But value judgments are not arbitrary, independent of facts. A just policy cannot be built on wrong facts.

Experts will clarify options and consider citizen preferences and distribution. The reasons for the decision should be public, dissent noted, and amendments to the new evidence possible.

Chapter Conclusion

Moral philosophy is not the enemy of science, but its necessary companion. The Parallel Philosophy Sutra: Learn rigor from science in the matter of evidence; do not lose sight of the question of dignity and justice in the matter of value.

Chapter Bibliography

Karl Popper — The Logic of Scientific Discovery.
Thomas S. Kuhn — The Structure of Scientific Revolutions.
Robert K. Merton — The Sociology of Science.
Hans Jonas — The Imperative of Responsibility.
Philip Kitcher — Science, Truth, and Democracy.

Chapter 60 — Language and Power

Language is not only the naming of ready-made realities but also the means to classify social realities, visible and invisible. The names they give sometimes affect what society considers normal, deviant, criminal, or disease rights or identities. But this fact does not lead to the conclusion that reality is created only by language. The relationship between language and the world is a complex field of existence, experience, and objectivity.

60.1 Nomenclature and political meaning

Different words may be used for the same person in a different power context, such as criminal, rebel, or terrorist. Words can trigger moral emotions and legal consequences, not just descriptions. Parallel philosophy asks what the facts of the story are. What is the criterion for naming? Whether the same term applies to the same event

60.2 Languages and the Power of Linguistic Information

The classification of linguistic forms is not determined by linguistic distance alone. The state also influences education, literary reputation, standardization, scriptwriting, census, media, and political power. Calling a language form a dialect may be a neutral scientific statement, but sometimes a means of political undermining. Therefore, both linguistic evidence and social authority must be analyzed.

60.3 Standard language and civic accessibility

Standard language administration simplifies education and mass communication. However, linguistic citizenship is unequal if standardization means treating local linguistic forms as impure, uneducated, or unfit. The extent to which citizens have access to information, education, justice and cultural creation in their mother tongue is a question of linguistic justice.

60.4 Silence is also the power

Power cannot just choose the wrong words or make things happen without saying them. Absence of names in records, history in curriculum, language in statistics, or translation in institutions shapes public knowledge. Parallel philosophy asks questions about the unspoken with the spoken.

60.5 Fuoco Discussion and Limitations

In modern thought, discourse theory shows that categories of knowledge can be linked to institutions and power relations. But parallel philosophy would not change this insight into extreme relativism. If power affects knowledge, it does not imply that all claims are equal. Conversely, the need to classify sources and institutions and examine them more rigorously increases.

60.6 Maithili and the Linguistic Dignity

The philosophical use of regional languages such as Maithili raises questions of epistemology itself. Access to knowledge is unequal if higher

education or philosophy is available only in the dominant language. Writing complex philosophy in one 's mother tongue is not only the task of translation; it is also conceptual creation and democratic knowledge-expansion. But linguistic pride should not become contempt for another language or community.

Pūrvapakṣa (Prima Facie View): Language only expresses ideas. entity is outside the language.

Uttarapakṣa (Response): Physical entities and institutions and resources exist outside of language, but language shapes their legitimacy, classification, and visibility. Words are not everything, but words are not useless either.

60.12 Dictionaries and social authorities

The dictionary gives guidance on spelling and meaning while recording usage. But editorial decisions about whose text to compile, whose dialect to standardise, and how to mark off offensive meanings hold the key.

Dictionaries cannot hide actual usage but may provide cautions and historical references to pejorative terms. The description and the support are different.

Maithili lexicon includes regional variants, examples, chronologies, and sources. The surviving community could respond to the improvements.

60.13 The language of the Court

A formal hearing is not real justice if the citizen does not understand the language of the charge, the evidence, or the verdict. The quality of the translators and the availability of technical posts and documents are prerequisites for the rights.

Verbal translation will sometimes distort the legal meaning; a trained interpreter will distinguish between meaning, tone, and ambiguity. The parties should have the opportunity to challenge the translation.

Local language use may reduce speed; these objections are a question of administrative preparedness, not a reason to deny authority. Standard terminology and training should be developed.

60.14 Humour and satire and power

Humor is a powerful tool for criticism, fear reduction, and dissent. However, perpetuating stereotypes of vulnerable groups can normalize stigma. The same sentence can have different effects on the speaker depending on the target and context.

Hurt feelings are not enough of a reason for censorship. Direct threats and targeted harassment and the reproduction of hierarchies should be examined separately.

The answer is not only restrictions but also criticism and diversity of platforms. May the power itself endure the satire and may the citizens be protected.

60.15 Preface: Changing language does not change reality

This objection is a fair reminder that respectful positions do not eliminate poverty or violence. Word-improvement can avoid structural work by being a cheap symbol.

However, language expectations do affect classification and the likelihood of complaints. Abusive speech restores low status within the organization.

The solution is not a false choice of word structure. Change the name, rules, resources, and representation at the same time. The effect has to be measured.

60.7 Naming and administration

The administration puts people into categories such as beneficiary, migrant, backward, illegal or disabled. Category policy makes this possible but can also reduce the complexity of the person and create stigma.

For the purpose of naming individuals, the question of what evidence they have and whether the person can appeal is important. The language of self-respect must be accompanied by genuine access to rights.

60.8 Methods of Silencing

The voice will not give by direct negation only. Putting out agendas, not allowing technical language, and retaliating with ridicule or complaints leads to silence.

Hearing loss is not just about the number of speakers. Whose question may change the verdict, whose evidence is recorded and answered remains to be seen.

60.9 Negotiation and Objective Resistance

Discourse classifies and makes sense of things. diseases. crimes. or abnormalities. effects on one 's institutional life. But language does not make reality arbitrarily so. The body resists these losses and the resulting demands.

Parallel vision holds both linguistic constructs and external reality. The category history should be checked as well as the empirical impact measured.

60.10 Linguistic politeness and structural change

Respectful words can reduce offense, but words alone do not make the same person. New names can cover up old differences.

Both the language and the resource must be changed. Remove abusive designations, as well as improve unequal treatment in recruitment, education, and service and justice. The symbolism and the structure are complementary to each other.

60.11 Ways of Knowledge-Building

Writing down your philosophy isn 't just about translating ready-made ideas. Local examples: grammatical devices and living words can open up new questions. But technical ambiguity in the name of locality is not acceptable.

The vocabulary should be open, defined, and reviewable. Sanskrit should communicate with other Indian languages and English, but Maithili

syntax should be natural. The dignity of knowledge lies not in linguistic purism, but in the capacity to think.

Chapter Conclusion

Parallel Philosophy does not doubt every political use of language, but it does ask four questions: Who chose the word? On the basis of what facts Who was considered to have a normal experience? Who 's experience has been covered Linguistic justice does not replace truth; it widens the field of truth-seeking.

Chapter Bibliography

Ludwig Wittgenstein — Philosophical Investigations.
Michel Foucault — The Archaeology of Knowledge; Discipline and Punish.
Pierre Bourdieu — Language and Symbolic Power.
Charles Taylor — "The Politics of Recognition".
Benedict Anderson — Imagined Communities.
Bimal Krishna Matilal — The Word and the World.

Chapter 61 — History and Memory

History is not just a list of what happened. History is a source selection, a question of record, an explanation, a study in silence. Not all evidence of what happened survives the same way. Royal court documents may be preserved, but not the experiences of agricultural labourers. Male genealogies may be written down. Female labours may remain in oral memory. Edicts of victors may be found in archives. The sufferings of defeated communities may be found in songs, stories, or local memories. So the philosophical question of history is, what evidence do we know about the past, what voices are absent, and how to make sense of absence.

61.1 Events and sources and history.

Events and history are not the same thing. Events happen in the past; history is a reconstruction of them based on evidence available in the present. These reconstructions cannot be arbitrary, as documents, dates, material remains, linguistic evidence, geography, demographic data and independent sources determine their extent. But different questions can be asked from the same set of evidence. Revenue records show the economic structure; those records may not show women 's domestic labor. Army records give the number of battles fought but not the number of displaced families. This is where the multilayeredness of history begins.

61.2 Memory: Proof of identity and reconstruction

Memory is not the enemy of history, but it is also not synonymous with history. Individual memory is selective and reconstructive; collective memory is shaped by ritual, memorial, folklore, school, family, and political speech. Therefore, they say, history by itself is not conclusive evidence. The question arises as to the age of the memory. How did the transmission happen? There are different versions. What independent sources are saying

Neglect of verbal memory, however, can also become a cognitive disfavor. The history of communities that have left written records is not zero just because of this. The parallel historiography treats oral history as a separate category of sources by explaining the extent of their influence and transmission.

61.3 The Silence of the Record

Archives are not just stacks of papers left behind. power, administration, property and literacy influence the choice of what will be preserved in history. Who was born in? Whose land was it that was recorded? Who wrote the crime? Whose labour was considered a natural duty and remained unrecorded. This question shows that absenteeism itself can be a historical problem.

However, parallel philosophies do not accept silence as evidence and fabricate the desired story. Since there are no records, the argument that this must have happened is flawed. The proper way is to identify the

problem, propose a possible reason, find alternative sources, and clarify the uncertainty.

61.4 The Official History and the Counterhistory

Criticism of official history may be necessary, but not every counter-history is automatically true. State texts can be biased. so can opposition pamphlets. Royal records show power-structures, folk songs express pain, archaeology offers material resistance, linguistics shows long-term changes. Stronger histories build on cross-examination of these sources.

Parallel historiographies do not throw up the mainstream but place loose evidence beside it. In this sense, parallelism is a field of extended evidence rather than a competing hypothesis.

61.5 Memory and Ethics

Some memories are not only a question of fact but also a question of justice. Violence, caste humiliation, displacement, war, repression, language suppression - the memory of these events can be linked to dignity and identity for the affected community. But ethical considerations should not replace fact-checking. Respect the Pain will check the date, number and claim of responsibility and cause.

61.6 Mithila and Parallel Memory

Historical and royal sources, recorded classical texts, literature, oral traditions, women 's songs, river-memories, migration stories, local shrines, and modern records provide varying evidence. It is

inappropriate to place them all on the same level; however, treating only Sanskrit texts or royal documents as historical sources and omitting other sources is also incomplete. The parallel method seeks to construct a comprehensive history by clarifying the categories of sources.

Pūrvapakṣa (Prima Facie View): Adding a memory will not make the history subjective

Uttarapakṣa (Response): Memory addition does not make history arbitrary if the evidence and uncertainties surrounding the source-form or transmission of memory are kept clear. Subjective experience may be one dimension of historical fact. not the only dimension.

61.12 Reasons in the course of history

Listing event after event will not give a reason. Direct judgment for cause, long form, opportunity, thought and chance events should be examined separately. One reason is that it is rare enough.

Counterintuitive question Useful: If this were not the cause, would the outcome have changed? Experiments in history may not be possible, but comparative contexts and contemporary evidence can test the possibility.

Avoidance of the inevitable - hindsight. They seem inevitable after the event has occurred. contemporary choices and uncertainties are recreated.

61.13 Biographies and great men 's stories

Decisions on biographical considerations explain relationships and development, but cannot reduce an entire history to the will of one

person. The organization creates followers, opponents, and resource achievements.

A laudatory biography may hide faults; a hostile biography is an achievement. Private letters, published works, and memoirs hold a different standard of authenticity.

The person 's stated intentions do not determine the full meaning of the outcome. The social impact of the idea may develop outside the author 's intent.

61.14 The use of family records

Letters, genealogies, land records, diaries, and photographs are important sources of local history. But the family may choose to for reasons of prestige. The date and author and ownership are verified.

Privacy and consent of survivors and loss of sensitive information should be examined when publishing private material. The interests of history are not infinite rights.

Digital copy is not a substitute for original preservation. The order and physical properties of the metadata should be documented.

61.15 PrevParty: The Story of the History Winner Only

Power governs records and courses; hence history was said to be entirely the story of the victors. This caveat is useful, but it only ruins the possibility of a word search.

Conflicting sources, material remains, administrative inconsistencies and folklore may challenge the official narrative. Historians can create methodological transparency by living within the institution itself.

Objectivity is not absolute powerlessness; it is opening up sources, accepting criticism, and refining conclusions.

61.7 Proximity and independence of the source

Sources close to the event are valuable, but proximity is not fairness. Participants can learn more as well as save their roles. Later sources may give a broader picture from a distance but are influenced by memory and current interests.

The independence of the sources from each other must be checked. If ten books repeat the same unconfirmed statement, then ten is not proof. The citation sequence should be traced back to the original point.

The creation of a record 61.8

Records are not automatically saved.A document is created, selected by the institution to be saved, and classified by a later editor. The history of those who could not write or whose papers were destroyed looks poor.

The silence of the archive should not be filled with fantasy. The possible reasons for the silence should be documented, other sources should be found, and the level of confidence in the conclusions should be clear. Absence opens up questions, not answers.

61.9 Oral history and collective memory

Oral history captures events as well as perceived meanings, fears and community identities. Memory can change order, add symbols, but not be worthless.

The interviewer 's question, location, relationship, and recording conditions influence the answer. Many pieces of evidence are comparable to documents and physical evidence. The differences should not be hidden but analyzed.

61.10 Monuments and public oblivion

Memorials do not merely tell the past; they decide who is to be idealized by present-day society. Public naming champions can make ordinary labor invisible by focusing on the ruler or noble.

Options such as removing monuments, adding references, or creating new monuments have advantages and disadvantages. Decisions must be made by historians, affected communities, and citizen deliberation; the violent past must be documented rather than glorified.

61.11 The moral language of history

Historians may honor the victims when describing atrocities, but absolute avoidance of moral words is not neutrality. Calling the murder an accident may be a pro-establishment shorthand.

Ethical judgments must be sound and conceptually sound. Let us define the limits of time confusion when applying today 's terms to the past. Don 't try to justify the understanding.

Chapter Conclusion

History is not a copy of the past, it is a verifiable reconstruction. Memory is valuable but not immune to criticism. Records are powerful but not perfect. Silence can be meaningful, but arbitrary stories are not allowed. Parallel historiography places both the center and the periphery on the same plane of evidence.

Chapter Bibliography

Marc Bloch — The Historian’s Craft.
E. H. Carr — What Is History?
Paul Ricoeur — Memory, History, Forgetting.
Maurice Halbwachs — On Collective Memory.
Ranajit Guha is the author of selected Subaltern Studies articles.
Jan Vansina — Oral Tradition as History.

Chapter 62 — Knowledge and the Digital World

In the digital world, information is abundant, knowledge is not automatic. A lie repeated a thousand times can become popular and not true. Algorithms choose attention. visual editing appears direct-jokingly. unsourced statements can reach millions. thousands of copies of the same original post can create independent confirmation-jokers confusion. Under these conditions, epistemology ceased to be merely a university subject and became a necessity of civic life.

62.1 Information and belief in knowledge

Having access to information and having knowledge are different things. The search engine returns a result.Truth is not guaranteed. Social media gives popularity, not credibility. Videos create a direct-to-experience effect, or their production history may be hidden. So the first rule of digital knowledge is to separate the material from the source and the evidence.

62.2 Algorithms and Meditations

Algorithms are not just about fair sorting; their goals affect training-data, business interests, and user-behavior outcomes. Content that brings more engagement should be the most authentic, not necessarily the most relatable. Anger, fear, sensation, and identity-based content may be more prevalent. The cognitive problem here is: what we see is not the world itself. it is the selected scene.

62.3 Source-review in the digital age

For the digital citizen, some basic disciplines are necessary: find the original source. check the date published. look for the complete reference. find independent confirmation. read the citation as original. check the source and editing possibilities of the image or movie. ask for a method for numbering. separate news and opinions. express uncertainty in language. These rules are certainly new, but their philosophical spirit is old.

62.4 Echoes - The Chamber and Affirmations - Partisanship

When digital platforms show more content that matches the user 's preferences, the person may gradually fall into the trap of thinking that everyone else is like them. The opposing evidence in this echo chamber appears to be unfamiliar or hostile. The key to parallel philosophies is to read possible counterarguments, to have a diversity of sources, and to apply the same skepticism to your favorite claims.

62.5 Artificial imagery Artificial sound and visual hazards

Digital technology can make it possible to create real-time content. For this reason, we have seen in the video that the proof is not as simple as it used to be. However, this fact does not necessarily make all the videos dubious. The appropriate policy is to check for source-series metadata where available, independent visualizations, reliable institutional confirmation, context, and possible edits. Omniscience does not protect knowledge; rational doubt does.

62.6 Digital records and forgetting

On one hand, the digital medium creates huge records; on the other hand, link-rot and platform closure also create memory instability due to proprietary format and content deletion. Long-term archival, open-format, metadata, version-history, and local language digitization are important for public knowledge.

62.7 Maithili and Digital Knowledge - Rights

If knowledge is only available in the dominant language, then cognitive access is incomplete without technological access. Reliable vocabulary in local languages, searchable text, digital records, and open source and quality translations are part of the democratization of knowledge. However, local language content is also not immune to fact-checking. Linguistic justice and evidence-discipline must go hand in hand.

Pūrvapakṣa (Prima Facie View): In the digital age, the truth has become impossible.

Uttarapakṣa (Response): It is difficult, but not impossible. When fraud occurs, source-review, independent verification, archiving, and institutional transparency are all more important. A crisis of evidence is not a justification for lack of evidence.

62.13 Search-order and the visibility of knowledge

The first page of search results can become the limit of people 's knowledge. The ranking is made up of popularity, payouts, personal history, or platform predictions, not facts. What is not visible is out of public memory.

Explain the main standards and sponsored content of the forum. The user should get options for chronology, source, or other sequences.

Researchers may use many search terms, languages, and databases. The first result is not the end of source-review.

62.14 Virality and the evidence

Speedy dissemination can spread through emotional attachment, novelty, or group interaction. The number of circulations is not an independent witness to the truth as everyone will repeat an original source.

Stop reacting to viral content immediately and check the original source, full video, and date. The old event can be said to be new.

Corrections are often not as widespread as lies. The organization should add corrections to, reduce access to, or reference the original post; the process should be transparent.

62.15 Digital identity and authenticity

Online names can provide anonymity and security, as well as enable impersonation and irresponsible harassment. Making real names mandatory on all platforms could put vulnerable voices at risk.

The level of authenticity should be appropriate to the topic. Public authorities or financial services may ask for further verification.Sensitive support-group confidentiality.

The security of the authentication data itself is at risk. The minimum collection must have explicit use and deletion rights.

62.16 Preface: The digital medium is only the means

It is said that the fault lies only with the user.platform neutral pipe. But buttons also shape information-order, rewards, and ad-register behavior. The composition is morally relevant.

However, the platform is not the whole reason for every use. The individual remains the responsibility of the group and the society. The responsibility should be shared for multifaceted reasons.

The solution is not a conflict of technologies. User controls enable independent checks, data-portability, and the creation of public standards.

62.8 Information-Addiction and the Rarity of Attention

In the digital world, information is not scarce; attention is. Platforms can prioritize content that takes up too much time, not necessarily the truth or public importance. Emotional arousal can take the place of knowledge.

Personal discipline is useful, but the problem is not just the weakness of the user. The author is also responsible for information systems and trade promotion. What is needed is a policy of transparency and choice.

62.9 Origin of the Source - Path

The digital version cuts away from the original source after several copies. Screenshots are missing references to the short video or quote. The multiple sightings are not independent confirmations.

Find the original publication, date of authorship, complete excerpts, and revisions. A recorded copy is useful, but a forged version is possible. The origin of sources is the new civic skill of epistemology.

62.10 Echoes - Rooms and Groups - Beliefs

Groups of like-minded people may offer support, but the belief may become overconfident when contradictory evidence is consistently excluded. Repetition within a group looks like free consent.

The solution is not to assume every antiparticle is equal. Look for reliable alternative sources, strong arguments, and evidence that supports the decision. To prevent insults and coordinated deception with the protection of communications.

62.11 The Right to Digital Oblivion

The penalty can be disproportionate if the old fault is forever discoverable. On the other hand, accountability is weakened by the loss of public office, crime, or important historical records.

Claims of omission must be checked against privacy, public interest, timing, and the person 's current role. Another way is to delete, reduce searches, and add references.

62.12 Digital public library

Digital access can save books, manuscripts and journals in small languages. Searchability democratizes knowledge if the content is open standards and with long-term preservation.

A scan by itself is not enough. Correct metadata requires text-check rights, versioning, and citation-path. The digitization of Maithili content should be through community engagement and scholarly review.

Chapter Conclusion

The digital world increases both the opportunity for knowledge and the speed of confusion. The civics of parallel philosophies are populism is not true. visual perception is not guaranteed. algorithms are not fair decisions. and source-review is not an intellectual luxury. Digital citizens don 't have to be neoconservatives, but they do need to have the culture of asking for proof.

Chapter Bibliography

Luciano Floridi — The Philosophy of Information.
Cass Sunstein — #Republic.
Miranda Fricker — Epistemic Injustice.
The C. Thi Nguyen Selected articles: echo chambers and epistemic environments.pdf
Stanford Encyclopedia of Philosophy — “Social Epistemology”; “Epistemic Bubbles”.

Chapter 63 — Artificial Intelligence and Human Responsibility

Artificial intelligence is the newest tool for computation, language, graphics, decision-making and knowledge organization. But because machines generate answers, moral responsibility does not automatically shift to machines. The basic question is what kind of data The Prejudice of Someone Who is the target? If a mistake is made, the person responsible for What areas of human decision making are not capable of full automation? Parallel philosophy holds that technical ability is not a moral imperative.

63.1 Resources and Agents and Responsibilities

Artificial intelligence systems can produce complex decisions; however, the structure of legal, institutional and ethical responsibilities is determined by humans and institutions. The organization cannot end its responsibility by saying that the algorithm made the decision. What data is selected, what goals are set, what risks are accepted, and what human reviews are kept are all human decisions.

63.2 Not a data neutral

The training data comes from the history of the society. If there are discrepancies in history, the data can take their toll. But it 's also easy to mistake all the statistical differences for bias in the data. The question is whether the data is representative. The classification is a reasonable one.

The goal is to be morally right. Making a mistake can cause more damage. How durable are the system 's results in independent testing?

63.3 Interpretation and appeal

Where artificial intelligence decisions affect jobs, credit, education, health, justice or public benefit, affected persons should have the opportunity to understand the reasons, correct errors and seek human review. This is not a public enough reason for the model to say so. Technical complexity is not a substitute for accountability.

63.4 Limitations of the scope of automation

Some functions may be suitable for routine computation, sorting, or searching. But where decisions demand dignity, consent, punishment, life-or-death, complex social contexts or moral conscience, full automation demands special care. Efficiency is a value. fairness, compassion, transparency and appeal are also values.

63.5 Artificial Intelligence and the Knowledge

Linguistic systems will give impressive answers, but impressive language is not proof of truth. They can make up sources, twist events, or state uncertain facts in a certain way. AI-generated content, therefore, needs to be examined with independent evidence as a supporting proposition rather than a source, particularly in history, law, medicine, science and public policy.

63.6 Creativity and Authorship Responsibilities

Artificial intelligence will help with writing, drawing, music and translation. But the writer 's responsibility does not end there. The person or organization publishing the work will be responsible for the facts, citations, rights, consents, and consequences. The means change or there is a question of responsibility.

63.7 Language Inequality and the AI

Massive digital content in major languages can make the model more efficient when Maithili-speaking languages are underrepresented due to limited resources. It is not just a technical problem. it is a question of linguistic justice. Local corpus building requires open licenses, quality editing, diverse scripting support, and community involvement. However, confidentiality and consent are also important in data collection.

63.8 The Dignity of the Human Being

The criterion of this text is clear: the dignity and privacy of human beings, autonomy and responsibility will be the criterion above technical efficiency. Systems that are highly effective but reduce individuals to mere statistics need ethical review.

Pūrvapakṣa (Prima Facie View): If AI makes better decisions than humans, why aren 't human reviews unnecessary?

Uttarapakṣa (Response): On what criteria is the best choice? Average accuracy is important, but rights, appeal, rare circumstances, price-trigger, and liability are separate questions. High performance is not absolute proof of moral legitimacy.

63.14 Automatic Classification and Appeal

The system puts the person into a risk, ability, or priority category. If there was a degree of probability, the authorities would have accepted that as a definite fact. Misclassification can have serious consequences for creditworthiness or independence.

The affected person will know what the main reasons are for using automated tools, how to improve the data and where to place a human appeal. Trade secrets are not absolute grounds for concealment of substantive judicial reasons.

The success of the appeal must be measured. The process is symbolic if only the email address is there, but no right to change the decision.

63.15 The Illusion of Giving the Human Form

By looking at the fluid language or faces, the user can perceive in the system a sense of desire and compassion. Behavior being human-like and having conscious experiences are different claims. Consciousness is not automatically proved by the present demonstration.

Humanizing can lead to emotional dependence, sharing private information, and false beliefs. The system must explain its limitations, non-human nature, and risks.

Philosophically, the possibility of machine-awareness may remain an open question, but policy is built on existing evidence and actual capabilities, not fiction.

63.16 Efficiency and Humiliation

Automation can reduce wait times, but the lack of human hearing in the context of bereavement, health or justice can be humiliating. Service is not only about results, but also about behavior.

It is expensive and slow to make humans do all the work. High-impact, easy-to-manage routines in case of unusual situations and disputes; general tasks may be automated.

To correct errors in the calculation of efficiency, excluded users and trust costs are added. Time savings are not the only value.

63.17 Precedent: The more capable system will be liable itself

The idea is to blame the agent if the system does the planning, language, and optimization. But accountability requires the ability to reason, obey rules, and act responsibly.

Legal personality may be a technicality; moral consciousness is not. The responsibility of the manufacturer, the implementer, the owner and the decision maker should not disappear in the name of the machine.

The question should be re-examined if the future ability changes. It is now safer to specify the institutional responsibility.

63.9 Decision-Aidability and Decision-Right

Artificial intelligence can show patterns or give predictions based on selection patterns. But the human decision maker will know what data and error-value the recommendation is aimed at. The speed of the instrument does not transfer responsibility.

In high-risk areas, the final decision demands meaningful human review and not just a seal. The reviewer must have the time, authority, and ability to change the system.

63.10 Multiple sources of bias

Bias can arise from chronic discrimination within the data, sample-disparity, goal-selecting, labeling, measurement, or application context. It is not enough just to state the data clearly.

Group-wise, the outcome of the experience and decisions affected by the error should be examined. Absolute equality can sometimes conflict with different measures; moral preferences must be publicly decided.

63.11 Interpretability and the reasons why

It is important to state what characteristics caused the model results, especially in areas such as debt, employment, or health. General technical details are not sufficient for the appeal of affected persons.

The explanation must be judgmental, understandable, and counter-intuitive. It is risky to make policies based on predictive correlation. Interpretability is not a guarantee of veracity; it is a condition of liability.

63.12 Labor and Creation and Crediting

Behind artificial intelligence systems are data-gathering, labeling, writing, diagrams, and computational labor. The word automatic can make this human contribution invisible.

Creative use raises questions of source-rights, consent, credit, and livelihood. Limitations of innovation and unfair imitation should be clear from the methods, techniques, and ethical dialogues; market forces alone should not decide.

63.13 Maithili and Representation

Languages with less digital content may have more system errors and dialects outside the standard form may be invisible. Incorrect translation can cause actual harm to administration or health.

Community-accepted data, linguistic reviews, dialect-diversity and public testing are necessary. The language-collection agreement and benefit-sharing must be clear. Cultural content is not a free resource in the name of digital presence.

Chapter Conclusion

Artificial intelligence is neither god nor devil. it is powerful human technological system. Their ethical values depend on the use, targeting, control of data, transparency and social consequences. The formula of parallel philosophy finds special meaning in an age when technical ability is no longer a moral imperative.

Chapter Bibliography

Luciano Floridi et al. are selected AI ethics articles.
Shannon Vallor — Technology and the Virtues.
Virginia Eubanks — Automating Inequality.
Cathy O'Neil — Weapons of Math Destruction.
UNESCO — Recommendation on the Ethics of Artificial Intelligence.

Chapter 64 — The Environment and Future Generations

Traditional morality focused mainly on the relationships between humans in the present. But the environmental crisis changes the question. I have a responsibility to the unborn generation The species is only a means for human use. The value of the river is only the market-value The decisions we make today have consequences that affect life hundreds of years from now.

64.1 Moral Responsibility as anachronistic

Future generations can no longer vote, make contracts, or protest. However, current decisions affect their water, air, land, climate and biodiversity. The question of responsibility is sharper if the power is unilateral. Parallel philosophy says that a person is not without dignity if they are not present.

A value of 64.2 in nature

Treating the environment only as a resource makes rivers = water, forests = wood, and land = market-value. But nature is also the foundation of ecosystems, living communities, cultural memory and the future. There are two extremes to be avoided: the impossibility of every human intervention in nature being immoral; and the use of humans as the only value of nature.

64.3 Nonviolence and Reciprocity and Modern Science

A dialogue between Jain non-violence and Buddhist interdependence, Indian folk-nature traditions and modern ecology is possible but not a false equivalence. Ancient texts had already known modern climatology, but this claim is incorrect. Fruitful comparisons may be made on questions of moral sensitivity, the reciprocity of life, and temperance; empirical climates will rely on evidence from modern science.

64.4 Environmental Justice

Pollution and climate risks are not evenly distributed. The poor, tribal, river-dependent, coastal, and agrarian and labour communities are more vulnerable when the resource-intensive benefits are concentrated elsewhere. Environmental ethics, therefore, is not only about love of nature; it is also about justice for distribution, representation, displacement, health and livelihoods.

64.5 Mithila: The River: Floods and Life

Mithila 's geography is deeply intertwined with river flooding, waterlogging, agriculture, migration, and transboundary hydrology. It is not enough to simply call the flood a natural disaster or just a natural cycle. Embankments and settlements, land-use and subsidence, administration and drainage, and the combined study of local experiences are essential. Parallel philosophy hearkens back to local wisdom, but does not substitute for scientific hydrology.

64.6 The Cautionary Principle

Where the potential harm is large or irreversible, waiting for absolute certainty can be risky in itself. But the precautionary principle is not an impossible requirement to avoid. Policies require a comparative examination of the size, feasibility, choice, cost, benefits, and uneven distribution of risks.

The Meaning of Development 64.7.

GDP can be an important indicator of road, power, and industrial development but is not a complete definition. If economic growth hides the costs of long-term water scarcity, loss of health, or displacement, then the account of growth is incomplete. Parallel philosophies link development to dignity, livelihoods, ecological sustainability and future options.

Pūrvapakṣa (Prima Facie View): What are the rights of future generations when they no longer exist?

Uttarapakṣa (Response): The philosophical language of entitlement may be contested, but at least it is clear that the present generation does not have unlimited permission to inflict irreversible damage that would destroy the basic life-conditions of future human beings. The power is in the future, so is the responsibility.

64.13 Climate-zokhim and local decisions

Long-term climate trends are understood from a broad sample, but not directly from one village flood or season of a year. Spatial planning combines both broad science and local geography.

The forecast is tentative and the administration would not provide a specific date. Risk maps affect land values and displacement, so the methodology should be public.

Uncertainty is not a reason to postpone preparation. Safer building warnings and exits may be useful measures in the foreseeable future.

64.14 Displacement and Dignity of Place

A project or rehabilitation due to environmental risks will not only add value to the home. Livelihoods are linked to neighbourhoods, places of worship, language, and memory. Cash compensation does not necessarily rebuild a relationship.

Those affected will receive advance notice, options, and the collective power to bargain. Residents with weak ownership records should not be invisible.

Where transfers are unavoidable, services should be prepared in advance, livelihoods protected, and long-term outcomes checked. Consent is not a one time signature.

64.15 Governance of the Common Resource

The pond, forest, or pasture are neither fully private nor openly plundered. Community rules can save shared resources by creating supervision and penalties. But keep in mind the power imbalance within the community.

Out-of-state rules fail without local knowledge, and local dominance can exclude vulnerable users. Multilevel governance requires clear boundaries and appeal.

The affordability of resources will demand empirical investigation. Conventional rules are not useful proofs and infallibility.

64.16 Preface: Poor Societies Cannot Afford the Environment

Development requires energy, roads, and industry; environmental standards hinder the progress of the poor. The historical emissions and resource-use disparities underpin this argument.

But the damage from pollution is worse for the poor themselves. The cost of clean technology should be shared according to global and national justice. not sacrificing vulnerable areas in the name of development.

A just transition demands contributions according to different responsibilities and abilities, not the same results. The goals should be both local employment and health.

64.8 Risks and precautions to be taken

Absolute certainty in environmental decisions is rare. Lack of evidence is not automatically a reason for inaction if the potential harm is severe, widespread, or irreversible. The precautionary principle redistributes the burden of risk.

But a complete ban on every possibility can make innovation impossible. There should be a proportionate precaution according to the likelihood, extent of damage, options, monitoring and reversibility.

64.9 Distribution of the environmental cost

The risk of pollution or flooding often falls more heavily on poor, low-lying or less politically vocal communities than it does on others. The average profit can hide this distribution.

The project evaluation should look at whose land, health, livelihood and culture are affected. Compensation is not a complete substitute for consent and irreparable harm.

64.10 Relative value of the river

Not only the quantity of water in rivers, but also agriculture, fish, silt, pilgrimage, and language form memories and boundaries. Control for one purpose may destroy another.

The romantic worship of rivers does not negate the fact of floods, erosion or disease. Engineering, ecology, and local experience combined to create the project. The river-life of the Mithila calls for multifactorial studies.

64.11 The Moral Status of Non-Human Beings

The ability to feel pain gives the animal a reason to feel good. Being different species does not make arbitrary cruelty appropriate. The value

of an ecosystem may be a different question than the suffering of individual organisms.

Food research and conservation must apply the criteria of necessity, choice and harm reduction. Human interest is not zero but neither is the only moral value.

64.12 The Just Transition

Decreasing polluting industries may be necessary, but workers and the local economy can suddenly become jobless. It would not be fair to put environmental policies at the expense of the vulnerable.

Training, income security, and participation in local investment and decision-making are required. The speed of transmission should take into account both scientific risk and societal capacity.

Chapter Conclusion

Environmental ethics questions the notion of man as a king apart from nature. Future generations, non-human life forms, local communities, and the need for scientific evidence and development must all be placed in the same rational framework. The ecological formula of parallel philosophy is the convenience of today rather than the survival of the future.

Chapter Bibliography

Aldo Leopold — A Sand County Almanac.
Hans Jonas — The Imperative of Responsibility.
Peter Singer is the author of selected environmental ethics articles.

Amartya Sen — Development as Freedom.
The IPCC Assessment Reports (for the scientific background).

Part VIII — Gajendra Thakur’s Parallel Philosophy

Chapter 65 — Multi-Pramāṇa Rationalism

The first basic tenet of the parallel philosophy proposed in this text is that of multidimensional rationalism. This does not mean that all evidence is the same or that all beliefs can be true. It means that there is truth and knowledge is possible, but knowledge is not the only kind of evidence. Direct estimates, reliable statements, documents, historical sources, scientific experiments, self-experience, statistical data, and institutional records are their respective domains of reference. Accept the multiplicity of evidence, not the chaos of evidence.

65.1 Why is it important to be multidimensional?

The human question is not a uniform one. The way to know the effects of medicines is different from personal religious experience. the way to know the dates of ancient dynasties is different from laboratory-testing. the way to know the experiences of personal suffering is different from census-tables. Evidence that is reasonable in one area may be insufficient in another. Multiplicity takes into account these regional differences.

65.2 Why is there a difference between rationalism and

The evidence is overwhelming, but the decision requires testing. Prudence means that the claims made should be clear, the evidence should relate to the claim, the contrary evidence should be heard, the credibility of the sources should be checked, the conclusions should be limited by the strength of the evidence, and revisions should be possible

when new evidence emerges. This is not infallibility; it is disciplined error correction.

65.3 The area of the proof

Direct perception is a strong source of immediate experience, but confusion is possible. Inferences range from the known to the unknown, but require scope or causality. Words or testimonies are the basis of vast social knowledge, but the credibility of the speaker, institution, and source must be tested. Documentation is evidence of history, but construction - intent and silence are to be seen. Scientific testing is one of the best public practices in empirical questions of nature, but ethical values do not emanate from the laboratory itself. Self-realization may be meaningful evidence of private life, but not an automatically sufficient basis for universal public claims.

65.4 Private Causes and Public Causes

Personal religious experiences can be a deep foundation of faith for individuals. But we felt that this was not a public enough reason to impose the law on other citizens. In this way, private evidence is not compromised; its scope is clear. The same principle applies in other areas: individual success does not prove economic policy. a patient 's experience does not prove the universal effect of medicine. a record does not prove the whole history.

65.5 Non-categorization or contextualization of the evidence

Multidimensional rationalism does not make science always superior, folklore always inferior, or vice versa. The question is the nature of the claim. Folklore is important for the study of what communities consider sacred, as instrumental data for weather temperatures are more accurate than folktales. Contemporary inscriptions to ancient events may be a more direct historical source than later legends. The value of the proof is context-specific, and the truth is not arbitrary.

65.6 Interaction with Indian Credentials

Nyaya, Mīmāṃsā, Buddhist and other Indian traditions debate at length the number, nature, and authenticity of the Puranas. Multidimensional rationalism draws inspiration from these traditions, particularly by making knowledge-sources the subject of analysis rather than the repetition of a single classical school. Modern science, historiography, sociology, and digital source-review are also included in this framework.

65.7 Dialogue with Western epistemology

Empiricism shows the importance of experience, rationalism shows the structure of reasoning, pragmatism results in inquiry, social epistemology shows the role of testimony and agency, and modern fallibilism shows the importance of revisionism. Parallel philosophy does not make a closed synthesis of these insights; it communicates them problem by problem.

65.8 Proof - Why Arrogance is Unacceptable

If everyone said we needed evidence and there was no common standard, then public knowledge would be fragmented. Medical tests and rumors, records and fiction, expert statistics and made-up numbers are not on the same level. Plurality is not the same thing as equality. There are many types of proof, but the claim-proof relationship will be worthy of public criticism.

65.9 Four-Level Conclusion - Language

Multidimensional rationalism proposes to express conclusions in four levels: strongly supported. probable. disputed. unknown. This language reduces both false certainties and false equivalences. Speak boldly where the evidence is strong; state the limits where they are limited; admit disputes where the sources are contradictory; state the unknown where there is no evidence.

65.10 Authority and proof

The availability of authentication affects how records are stored, what language is published, and what experience data sources are created. Multidimensional rationalism, therefore, is in favor of source-diffusion. But power-talk is not a substitute for truth. Giving space to overlooked sources does not make them immune to criticism.

65.11 Ethical Limitations

The mode of knowledge is not only intellectual but also moral. Intentionally attributing strength to weak sources, hiding contradictory

evidence, or attributing certainty to uncertainty is cognitive dishonesty. Parallel philosophies associate truth-seeking with dignity and responsibility.

Pūrvapakṣa (Prima Facie View): Multidimensionality does not become relativism after all

Uttarapakṣa (Response): No, because the types of evidence are considered to be numerous and the standard of truth is not exhaustive. Each claim must bear reasonable area proof, rationale, counterarguments, and amendments. The formula is: Accept plurality of evidence, not chaos of evidence.

65.17 False equilibrium

Given that there are two opposing views, giving them equal time may be fair, but the false equilibrium arises when the evidence is highly disparate. The existence of a minority opinion is not its scientific weight.

However, the majority opinion is not without criticism. The scope of the presentation agreement should indicate the type of evidence and the actual uncertainty.

The means is to find the standard weight of the claim instead of the two side weights. Clarifying Values in Ethical Controversies.Sources in Factual Questions.

65.18 Order of proof-collection

Finding support by choosing the preferred conclusion first is confirmation-biasing. Research questions can pre-write evidence that changes the inclusion-compliance and conclusions.

A complete pre-registration in history or philosophy is not possible, but source-selection should be transparent. Contradictory texts and inconsistent examples should be included on a case by case basis.

Adding a source after writing a conclusion is not just citation; it 's grounding. Each factual step of the argument must match the source.

65.19 The Modern Form of the Apat

A trustworthy speaker is not just someone who is honest; they need to have the ability to communicate directly, and the right communication and conflict of interest. Modern institutions can act as a collective if there is review and improvement.

Reputation is a useful cue, not proof of truth. The agency is credible because of past success, but the specific claims are still subject to scrutiny.

The appeal of the anonymous expert is weak. The anonymity should make the process, data, and independent reviews more transparent.

65.20 Preface: Multidimensionality is Relativism

It is reasonable to fear that people will choose their preferred source based on multiple sources. Without territory, experience could replace science and scripture could replace history.

The answer is that multiplicity is not the same weight. The rules for determining prima facie evidence, adducing supporting evidence and finding fault with the claimant are clear.

Being anti-monopolistic is not the same as being anti-critical. The association of multiple independent paths in reverse reinforces objectivity.

65.12 Area-limit of the proof

Direct present visual quality refers to inferences, intangible relationships, words, distant knowledge, and memories of past experiences. No evidence is a monopoly on all questions. The differences in regions are not hierarchical.

Where multiple proofs are applicable, consistency, independence and source-fault checks should be performed. Don 't be so quick to contradict. See if every piece of evidence really speaks to the same claim.

65.13 The level of trust

Conclusions should not be confined to two houses of truth / falsehood. The probabilistic, highly probabilistic, probabilistic, controversial, and unknown-yet levels increase the integrity of the decision.

Level is not just a word. it should be written with the proof that changes. The class can be changed when a new source is found. Uncertainty is not a loss of reputation.

65.14 Expert dissent

Ordinary citizens cannot hold the same opinions if experts disagree. Qualifications and areas of relevance include the quality of evidence, the extent of consent, and conflict-of-interest checks.

A minority opinion is not necessarily wrong because it is a minority, but because the burden of proof to change an established conclusion can be great. The institution must be open to criticism.

65.15 Certifiable Rating of Experience

Personal experience is a direct source of pain and humiliation or meaning. They cannot be completely replaced by external observers. However, the causal interpretation of the experience may be flawed.

We have experienced this and the reason is that these are different claims. The former should be listened to respectfully while the latter should be examined from alternative reasons and evidence at large.

65.16 The evidence and the judgment

On the same scale, people may choose different policies because of differing risk-values. The proof determines the value preference by stating the outcome of the decision.

These distinctions do not separate fact from politics. Values can be entered in proof-selection, but open methodology makes correction possible. The public judgment should clarify the difference between fact and value and distribution.

Chapter Conclusion

Multidimensional rationalism is the epistemological basis of parallel philosophy. It rejects on the one hand the imperialism of a single system of evidence; on the other hand, the anarchy of all these equal sources.

Truth is to be found in objective evidence, shared criticism, source-review, epistemic humility, and revisionism.

Chapter Bibliography

Gautama wrote that the Nyāya-sūtra.
Gangesh Upadhye as Tattvacintāmaṇi.
Bimal Krishna Matilal — Perception; Logic, Language and Reality.
Stephen H. Phillips — Epistemology in Classical India.
David Hume — An Enquiry Concerning Human Understanding.
John Dewey — Logic: The Theory of Inquiry.
Miranda Fricker — Epistemic Injustice.

Chapter 66 — Coexistential Realism

Another theory is that of coexistential realism. It starts with a rejection of the two extremes. Firstly, the world is only a construction of our consciousness or language; secondly, reality is only a lifeless mass of separate objects and not of any fundamental importance to relationships. Parallel philosophy says that the universe resists, independent of our will, but we always experience it through relationships, body language, history, and social position.

66.1 Objective resistance

The fire does not depend on my opinion of whether it will burn or not: disease, flood, gravity, hunger, bodily harm, the weight of things, all resist outside our choice of reality. This is why coexistential realism is not relativism. There is a difference between what we think it looks like and what it really is. The need for proof, testing and improvement stems from this.

66.2 The relationship is a real one.

But it is incomplete to consider matter only as a solitary substance. Man exists at the same time in relation to his son, mother, citizen, worker, linguistic person, friend, neighbour, biological organism and historical heir. Society is not just a collection of individuals; institutions, rules, language, memory and authority structure relationships. Rivers are not

just bodies of water; they are also relationships of ecology, agriculture, geography, memory, and livelihood.

66.3 The individual and the community

Coexistential realism accepts the independent dignity of the individual but does not consider them to be self-sufficient atoms imagined outside society. Individuals develop through language, upbringing, education, resources, and institutions. However, society does not have total power over the individual. Relationships make people, and people can change relationships. In this duality, both freedom and responsibility take place.

66.4 The experience and the object

The same reality may be experienced differently in different social spaces. Disaster-statistics for flood authorities may include crop failures for farmers, school breakdowns for children, and displacement for migrant families. These multiple experiences do not make reality arbitrary but rather show its multilayeredness. The material phenomena are one, their human relations are many.

66.5 Indian and Western Dialogue

Constructive dialogue is possible through the materialistic tendencies of Nyaya-Vaisheshika, the relational-sensitivities of Buddhist phenomenology, the multifacetedness of the Jaina Encyclopedia, Aristotle 's social man, Hegel 's critique of belief, and contemporary relational philosophy. But the theory of this text is not a repetition of any

one tradition; it is an independent answer to the question of how to put objectivity and relational experience together.

66.6 Prejudice: Assuming a relationship would undermine objective truth

The objection is that if every knowledge is built into social relations, then truth will become a plaything of entities or attitudes.

Uttarapakṣa (Response): Related to knowledge and object resistance.

The knower is related.Truth is not just a desire for connection. My description may be influenced by language and perspective, but Jagat thwarts the misrepresentation. Medicine, engineering, agriculture, and history define the limits of true resistance in science. Relativism, therefore, refers to a state of knowledge and not to the arbitrariness of truth.

66.12 The relational net of causes

Incidents often occur not for one reason but through a web of conditions. Rainfall in floods, river courses, dams, settlements, and warnings are combined. The main reason why questions can change according to the purpose is the scientific explanation, the legal fault or the prevention.

Multifactoriality should not obscure the responsibility. The role of the agent who could have controlled the known risk should be distinguished.

Looking at relationships is not an infinite list. It is necessary to separate out the substantial contributors and the background conditions.

66.13 Relation to the environment of the body

Ability is not just a quality inside the body. The mobility of wheelchair users is combined with roads, buildings and transport. The social consequences of incompetence can change when the environment changes.

This view did not deny the reality of the body. Medical and accessible environments are different and complementary measures. Treating a person as the only object of correction is unfair.

The policy will add technical standards and resources to the affected person 's experience. The universal design allows for more people to have abilities.

66.14 The Ethics of a Relationship Breakup

Not all relationships need to be saved. Respect can be protected by leaving a violent family, exploitative work, or oppressive community. Coexistence would have become bondage without the right to exit.

Exit decisions can leave real liabilities to others, such as debt or shared resources. There should be a safe separation of responsibilities.

Reducing the Cost of Social Distancing: Shelter, Law, Income, and New Relationships. Just leave it alone because the advice won 't understand dependency.

66.15 Precedent: Force on the relationship undermines the rights of the individual

The fear that individuals will be subservient to family or tradition when told the importance of community ties is historically justified. Dissent has been stifled in the name of the common good.

Coexistential realism views rights as conditions for a just relationship, not as opposites. A relationship without consent, voice, outlet, and equal status is not valid.

The person must also be responsible for the care of others and dependent on public resources. Liability is mutual and proportional, not a birthright.

66.7 The Co-Reality of Objects and Relationships

Objects are not simply knots of relations because their properties and resistances do not vanish immediately with the change of relations. But the object is not a complete abstraction either. Identity opens up in relation to history, usage, and other objects.

Coexistential realism makes both extremes hold up. Rivers are physical flows and also the relationships of community life. Social connotations do not negate the quality of water. physical descriptions do not exhaust cultural connotations.

66.8 Dependence and autonomy

Human autonomy is not the same thing as dependency. Language builds capacity for care and organization. The question is whether the

dependent relationship enhances the individual 's voice or is it arbitrary control.

The power of the grantor is limited by rule, deference, and appeal. The recipient did not lose the right to a debt of gratitude. Relational freedom is the security against domination within cooperation.

66.9 Perspectives and Objective Resistance

Knowledge is always going to come from somewhere. Farmers, engineers, and riverbank dwellers see the same flood as a different side. No one view is perfect, but not all are equally relevant.

Objectivity is not blindness but a critical combination of views. Add measurement, experience, history, and counterargument. Conclusions that tolerate multiple independent views tend to be more reliable.

66.10 The stable form of the entity relationship

The law, the market, the family and the university stabilize the dual relationship. Institutions may outlive individuals, but do not exist without the actions of individuals.

For this reason, change will come not only from a change of heart but also from a change of rules and resources. However, individual responsibility should not be erased by treating the institution as an independent agent of the demon-king. The levels have to be kept separate.

66.11 Conflict and coexistence

Coexistence does not mean the absence of conflict. There will be real differences in resources, values, and identities. The question is how to institutionalize the conflict without resorting to violence and humiliation.

Fair process and limitation of rights require a path to temporary settlement and reconsideration. Artificial harmony can endure in the silence of the weak; open disagreement can become the basis for a more permanent peace.

Chapter Conclusion

Coexistential realism holds that reality is independent of our will, but its human experience is reduced to a web of relationships. The person is real, the society is real, the body is real, the meaning is real, the object is real, and the relationship is real. This theory posits an alternative to both rigid individualism and rigid collectivism.

Chapter Bibliography

Gautama wrote that the Nyāya-sūtra.
Kanada is located at Vysheeshika-sūtra.
Nagarjuna as Mūlamadhyamakārikā.
Umasvati is the mother of Tattvārthasūtra.
Aristotle — Politics.
Charles Taylor — Sources of the Self.
Alasdair MacIntyre — After Virtue.
Amartya Sen — The Idea of Justice.

Chapter 67 — Dignity-Based Ethics

The moral center of Parallel Philosophy is dignity. Dignity means that the basic moral values of every human being precede birth, caste, sex, wealth, language, religion, ability, position, utility or acceptance by the majority. Man cannot be seen merely as a carrier of means, numbers, labour power, voters, consumers or community prestige.

67.1 Dignity and Value

Dignity is a claim to equal human status. This claim does not say that all individuals have the same qualities, needs, and accomplishments or responsibilities. It says that no one is inferior in basic human qualities. Criminals should also get due process.poor should also get respect.minorities should also get equal citizenship.dissidents should also be treated without disrespect.

67.2 Births are not a moral qualification

Ethical superiority based on caste, race, gender, or family is inconsistent with this principle. Birth is a coincidence, not an achievement. Birthright privilege seeks public justification when it is transformed into state, education, property, representation, or social opportunity.

67.3 Autonomy and Suffering and Justice

Dignity-based ethics propose four main criteria: Does an action cause unnecessary suffering? What constitutes an unreasonable loss of autonomy? Does it deny that someone is of the same human quality? Are

the benefits and burdens fairly distributed? These four questions examine policy, family behaviour, medicine, technology, punishment and social practice.

67.4 Autonomy alone is not enough

Individuals make independent decisions meaningfully when they have access to information, options, minimal resources, and protection from pressure. The choice between starvation, racial fear, economic dependence, or domestic violence may be mistaken for complete freedom. Dignity therefore demands an examination of the actual circumstances, with formal acknowledgment.

67.5 Compassion and the Right

The language of authority alone sometimes undermines the morality of the relationship; compassion alone can sometimes become a patriarchal preserve. Parallel philosophy adds equality of rights and humanity of compassion. Compassion does not allow control of the individual. authority does not insensitivity.

67.6 Kant: The Buddhist-Jain Tradition and the Dialogue with Ambedkar

Kant 's doctrine of not treating human beings as mere means, Buddhist compassion, Jain non-violence and Ambedkar 's insistence on equality, freedom, and fraternity communicate this framework. But the dignity-based morality has its own independent structure in this text: equal status, autonomy, suffering-minority and just burden-sharing.

67.7 Preface: Dignity is a very abstract word

The objection is that the term can be used by all parties at their own convenience.

Uttarapakṣa (Response): Turn Dignity into a Testable Moral Question

Dignity is not just a sentimental word, so in this chapter, it is governed by four criteria: suffering, autonomy, equal status, and fair distribution. If a practice consistently fails in all four of these, its moral justification is seriously undermined.

67.13 Dignity and Death

Dignity in severe disease is linked not only to the biological duration of life but also to pain-control, cognition, relationships, and the value of the individual. It is not necessary to respect every possibility of treatment.

The decision to end a life is complex, requiring capacity, pressure, treatment options, and legal protections. Due to financial burdens, the weaker person may not consider themselves burdened and make decisions.

Telling the truth in end-care is not without compassion; the language, the timing and the precise form of hope are crucial. Stay in the patient 's health centre if family and patient preferences clash.

67.14 Punishment and Dignity

Freedom may be limited upon conviction, but torture or degrading treatment is not. The punishment is on the deed and not on the humanity.

Prison conditions should not become an undeclared extension of a judicial sentence. Monitoring, complaints, and rehabilitation are essential.

The dignity of the victim is also central. The discussion of the rights of criminals should not drown out the voices of victims; it should be a combination of retribution, protection and truth-acceptance.

67.15 The institutional test of dignity

Four questions can be asked whether the policy assumes dignity: The person was heard The reason has been explained. It is possible to make an appeal. The minimum condition of life is safe.

Decisions can be arbitrary with respectful language, while abusive procedures can lead to harm if the outcome is good. Both the process and the result should be checked.

Dignity-assessment requires evidence of the person affected but also comparative data. A shining example can hide the institutional pattern.

67.16 Preface: The Religious Concept of Dignity Only

Some traditions consider dignity to be God-given, so in secular societies, the basis is said to be weak. But with equal status, suffering, autonomy, and mutual recognition, public argumentation can flourish.

Religious grounds can provide additional depth for believers; the common justification for a state does not have to rely on a single source.

Multidisciplinaryism does not undermine the widespread support for universal suffrage as a practical right. The last metaphysical difference can be seen to coexist.

67.8 The indivisible minimum of the dignity

If dignity is wholly dependent on achievement, utility or social respect, the weaker person will lose rights. The minimum of dignity is the same moral status as every human being.

This minimum does not mean that all behaviors are equal. Criticism and punishment are possible according to responsibility, but humiliation, torture, or dehumanization are not. A guilty person is also not a thing without rights.

67.9 Autonomy and assistance

Decision-making abilities can be temporary or partial. Offering assistance does not mean taking a decision away from the person; it means giving understandable information, time, and a reliable assistant.

Where a representative 's decision is necessary, it must be in accordance with the person 's known wishes and interests, and with minimal restrictions. It is dishonorable to declare a permanent disability to the facility.

67.10 Insults and Recognition

Public humiliation, even without physical harm, injures a person to the same degree. Nouns can also express tactile or linguistic entities such as places to sit.

Laws cannot stop abuse, but they can stop institutionalized discrimination. Education and public culture should form a common address. Criticism should be of the idea and not of the humanity of the birthright.

67.11 Dignity and the Physical Condition

Hunger, unsafe housing, or lack of treatment destroy a person 's choices and social status. Dignity is not just a respectful word. it demands a minimum of material capabilities.

How much is minimal and by what means is a matter of public debate. The policy should serve as a matter of right, not mercy; the process should be non-abusive and accessible.

67.12 The Conflicting Claims of Dignity

The two sides can both claim their dignity. Religious criticism may hurt someone 's feelings, but critics should ask for freedom of expression. The solution is not to repeat the word algorithm.

Direct harm, rights, and powers are examined, as well as alternatives and remedies. Dignity is not freedom from criticism; it is the limit of a

person 's means, not to become an inferior human being or a silent object.

Chapter Conclusion

Parallelism says we can claim our dignity coherently only when we assume the same dignity as others. Morality is the rule of mutual respect, not just the defence of one 's honour.

Chapter Bibliography

Immanuel Kant — Groundwork of the Metaphysics of Morals.
John Stuart Mill — On Liberty.
B. R. Ambedkar — Annihilation of Caste; Writings and Speeches.
Martha C. Nussbaum — Creating Capabilities.
Amartya Sen — Development as Freedom.

Chapter 68 — Polycentric Democracy

Democracy cannot be abolished by elections alone, nor by the institution of parliament or capital. The political doctrine of the Parallel Philosophy is multicentric democracy. This implies a possible decentralization of power, knowledge, resources, and decision-making but equal constitutional protection of fundamental rights.

68.1 Power and distance

Bringing decisions that directly affect people 's lives closer to those affected as much as possible can increase accountability. Rural and urban areas, states and union territories ask different questions at different levels. Not every problem will ask for the same solution to the remote center.

68.2 Decentralization is not automatically justice

Local power can also become a means of caste, gender, wealth or majority domination. The other half of a multicentric democracy is therefore necessarily one of fundamental rights, equal citizenship, judicial protection and a higher structure of appeals. Local autonomy is not above all human rights.

68.3 Majority and validity

Majority is a method of judging and not proof of truth. In democracies, opposition, free press, judiciary, freedom of association, information-

access and peaceful dissent define the limits of majority. Winning elections does not give the state unfettered control over all institutions.

68.4 The Multicentricity of the Knowledge

Political decentralization is simply not enough. Knowledge is unequal when universities, languages, publications, media, archives and cultural institutions are confined to a single centre. Multicentric democracies value the development of regional languages, local expertise, and diverse institutional centres as democratic values.

68.5 Economic Power

Too much private economic concentration can also affect democracy. The question of the responsibility of an institution that exerts unusual control over public discourse, employment, information or resources may be of state-level importance. Multicentrism does not see power as only government.

68.6 Federalism and local government and rights

Federalism may be a form of polycentrism, but the theory is broader than that. The fundamental question is at what level can a decision be taken with the greatest knowledge, responsibility, participation and rights-protection. The answer to this question may vary depending on the topic.

68.7 PrevParty: Without a strong center, the system will break down

The objection is that too much central decision-making can lead to inequality and fragmentation.

Uttarapakṣa (Response): Multicentricity is not fragmentation; it is layered responsibility.

Subjects such as national defence, currency, comprehensive rights-security, and interstate co-ordination may ask for centres; local water, school culture or town-planning may ask for local roles. The doctrine is not anti-centrism but unnecessary anti-centrism.

68.13 Relationships between the metropolis and the region

The metropolis would concentrate employment, universities, and capital; the surrounding area would provide labor, water, and food. Administrative boundaries do not capture the actual dependencies. The cost of development of the centre may be borne by the external sector.

The multicentre plan calls for a common agency for transport, housing, environment and revenue. However, the regional coordination did not make the local body nominal.

Look at the representative population as well as the voice of affected resources. The decision data should be available in the local language.

68.14 Data-centering and monitoring

Adding centralized data services can reduce fraud, but a single error can prevent many rights. Mass surveillance can become a force for political abuse.

Purpose-boundary, minimal data and localized improvements and independent oversight are required. Citizens will know who has access and how to correct incorrect records.

Decentralized copy does not automatically protect privacy; local abuse is possible. Laws and accountability are needed along with technical frameworks.

68.15 Experimentation and policy - Diversity

A separate local entity can test the new policy. Success is about sharing experiences and learning from failures. This has the benefit of reducing the risk of large scale homogeneous experiments.

But civil liberties are not an object of experimentation. Testing should be informed, timely, and measurable; not just risking vulnerable areas.

General indicators are needed for comparison, as well as the location of local targets. Imitation is by looking at the context.

68.16 Precedent: The multicenter decision is too slow

Delays in seeking consent at multiple levels can lead to duplication and confusion of responsibilities. A crisis or infrastructure needs a clear center.

The answer is not complete fragmentation but role-splitting. It should be clear from the beginning what level will constitute a standard, what is applicable, and what is appealed. The shared digital information can increase coordination.

Speed is not the only value. The costs of a quick bad decision can be high. The timing of the decision should be dictated by the risk.

The Principle of Subsidiarity 68.8

Decisions that can be effectively made at the local level should not be taken too far from the centre unnecessarily. However, if local capacity or rights-of-way fail, a higher level of support should be provided. This helpfulness is more of a layered responsibility than just decentralization.

Capacity, external influence and equal rights are the three criteria. Rivers and epidemics or interregional markets need to be coordinated across local boundaries. The day-to-day running of the school can be improved by local involvement.

68.9 Financial Decentralization

Decentralization remains on paper, with functions devolved to local bodies but funding and staff centralized. There must be a clear right to the transfer of income and expenses.

Local tax efficiency can be uneven, so equalization measures are necessary. The use of funds must be subject to open accounting, social review and anti-corruption procedures.

68.10 The safety of the local minority

Local majorities can dominate their minorities while being distinct from national majorities. The decentralization must be within the limits of the original rights.

External appeals, independent adjudication, reserved representation and confidential complaints are not antithetical to local democracy. They make it possible for local power to be legitimate.

68.11 The Up-and-Down Flow of Knowledge

Local knowledge identifies problems; expert knowledge provides comprehensive comparisons and technical solutions. Unidirectional commands reduce the ability to do both.

The policy experiment created a cycle of feedback and revision. Local evidence should be recorded, expert reason should be in simple language and dissent of judgment should be published.

68.12 Multicentric crisis management

Clear coordination is necessary in a crisis, but the failure of one center can bring the whole system to a halt. The multicentre gives local adaptation and alternative capabilities.

Repetition can also be very resource-intensive. The role and information sharing and ultimate accountability should be clear in advance. The crisis should not become an excuse for permanent centralization.

Chapter Conclusion

The essence of a multicentric democracy is sovereignty where necessary, and authority and transparency and accountability at every level. Democracy is not just a form of governance; it is the moral discipline of power-sharing.

Chapter Bibliography

Alexis de Tocqueville — Democracy in America.

John Stuart Mill — Considerations on Representative Government.

B. R. Ambedkar — Constituent Assembly Speeches; Writings and Speeches.

Elinor Ostrom — Governing the Commons.

Amartya Sen — The Idea of Justice.

Chapter 69 — The Rational Plurality of Religion

Parallel theology does not regard atheism as a moral vacuum, nor does it equate faith with superstition. Prudential pluralism means that different religious and non-religious views of life coexist with equal civic dignity, but the test of common propriety applies to public obligations.

69.1 The Three Freedoms

Religious freedom has at least three components: the right to profess one 's faith. the right to change one 's faith. the right to have no faith. Withdrawal from one of these three freedoms would be incomplete.

69.2 The Three Regions

The plurality of the intelligentsia sees religious life in three spheres. The first is the freedom to have a private conscience. Secondly, voluntary religious communities must be free and independent, with the right to membership and the opportunity to leave. Third, despite state laws, equal citizenship is paramount.

69.3 Public cause

The person can say that their religion forbids this practice and live their life accordingly. However, this is not enough to impose penal laws on all citizens. Public law should be such that even citizens with differing beliefs or distrusts can understand and examine its logic.

69.4 The Social Contribution of Religion

Religion can mean community, compassion, service, discipline, art, memory, and hope. A sensible plurality would not deny this contribution. But religious institutions can also produce injustices of power, property, gender, caste or discipline. Respect is not freedom from criticism.

69.5 Secularism

The neutrality of the state is not heresy. Neutrality meant equal civil liberties for all religions and non-religion, without royal prerogative to any one spiritual truth. The state should protect dharma, which means freedom and security. not the domination of any religion.

69.6 Dialogue and Truth-Telling

Pluralism does not say that all religious claims are equally true. Contradictory metaphysical claims cannot all be true in the same sense. Pluralistic politics does not mean abandoning truth-telling; it means rejecting violence, oppression or unequal citizenship in the face of dissent.

69.7 Preface: Plurality leads to the question of truth

Uttarapakṣa (Response): Truth-telling and civil rights are different levels

I can disagree, argue, and change my beliefs about religious truths. However, the basis of civil rights should not depend on a decision about which religion is true. This division allows for truth-telling to survive and limits political repression.

69.13 The Right to Critique of Religion

Religious ideas and texts and institutions are subject to public criticism. Faith does not give the right to withhold criticism. But insulting individuals is not the same as collective blaming and violent intimidation.

Distinctions should be judged by topic, language, goals, and strengths. Sharp sarcasm may be offensive; however, the law must limit direct harm.

Religious communities could hold debates and peaceful protests in response. The answer to disagreement is not violence. The state is supposed to give equal protection.

69.14 Interfaith marriages

Marriage binds the individual to a continuum of life-determinations, family relationships and religious communities. Stay at an adult independent counseling center. Community disapproval is not a sufficient reason for legal prohibition.

Let there be an impartial inquiry into the allegations of fraud or violence and not just suspicion due to different religion. The security and privacy of the couple are essential.

The upbringing of the child is determined by ritual and inheritance communication. The state should not impose one religion rule but protect one uniform civil code.

69.15 Equal Respect and Inequality of Truth

People deserve equal respect and opinions are not equal truths. It is the center of the plurality of differences. A person who holds a false opinion does not lose citizenship.

Opinions should be judged by evidence, consistency, and ethical consequences. The idea that the safety of individuals is immutable has attracted criticism.

It 's not possible to say you 're wrong about the communication, and that doesn 't diminish your authority. Truth-seeking and democratic equality are combined here.

69.16 PrevParty: Public Reason itself is the language of the majority

For common reasons, major religions or secular powers may declare their language to be universal. The concept of minority is weak in translation.

So public reason is not a static dictionary; it is a process of mutual translation. Religious reasons must be presented, as well as the relationship between authority and shared experience.

Power should not be decided unilaterally by what is acceptable. Publicity makes for open debate, judicial scrutiny, and equal opportunity to speak.

69.8 Grounds for a Prudential Plurality

In a free society, honest people will disagree on the ultimate religious question because the evidence, experience, and interpretation are complex. Plurality cannot be a temporary defect of ignorance alone.

The question of truth does not end with this fact. Each tradition may give reasons to introspect but the state should maintain uniform citizenship. Force does not necessarily lead to agreement.

69.9 Freedom to change their religion

Freedom to profess a religion is complete when there is also freedom to change or leave one 's religion. Exclusion from the family or community may negate formal rights.

Coercion and undue enticement should be prevented but voluntary changes should not be made an offence just because they are unpleasant. Fair process checks to see if the person 's wishes are free and informed.

69.10 Similarities of Atheists and Skeptics

Secularism includes not only people of many religions but also people who do not follow any religion. Ethics are not necessarily the result of religious identity; both theists and atheists can be just or unjust.

Public office and oath, education or service shall not be a test of faith. Equal respect for non-religious public causes, with space for religious language

Conversion to a 69.11 dialog

The goal of communication is not just to get the message across. It takes real openness to be able to change your interpretation of the defendant 's question. It 's not okay to just agree to understand.

Power imbalance tends to cause poor communication. A safe space, timely translation, and clear content are essential. The victim should not be made to prove his humanity.

69.12 Common Ethical Functions

Religions may disagree on doctrine but cooperate on hunger, violence, education, or the environment. The act of sharing builds trust.

In the name of cooperation, differences should not be hidden nor should service become a condition for acceptance. The dignity and independence of the beneficiary must be a priority.

Chapter Conclusion

The rational pluralism of religions combines three strands: freedom of conscience and public reason, and equal citizenship. It does not confine religion to a private chamber; it accepts its social life but defines the limits of state dominance.

Chapter Bibliography

John Locke — A Letter Concerning Toleration.
John Rawls — Political Liberalism.
Mahatma Gandhi as Hind Swaraj.selected religion-related articles.
B. R. Ambedkar — The Buddha and His Dhamma.
Wilfred Cantwell Smith — The Meaning and End of Religion.

Chapter 70 — A Parallel View of History

History is not just a record of the victors. But simply telling the story of the hysteria does not make the story true. The purpose of the parallel historiography is not to create a new myth by reversing the main story; it is to widen the scope, identify silences, and apply the same critical criteria to all claims.

70.1 The Inequality of the Record

The state, courts, institutions, and the educated class leave more than written records. Poor, women, workers, and rural communities may have less exposure to regional languages and oral traditions. Because of this inequality, the available resources themselves reflect social power.

70.2 Silence is also a question of

Why is there less of a group on record? The document has been destroyed. There was no means of writing it. The organization did not consider his experience to be important. Parallel histories treat silence as a question rather than a fact. The reason for the silence must be sought, not to fill the empty space with imagination.

70.3 Source-Extent

Personal letters, local documents, oral histories, songs, registers, archaeological objects, maps, newspapers, court records, economic data, women 's domestic writings, and regional language literature can all be

useful, along with official records. However, the nature, date, purpose, transmission, and extent of each source should be specified.

70.4 Common Criteria on Centers and Margins

Official sources may be influenced by power, or folklore may also be adapted. Royal documents are not automatically true or oral stories are automatically true. The moral of parallel history is not to have soft evidence for your favorite stories.

70.5 The history of the multifunctional

To understand history only in terms of kings, class only, religion only, caste only, language only or economy only may be incomplete. The causes of the many levels interact. The parallel historiography accepts a multifactorial interpretation of the evidence instead of a monolithic determinism.

70.6 Mithila and regional history

Regional histories do not aim to create mythical glory separate from national histories. Mithila 's local sources, language, registers, literature, folklore, and cross-border Nepal-India references can enrich the broader history. However, each claim will ask for sources and comparative evidence from the date. Regional self-esteem may be a motivator for historiography, not a substitute for evidence.

70.7 The language of uncertainty

The sincerity of the historian lies in making the level of inference clear. Explicit if there is strong evidence, probabilistic if partial, controversial if source-contradictory, anonymous if there is no evidence. Call conclusions that are outside the range of available evidence unlikely to be true.

70.8 Preface: Parallel History Will Destroy Objectivity

Uttarapakṣa (Response): Parallelism Expands the Field of Evidence

If adding new sources changes the old conclusion, it is not a defeat of objectivity but an improvement. Objectivity is not the absence of a point of view but rather the availability of diverse sources, clear methods, and critical examination and revision.

70.14 The Meaning of the Selection and History of Periods

The findings influence when history is shared and for how long. Periods of dynastic change, economic change, or linguistic movement can vary. Convenient centimeters can cut out the actual process.

The reason for the scheduling must be clear. Both continuity and break-up are to be seen across the border. Local time cannot correspond to the national time division.

Multiple valid chronologies of the same event are possible but not arbitrary. The source and the purpose of the analysis will provide the basis.

70.15 The Intellectual Geography of Mithila

Intellectual history is not just a list of places of birth. The centres of learning, guru-shishya relationships, manuscript transmission, patronage, debate and migration shape the geography of knowledge.

Some have called it a philosophical treatise on birth, work, tradition, or influence. The criterion should be clear, as in the text. Limitations are not arbitrary to promote pride.

Mithila is made up of external dialogues. The movement of ideas explains their historical form without losing regional specificity.

70.16 Opportunities and Crises of Digital History

Digital copying simplifies searching by adding remote sources and enables new comparisons. However, incorrect text-reading and incomplete metadata and duplication of copies can give false certainty.

Digital images do not capture the paper, ink, pattern, or margins of the original object perfectly. For important findings, basic or high-quality evidence should be examined.

The choice of the database itself is epistemological. What collections are digitized, what is searchable, and who owns them is the new question of historiography.

70.17 Preface: Regional histories form narrow identities

Regional pride can lead to selective storytelling, the stigmatization of outsiders, and mythological antiquity. The danger of this is real.

But the history of national centres alone is also narrow, as regional contributions and losses are invisible. The solution is not to abandon regional studies; it is to link them with common resources and cross-regional relationships.

The glory of parallel histories lies in the achievement of truth and not in imagined superiority. Boundaries, debt, conflict and acceptance of plurality are mature identities.

70.9 Unequal Protection of the Source

Kings and courts and feudal lords left more written records. workers and women and oral communities fewer. The amount of documentation that survives is not a fair measure of historical significance.

The historian will write down the structure of the conservancy. Claims about low-resource groups should be more careful but not to preclude silent causal studies. Songs and local records should be added to the physical culture.

70.10 Proof-of-Liability of a Counterhistory

Criticism of official history is necessary, but alternative narratives are not true simply because they are contradictory. Hashia 's claim will also bear the test of consistency and counter-argument to the source.

Same criterion does not mean same source quantity. Given the disparity in availability, the type of evidence may vary; honesty may not. The uncertainty must be written clearly.

The 70.11 scale will be changed.

Events in the nation 's history can be pivotal in the history of a small village or family. Changing the scale makes the cause and agent appear different.

Microhistory does not deny the widespread structure; it shows how the structure functioned in specific lives. Comparison is desirable when drawing universal inferences from local examples.

70.12 Timeline and memory time

The record sorts the time in order of importance in memory, giving date sequences. Communities bring certain events up to date again and forget about them. The two timelines answer a different set of questions.

History verifies chronology to understand why memory events survive. Memory intensity may be evidence of social meaning rather than accuracy of date or description.

70.13 Configuration of the parallel narrative

Parallel History is not a decorative box with a main story. Center decisions and local results should be added to the same causal chain. Different voices may change the structure of the analysis rather than just the citation.

The final narrative should be multifaceted, source-level, clear, and introspective. Facts that are irrelevant should not be hidden. The justice

of history is not arbitrary glory, but acceptance of the complexity of evidence.

Chapter Conclusion

The formula for parallel histories is read center, read margin, read silence. But apply the same logic to all. Parallelism is not an excuse to make assumptions; it is a responsibility to find evidence.

Chapter Bibliography

E. H. Carr — What Is History?
Marc Bloch — The Historian's Craft.
E. P. Thompson — The Making of the English Working Class.
Ranajit Guha — Elementary Aspects of Peasant Insurgency in Colonial India.
Carlo Ginzburg — The Cheese and the Worms.
Romila Thapar — The Past Before Us.

Chapter 71 — The Aphorisms of Parallel Philosophy

To condense the long discourse of this text into thirty aphorisms is not an abstraction but the very essence of the philosophical discipline. The purpose of a sutra is not to make complex ideas into slogans but to provide mnemonic scales with which the reader can examine new questions, controversies, and the institution 's traditions and experiences. Each sutra is an independent sentence, but together they form an interconnected structure of parallel philosophies.

71.1 Knowledge and evidence of the truth

1. Truth can be multifaceted and not arbitrary.

The first part of this thread assumes that complex realities can be seen as different from separate social, historical, linguistic, or empirical spaces. The second part makes clear that plurality of viewpoints is not arbitrary privatization of truth. Contradiction and proof: Objective resistance and public scrutiny are still necessary.

2. Knowledge is possible, but research is difficult.

Human knowledge is neither omniscient nor meaningless. Conclusions can be accepted if the evidence is strong or modified if new evidence emerges. The absence of infallibility does not prove the impossibility of knowledge. For this reason, humility and intellectual courage are not mutually exclusive.

3. There are many types of proofs. each one has its proper field.

Direct inferences, reliable linguistic statements, documents, scientific tests, statistical analysis, historical sources, oral memory, and self-experience are not the same kind of evidence. The value of the proof is determined by the nature of the question. Personal experience may be the basis of personal sense, but not the sufficiency of public law itself.

4. Defeating the opposition by making them weak is not an argument.

The theory of strong antipartisans is the basic thesis of parallel philosophy. Offer opposing views only if their supporters agree with them. And then there are the criticisms. Making a false impression to win can be rude or sarcastic, not fact-finding.

71.2 Tradition and innovation and intellectual rights

5. Tradition is evidence that an idea is old; it is not proof that the idea is right.

Long-term traditions can provide memories and social continuity. But age is not a moral legitimacy. Racial slurs, gender inequality, or violence are simply not acceptable in the long run. To question tradition respectfully is to test its morality rather than destroy it.

6. Innovation is proof that an idea is new. not proof that the idea is superior.

Modernity is not superior to science or technology or a new political language simply because it is new. New systems can also lead to exploitation, surveillance, environmental destruction, or inequality. The

criterion of progress is not novelty but dignity, freedom, justice, truthfulness and impact on life.

71.3 Dignity and Equality and Social Justice

7. Birth is not a moral qualification.

Caste, clan, lineage, gender, religion, language, region, or family status does not make a person morally high or low. Birth is a fact of circumstance, not a moral attribute. This thread challenges both the claims of hereditary privilege and social inferiority.

8. The dignity of a human being precedes social status.

The value of a person is not derived from position, wealth, education, caste, religion or state titles. Social norms may reinforce or offend basic human values, but they must be respected. For this reason, denigration, dehumanization, and instrumentalization are morally wrong.

9. Freedom without equality can become the privilege of the powerful.

Mere formal freedom is not enough if the resources, education, security, social respect and opportunities are so unequal that only a few can make use of the freedom. Here equality cannot be the enemy of liberty but its real social condition.

10. Freedom without equality can lead to control.

Equality can be oppressive if the individual 's freedom of conscience, choice, belief, way of life and expression is taken away in the name of

making everyone equal. Equality is the same human-standard, not mechanical uniformity.

11. Liberty and equality without fraternity are difficult to sustain in social life.

Constitutional rights are necessary, but society is not run by legal rules alone. Mutual respect, common citizenship, cooperation, and freedom without moral sensitivity to the suffering of others can lead to competitive isolation and equality becoming binding rules. Fraternity is not a sentimental slogan here, democratic socialism is.

71.4 Religion and the State and Civil Liberties

12. Freedom of religion is also the freedom to change religion and not to practice religion.

If religion is a matter of choice, then entry must be free from change and exit must be free. Religious freedom is not just the right to preserve one 's own traditions; it is the right to conscience.

The 13. The state is not the owner of the citizen.

The state is the instrument of public order, rights-protection, justice and common institutions. The citizen is not the property of the state. The power of the state shall be within the limits of legality, law, accountability and authority. The dignity of the individual cannot be belittled in the name of the nation or the state.

14. The majority is not proof of the truth.

A majority may be a democratic method of decision-making but not an automatic proof of fact or moral truth. The majority of history has accepted wrong beliefs, discrimination and injustice. Democracy demands the right to vote, to have a constitution and a place for opposition.

15. Being in the minority is also not automatically proof of truth.

Being marginalized can give access to special experiences and overlooked knowledge, but not infallibility. The same proof-of-concept applies to all cases. This thread avoids the paradoxical radicalism of parallel philosophies: mainstream is not automatically right, marginal is not automatically right.

71.5 Science and technology, language and history

The 16. Science is one of the best public knowledge systems when it comes to nature. not the only source of moral value.

Scientific testing, reproduction, measurement, and critical review are among the most reliable public tools for understanding the natural world. However, it is possible that the correct answer does not come automatically. The questions of morality, justice, rights and human purpose demand a different argument.

17. Technical ability is not a moral license.

Doing something because it is possible does not make it right. In areas such as artificial intelligence, bio-technology, surveillance, weaponry or

data-analysis, capabilities must be accompanied by questions of purpose, consent, harm, justice, privacy and accountability.

18. Language is also a medium of knowledge and power.

Words do not just describe reality; they also categorize it. What language is considered legitimate in administration, education, courts, science, or publishing affects access to knowledge and social standing. A critique of language is not to lock truth into language; it is to recognize the influence of linguistic mediation and authority.

The 19. The history that only the Centre sees is incomplete.

The king, capital, archives, institutional texts, and documents of the victors are important but not the entirety of history. Workers and women, rural communities, minority language groups, border regions and oral memories are also part of the historical world.

20. History that looks only at the margins may be incomplete.

To dismiss the Centre 's record as mere power and automatically accept every memory of Hashia as true is another kind of bias. Authority-review is an extension of source-review and not a replacement.

The 21. Parallel histories place both the Centre and the margins on the same pedestal of evidence.

Documentation, oral memory, material remains, genealogy, literature, administrative records, and folklore are different in nature but all will be asked: Who made it? When is the What is the purpose of How the text

or memory was transmitted There has been some independent confirmation. What does the silence say?

22. Local knowledge is respected and not subject to criticism.

The farmer 's experience with the weather, the woman 's knowledge of the household, traditional remedies, local ecological understanding, and oral history can all be important sources of knowledge. However, the local gathering is not the only one. Respect does not have to mean putting off a trial.

The 23. The scriptures are honorable, not without question.

Shastras may be repositories of long intellectual traditions, concepts, logic, and experience. But the scriptural reputation itself is not the ultimate proof of the truth. The text means history, and internal dissension and questioning of moral consequences will be possible.

24. Faith is honorable, not automatically a sufficient reason for public obligation.

Personal or community beliefs can give a deeper meaning to life. When the state makes rules binding on all citizens, their justification must be supported by public reasons that citizens of a different faith or belief can understand and challenge.

71.6 Doubt and Compassion and Self-Examination

25. Doubt is useful. endless doubt can become intellectual inactivity.

Doubt opens the floodgates of evidence, but if no evidence is ever considered sufficient, judgment and knowledge and accountability will be impossible. Reasons for reasonable doubt should be the condition of limitation and rebuttal.

26. Compassion can become unkind without reason.

Logic can make order or principle seem orderly; but if real suffering disappears, intellectual coherence can conceal inhuman consequences. Compassion is not a substitute for reason and is a moral compass.

27. Without logic, compassion can lead to confusion.

Goodwill is not just a guarantee of good judgment. Emotional responses can be based on inaccurate facts, bias, or ineffective measures. Compassion has to communicate the facts, the causes, the consequences and the justice.

28. The salvation of the individual and the justice of society are not opposed to each other.

Individual self-determination, mental freedom, or spiritual quest are not separate islands from social injustice. Also, the conscience of the individual cannot be erased in the name of social justice. Parallel philosophy views the duality of the individual and society as relational.

29. The ultimate test of philosophy is in one 's life.

Philosophical theory is not enough to be beautiful within a text. Their consequences will be examined in questions of human behavior and

institutions, justice and knowledge, existence and suffering, coexistence and the future. Life may not be a simple laboratory of philosophy, but it certainly has its moral tests.

30. No philosophy is an ultimate philosophy in and of itself.

This sutra is the custodian of the remaining twenty-nine sutras. Parallel philosophy would oppose its original method if it declared itself free from criticism. The theory must be revised if new evidence, strong objections, new experiences or better arguments emerge. Self-reflection is not a weakness; it is a condition for living philosophy.

71.7 The Interconnection of Formulas

The Thirty Principles are not six separate statements. The first four make up the cognitive discipline. The fifth and sixth are equally critical of tradition and modernity. The seventh through the eleventh are moral-social foundations. The twelfth through the fifteenth define the boundaries of political and religious citizenship. The sixteenth to twenty-fourth define the boundaries of science and technology, language and history, local knowledge and scriptures, and faith. The last six threads link doubt, compassion, interpersonal relationships, life trials, and self-reflection.

In this framework, multidimensional rationalism provides a method of knowledge. coexistent realism the basis of reality. dignity-based ethics the basis of values. multicentric democracy the direction of political

organization. the rational plurality of religion. the framework of conscience-independence. parallel history-vision the method of memory and history. and openness to introspection.

Pūrvapakṣa (Prima Facie View): The Thirty Precepts do not constitute a strict code of ethics.

The objection is a valid one. Aphorisms are mnemonic, so they run the risk of becoming harsh slogans. If only the sutras were repeated without context on each complex question, they would become aphorisms instead of philosophies.

Uttarapakṣa (Response): The thread is not a judgment, it is a question.

These formulas are used to guide the question rather than to provide a ready answer. Technical competence may not be morally permissible, but whether a particular technique is appropriate may require separate evidence, risk, benefits, and rights analysis. Birth does not confer moral merit but does require additional arguments on the proper form of social policy. So the thread opens the door and does not close the discussion.

Chapter Conclusion

The threads of parallel philosophies combine truth and proof, dignity and freedom and equality, religion and state, science and language, history and compassion, and introspection into a single critical discipline. Its central tenet is that no source, institution, tradition, majority, marginalization, technology or philosophy itself is the private master of truth and morality. Ask for proof, identify limitations, listen to

the opposition, maintain decorum, and be open to amending your conclusions.

Chapter Bibliography

Gautama wrote that the Nyāya-sūtra.
Gangesh Upadhye as Tattvacintāmaṇi.
B. R. Ambedkar — Annihilation of Caste; Dr. Babasaheb Ambedkar: Writings and Speeches.
John Rawls — A Theory of Justice; Political Liberalism.
John Dewey — Logic: The Theory of Inquiry.
Amartya Sen — The Idea of Justice; Development as Freedom.
Miranda Fricker — Epistemic Injustice.

Chapter 72 — Epilogue

Parallelism is not just about opposing the mainstream. In parallel, the text contains more method names than place names. It refers to the intellectual state where established knowledge is respectfully examined, neglected sources are discovered, the same critical criteria apply to both, and the conclusions themselves are open to revision.

72.1 Starting with a question not ending with a question

The first chapter of the text considered darsanas to be a self-conscious act of asking for reasons rather than a collection of answers. Even in the last chapter, this does not change. The difference is that now the detailed geography of the question has been looked at: science and reality, Indian philosophy and Mithila, Western philosophy and society, state and religion, modernity and the digital world, artificial intelligence and environment and history.

This journey leads to a conclusion: the question is not only of doubt. it is also of responsibility. If I question authority, I will question the authority of my party. If you ask for proof of tradition, then so be it on the claim of modernity. If you look for silences in official histories, so do the fact-checks in Hashiya 's stories. Parallelism is the discipline of symmetric criticism.

72.2 Mithila: Not the Centre: The Methodological Basis

The text does not aim to make Mithila a new center of world philosophy. Such a claim would be against the polycentric spirit of parallel philosophy. Mithila is here a place of systematic recollection, a place of dialogue with the Upanishadic questions of jurisprudence, the logic and discipline of jurisprudence, the nuances of word and evidence, the traditions of scripture, the experiences of public life, and modern social questions.

Mithali 's contribution may be a matter of pride but pride is not a substitute for proof. For this reason, acknowledging uncertainties in historical claims as uncertainties has been part of the text 's method of not writing down traditional stories as historical facts and not forcing modern concepts onto the past.

72.3 The Plural of Indian Philosophy

Studies of Indian philosophy show that these Indian schools of thought are not uniform traditions. Sāṅkhya, Yoga, Nyaya, Vaisheshika, Mīmāṃsā, Vedanta, Buddhism, Jainism, and the Lokayatas have serious disagreements on jñāna, ātman, Ishvara, matter, language, karma, moksha, and pramana. In this disagreement, intellectual life is not the weakness of Indian philosophy.

The Upanishads teach questions. the discipline of just proof. the subtleties of Mīmāṃsā language and method. Buddhist philosophy. the critique of suffering and impermanence and self-imagination. the

discipline of the Jain philosophical approach. the challenge of locative doubt. Parallel philosophies do not dissolve these in an artificial Indian belief system.

72.4 Western philosophy: Dialogue and not imitation

The Greek question, medieval logic, modern rationalism-empiricism, Kant 's criticism, Hegel 's history-view, Marx 's structure-analysis, the individual responsibility of existentialism, the clarity of analytic philosophy, the exploration of pragmatism and the methodology of science-philosophy are all independent voices in parallel discourse.

The purpose of the comparison is not to prove that an Indian philosopher had already stated modern Western theories or that all Western ideas are repetitions of Indian sources. Such a triumphalistic comparison destroys the historical distinctiveness of both traditions. Meaningful comparison occurs at the level of the problem, argument, and objection.

72.5 Questions of Society Not an External Subject of Philosophy

Caste, class, gender, language, region, state, liberty, equality, justice and democracy are not merely subjects of sociology. Within these questions are the core philosophical questions of human value, rights and legality, responsibility and identity, and institutional propriety.

Gandhi raises the ethical questions of non-violence and Swaraj, the relationship between means. Ambedkar brings out the inseparable relationship between caste, dignity, representation, constitutionality and

liberty-equality-bondage. Parallel philosophy does not eliminate the differences between the two, but rather puts them into concrete moral testing.

72.6 Religion: Both Respect and Criticism

The philosophy section acknowledges that faith can be a profound source of human meaning, community, hope, discipline, and self-awareness. It also holds that religious claims are not immune from criticism. The question of God, the problem of evil, karma, reincarnation, moksha, religiosity and the Dharma-rajya relationship are different levels of proof and justification in these texts.

The rational pluralism concludes: individuals may profess or change their religion; communities may carry on their traditions but must not destroy the dignity and rights of members; the state must not become the arbiter of the spiritual truths of any one religion but must preserve equal civil liberties.

72.7 Modernity: The Duality of Science and Technology

Modernity has opened up new possibilities for freedom, science, communication, democracy and rights, as well as new forms of colonialism, bureaucracy, market-centredness, industrial dehumanisation and surveillance. So tradition versus modernity is not a simple moral dichotomy.

The great strength of science lies in its public testability, revisionism, and evidence-discipline. But science does not set out to set ethical standards by itself. Artificial intelligence and other new technologies sharpen these distinctions: machines can provide decision-making support, but the question of accountability involves humans, organization design, data, and governance. Technical ability is not a moral license.

72.8 Detailed Ethics of Environment and Time

The environmental question pushes the ethical community beyond present-day humans. Future generations enter into decisions about rivers, forests, species, ecosystems and long-term risks. Coexistential realism assumes particular importance here, as humans are not independent atoms but lie within a web of biological, social, historical, and ecological relationships.

72.9 Independent identification of parallel philosophies

The independent identity of the parallel philosophy proposed in this text can be seen in some of the original propositions. Multidimensional rationalism says that sufficient evidence is not too much arbitrary evidence. Coexistential realism says that the universe has resistance independent of the mind, but the experience is relational. Dignity-based ethics centre on the core values that every person shares. Multicentric democracies resist the over-concentration of power, knowledge, and culture. The rational plurality of religions desires freedom of conscience,

on a par with faith and non-belief. The parallel historiography places both the central and the neglected sources at critical crossroads.

An essential principle underlying all of this is self-reflection. Without introspection, pluralism, anarchy, realism, rigidity, dignity, sentimentality, democracy, institutional self-satisfaction, religiosity, indifferent relativism, and parallel histories can become new prejudices.

72.10 Crossing the Main Stream and Hashia

Sometimes the mainstream is closer to the truth. Sometimes, it can be very painful. Sometimes, both of these are incomplete. A philosopher 's loyalty must precede any pursuit of truth, justice and human dignity.

For this reason, parallel philosophies are not a permanent opposition to the mainstream. If the established theory is stronger than the evidence, accept it. If neglected sources reveal new facts, add them. If both are wrong, try to find a third way. Parallelism is a state of critical motion rather than a static camp of identity.

The Life Conduct of the 72.11 Philosophy

The ultimate promise of this text is not a closed list of doctrines but an intellectual pursuit.

It is okay to ask questions.

In the search for evidence.

Listen to the other side as well.

Let us make amends for our mistakes.

Asking for a reason from the authorities.

Listen to the voice of the one who is suffering.

And don 't consider the truth to be the private property of a single center.

This behavior requires both logic and compassion. Only compassion can be confused. only reason is merciless. Only tradition is the root, only novelty is the ego. Only individual separation or only social oppression. Only the center is incomplete. also only the margins. Parallel philosophy does not seek an average between these dichotomies but attempts to explain the proper truths and limits of each aspect.

Pūrvapakṣa (Prima Facie View): Wouldn 't such open-mindedness be without judgment?

Observing introspection and pluralism may lead to the objection that parallel philosophies leave every question open-ended. If everyone is inventive, how can one make strong ethical decisions?

Uttarapakṣa (Response): Openness and Moral Boundaries Are Simultaneously Possible

Modification does not have to make everything uncertain. Some moral boundaries may be clear enough: birth is not a moral qualification. a person is not just a means. unnecessary suffering is not appropriate. the state is not the master of the citizen. religious freedom is also a freedom of conscience. majority is not proof of truth. technical competence is not a moral sanction. The application of these limitations may be controversial, but the controversy is not without moral ambiguities.

Parallel philosophy is not an end in itself. If this text declares itself complete on its last page, it would violate its last aphorism. The future of philosophy lies not in closed systems, but in better questions, new evidence, more inclusive dialogue, and a more just life.

In this sense, to be parallel is not to be marginalized. one is not enslaved to a single center in the search for truth. The combined exercise of freedom of question, the discipline of proof, the ethics of dignity, the critique of authority, the wisdom of pluralism, and the courage of introspection are the living embodiments of a parallel philosophy.

Chapter Bibliography

Bimal Krishna Matilal — Logic, Language and Reality; The Character of Logic in India.
Jonardon Ganeri — Philosophy in Classical India; The Lost Age of Reason.
Amartya Sen — The Idea of Justice.
B. R. Ambedkar — Annihilation of Caste; Dr. Babasaheb Ambedkar: Writings and Speeches.
John Dewey — Experience and Nature; Logic: The Theory of Inquiry.
John Rawls — A Theory of Justice; Political Liberalism.
Miranda Fricker — Epistemic Injustice.
The terminology of the term
Existential philosophy is the philosophical study of what things really are.
Metaphysics is the study of the fundamental nature of reality.
Epistemology is the study of knowledge, evidence, belief, truth and justification.
Proof is the accepted means or process of producing true knowledge.
Direct is direct perception or sense-related knowledge.
Inference is knowledge of other facts from a known basis.
Word-proofing is knowledge obtained from reliable linguistic statements.
An analogy is knowledge based on similarity.
Scope is the regular relationship of cause and effect in inference.
Ethics is the study of right and wrong actions and character.
Political philosophy is the study of power, state authority, justice, and freedom.
Philosophy of religion is the study of faith, God, religion, religious experience and reason.

Multidimensional rationalism: A parallel theory of critical knowledge acquisition through various appropriate evidence.

Coexistential realism Coexistential realism is a theory that recognizes the multiplicity of relational experiences while accepting reality as independent of the human mind.

Dignity-based ethics is the principle that everyone has the same basic human values as the center of moral judgment.

Multicentre democracy is a democratic vision of sharing power and decision-making at various legitimate socio-political levels.

Parallel historiography is the practice of re-reading history by placing neglected sources and voices on the same critical pedestal as established sources.

The rational plurality of religions accepts the same freedom of belief, disbelief, and proselytization as the principle of common cause and common citizenship for public obligation.

Introspection is the discipline of basing one 's claims on evidence, selection, silence, and even conclusions on critical criteria that are applied to other ideas.

The selected original bibliography

Indian philosophy

Rigveda.

The Upanishads of the Brihadaranyas.

Chandogya Upanishad.

Gautama wrote the Nyaya Sutras.

Kanada is a part of the Vaisheshika Sutra.

Ishvara Krishna is also known as Samkhya Karika.

Patanjali wrote the Yoga Sutras.

Jaimini is a metaphysical figure.

The Badayana is the Brahma Sutras.

Kumarila Bhatta is the author of the Shlokavatara.

Udayanacharya is Nyayakusumanjali, Atmatattvaviveka.

Vachaspati Mishra is a prominent figure in the field of jurisprudence.

Gangesh Upadhyay Tattvachintamani.

Nagarjuna is the creator of the Moolamadhyamaka.

The dingnag is a set of credentials.

Dharmakirti is the author of the Pramaanavartika.

Umasvati is the essence of the sutra.

The philosophy of the Western

The Republic of Plato.

Aristotle in Nicomachean Ethics.Politics.Metaphysics.

René Descartes wrote Meditations on First Philosophy.

Baruch Spinoza Ethics.

The G. The W. Leibniz. Monadology.

John Locke: An Essay Concerning Human Understanding.Two Treatises of Government.

George Berkeley A Treatise Concerning the Principles of Human Knowledge.

David Hume A Treatise of Human Nature.An Inquiry Concerning Human Understanding.

Immanuel Kant The Critique of Pure Reason.Groundwork of the Metaphysics of Morals.

The G. The W. F. Hegel The Phenomenology of the Spirit.

Karl Marx and Capital.Marx and Engels and the German Ideology.

Søren Kierkegaard in Fear and Trembling.

Friedrich Nietzsche in On the Genealogy of Morality.

Ideas of Edmund Husserl.

Martin Heidegger in Being and Time.

Jean-Paul Sartre on Being and Nothingness.

Ludwig Wittgenstein in his Tractatus Logico-Philosophicus.Philosophical Investigations.

John Dewey in Experience and Nature.

John Rawls wrote A Theory of Justice.

Indian modern socio-political thought

Mohandas Karamchand Gandhi: Hind Swaraj Satyagraha in South Africa Constructive Programme: Its Meaning and Place.

Bhimrao Ramji Ambedkar on Annihilation of Caste.States and Minorities.The Buddha and His Dhamma.Dr. Babasaheb Ambedkar: Writings and Speeches.

A selection of the study-books

Surendranath Dasgupta: A History of Indian Philosophy.

M. Hiriyanna in The Outlines of Indian Philosophy.

S. Radhakrishnan and Indian philosophy.

Bimal Krishna Matilal is the author of Perception.Logic Language and Reality.The Character of Logic in India.

Jonardon Ganeri: Philosophy in Classical India.The Lost Age of Reason.

Stephen H. Phillips on Classical Indian Metaphysics. studies on Ganges and Indian epistemology.

In the words of Karl H. Potter in the Encyclopedia of Indian Philosophies series.

Dinesh Chandra Bhattacharya History of Navya-Nyāya in Mithilā.

Ganganatha Jha translated and studied many original texts of Nyaya, Mīmāṃsā and Indian philosophy.

Final Statement

Gajendra Thakur's parallel philosophy is not a mere "mixture of East and West."

Its distinct identity lies in six fundamental principles:

Multi-pramāṇa rationalism — a plurality of appropriate means of knowledge in the pursuit of truth.

Coexistential realism — acceptance of both the objective world and relational experience.

Dignity-based ethics — the equal fundamental worth of every human being.

Polycentric democracy — resistance to the excessive concentration of power, knowledge, and culture.

The rational plurality of religion — equal freedom of conscience for belief, non-belief, and religious conversion, together with shared justification for public obligations.

A parallel view of history — subjecting both central and neglected sources to the same critical standards of evidence.

To these six fundamental principles is added a seventh, indispensable regulative principle: self-critique.

A philosophy that refuses criticism of itself moves away from philosophy toward dogmatism. The future of parallel philosophy therefore lies not in a closed system, but in its open question.


PARALLEL PHILOSOPHY
Gajendra Thakur
Philosophy begins not with answers but with questions. Gajendra Thakur's Parallel Philosophy re-reads Indian, Western, social, political, religious, and contemporary thought through Mithila's parallel intellectual tradition. Across seventy-two chapters, it brings Nyaya, Mimamsa, Vedanta, Buddhist and Jain debates, Western philosophy, democracy, dignity, religion, science, digital knowledge, and artificial intelligence into a shared, evidence-conscious dialogue. Its guiding discipline is simple: where truth is claimed, ask for evidence; where power is exercised, ask for legitimacy; and wherever there is a human being, never forget dignity.
Where truth is claimed, ask for evidence. Wherever there is a human being, never forget dignity.
VIDEHA
https://www.videha.co.in/
SCAN TO VISIT
VIDEHA E-JOURNAL
https://videha-ejournal.github.io/videha/
SCAN TO VISIT
ISSN 2229-547X

PARALLEL PHILOSOPHY

Gajendra Thakur

Philosophy begins not with answers but with questions. Gajendra Thakur's Parallel Philosophy re-reads Indian, Western, social, political, religious, and contemporary thought through Mithila's parallel intellectual tradition. Across seventy-two chapters, it brings Nyaya, Mimamsa, Vedanta, Buddhist and Jain debates, Western philosophy, democracy, dignity, religion, science, digital knowledge, and artificial intelligence into a shared, evidence-conscious dialogue. Its guiding discipline is simple: where truth is claimed, ask for evidence; where power is exercised, ask for legitimacy; and wherever there is a human being, never forget dignity.

Where truth is claimed, ask for evidence. Wherever there is a human being, never forget dignity.

VIDEHA

https://www.videha.co.in/

SCAN TO VISIT

VIDEHA E-JOURNAL

https://videha-ejournal.github.io/videha/

SCAN TO VISIT

ISSN 2229-547X